भारतीय सामाजिक संस्थाएं

[संशोधित संस्करण]

लेखक
मोतीलाल गुप्ता



राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
जयपुर

"शिक्षा तथा समाज-कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार की विश्वविद्यालय स्तरीय ग्रन्थ-निर्माण योजना के अन्तर्गत राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी द्वारा प्रकाशित।"

द्वितीय संस्करण : 1978
(Bhartiya Samajik Sansthayen)

भारत सरकार द्वारा रियायती मूल्य पर
उपलब्ध कराए गए कागज से निर्मित

मूल्य : पुस्तकालय संस्करण 20.00
विद्यार्थी संस्करण 15.00

प्रकाशक :
राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
ए-२६/२, विद्यालय मार्ग, तिलक नगर
जयपुर-३०२००४

मुद्रक :
मनोज प्रिन्टर्स
गोदीकों का रास्ता, किशनपोल बाजार
जयपुर-३०२००३

प्रथम संस्करण का आमुख

भारतीय सामाजिक संस्थाएँ भारतीय मनीषियो के बौद्धिक चिन्तन का परिणाम है, उनके सबल सामाजिक दर्शन का प्रतिफल हैं। ये संस्थाएँ सदियो से भारतीय समाज मे व्यवस्था बनाए रखने मे अपूर्व योग देती रही हैं। इन संस्थाओ के सम्बन्ध मे पाश्चात्य विद्वानो मे कुछ भ्रम प्रचलित रहे हैं। वे समझते रहे हैं कि भारतीय सामाजिक संस्थाएँ धार्मिक-चिन्तन मात्र का ही परिणाम हैं। परन्तु इन संस्थाओ की विवेचना से ज्ञात होता है कि वास्तव मे भारतीय सामाजिक जीवन मे लौकिक और पारलौकिक दोनो प्रकार के चिन्तन का एक सुन्दर समन्वय पाया जाता है। इन संस्थाओ के मूल मे केवल धार्मिक अथवा दार्शनिक चिन्तन ही नही पाया जाता बल्कि सामाजिक और वैज्ञानिक दृष्टिकोण भी पाया जाता है। ये संस्थाएँ देशवासियो के जीवन को आदिकाल से ही पग-पग पर प्रभावित करती रही हैं, असख्य व्यक्तियो का मार्ग-दर्शन करती रही हैं। इनके पीछे अनेक शताब्दियों का सफल चिन्तन पाया जाता है।

प्रस्तुत पुस्तक मे भारतीय सामाजिक संस्थाओ पर समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से विचार किया गया है। इन संस्थाओ का ऐतिहासिक विवरण दिया गया है, वर्तमान मे इनकी उपयोगिता पर प्रकाश डाला गया है, आधुनिक समय म इनमे होने वाले परिवर्तनो को दर्शाया गया है। भारतीय सामाजिक संस्थाओ से सम्बन्धित जो शोध-कार्य हुए हैं, उनके निष्कर्षों को भी पुस्तक मे समाविष्ट किया गया है ताकि आधुनिक प्रवृत्तियो के सम्बन्ध मे जानकारी प्राप्त की जा सके।

पुस्तक मे भारतीय सामाजिक संस्थाओ से सम्बन्धित प्रामाणिक ज्ञान को विद्यार्थियो एव जिज्ञासुओ तक सरल भाषा मे पहुँचाने का प्रयास रहा है। पुस्तक मे सर्वत्र वैज्ञानिक दृष्टिकोण को बनाए रखा गया है, विषयो का आलोचनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। जहाँ अवधारणाओ का प्रयोग किया गया है, वहाँ साथ ही अग्रेजी शब्द भी कोष्टक मे दिए गए हैं। लेखन-शैली मे इस बात का विशेष रूप से ध्यान रखा गया है कि पुस्तक मे वर्णित सामग्री को पाठक सरलतापूर्वक समझ सकें। पुस्तक मे वैज्ञानिक एव तकनीकी आयोग द्वारा निश्चित किए गए पारिभाषिक शब्दो का ही प्रयोग किया गया है। यह पाठ्य-पुस्तक विशेष रूप से भारतीय विश्वविद्यालयो के स्नातक कक्षाओ के समाजशास्त्र के विद्यार्थियो के लिए लिखी गई है परन्तु इससे स्नातकोत्तर कक्षाओ के विद्यार्थी भी निःश्चित रूप से लाभान्वित हो सकेंगे। पुस्तक के लेखन मे जिन विद्वानो की कृतियो का उपयोग किया गया है उन सबके प्रति आभार प्रदर्शित करना मैं अपना पुनीत कर्तव्य समझता हूँ। मैं

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी का विशेष रूप से हृदय से आभारी हूँ जिनके प्रयासों से यह पुस्तक प्रकाशित हो रही है। उन सब गुरुजनों, विद्वान साथियों, इष्ट-मित्रों और परिवारजनों का भी मैं बहुत आभारी हू जिनकीप्रेरणा, सुझाव और सहयोग ने मुझे इस पुस्तक को आप लोगो के सम्मुख प्रस्तुत करने का सुअवसर प्रदान किया है।

मुझे आशा है कि यह पुस्तक भारतीय समाज और संस्कृति का सही परिचय देने में अवश्य सहायता पहुँचायेगी। मेरा सहृदय पाठकों एव विज्ञजनों से नम्र निवेदन है कि वे अपने रचनात्मक सुझावोंद्वारा अनुगृहीत करने का कष्ट करें।

एम० एल० गुप्ता

द्वितीय संस्करण का ग्रामुख

वास्तविक तथ्यो का अनावरण करना ही समाजशास्त्र के विद्यार्थी का प्रमुख दायित्व है। नवीन सस्करण मे विज्ञ-जनो के अनेक सुझावो का लाभ उठ ने का पूर्ण प्रयास किया गया है। भाषा छात्रों की दृष्टि से बोधगम्य हो, इस बात का विशेष ध्यान रखा गया है। विषय से सम्बन्धित नवीनतम प्रामाणिक सूचनाओ को पुस्तक मे सम्मिलित करने का प्रयत्न किया गया है। साथ ही सब प्रकार के पूर्वाग्रहो से मुक्त रह कर स्थिति का यथावत् चित्रण किया गया है। भारतीय सामाजिक सस्थाओ मे हो रहे परिवर्तनो को दर्शाने और आधुनिक प्रवृत्तियो को इगित का विशेष प्रयत्न किया गया है।

प्रथम सस्करण को केवल राजस्थान के ही नही, बल्कि देश के विभिन्न भागो के विद्यार्थियों और व्यावसायिक सहकर्मियो ने जिस उत्साह के साथ स्वीकार किया, उससे इस विषय पर और अधिक गहनता के साथ अध्ययन और चिन्तन की मुझे प्रेरणा मिली है। यह द्वितीय सस्करण उसी का परिणाम है। इसमे सैद्धान्तिक दृष्टि से विभिन्न अवधारणाओ को स्पष्ट करने का विशेष प्रयास किया गया है।

मुझे विश्वास है कि पुस्तक मे वर्णित भारतीय सामाजिक सस्थाओ का विश्लेषण राजनेताओं और समाज-सुधारको को सामाजिक नीतियो के निर्धारण और उनके सफल क्रियान्वयन मे अवश्य सहायता प्रदान करेगा। प्रस्तुत सस्करण एक सशोधित सस्करण मात्र न होकर एक नवीन पुस्तक बन गया है। पुस्तक की लोकप्रियता का श्रेय सहृदय विद्यार्थियों एव विज्ञ-प्राध्यापको को है जिन्होने इसे अपनी आशा के अनुरूप पाया। पुस्तक के इस द्वितीय सस्करण को नवीन रूप मे उनके सम्मुख प्रस्तुत करते हुए मुझे हर्ष एव गर्व का अनुभव हो रहा है। पुस्तक के प्रकाशित होने तक उपलब्ध नवीनतम सूचनाओ एव आकडो को इसमे समाविष्ट करने का पूरा प्रयास किया गया है। छात्रो एव विद्वान साथियो से नम्र निवेदन है कि अगले सस्करण हेतु आवश्यक सुझाव देकर अनुगृहीत करें।

एम. एल गुप्ता
स्नातकोत्तर समाजशास्त्र विभाग
एस. डी. राजकीय महाविद्यालय
ब्यावर (राजस्थान)

विषय-सूची

अध्याय 1

भारतीय सामाजिक संस्थाएं—एक परिचय

(INDIAN SOCIAL INSTITUTIONS—AN INTRODUCTION)

विभिन्न संस्कृतियो एव प्रजातीय तत्वों से भारतीय समाज का निर्माण हुआ है। इस विशाल समाज मे विविधता और एकता एकसाथ दिखलायी पड़ती है। यहां अनेक धर्मों और जातियो के लोग पाये जाते हैं। लोगो की प्रथाओ, विश्वासों, रहन-सहन के तरीकों, भोजन एव वस्त्र आदि मे भिन्नता पायी जाती है। ग्रामीण और नगरीय जीवन मे भी स्पष्ट अन्तर दिखलायी पड़ता है। यहा एक ओर शिकार आदि के द्वारा अपना जीवन-यापन करने वाली आदिम जन-जातियां तक पायी जाती हैं, तो दूसरी ओर नगरीय समुदायो मे ऐसे लोग हैं जो नवीनतम यत्रो के माध्यम से अपनी जीविका कमाते है। भारतीय समाज मे सहस्रो वर्षों से प्रजातीय और सास्कृतिक सम्मिश्रण भी होता रहा है। भारतीय जनता मे विभिन्न प्रजातीय तत्त्व मिश्रित रूप मे पाये जाते हैं। यहां विभिन्न सस्कृतियों-द्रविड़ सस्कृति, आर्यों की सस्कृति, मध्य एशिया से आये हुए आक्रमणकारी समुदायो की सस्कृति, मुस्लिम सस्कृति और पाश्चात्य सस्कृति, का आपस मे खूब सम्मिश्रण हुआ है। इन सस्कृतियों का भारतीय सस्कृति और सस्थाओ पर बहुत प्रभाव पड़ा है। विविधता के बावजूद भारतीय समाज मे मौलिक एकता भी दिखलायी पड़ती है जिसका अनुभव न केवल भारतीय बल्कि विदेशी भी करते हैं। ऐसे विविधतापूर्ण एव जटिल भारतीय समाज को समझना और वैज्ञानिक तरीके से इसका अध्ययन करना कोई सरल कार्य नही है। इस कार्य के लिए भारतीय सामाजिक सस्थाओ को उनके विविध रूपो मे समझना होगा, लोगो के मूल्यो एव लोक-रीतियो को जानना होगा। इन सस्थाओं के सम्बन्ध मे विधिवत् जानकारी उस समय मिल सकती है जबकि इनके स्वरूपो को समझने के लिए ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को पूरी तरह से ध्यान मे रखा जाय। यद्यपि यह कार्य कठिन अवश्य है, परन्तु तात्त्विक एव व्यावहारिक दृष्टि से इसका महत्त्व भी काफी है। यह पुस्तक इसी दिशा मे एक प्रयास है।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। सामाजिक प्राणी होने के नाते उसकी अनेक आवश्यकताए होती हैं जिनकी पूर्ति के लिए वह अनेक पद्धतियों को अपनाता है। वास्तव मे विभिन्न समाजो मे आवश्यकताओ की पूर्ति के साधन के रूप मे समूह-व्यवहार की इन पद्धतियो को ही सामाजिक सस्थाओ के नाम से पुकारा जाता है। अतः सामूहिक व्यवहार और किसी समाज विशेष की सस्कृति को समझने के लिए सामाजिक सस्थाओ का विधिवत् अध्ययन आवश्यक है। इन्हीं सस्थाओ के माध्यम से हम जान सकते हैं कि एक समाज के लोग अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति किस प्रकार करते हैं। आधुनिक काल मे तीव्रगति से होने वाले सामाजिक परिवर्तनो को समझने और उनसे उत्पन्न सामाजिक समस्याओ के

समुचित समाधान के लिए यह आवश्यक है कि सामाजिक संस्थाओं का अध्ययन किया जाय। वास्तव में किसी भी समाज को समझने के लिए उस समाज की सामाजिक संस्थाओं का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। इसके लिए हमें न केवल ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में सामाजिक संस्थाओं के स्वरूप को ही जानना होगा, बल्कि वर्तमान काल में इनमें होने वाले परिवर्तनों को भी समझना होगा। यह उसी समय सम्भव है जब विविध शोध-कार्यों का समुचित लाभ उठाया जाय और अपने अनुभव तथा विचार-शक्ति का पूरा प्रयोग किया जाय।

सामाजिक संस्था : अर्थ एवं परिभाषा (Social Institution Meaning and Definition)

सामाजिक प्राणी होने के कारण मनुष्य की अनेक आवश्यकताएँ हैं। प्रत्येक प्राणी की कुछ मौलिक आवश्यकताएं होती हैं, जैसे—भोजन, मकान तथा काम-वासना आदि। इन आवश्यकताओं की पूर्ति मानव जीवन को बनाये रखने के लिए अत्यन्त आवश्यक है। बुद्धिशील प्राणी होने के कारण मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति सबसे सुगम साधनों द्वारा करना चाहता है और ऐसा प्रयास करना उसके लिए स्वाभाविक ही है। प्रत्येक समूह अथवा समाज अपनी इन मौलिक आवश्यकताओंकी पूर्ति के लिए कुछ साधन, कार्य-प्रणाली या तरीके ढूंढ लेता है और परम्परागत रूप में उन्हीं साधनों या तरीकों को काम में लेता है। समय के साथ-साथ आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु कुछ स्थापित और स्वीकृत साधन, कार्यविधि या तरीके विकसित होने लगते हैं। प्रत्येक व्यक्ति से यह आशा की जाती है कि वह समाज द्वारा विकसित तरीकों से ही अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करेगा। समाज द्वारा मान्यता प्राप्त इन्हीं परम्परागत साधनों, कार्य-विधियों या तरीकों को ही संस्था का नाम दिया जाता है।

मनुष्य की कुछ ऐसी मौलिक आवश्यकताएं होती हैं जो समाज के अस्तित्व के लिए आवश्यक हैं। यदि इन आवश्यकताओं की पूर्ति प्रत्येक व्यक्ति मनमाने ढंग से करे तो समाज में व्यवस्था नहीं रह पायेगी तथा सामाजिक संरचना छिन्न भिन्न हो जायेगी। इसी बात को ध्यान में रखते हुए प्रत्येक समाज कुछ ऐसे साधनों एवं तरीकों को अपनाता है जो समाज के लिए हितकर हों और जिन्हें समाज के सभी व्यक्ति स्वीकार करें। इस प्रकार, सर्वप्रथम किसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए मनुष्य के मस्तिष्क में विचार उत्पन्न होता है। वह अपने इस विचार को कार्य रूप में परिणत करता है। जब व्यक्ति अपने इस विचार के आधार पर किये गये कार्य को बार-बार दोहराता है तो वह उसकी आदत बन जाती है। एक व्यक्ति की यह आदत यदि समूह के अन्य व्यक्तियों को अच्छी लगती है तो वे भी इसे अपना लेते हैं। जब एक समूह के अधिकांश व्यक्ति उस आदत को अपना लेते हैं तो वह समूह की आदत बन जाती है। समूह की इस आदत को जनरीति कहते है। समूह के अधिकांश व्यक्ति जिन रीतियों से व्यवहार करते हैं, उन्हे ही जनरीति कहा जाता है। परम्परागत व्यवहार करने की ये जनरीतियां जब पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित होती रहती हैं तो इन्हे प्रथाओं के नाम से पुकारा जाता है। ये होती तो जनरीतियां ही हैं, किन्तु इनके पीछे सैंकड़ों वर्षों का परम्परागत अनुभव छिपा होने के कारण इन्हें हम प्रथाओं के नाम से जानते हैं। जब प्रथाएं समूह द्वारा सम्मानित एवं स्वीकृति हो जाती हैं और इन्हे कल्याणकारी एवं उपयोगी समझ कर समूह का अभिमत

प्रदान कर दिया जाता है तो ऐसी प्रथाओ को रूढियों के नाम से पुकारा जाता है । जब समूह किन्ही प्रथाओ को कल्याणकारी, उचित एव उपयोगी-समझकर सामाजिक अभिमत प्रदान कर देता है और उनका उल्लघन करने वालो को दण्डित करता है तब ऐसी प्रथाए रूढिया कहलाती हैं । समय के साथ प्रत्येक रूढि की एक ऐसी सरचना विकसित हो जाती है जिसके द्वारा ये रूढिया आवश्यकता की पूर्ति करती हैं । जब एक रूढि के चारो ओर नियमो, विधि-विधानो तथा कार्य-प्रणालियो की एक सरचना निर्मित हो जाती है तब इसे सस्था कहते हैं ।

प्रत्येक सस्था का आरम्भ एक विचार या मानवीय हित अथवा आवश्यकता को लेकर होता है । समनर ने सस्था को परिभाषित करत हुए लिखा है, "एक सस्था एक विचारधारा (विचार, मत, सिद्धान्त या हित) और एक सरचना से मिलकर बनती है ।[1] समनर का कहना है कि सर्वप्रथम सस्थाए जनरीतिया के रूप मे प्रारम्भ होती हैं । जनरीतिया बाद म प्रथाए बन जाती हैं । जब इनके साथ कल्याण का तत्व-ज्ञान जुड जाता है तब य रूढियो के रूप मे विकसित होती हैं । फिर इन रूढियों को नियमो, निर्धारित कृत्यो और काम मे लिये जाने वाले उपकरण की दृष्टि से अधिक सुस्पष्ट बना दिया जाता है । इससे सरचना विकसित होती है और तब सस्था अपन मे पूर्ण हो जाती है ।[2]

प्रो० बार्नस (Barnes) ने भी सस्था के इसी क्रम को बतलाया है । बार्नस महोदय का कहना है कि हम देखते हैं कि मनुष्य की अनेक मौलिक आवश्यकताए होती हैं । इन आवश्यकताओ को पूर्ण करने के लिए उसके मस्तिष्क मे अनेक प्रकार की भावनाए उत्पन्न होती हैं जिनका प्रदर्शन वह उनको कार्य रूप म परिणत करके करता है । सर्वप्रथम वह परीक्षण-परिष्कार पद्धति (*Trial and error*) क रूप मे ऐसा करता है । जब व्यक्ति के ये प्रयत्न सफल हो जात हैं तो वे समूह के द्वारा अपना लिय जाते हैं और ये पीढी-दर-पीढी हस्तान्तरित हाते रहते हैं । दूसरे शब्दा मे वे सामाजिक आदतें बन जाती हैं, जिन्ह समाजशास्त्री जनरीतिया कहते हैं । जब जनरीतिया निश्चित हो जाती हैं, उनके पीछे सम्मान एव शक्ति की भावना जुड जाती है, वे समूह के लिए आवश्यक और प्रभावशाली हो जाती हैं, और उनके न मानन पर सजा दी जाती है तब उस दशा मे वे प्रथाओ के रूप मे विकसित हो जाती हैं । प्रथाए मनुष्य और उसके व्यवहार पर शक्तिशाली रूप मे नियन्त्रण रखती हैं । ये साधारणत अचेतन रूप मे कार्य करती रहती हैं । यह स्वीकार कर लिया जाता है कि ये ठीक हैं । समय के साथ-साथ इन्हें तर्क-सगत और किसी विशिष्ट आवश्यकता की पूर्ति के लिए आचरण का सर्वोत्तम स्वरूप समझा जाता है । तब ऐसी प्रथाओ को रूढिया कहा जाता है । जब इन रूढियो को लागू करने के लिए निश्चित नियम, विधि-विधान, कार्य प्रणाली एव सामाजिक सरचना निर्मित हो जाती है तब वे सस्थाओ का रूप ग्रहण कर लेती है ।[3]

सामाजिक सस्था को परिभाषित करते हुए बोगार्डस (Bogardus) ने लिखा है

---

1 "An Institution consists of a concept (idea, notion, doctrine or interest) and a *structure* W G Sumner Folkways, p 53

2 Ibid.

3 H E Barnes, Social Institutions, p. 30.

"सामाजिक सस्था समाज की एक सरचना होती है जो प्रमुखत सुव्यवस्थित विधियो द्वारा मनुष्यो की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए सगठित की जाती है ।"[4] मेकाइवर तथा पेज ने सस्था को परिभाषित करते हुए लिखा है, "सस्थाए सामूहिक गतिविधि की विशेषता के रूप मे कार्य-प्रणाली की दशाओ या स्थापित प्रतिमानो को कहते है ।"[5]

सी० एच० कूले (C H Cooley) के मतानुसार, 'एक सस्था किसी निरन्तर बनी रहने वाली आवश्यकता या इच्छा की पूर्ति के लिए सामाजिक विरासत मे स्थापित सामूहिक व्यवहारो का एक जटिल सगठन है ।"[6] गिलिन और गिलिन ने सामाजिक सस्था की परिभाषा करते हुए लिखा है, "एक सामाजिक सस्था सास्कृतिक प्रतिमानो का वह प्रकार्यात्मक समूह है (जिसके अन्तर्गत क्रियाए, विचार, मनोवृत्तिया और सास्कृतिक उपकरण भी सम्मिलित होते हैं) जो बहुत कुछ स्थायी होते हैं और जिसका उद्देश्य अनुभव होने वाली सामाजिक आवश्यकताओ की पूर्ति करना होता है ।"[7] रास के अनुसार, "सामाजिक सस्थाए सामान्य इच्छा से स्थापित या स्वीकृत सगठित मानव सबधो के पुज हैं ।"[8] गिन्सबर्ग (ginsberg) के अनुसार सस्थाए व्यक्तियो और समूहो के बीच सबधो को नियमित करने वाली मान्यता-प्राप्त एव स्थापित व्यवहार-रीतिया हैं ।"[9]

इन परिभाषाओ से स्पष्ट होता है कि सामाजिक सस्थाए वे स्वीकृत साधन, मान्यता-प्राप्त और समाज द्वारा समर्थित कार्य प्रणालिया या व्यवहार की सामूहिक रीतिया हैं जिनके द्वारा मानवीय उद्देश्यो की पूर्ति होती हैं । सामाजिक सस्था की अवधारणा मे आदर्शात्मक तत्त्व स्पष्टत पाया जाता है क्योकि यहा नियम और भूमिकाए व्यवहार को परिभाषित करते हैं । कहने का तात्पर्य यह है कि सस्थाए निश्चित परिस्थितियो मे अपेक्षित व्यवहार की प्रणालिया हैं । सस्थाओ मे निरन्तरता का गुण विशेषत पाया जाता है । यह निरन्तरता सस्थाओ की रूढिवादी प्रवृत्ति को व्यक्त करती है । लेकिन यहा हमे इस महत्त्वपूर्ण बात को भी ध्यान में रखना है कि सामाजिक संस्थाओ मे परिवर्तन और अनुकूलन की प्रवृत्ति भी स्पष्टत पायी जाती है । यहा भारतीय जाति-व्यवस्था का उदाहरण दिया जा सकता है जो समय के साथ-साथ परिवर्तित होती जा रही है और आज तक किसी न किसी रूप मे अपने अस्तित्व को बनाये हुए है ।

---

4 "A Social Institution is a structure of society that is organised to meet the needs of people chiefly through well established procedures
E S Bogardus, Sociology, P 478

5 Institutions are the established forms or conditions of procedure characteristic of group activity," MacIver & Page, Society p 15

6 "An Institution is a complex organization of collective behaviour established in the social heritage and meeting some persistent need or want C H Cooley.

7 "A social Institution is a functional configuration of culture pattern (including action, ideas attitudes and cultural equipment) which posses a certain permanence and which is intended to satisfy felt social needs Gillin and Gillin Cultural sociology

8 "Social Institutions are sets of organized human relationships established or sanctioned by the common will" E A Ross Principles of sociology P 686

9 Ginsberg, Morris, Sociology quoted by Alan Wells, Social Institutions, p. 7.

संस्था के आवश्यक तत्त्व (Essential Elements of an Institution)

प्रत्येक सस्था के विकसित होने के लिए कुछ तत्त्व अनिवार्य हैं। समाज मे पाई जाने वाली कोई भी सामाजिक सस्था इन आवश्यक तत्त्वो के अभाव मे कदापि विकसित नहीं हो सकती। अत सस्था के आवश्यक तत्त्व निम्नलिखित हैं

(१) विचार (Idea)—यह सस्था का प्राथमिक तत्त्व है। विचार व्यक्ति के मस्तिष्क की वह सूझ है जिसे यदि क्रियात्मक रूप दिया जाय तो उससे उसकी आवश्यकता पूर्ण हो सकती है। मनुष्य का यही प्राथमिक विचार शनै-शनै सस्था का रूप ले लेता है। अत स्पष्ट है कि प्रत्येक सस्था का विकास किसी न किसी प्रकार के व्यक्तिगत विचार से प्रारम्भ होता है।

(२) उद्देश्य (Purpose)—प्रत्येक सामाजिक सस्था का कोई न कोई उद्देश्य अवश्य होना चाहिए। बिना उद्देश्य, कोई सस्था अधिक दिनो तक समाज मे जीवित नही रह सकती। समाज मे जिन सस्थाओ का उद्देश्य से सामञ्जस्य समाप्त हो जाता है, धीरे-धीरे उसका अस्तित्व भी समाप्त होने लगता है।

(३) संरचना (Structure)—मनुष्य की आवश्यकताओ की पूर्ति के सरलतम विचार को कार्यरूप देने के लिए जिन विधि-विधानों को अपनाया जाता है, उसे सरचना कहते हैं। प्रत्येक सामाजिक सस्था के लिए सरचना की नितान्त आवश्यकता होती है जिसके अभाव मे विचार को कार्य रूप मे परिणत नही किया जा सकता।

(४) अधिकार एव अभिमत (Authority and Sanction)—प्रत्येक समाज किसी भी विचार, प्रथा अथवा नियम को जनहित मे उपादेय समझ कर उसे सुचारू रूप से विकसित करने के लिए अधिकार एव अभिमत प्रदान कर देता है। प्रत्येक सामाजिक सस्था को समाज का अभिमत आवश्यक रूप से प्राप्त होता है। इसके साथ ही साथ प्रत्येक समाज अपनी सस्थाओ को कुछ अधिकार भी प्रदान करता है जिससे उद्देश्यो की पूर्ति हो सके।

(५) प्रतीक (Symbol)—प्रतीक विभिन्न संस्था मे भेद करने के लिए अपनाये जाते हैं। प्रत्येक सस्था का कोई न कोई प्रतीक अवश्य पाया जाता है। प्रतीक भौतिक अथवा अभौतिक दोनो ही प्रकार के हो सकते हैं।

संस्था के कार्य (Function of an Institution)

साधारणतया सस्था के निम्नलिखित प्रमुख कार्य होते हैं —

(१) मानव आवश्यकताओं की पूर्ति (Satisfaction of human needs)—प्रत्येक सस्था का जन्म मानव की किसी न किसी आवश्यकता को लेकर होता है। अत सस्थाए मानव आवश्यकताओ की पूर्ति में सहायक होती हैं। ये मनुष्यो के सामूहिक कल्याण को ध्यान मे रखते हुए मानव आवश्यकताओ की पूर्ति करती हैं। सस्थाए साधन हैं साध्य नही। सस्थाओ का विकास इसलिए किया जाता है कि वे मानव की किसी न किसी आवश्यकता की पूर्ति करें। अत आवश्यकताओ की पूर्ति करना प्रत्येक सस्था का सार्वभौमिक एव प्रमुख कार्य है। इसके अभाव मे वे अपने अस्तित्व को नही बनाये रख सकती। सस्थाए दीर्घकाल तक मनुष्यो की सेवा करती हैं। इसी बात को दृष्टिगत रखते हुए मकाइवर ने लिखा है, "(सामाजिक सस्थाए) मनुष्यो को पराजित करने के अपने अधिकार पर जीवित नही हैं, अपितु उनकी सेवा करने के लिए हैं और जब वे सेवा करना बन्द कर

देती हैं तो कोई भी प्राचीनता और कोई भी पवित्रता उन्हें मरने से नही बचा सकती ।[10] इस कथन से स्पष्ट है कि आवश्यकता की पूर्ति के अभाव मे कोई भी सस्था अपना अस्तित्व बनाये नही रख सकती ।

(२) सस्कृति की वाहक (Vehicle of Culture)—सस्थाए सस्कृति को पीढी-दर-पीढी हस्तान्तरित करती रहती हैं । प्रत्येक सस्कृति का आधार समूह विशेष की सस्थाए ही होती हैं । वास्तव मे सस्थाओ के माध्यम से सस्कृति की रक्षा होती है ।

(३) सामाजिक नियन्त्रण (Social Control)—सस्थाए समूह मे मनुष्यो के व्यवहारो पर नियन्त्रण रखती हैं । सामाजिक नियन्त्रण सस्था का एक महत्त्वपूर्ण कार्य है । सस्थाए मनुष्यो को इस बात के लिए बाध्य करती हैं कि वे अपनी आवश्यताओ की पूर्ति मनमाने ढग से न करके निर्देशित विधियो द्वारा ही करें । ऐसा न करन पर सस्थाए उनको दण्डित कर सकती हैं, क्योकि सामूहिक अभिमत प्राप्त होने के कारण इनकी शक्ति अत्यधिक होती है । अत सस्थाए सामाजिक नियन्त्रण का काय भी करती ह ।

(४) मार्गदर्शन करना (To Guide)—सस्थाए समूह को अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए उचित माग प्रदर्शित करती हैं । य इस बात को बतलाती है कि अमुक आवश्यकताओ की पूर्ति किस प्रकार की जायगी । मनुष्यो को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करते समय, मार्ग दर्शन के लिए सस्थाओ का ही सहारा लेना पडता है । अत सस्थाए प्रत्येक परिस्थिति मे मनुष्यो का मार्ग-दर्शन करती है ।

(५) अनुरूपता उत्पन्न करना (To Conform)—सस्थाओ के द्वारा आवश्यकताओ की पूर्ति हेतु पहले से ही विधिया निर्धारित होती हैं । इस कारण सभी मनुष्यो का व्यवहार एक-सा होता है । समान व्यवहार के कारण मनुष्यो के व्यवहारो मे अनुरूपता उत्पन्न होती हैं । अत सस्थाए मानव-व्यवहार मे समानता लाने का कार्य करती हैं । इस समानता के परिणामस्वरूप मनुष्यो में एकता की भावना उत्पन्न होती हैं ।

(६) स्थिति एव भूमिका का निर्धारण (To determine status and role)—सस्थाए समाज मे व्यक्तियो को, उनकी योग्यता के अनुसार प्रस्थिति प्रदान करती हैं और इसी प्रस्थिति के अनुसार उनका कार्य भी निश्चित करती हैं । उदाहरणार्थ जाति व्यवस्था, व्यक्ति की समूह मे प्रस्थिति एव काय का निर्धारण करती है । भारत के ग्रामीण जीवन मे इन सस्थाओ का महत्व इनके सापेक्ष स्थायित्व के कारण और भी अधिक है ।

सस्थाए सामूहिक जीवन के जटिल प्रतिमान को बनाये रखने का कार्य करती हैं । सस्थाओ के प्रकार्यो पर प्रकाश डालते हुए ए० के० सिन्हा ने लिखा है, "कुछ सामाजिक प्रकार्यो को पूर्ण करने के लिए इनको विकसित किया जाता है । प्रत्येक सामाजिक सस्था के कुछ विशिष्ट सामाजिक प्रकार्य होते है । सस्थाए कुछ मौलिक समूह-आवश्यकताओ जैसे सुरक्षा, सरक्षण, न्याय और कुछ अन्य आवश्यकताओ की पूति करती हैं । सस्थाए

---

10 "(Social Institutions) do not exist in their own right to over-powcer men but only to serve them and when they cease to serve, no antiquity and no sanctity can save them from condemnation, " Mac-Iver, R M Community, p p 162 163

लोगों का समाजीकरण और उनके व्यवहार प्रतिमान को सरल और नियमित करती हैं। व्यक्तियो के व्यवहार-प्रतिमान का सम्थायन (Institutionaligation) उस समय होता है जब वे सस्थाओ के आदर्श प्रतिमानो के अनुरूप व्यवहार करते हैं।[11] सस्थाए एक समाज के सास्कृतिक प्रतिमान को स्थायित्व प्रदान करती हैं। वे व्यक्तियों के व्यवहार-प्रतिमानो को समन्वित एव नियमित करती हैं। सामाजिक सस्थाएं सामाजिक नियन्त्रण को बनाए रखने मे अपूर्व योग देती हैं। सामाजिक नियन्त्रण से व्यक्तियों में सामाजिक सामजस्य पनपता है तथा समाज मे सुव्यवस्था बनी रहती है। किसी भी समाज मे उसी समय शान्ति रहती है जब व्यक्ति सामाजिक सस्थाओ के आदर्श-नियमो के अनुरूप कार्य करते हैं। अत सस्थाए सामाजिक व्यवस्था और समन्वय बनाये रखने मे महत्वपूर्ण सहायता देती हैं।

आर० टी० लेपियर के अनुसार सामाजिक सस्थाए सामाजिक समूहो की रीतिया हैं जिनका लक्ष्य मानव अस्तित्व की समस्याओ को हल करना है। आपने बतलाया है कि सस्थाए व्यक्तियो का समाजीकरण करती हैं और समूह-मनोबल को बनाये रखने मे सहायता करती हैं। वे व्यक्तियो को शत्रुओ से अपना बचाव करने योग्य बनाती हैं, और इस प्रकार सामाजिक समूह को स्थायी बनाये रखने मे योग देती हैं।[12] सस्था की सरचना तथा उसके प्रकार्यों में एकता होती है। एक सस्था ऐसी सगठित समग्रता है जिसका समाज की अन्य सस्थाओ के साथ प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष सम्बन्ध पाया जाता है। एक सामाजिक व्यवस्था (Social System) उसी समय ठीक प्रकार से काम करती है, यदि उनकी विभिन्न सामाजिक सस्थाओ के बीच सगति पाई जाती है।

सामाजिक संस्थाओं का अध्ययन क्यों (Why we should study sociel Institutions)

सामाजिक सस्थाओ के पीछे जन-समूह का सदियो का अनुभव छिपा रहता है। इस कारण ये सस्थाए समाज के लिए बहुत ही उपयोगी होती हैं। समाज मे पायी जाने वाली सामाजिक सस्थाओ के आधार पर हमे (उस समाज के) भूत एव भविष्य को समझने मे सहायता मिलती है। भूतकालीन सस्थाओ के पीछे सदियो का सफल अनुभव होने के कारण इनको वर्तमान मे एकाएक समाप्त नही किया जा सकता क्योंकि प्रत्येक सस्था की कोई न कोई उपयोगिता अवश्य होती है। यद्यपि परिवर्तित परिस्थितियो मे उसकी उपयोगिता मे अपेक्षाकृत कमी आ सकती है, तथापि वह हमें भविष्य को समझने मे सहायता करती है।

कुछ लोगो का कहना है कि आज वैज्ञानिक युग मे भूतकालीन भारतीय सामाजिक सस्थाओ के अध्ययन का कोई महत्त्व नही रहा है तथा ये वर्तमान सामाजिक जीवन के गठन एव नियन्त्रण मे सहायक नही है। इस कथन की प्रामाणिकता को सिद्ध करने के

---

11 A K Sinha, Social Institutions of India, p 9
12 R T Lapiere, Sociology, p 71

लिए भी भारतीय सामाजिक सस्थाओ का अध्ययन करना होगा। ऐसे अध्ययन के पश्चात् ही हम कह सकते हैं कि वर्तमान समय मे अमुक सस्थाए उपयोगी हैं और अमुक अनुपयोगी। भूतकालीन भारतीय सामाजिक सस्थाओ के अध्ययन द्वारा हम समझ सकेंगे कि हमारे पूर्वजो ने अपने समय की समस्या को हल करने के लिए किन पद्धतियो को अपनाया। इस अध्ययन से पूर्वजो द्वारा भूतकाल मे की गई त्रुटियो से बचा जा सकेगा, उनके सफल अनुभवो का लाभ उठाया जा सकेगा और भावी सामाजिक व्यवस्था के पुर्ननिर्माण मे सहायता मिलेगी। भूतकालीन सामाजिक सस्थाओ के अध्ययन द्वारा हम वर्तमान परिस्थितियो और घटनाओ को भली प्रकार समझ सकेंगे और अपने भविष्य का नियोजन कर सकेंगे।

समय एव परिस्थितियो के बदलने के साथ सामाजिक सस्थाओ के स्वरूप एव कार्यो मे भी परिवर्तन होता रहता है। वर्तमान मे प्राचीन सस्थाओ के बारे मे यह कहा जाता है कि आज इनकी कोई उपयोगिता नही है, इसलिए इन्हे समाप्त कर देना चाहिए। यद्यपि इस बात को स्वीकार किया जा सकता कि समय एव परिस्थितियो के बदल जाने के कारण सस्थाओं की उपयोगिताओ मे कई बार कमी आ सकती है तथापि किसी भी भूतकालीन सस्था के सम्बन्ध मे यह कहना कि चू कि यह प्राचीन है, इस कारण इसे समाप्त कर देना चाहिए, वैज्ञानिक दृष्टिकोण से उचित प्रतीत नही होता। यदि कोई प्राचीन सस्था परिवर्तित परिस्थितियो मे उपयोगी नही हैं तो हमे यह सिद्ध एव स्पष्ट करना होगा कि वास्तव मे बदली हुई परिस्थितियो में उस सस्था की कोई उपयोगिता नही है। केवल मात्र यह कह देने से कि भूतकालीन सस्थाओ की वर्तमान समय मे कोई उपयोगिता नही है, काम नही चल सकता, वास्तव मे वैज्ञानिक आधार पर इसे प्रमाणित करना होगा। यह सम्भव है कि परिस्थितियो के बदलने से किसी सस्था का महत्व कम अथवा अधिक हो जाय, किन्ही परिस्थितियो मे किसी सस्था का महत्त्व अधिक हो सकता है और किन्ही मे कम। परन्तु इस सम्बन्ध मे वास्तविकता का पता लगाना होगा। यदि इस बात को स्वीकार कर लिया जाय कि परिवर्तित परिस्थितियो में भूतकालीन सस्था की कोई उपयोगिता नही है, तो भी इस सत्य से इन्कार नही किया जा सकता कि इन सस्थाओं के पीछे लाखो-करोडो व्यक्तियो का सैकडो हजारो वर्षों का अनुभव छिपा रहता है। यह मनुष्यो के मन एव मस्तिष्क मे अपना स्थान बनाये रहती हैं। इस कारण इन सस्थाओ के प्रभाव को मनुष्य के मस्तिष्क से आसानी से दूर नही किया जा सकता।

आज बहुत से उत्साही सामाजिक कार्यकर्ता प्राचीन विचारों, आदर्शो तथा सामाजिक सस्थाओ को जड से समाप्त करने के पक्ष मे हैं। वे यह भूल जाते हैं कि जो विचार, आदर्श एव सामाजिक सस्थाए अपनी उपयोगिता के कारण सैकडा वर्षों से लोगो के दिल और दिमाग पर गहरा प्रभाव जमाये हुए है, उन्हे अनेक प्रयत्नो के बावजूद भी शीघ्र ही समाप्त नही किया जा सकता। व्यक्ति नवीन परम्पराओ एव सस्थाओ को तुरन्त स्वीकार नही करता, चाहे उनसे कितना ही लाभ क्या न हो। देश मे शिक्षा की कमी के कारण भी भूतकालीन सस्थाओं के प्रभाव को शीघ्र ही समाप्त कर नवीन सस्थाओ का विकास नही किया जा सकता। यदि कोई प्राचीन विचार, आदर्श अथवा सामाजिक सस्था वास्तव मे हानिकारक है, तो उसे समाप्त करने के लिए लोगो को धीरे-धीरे तैयार करना होगा, नवीन विचारों को ग्रहण करने के लिए उन्हें प्रेरित करना होगा।

यह सब सफलतापूर्वक करने के लिए लोगो की प्राचीन परम्पराओं एव उनकी सामाजिक संस्थाओं को स्पष्ट रूप मे उनके सामने प्रस्तुत करना होगा। उनकी उत्पत्ति, विकास और परिणामो पर प्रकाश डालना होगा तथा दोष बतलाने होंगे। नैतिक और सामाजिक क्षेत्रो म नवीन विचारो और आदर्शों को प्रस्तावित करने के पूर्व समाज-सुधारको को इस ओर भी ध्यान देना होगा कि जो विचार, आदर्श और सामाजिक संस्थाए सैकड़ो वर्षों से सामाजिक व्यवस्था को नियन्त्रित करती आ रही हैं और आज भी जीवित हैं, उनमे निश्चित रूप से कोई गुण अवश्य होगा जिसकी जाच की जानी चाहिए। भारतीय सामाजिक संस्थाओ के अध्ययन मे इस प्रकार के वैज्ञानिक दृष्टिकोण को अपना कर हम अपनी श्रेष्ठ प्राचीन विरासत को बचाये रख सकेंगे तथा अपनी श्रेष्ठ परम्पराओं को बिना विचारे छोडने से बच सकेंगे। जहा प्राचीन विचार और आदर्शों से छुटकारा प्राप्त कर नवीन को अपनाना आवश्यक हो, वहा प्राचीन और नवीन विचारो एव आदर्शों मे सामजस्य स्थापित किया जाना चाहिए। यह सब विस्तृत अध्ययन एवं विश्लेषण से ही सम्भव है।

संस्थाओं का समाजशास्त्रीय महत्त्व (Sociological Importance of Institutions)

समाज मे संस्थाओं का महत्त्व अत्यधिक है, क्योकि ये संस्कृति की वाहक होती हैं। अत किसी भी संस्कृति को समझने के लिए संस्थाओं का अध्ययन अनिवार्य है। संस्थाओं की अपनी ऐसी विशेषताए होती हैं जिनके कारण वे लम्बी अवधि तक समाज मे अपना अस्तित्व बनाये रखती हैं। भारतीय सामाजिक संस्थाओं की प्रमुख विशेषताए —प्राचीनता, स्थायित्व, सहिष्णुता, अनुरूपता, समन्वय, धर्म-प्रधानता, रूढ़िवादिता आदि हैं। इन विशेषताओं के कारण समाज मे इनका महत्त्व और भी बढ जाता है। एक ओर तो ये संस्थाएं मनुष्यो की आवश्यकताओं की पूर्ति करती है तथा दूसरी ओर व्यक्तियों के व्यवहारो पर नियन्त्रण रखती हैं। इस कारण समाज म व्यवस्था बनी रहती है। किसी भी समूह अथवा समाज को समझने के लिए हमे उसकी संस्कृति को जानना आवश्यक है। संस्थाओ के अभाव मे संस्कृति को नही समझा जा सकता है। स्पष्ट है कि संस्थाओं का समाजशास्त्रीय महत्त्व अत्यधिक है क्योकि समाजशास्त्र के अन्तर्गत हम समाज तथा उसकी संस्कृति का अध्ययन प्रमुख रूप से करते हैं। किसी भी समाज को ठीकप्र कार से समझने के लिए हमे उसकी संस्कृति का अध्ययन करना पडता है। संस्कृति का यह अध्ययन संस्थाओं के माध्यम से होना है।

यदि हम यह जानना चाहते हैं कि किसी समाज मे मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति किस प्रकार करते हैं तो यह जानकारी हम केवल सामाजिक संस्थाओं के अध्ययन से ही मिल सकती है। समाज मे रहते हुए सामाजिक परिवर्तन को आंकने हेतु सामाजिक संस्थाओं का अध्ययन परम आवश्यक है। समूह के व्यवहार का अध्ययन करने के लिए भी सामाजिक संस्थाओं का अध्ययन आवश्यक है। अत स्पष्ट है कि किसी भी समाज का अध्ययन करने हेतु उसकी सामाजिक संस्थाओं का अध्ययन अनिवार्य है। सामाजिक संस्थाओं का महत्त्व इस दृष्टि से काफी है कि इन्ही के माध्यम से मानव अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति करता है, अपने लक्ष्यों को प्राप्त करता है। इन्हीं के अनुरूप व्यवहार करता हुआ वह अपने सामाजिक जीवन को सुखमय, शान्तिपूर्ण तथा समृद्धिशाली बना पाता है।

अपनी कुछ विशेषताओं के कारण भारतीय सामाजिक संस्थाओं का विश्व मे आदरणीय स्थान है। प्रस्तुत पुस्तक मे इन्ही मे से कुछ विशिष्ट संस्थाओ का अध्ययन किया गया है। समाजशास्त्र के विद्यार्थियो के लिए इन भारतीय सामाजिक संस्थाओ का अध्ययन करना अति आवश्यक है, क्योंकि इनके अध्ययन से हमे भारतीय संस्कृति को समझने मे मदद मिलती है। अत भारतीय आत्मा को जानने के लिए इन सामाजिक संस्थाओ का अध्ययन अनिवार्य है।

संस्थायन का विकास (Development of Institutionaliyation)

यहा हमे इस बात को भी ध्यान मे रखना है कि एक संगठित और स्थायी समाज मे संस्थायन का विकास होता है, अर्थात् लोग संस्थाओ के आदर्श–प्रतिमानो के अनुरूप व्यवहार करते हैं। ए० के० सिन्हा के अनुसार संस्थायन के विकास द्वारा ही एक समाज के सदस्य अपने सामाजिक-सांस्कृतिक पर्यावरण के साथ सामजस्य कर पाते हैं। इसके द्वारा व्यक्तियो के व्यवहार प्रतिमान अधिकाधिक नियमित हो पाते हैं। ऐसी दशा मे वे संस्थागत स्वीकृत आचरण के तरीको के अनुरूप व्यवहार करते हैं। संस्थायन से समाज मे व्यक्तियो की कार्य-कुशलता बढती है। व्यक्ति संस्थाओ के आदर्श-नियमो को ध्यान मे रखकर ही अपनी प्रस्थिति के अनुरूप भूमिका निभाता है। संस्थागत आदर्श–नियमो के बढते हुए स्थायित्व के साथ साथ व्यवहार मे विचलन (Deviation) का क्षेत्र घटता जाता है।[13]

जिस समाज मे अत्यधिक संस्थायन हो जाता है, वहा समाज मे कठोरता पनपती है। वहां सामाजिक परिवर्तन एव सामाजिक प्रगति मे बाधा उपस्थित होती है। अत्यधिक संस्थायन से विशिष्टता, मौलिकता और व्यक्ति की स्वतन्त्रता घटती है। जब व्यक्ति व्यवहार के संस्थागत आदर्श–नियमो को बहुत अधिक महत्त्व देता है तो मौलिकता और रचनात्मक साहस मे कमी आती है। आचरण के तरीको के कठोरतापूर्वक पालन या अन्धानुकरण से संस्थाओ की अकुशलता और व्यक्तियों की असुविधा बढती है।[14] स्पष्ट है कि अधिक मात्रा मे संस्थायन व्यक्तियो तथा सम्पूर्ण समाज के लिये हानिकारक सिद्ध होता है।

प्रश्न

(१) सामाजिक संस्था का अर्थ स्पष्ट करते हुए इसके विकास पर प्रकाश डालिए।
(२) सामाजिक संस्था की अवधारणा स्पष्ट कीजिए। संस्था के आवश्यक तत्त्व बताइये।
(३) संस्था का अर्थ स्पष्ट करते हुए इसके कार्यों पर प्रकाश डालिए।
(४) भारतीय सामाजिक संस्थाओ के अध्ययन की क्या उपयोगिता है ?
(५) संस्थाओ का समाजशास्त्रीय महत्त्व बताइये तथा संस्थायन के प्रकार्यात्मक तथा अप्रकार्यात्मक पहलुओ को स्पष्ट कीजिए।

□ □ □

13. A K. Sinha, op cit, p 13
14 Ibid, p 14

अध्याय 2

वर्ण व्यवस्था

(VARNA SYSTEM)

मैकाइवर और कूले आदि समाजशास्त्रियो ने अपने अध्ययन के आधार पर बतलाया है कि सामाजिक वर्ग विश्व के सभी समाजो मे किसी न किसी रूप मे अवश्य पाये जाते हैं। कही पर सामाजिक वर्गों का निर्माण जन्म के आधार पर होता है तो कही पर धन के आधार पर। इतना निश्चित है कि सामाजिक वर्ग प्रत्येक समाज मे पाए अवश्य जाते हैं। मनुष्य की प्रवृत्तियो तथा व्यवसायों के आधार पर उन्हे विभिन्न वर्गों मे बाटने के प्रयत्न प्राचीन समय से ही होते रहे हैं। इन प्रवृत्तियो तथा व्यवसायो के आधार पर समाज का विभाजन ससार के सभी देशो मे पाया जाता है। इग्लैंड के प्रसिद्ध विद्वान एच० जी० वैल्स (H. G. Wells) का कहना है कि मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियो के आधार पर समाज विभाजन से समाज का श्रेष्ठ विकास होता है तथा उसकी शक्ति बढती है। किंग्स्ले डेविस (Kingsley-Davis) और मूरे (Moore) ने सामाजिक वर्गों का विश्लेषण करते हुए बतलाया है कि समाज अपनी स्थिरता एव उन्नति के लिये अपने व्यक्तियो को उनकी योग्यता एव प्रशिक्षण को ध्यान मे रखते हुए विभिन्न वर्गो म बाट देता है। प्राचीन भारतीय सामाजिक विचारको ने भी मनुष्य की मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियो को दृष्टि म रखते हुए सामाजिक स्तरीकरण (Social Stratification) की एक सुनियोजित नीति को अपनायी तथा कार्यात्मक दृष्टि से समाज को चार वर्गों मे विभाजित किया। ये वर्ण है—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र।

वर्ण-व्यवस्था भारतीय सामाजिक सगठन के मौलिक तत्व के रूप मे पाई जाती है। ऋग्वेद में कई स्थानो पर बतलाया गया है कि उस समय समाज का सम्पूर्ण कार्य व्यवस्थित ढग से चलता था। समाज मे प्रत्येक व्यक्ति का स्थान तथा उससे सम्बन्धित कार्य उसकी प्रवृत्तियो अर्थात् गुणों पर आधारित थ। वर्ण और आश्रम दो ऐसी व्यवस्थाए हैं जिनके आधार पर हिन्दुओं का व्यक्तिगत एव सामाजिक जीवन सगठित हुआ है। "वर्णाश्रम-व्यवस्था" व्यक्ति की प्रकृति एव उसके पालन-पोषण की समस्याओ से सम्बन्धित है। यह व्यवस्था सामाजिक सगठन के हिन्दू सिद्धान्त की आधार शिला के रूप मे कार्य करती है। भारतीय मनीषियो ने वर्णाश्रम-व्यवस्था के रूप मे ऐसी अनोखी व्यवस्था को जन्म दिया जिसमे समाज एव व्यक्ति--दोनो को समान रूप से महत्त्व मिला है। वे इस तथ्य से पूर्णतः परिचित थे कि समाज का विकास व्यक्तित्व के विकास के लिये आवश्यक है और इसकी समुचित सुविधाओ के उपलब्ध होने पर ही सामाजिक व्यवस्था को स्थायित्व प्रदान किया जा सकता है। इन्ही दो लक्ष्यो को दृष्टि मे रखकर वर्ण-व्यवस्था एव आश्रम-व्यवस्था का निर्माण किया गया है। भारतीय सामाजिक विचारधारा के वास्तविक स्वरूप को समझने

के लिये इन दोनो व्यवस्थाश्रो का अध्ययन आवश्यक है। वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत सामाजिक जीवन के कार्यात्मक विभाजन की दृष्टि से समाज को चार भागो मे बाटा गया है। आश्रम-व्यवस्था मे व्यक्तिगत जीवन को समुन्नत बनाने एव व्यक्तिगत-विकास के पूर्ण अवसर प्रदान करने हेतु जीवन को चार भागो मे विभाजित किया गया है। ये दोनो व्यवस्थाएँ परस्पर घनिष्ठ रूप मे सम्बन्धित हैं, इनके अन्तर्गत व्यक्तियो के अलग-अलग कर्त्तव्यो का निर्धारण किया गया है। व्यक्ति आश्रम-व्यवस्था के अन्तर्गत अपने व्यक्तित्व का विकास, जीवन को अनुशासित और धर्मानुसार अपने दायित्वो का निर्वाह करता है। वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत वही व्यक्ति अपनी शक्तियो का उपयोग सामूहिक हित मे करता है, सामाजिक कल्याण हेतु अपने वर्ण-धर्म का पालन करता है। आश्रम-व्यवस्था का वर्णन अन्य अध्याय मे किया गया है। यहा वर्ण-व्यवस्था पर विचार किया गया है। वर्ण-व्यवस्था के पूर्ण विवेचन के लिये यह आवश्यक है कि "वर्ण" शब्द के अर्थ को ठीक प्रकार से समझ लिया जाए।

वर्ण का अर्थ
(Meaning of Varna)

वर्ण शब्द की व्युत्पत्ति 'वृ' (वृत-वरणे) धातु से हुई है जिसका अर्थ है वरण अथवा चुनाव करना। इस प्रकार, व्यक्ति अपने कर्म तथा स्वभाव के आधार पर जिस व्यवसाय का चुनाव करता है, वही वर्ण है। सर्व प्रथम वर्ण शब्द का प्रयोग ऋग्वेद मे रग अर्थात् काले और गोरे रग की जनता के लिए किया गया है और प्रारम्भ मे आर्य तथा दास, इन दो वर्णों का ही उल्लेख मिलता है। डा० धुरिये ने बतलाया है कि आर्य लोगों ने यहा के आदिवासियो को पराजित करके उन्हें दास या दस्यु नाम दिया और अपने तथा उनके बीच अन्तर प्रकट करने के लिए वर्ण शब्द का प्रयोग किया जिसका अर्थ रग-भेद से है।[1] वर्ण के इस अर्थ से ऐसा ज्ञात होता है कि इस शब्द का प्रयोग आर्यों तथा दस्युओ के बीच पाये जाने वाले प्रजातीय अन्तर को स्पष्ट करने हेतु किया गया।

श्री पाण्डुरग वामन काणे की मान्यता है कि प्रारम्भ मे गौर वर्ण का प्रयोग आर्यों के लिए तथा कृष्ण वर्ण का दासों या दस्युओ के लिए किया जाता था। धीरे-धीरे वर्ण शब्द का प्रयोग गुण तथा कर्मों के आधार पर बने हुए चार बडे वर्गों के लिए किया गया। फ्रेन्च विद्वान सेनार्ट (Senart) ने इसी मत का प्रतिपादन करते हुए लिखा है कि आर्यों तथा दस्युओ के रग को व्यक्त करने वाला वर्ण शब्द बाद मे समाज के चार वर्गों को व्यक्त करने लगा।[2] वास्तव मे वर्ण शब्द का अर्थ शाब्दिक दृष्टि से नही समझा जा सकता। वर्ण का सम्बन्ध व्यक्ति के गुण तथा कर्म से पाया जाता है। जिन व्यक्तियो के गुण तथा कर्म एक से थे अर्थात् जिनमे स्वभाव की दृष्टि से समानता थी, वे एक वर्ण के माने जाते थे। इस बात का प्रमाण हमे भगवद्गीता मे मिलता है जहा श्रीकृष्ण ने कहा है—"मैंने ही गुण और कर्म के आधार पर चारो वर्णों की रचना की है।"[3] स्पष्ट है कि वर्ण व्यवस्था

---

1. G S Ghurye - 'Caste Class and Occupation' P 45
2. Senart Caste in India', P 128
३. चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुण कर्म विभाजनः।
गीता अध्याय-४, श्लोक १३.

सामाजिक स्तरीकरण की एक ऐसी व्यवस्था है जो व्यक्ति के गुण तथा कर्म पर आधारित है और जिसके अन्तर्गत समाज का चार वर्णों के रूप मे कार्यात्मक विभाजन हुआ है। समाज मे सभी कार्यों को सुचारू रूप से चलाने के उद्देश्य से व्यक्तियो की स्वाभाविक प्रवृत्तियो को ध्यान मे रखते हुए उन्हें विभिन्न समूहों अर्थात् चार वर्णों मे विभाजित किया गया था। प्रत्येक वर्ण अपने अपने कार्यों को पूर्ण करता हुआ सामाजिक उन्नति मे योग देता था।

वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति (Origin of Varna System)

वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे भिन्न-भिन्न विचार व्यक्त किये गये हैं। वेद, उपनिषद्, महाभारत, गीता तथा अन्य धर्म-ग्रन्थों मे इस व्यवस्था की उत्पत्ति पर प्रकाश डाला गया है। यहा इन्ही ग्रन्थो मे विद्वानो द्वारा प्रकट किये गये विचारो के आधार पर हम वर्णों की उत्पत्ति को समझने का प्रयत्न करेंगे।

ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में वर्णों की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे बतलाया गया है कि ब्राह्मण पुरुष अर्थात् विराट स्वरूप परमात्मा के मुख रूप हैं, क्षत्रिय उनकी भुजायें हैं, वैश्य उनकी जघाएं अथवा उदर हैं और शूद्र उनके पांव हैं।[4] ब्राह्मण की उत्पत्ति पुरुष के मुख से हुई है और मुख का कार्य बोलना है, इसलिये ब्राह्मणो का कार्य बोलना और अध्यापकों और गुरुओं के रूप में अन्य व्यक्तियो को शिक्षित करना है। भुजाएँ शक्ति की सूचक हैं, इसलिए क्षत्रियो का कार्य शासन-सचालन एव शस्त्र धारण कर समाज की रक्षा करना है। जघाएँ बलिष्ठता एव पुष्टता की प्रतीक हैं, इसलिये वैश्यो का कार्य कृषि तथा व्यापार के द्वारा सम्पत्ति का उत्पादन और लोगो की उदर पूर्ति करना है। शूद्र विराट पुरुष के पैरों से उत्पन्न हुए हैं और पैरो का कार्य शरीर के भार को वहन करना है, इसलिये शूद्रो का कार्य सेवा द्वारा समाज के भार को वहन करना है। विराट पुरुष के शरीर के विभिन्न अगो से चार वर्णों की उत्पत्ति इस बात को व्यक्त करती है कि चारो वर्णों में भिन्न भिन्न स्वभावगत विशेषताएँ पायी जाती हैं तथा एक ही शरीर के अलग-अलग अवयव या भाग होने के कारण उनमे पारस्परिक अन्तरनिर्भरता दिखलायी पडती है। स्पष्ट है कि पुरुष-सूक्त के इस श्लोक के आधार पर विभिन्न वर्णों के पृथक्-पृथक् गुण तथा कर्म माने गये हैं।

उत्तर वैदिक काल मे रचित उपनिषदो मे वृहदारण्यक तथा छान्दोग्य उपनिषद् मे वर्णों की उत्पत्ति पर प्रकाश डाला गया है। वृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार ब्रह्मा ने प्रारम्भ मे केवल ब्राह्मणो को ही जन्म दिया। लेकिन वे समाज से सम्बन्धित सभी कार्यों को ठीक प्रकार से पूरा नही कर सके। ऐसी दशा मे कल्याण को दृष्टि मे रखकर ब्रह्मा ने क्षत्रिय वर्ण की रचना की। क्षत्रिय के अन्तर्गत अनेक देवता जैसे इन्द्र, वरुण, सोम तथा यम आदि आते हैं। जब ब्रह्मा ने देखा कि क्षत्रियो की उत्पत्ति के उपरान्त भी सन्तोषजनक तरीके से कार्यों का सचालन नही हो रहा है, तब उन्होने वसु, आदित्य, मारुत आदि देवताओं के रूप मे वैश्यो की उत्पत्ति की। इन सबके जन्म के पश्चात् भी जब काफी प्रगति नहीं हो सकी, सामाजिक कार्यो का पूर्णता के साथ सम्पादन नहीं हो सका तब पूशान

---

4. ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद बाहु राजन्य: कृत।
उरू तदस्य यद्वैश्य: पद्भ्यां, शूद्रो अजायत। ऋग्वेद, १०।९०।१२।

देवता के रूप मे शूद्र की उत्पत्ति हुई। स्वर्गलोक की इस वर्ण-व्यवस्था के आधार पर ही मृत्युलोक के वर्णों की उत्पत्ति हुई।[5] इससे स्पष्ट है कि अलग-अलग समय पर सामाजिक परिस्थितियो के अनुसार भिन्न-भिन्न वर्णों की उत्पत्ति हुई और इनका मूल आधार इनके द्वारा की जाने वाली विभिन्न प्रकार की सेवाएँ रही हैं। छान्दोग्य उपनिषद् में विशिष्ट वर्ण की सदस्यता के सम्बन्ध में बतलाया गया है कि यह व्यक्ति के पूर्वजन्म में किये गए कर्मों की प्रवृत्ति पर निर्भर करता है। जिन्होने पूर्वजन्म मे अच्छे कार्य और आचरण किये हैं, उन्हें ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य वर्ण मे जन्म लेने का सुअवसर प्राप्त होता है। तात्पर्य यह है कि पूर्वजन्म के कर्मों के आधार पर व्यक्ति की स्वभावगत विशेषताएँ बनती हैं और उसके वर्ण का निर्धारण होता है। इस प्रकार उपनिषदों में विभिन्न वर्णों की उत्पत्ति का आधार व्यक्तियो के विविध गुण तथा कर्म माने गए हैं।

महाभारत में भी वर्णों को उत्पत्ति विराट पुरुष के शरीर के विभिन्न अगो से मानी गई है। ब्राह्मणो की उत्पत्ति ब्रह्मा के मुख स, क्षत्रियो की भुजाओ से, वैश्यो की जघाओ से और शूद्र की पाँव से। ब्राह्मणो की उत्पत्ति वेदो तथा अन्य धर्म-ग्रन्थो की रक्षा के लिए, क्षत्रियो की शासन-सचालन तथा अन्य सभी प्राणियो की रक्षा के लिए, वैश्यो की अन्य दो वर्णों तथा स्वय के भरण-पोषण हेतु कृषि एव व्यापार करने के लिए और शूद्र की शेष तीन वर्णों की सेवा करने के लिये हुई है। शान्तिपर्व मे अपने शिष्य भारद्वाज को सम्बोधित करते हुए महर्षि भृगु ने कहा है कि प्रारम्भ मे केवल एक ही वर्ण ब्राह्मण (द्विज) था। यही वर्ण बाद मे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के रूप मे विभक्त हो गया। ब्राह्मणो का रग श्वेत था जो पवित्रता-सतोगुण का परिचायक था। क्षत्रियो का लाल रग था जो क्रोध एव राजस गुण को व्यक्त करता था, वैश्यो का पीला रग था जो रजोगुण एव तमोगुण के मिश्रण का सूचक था और शूद्रो का काला रग था जो अपवित्रता एव तमोगुण की प्रधानता का द्योतक था। इससे स्पष्ट है कि भृगु ने वर्णों की उत्पत्ति रग-भेद अथवा जन्म के आधार पर न मानकर गुण तथा कर्म के आधार पर मानी है। प्रारम्भ मे ब्रह्मा ने बिना ऊँची नीच के भेद के सबको समान उत्पन्न किया था। लेकिन कालान्तर में जो ब्राह्मण अपने वर्ण धर्म से भिन्न प्रकार की विशेषताएँ व्यक्त करने लगे, उन्हे उनके गुण एव कर्म के आधार पर क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र कहा गया। इस प्रकार विभिन्न वर्णों की उत्पत्ति हुई।

गीता मे कहा गया है कि समाज का चार वर्णों मे विभाजन गुण के आधार पर हुआ है और भारतीय दर्शन के अनुसार ये गुण—सत्व, रज तथा तम है। साख्य दर्शन के अनुसार इस ससार का विकास इन तीन गुणो से हुआ है। इन गुणो के द्वारा ही मन की रचना होती है और उसकी तीन प्रवृत्तियाँ—सात्विक, राजसिक तथा तामसिक बनती है। इनसे चार प्रवृत्तियाँ बनती हैं सात्विक, सात्विक-राजसिक, राजसिक-तामसिक और तामसिक। इन चार प्रवृत्तियो के आधार पर ही समाज का चार वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के रूप मे विभाजन किया गया है। सात्विक प्रवृत्ति वाला व्यक्ति जीवन के प्रति आध्यात्मिक दृष्टिकोण रखता है और ब्राह्मण कहलाता है। सात्विक और राजसिक प्रवृत्ति

5 Prof. Ranade, "A Constructive Survey of Upanishadic Philosophy", P. 60

से युक्त व्यक्ति क्रियाशीलता की प्रधानता के कारण क्षत्रिय कहलाता है। राजसिक और तामसिक प्रवृत्ति वाला व्यक्ति वैश्य कहलाता है। तामसिक प्रवृत्ति वाले व्यक्ति मे अज्ञता पाई जाती है और ऐसे व्यक्ति को शूद्र कहा गया है।

महाभारत काल तक वर्णों की उत्पत्ति का आधार गुण तथा कर्म को माना गया। परन्तु धीरे-धीरे स्मृतिकारों का झुकाव सामाजिक स्तरीकरण की इस व्यवस्था को कठोर बनाने की ओर था। अतः उन्होंने ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त की व्याख्या अपने ही तरीके से करना प्रारम्भ कर दिया और वर्ण-व्यवस्था को एक ईश्वरी व्यवस्था के रूप में स्वीकार किया। परिणाम यह हुआ कि गुण तथा कर्म पर आधारित उदार वर्ण-व्यवस्था में कठोरता आती गई और व्यक्ति के लिए वर्ण परिवर्तन साधारणतः सम्भव नही रहा।

वर्ण—व्यवस्था का आधार—जन्म अथवा कर्म
(Basis of Varna-System–Birth or Karma)

वर्ण-व्यवस्था के सम्बन्ध में एक मूल प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यह जन्म पर आधारित थी अथवा गुण व कर्म पर। व्यक्ति की वर्ण विशेष की सदस्यता का निर्धारण उसके किसी विशिष्ट परिवार में जन्म के आधार पर होता था अथवा उसके गुण एवं कर्म के आधार पर। साधारणतः वर्ण सदस्यता का आधार जन्म को न मानकर गुण तथा कर्म को माना जाता है। लेकिन फिर भी इस सम्बन्ध मे विद्वानो ने विरोधी मत व्यक्त किये हैं।

वर्ण-सदस्यता के आधार के सम्बन्ध में प्रसिद्ध विचारक डा० राधाकृष्णन का कथन है कि इस व्यवस्था मे वंशानुसंक्रमणीय क्षमताओं का महत्व अवश्य था, परन्तु फिर भी मुख्यतया यह व्यवस्था गुण तथा कर्मों पर आधारित थी। आपने बतलाया है कि महाभारत एवं इसके पूर्व के काल की घटनाओं के अवलोकन से स्पष्ट होता है कि उस समय वर्ण–परिवर्तन सम्भव था। विश्वामित्र, राजा जनक, महामुनी व्यास, वाल्मीकि, अजमीढ और पुरामीढ अपने गुण तथा कर्मों के आधार पर अपना वर्ण परिवर्तित कर पाये। यास्क ने अपने 'निरुक्त' में सन्तनु एवं देवापि नामक दो भाईयों का उल्लेख करते हुए कहा है कि उनमे से एक ने क्षत्रिय राजा के रूप मे और दूसरे ने ब्राह्मण पुरोहित के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त की। भागवत में तो यहाँ तक उल्लेख मिलता है कि धष्ट्र नाम की क्षत्रिय जाति अपने कर्मों के आधार पर ब्राह्मण बन गई। स्मृति के अनुसार जन्म के समय व्यक्ति को शूद्र मानना और तत्पश्चात् उपनयन तथा अनेक अन्य संस्कारों के द्वारा शुद्ध होने पर उसे द्विज-ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य के रूप मे प्रतिष्ठा प्रदान करना भी यही प्रकट करता है कि वर्ण सदस्यता के निर्धारण मे कर्म का महत्त्व मुख्य था। यदि वर्ण का आधार जन्म होता तो यह सब सम्भव नही हो सकता था।

डा० जी० एस० घुरिये ने कर्म को वर्ण का आधार माना है। आपने बतलाया है कि प्रारम्भ मे भारत मे दो ही वर्ण थे—आर्य और दास अथवा दस्यु। आर्य भारत में विजेता के रूप में आये थे। उन्होंने अपने को श्रेष्ठ और यहाँ के मूल निवासियों—द्रविडो को निम्न समझा, स्वयं को द्विज तथा द्रविड़ो को दास या दस्यु कहा। समय के साथ-साथ जैसे-जैसे आर्यों की संख्या में वृद्धि हुई—उनके कर्मों में भी विभिन्नता आती गई और द्विज वर्ण गुणों के आधार पर ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य वर्णों मे विभक्त हो गया। इन तीनों वर्णों के लोग एक ही मूल वर्ण–द्विज (आर्य प्रजाति) से सम्बन्धित थे। यही कारण है कि प्रारम्भ

मे इनमे आपस मे वैवाहिक सम्बन्ध होते थे तथा खान-पान एव सामाजिक सम्पर्क पर कोई कठोर प्रतिबन्ध नही थे।

श्री के० एम० पणिक्कर की मान्यता है कि विभिन्न वर्णों का आधार कर्म है न कि जन्म। आपका कथन है कि यदि जन्म ही वर्ण सदस्यता का आधार होता, तो विभिन्न वर्णों के पेशो मे किसी प्रकार का कोई परिवर्तन सम्भव नही था। परन्तु प्राचीन साहित्य से उपलब्ध प्रमाण यह प्रकट करते हैं कि ब्राह्मण न केवल धर्म-कार्यों का सम्पादन एव अध्ययन ही करते थे बल्कि वे साथ ही औषधि, शस्त्र-निर्माण एव प्रशासन सम्बन्धी कार्यों मे भी लगे हुए थे। 'जातक' नामक बौद्ध ग्रन्थ मे ब्राह्मणो को व्यापारियो एव आखेटको के रूप मे दिखलाया गया है। वैदिक काल से ही अनेक ऐसे उदाहरण पाए जाते हैं जिनके अनुसार जातीय-सस्तरण मे निम्नतम स्थिति वाले लोगो भी उन व्यवसायो तक को अपना सके जो सिद्धान्त रूप मे अन्य जातियो के एकाधिकार के अन्तर्गत आते हैं। वैदिक साहित्य मे कही ऐसा वर्णन नही मिलता जिससे प्रकट हो कि लोगो के लिये जन्म के आधार पर व्यवसाय को चुनना अनिवार्य था। पवित्र ग्रन्थ 'ऐतरेय ब्राह्मण' की रचना एक ब्राह्मण ऋषि एव उनकी दस्यु पत्नी से उत्पन्न औरस पुत्र ने की थी। इस कथन से स्पष्ट है कि वर्ण की सदस्यता कर्म के आधार पर प्राप्त होती थी न कि जन्म के आधार पर।

श्री पणिक्कर ने तो यहाँ तक कहा है कि समाज का चार वर्णों के रूप मे विभाजन का अस्तित्व वस्तुत कभी नही रहा, इसे ऐतिहासिक आधार पर सिद्ध किया जा सकता है।[6] हिन्दू समाज मे केवल ब्राह्मणो को ही एक वर्ण अथवा एकीकृत जाति के रूप मे माना जा सकता है। केवल ब्राह्मणो के ही सामान्य धार्मिक विधि-विधान एव जीवन के प्रति एक से दृष्टिकोण पाए जाते है। अन्य तीन वर्ण अथवा जातियो के सम्बन्ध मे यह बात नही कही जा सकती। उनके अनुसार, ऐसे ऐतिहासिक तथ्य उपलब्ध नही है जिनसे सिद्ध हो कि क्षत्रिय तथा वैश्य नाम के वर्ण भी पाये जाते थे। महापद्मनन्द के समय से इतिहास मे क्षत्रिय राजाओ का उल्लेख नही मिलता। केवल उन्नीसवी शताब्दी मे राजघरानो ने उच्च सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त करने हेतु अपने को क्षत्रिय माना। अपने-आप को क्षत्रिय कहने वाले लोग अपने विशिष्ट व्यवसाय के आधार पर ही ऐसा कहते हैं। वैश्यो के सम्बन्ध मे भी यही बात सत्य है। आनुवंशिक व्यवसाय के रूप मे जो लोग व्यापार एव वाणिज्य मे लगे, वे स्वय को वैश्य कहने लगे। एक एकीकृत जाति के रूप मे वैश्यो का अस्तित्व नही पाया जाता। 'शूद्र' वर्ण अथवा जाति एक ऐसा विविध समूह रहा है जिसके अन्तर्गत वे लोग आते है जिनका उपनयन सस्कार नही हुआ अर्थात् जो जनऊ धारण नही करते हैं।

श्री पणिक्कर की मान्यता है कि हिन्दू समाज सदैव से अनेक उपजातियो मे विभक्त रहा है। चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था मात्र एक सैद्धान्तिक व्यवस्था रही है जिससे अनेक जनजातियाँ, गोत्र-समूह एव पारिवारिक समूह अपने को सम्बन्धित मानते रहे हैं। केवल सैद्धान्तिक व्यवस्था होते हुए भी यह आज तक हिन्दू जीवन को अनेक रूपो मे नियन्त्रित करती रही है। प्रत्येक जाति स्वय को इन चार वर्णों मे से किसी एक के साथ

---

6. 'That the four fold division never in fact existed can be historically proved."
— K. M. Panikkar 'Hindu Society at Cross Roads' P 7

सम्बन्धित मानती है। चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था के आधार के रूप मे कर्म का महत्व स्वीकार किया गया है।

तथ्यो के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भ मे वर्ण-व्यवस्था गुण तथा कर्म पर आधारित थी। कालान्तर मे आनुवशिक व्यवसाय का महत्व बढता गया एव व्यक्ति की सामाजिक स्थिति मे निश्चितता, और व्यवसाय की भिन्नता के कारण व्यक्तियो की स्वभावगत विशेषताओ मे भिन्नता आने लगी। आज वर्ण-व्यवस्था समाज के एक सिद्धान्त के रूप मे अवश्य महत्वपूर्ण है। वस्तुत सैकडो जातियाँ और उपजातियाँ आज हिन्दू सामाजिक जीवन का आधार बन गई हैं।

विभिन्न वर्णों के धर्म (Duties of Various Varnas)

विभिन्न धर्म-ग्रन्थो मे अलग अलग वर्णों के कर्त्तव्यो अथवा उनके वर्ण-धर्मों का उल्लेख किया गया है। प्रत्येक वर्ण के लोगो से यह आशा की गई है कि वे अपने-अपने दायित्वो का निर्वाह करें। वर्ण धर्म पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वर्ण-व्यवस्था श्रम विभाजन की एक ऐसी सुनियोजित व्यवस्था थी जिसके द्वारा सभी प्रकार के कार्यों को विशेष ज्ञान के आधार पर पूर्ण करने का प्रयत्न किया जाता था।

(१) ब्राह्मणों का धर्म —ब्राह्मणों के प्रमुखत छ कर्म बताये गये हैं जिनमे अध्ययन और अध्यापन, यज्ञ करना और यज्ञ कराना, दान देना और दान लेना आते हैं। इन सभी कर्मों का सम्बन्ध सात्विक गुणो के साथ पाया जाता है। सात्विक गुण की प्रधानता के कारण ही ब्राह्मण को सबसे उच्च स्थिति प्रदान की गई है। भीष्म के अनुसार ब्राह्मण का मुख्य कर्त्तव्य पढना, आत्म नियत्रण करना एव तप का अभ्यास करना है। मनु ने बतलाया है कि वेदो का अनुशीलन (अभ्यास), तप, अध्ययन-अध्यापन एव यज्ञो का सम्पादन करना ब्राह्मण के प्रमुख दायित्व हैं।[7] ब्राह्मण के लिए यह भी बतलाया गया है कि उसे शान्त प्रकृति का होना चाहिए, धर्म के प्रति निष्ठा रखनी चाहिए और पवित्रतापूर्ण जीवन व्यतीत करना चाहिए। ब्राह्मण को यह आज्ञा भी दी गई है कि विशिष्ट परिस्थितियो मे आपद् धर्म के रूप मे क्षत्रिय धर्म का पालन करते हुए भी वह अपनी आजीविका कमा सकता है।

(२) क्षत्रियों का धर्म —मनुस्मृति मे बतलाया गया है कि प्रजा की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, अध्ययन करना तथा विषयो मे आसक्ति न रखना क्षत्रियो के प्रमुख कर्म हैं।[8] महाभारत मे बतलाया गया है कि क्षत्रिय वह है जो वेदो के अध्ययन मे लगा रहता है, जो ब्राह्मणो को दान देने मे रुचि रखता है तथा जो क्षत्रियोचित्त कर्मों का पालन करता है। क्षत्रिय का प्रमुख कार्य प्रजा की रक्षा करना, वीरता दिखाना, युद्ध से कभी मुँह नही मोडना तथा दुष्टो को दण्ड देने मे समर्थ होना आदि बतलाये गये हैं।

---

७. वेदोभ्यासो हि विप्रस्य तप परमिहोच्यते।
अध्यापनमध्ययन भजन याजन तथा।मनुस्मृति, २-१६६।

८ प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययन मेव च।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासत।मनुस्मृति, १—८९।

क्षत्रिय का यह भी धर्म है कि उसे प्रजा मे धर्म के प्रति प्रेम उत्पन्न करना चाहिए और प्रजा को सद्कर्मों की ओर प्रेरित करना चाहिए।

(३) वैश्यों का धर्म :—महाभारत के अनुसार वेदो के अध्ययन से सम्पन्न होकर व्यापार, पशु पालन तथा कृषि कार्य से अन्न का सग्रह करने मे रुचि रखने वालो को वैश्य माना गया है। वैश्यो के कर्त्तव्यो के सम्बन्ध मे मनुस्मृति मे बतलाया गया है कि पशुओ की रक्षा करना, दान देना तथा कृषि करना उनके मुख्य कार्य हैं।[9] गीता मे बतलाया गया है कि कृषि, गो-रक्षा और व्यापार वैश्यो के प्रमुख कर्म है। शुक्राचार्य के अनुसार उन लोगो को वैश्य कहा गया है जो क्रय, विक्रय करने मे कुशल हैं, व्यापार ही जिनका जीवन है, जो पृथ्वी पर पशुओ की रक्षा करते हैं और कृषि कार्यों मे लगे हुए हैं।

(४) शूद्रो का धर्म :—शूद्रो का केवल एक ही धर्म माना गया है और वह है—अन्य तीन वर्णों की बिना किसी ईर्ष्या भाव के सेवा करना।[10] शूद्र के लिए यह भी बतलाया गया है कि जहाँ तक सम्भव हो उसे किसी ब्राह्मण के सेवक के रूप में ही कार्य करना चाहिए। शूद्र के लिये अध्ययन करना, अन्य वर्णों के व्यवसाय को अपनाना तथा धन का सग्रह करना वर्जित बतलाया गया है। शूद्र का प्रमुख कार्य अपने स्वामी की स्वार्थरहित भाव से सेवा करना है। जहाँ शूद्रो का कार्य अन्य वर्णों की सेवा करना है वहाँ अन्य वर्णों का यह दायित्व भी है कि वे शूद्रो की आवश्यकताओ की पूर्ति करते रहे। महाभारत मे शूद्र उसे माना गया है जो वेद और सदाचार को त्याग कर सदैव सब कुछ खाने मे लगा रहता है और सभी तरह के काम करता है।

महाभारत मे बतलाया गया है कि वर्णों का विभाजन उपर्युक्त धर्मों के आधार पर ही किया गया है, न कि वर्ण के आधार पर उनके धर्म का निर्धारण।[11] इससे स्पष्ट है कि वर्ण-व्यवस्था का आधार प्रधानत: गुण तथा कर्म ही था। इस व्यवस्था के अन्तर्गत यदि कोई व्यक्ति अपने कार्यों से वर्ण च्युत हो जाता था तो उसे पुन अपने पूर्व वर्ण मे नही माना जा सकता था। वर्णों के उपरोक्त विशिष्ट धर्मों के अतिरिक्त कुछ सामान्य धर्म भी बतलाये गये है, जैसे क्षमावान होना, सरल भाव रखना, किसी से द्रोह नहीं करना, सभी जीवो का भरण-पोषण करना पत्नी से ही सन्तान को जन्म देना, पवित्रता बनाये रखना क्रोध नहीं करना सच बोलना तथा धन बाट कर उसको उपयोग मे लेना आदि। इनका पालन प्रत्येक वर्ण के व्यक्ति के लिए आवश्यक माना गया है।

वर्ण-व्यवस्था का महत्व (Importance of Varna System)

उपनिषदो, महाभारत तथा कुछ स्मृतियो मे वर्ण व्यवस्था का जो रूप देखने को मिलता है, उससे ज्ञात होता है कि यह सामाजिक स्तरीकरण की एक ऐसी व्यवस्था थी जिसके माध्यम से मनोवैज्ञानिक आधार पर समाज का कार्यात्मक विभाजन किया गया था। इस

---

९. पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च। मनुस्मृति, १-९०।

१०. एकमेव तु शूद्रस्य प्रभु: कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया। मनुस्मृति, १-९१

११. महाभारत, शांतिपर्व, १८८।२-८।

व्यवस्था ने सभी वर्णों के लोगो को अपना दायित्व समुचित ढग से निभाने की अपूर्व प्रेरणा दी। समाज के हित की दृष्टि से प्रत्येक वर्ण के कार्य को महत्ता प्रदान की गई और व्यक्तियो मे इस भावना को कूट-कूट कर भरा गया कि उनका हित इसी मे है कि वे अपने वर्ण-धर्म का पालन करें। जब तक व्यक्ति के सम्मुख दायित्व-निर्वाह की समुचित प्रेरणा नही होगी, तब तक वह अपने कार्यों को सुचारु रूप से नही कर पायेगा। इस व्यवस्था ने व्यक्तियो को कर्त्तव्य-पालन की प्रेरणा प्रदान करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। इसके द्वारा व्यक्तियो को यह विश्वास दिलाया गया कि जो व्यक्ति अपने वर्ण-धर्म का पालन करेंगे, उन्हे दूसरे जन्म मे उच्च सामाजिक स्थिति प्राप्त होगी। इस व्यवस्था ने समाज को विभिन्न खण्डो मे बाटने के बजाय उसे संगठित बनाये रखने का प्रयास किया, पारस्परिक अन्तर-निर्भरता को प्रोत्साहन दिया। निम्नलिखित आधारों पर वर्ण-व्यवस्था के समाजशास्त्रीय महत्त्व को स्पष्ट किया जा सकता है :

(१) इस व्यवस्था ने लोगो को वर्ण-धर्मानुसार अपने-अपने कर्त्तव्य-पालन की प्रेरणा दी, उन्हें अपने उत्तरदायित्व के प्रति जागरूक बनाया। इसके अन्तर्गत विभिन्न वर्णों के अलग-अलग कार्यों का निर्धारण कर लोगो को एक-दूसरे के क्षेत्र मे हस्तक्षेप करने से रोका गया, अनावश्यक प्रतियोगिता पर नियन्त्रण लगा कर उन्हें संघर्षों से मुक्त रखा गया।

(२) यह श्रम-विभाजन एवं विशेषीकरण की एक अद्वितीय व्यवस्था रही है। बाल्यावस्था से ही व्यक्ति अपने पारिवारिक पर्यावरण मे व्यावसायिक प्रशिक्षण प्राप्त कर विशेषीकृत ज्ञान का लाभ उठा सके हैं। विभिन्न वर्णों मे सभी प्रकार के कार्य बाँट कर समाज को प्रगति की ओर बढाया जा सका है।

(३) वर्ण-व्यवस्था एक ऐसी लचीली व्यवस्था रही है जिसके अन्तर्गत व्यक्तियों को अपने गुणो तथा कर्मों के आधार पर अपनी सामाजिक प्रस्थिति को उन्नत करने का अवसर प्रदान किया गया। इसमें व्यक्ति को अपने गुण तथा कर्म के आधार पर वर्ण-परिवर्तन का सुअवसर भी प्राप्त था। स्पष्ट है कि नियन्त्रित गतिशीलता के आधार पर इस व्यवस्था ने सामाजिक प्रगति मे महत्वपूर्ण योग दिया।

(४) वर्ण-व्यवस्था समता की नीति पर आधारित रही है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत समाज का चार वर्णों के रूप मे कार्यात्मक विभाजन अवश्य हुआ है परन्तु प्रत्येक वर्ण की सेवाओं को सामाजिक दृष्टि से समान महत्व दिया गया है। विराट पुरुष के शरीर के विभिन्न अगो से चारों वर्णों की उत्पत्ति यही प्रकट करती है कि प्रत्येक अग के पृथक्-पृथक् कार्य होने हुए भी कार्यात्मक दृष्टि से सभी का सामान महात्त्व है।

(५) इस व्यवस्था के अन्तर्गत विभिन्न प्रजातीय समूह रक्त की शुद्धता को बनाये रख सके। अलग-अलग वर्णों के रूप मे सगठित होने से विभिन्न प्रजातीय समूहो को एक ओर रक्त की शुद्धता बनाये रखने का अवसर मिला और दूसरी ओर अपनी-अपनी सास्कृतिक विशेषताओ को सुगमता से पीढी-दर-पीढ़ी हस्तांतरित करने का।

(६) वर्ण-व्यवस्था का महत्त्व इस दृष्टि से भी है कि इसने समाज मे शक्ति-सन्तुलन बनाये रखने में योग दिया। इस व्यवस्था के अन्तर्गत यह प्रयत्न किया गया कि विभिन्न शक्तियां कुछ व्यक्तियो या उनके समूह विशेष में केन्द्रित न हो जाए। समाज में चार प्रकार की शक्तियां पायी जाती हैं—शास्त्र या ज्ञान-शक्ति, शस्त्र या सेना-बल, अन्न या

सम्पत्ति और सेवा या श्रम का बल। यदि ये सभी शक्तियां कुछ ही व्यक्तियों या उनके किसी समूह विशेष में केन्द्रित हो जाए तो समाज में अत्याचार बढ़ेंगे। इन शक्तियों से युक्त समूह में अहंकार तथा निरंकुशता की वृद्धि होगी। यही कारण है कि वर्ण-व्यवस्था में चारों शक्तियां और पुरस्कार पृथक्-पृथक् रखे गये हैं। ब्राह्मण अपने ज्ञान से समाज की सेवा करता और पुरस्कार के रूप में आदर प्राप्त करता है, क्षत्रिय समाज की रक्षा करता और शासन के रूप में पुरस्कार प्राप्त करता है, वैश्य अन्नादि के उत्पादन द्वारा समाज की भोजन संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति कर धन के रूप में पुरस्कार प्राप्त करता है और शूद्र तीनों वर्णों की सेवा करके पुरस्कार के रूप में जीवन की आवश्यक वस्तुएं प्राप्त करता है। इस व्यवस्था के अनुसार ब्राह्मण के पास सम्मान था परन्तु धन तथा शासन शक्ति नहीं थी, क्षत्रिय के पास शासन-शक्ति थी परन्तु उसे ब्राह्मण जितना सम्मान और वैश्य जितना धन नहीं दिया गया था, वैश्य के पास धन था परन्तु उसे शासन-शक्ति और ब्राह्मण तथा क्षत्रिय जितना सम्मान नहीं दिया गया था। यदि सम्मान, शासन-शक्ति और धन सभी कुछ एक ही के पास केन्द्रित हो जाय तो उस दशा में समाज में अन्याय और अत्याचारों के बढ़ने की सम्भावना रहेगी। ऐसी स्थिति में समाज में असन्तोष बढ़ेगा और परिणामस्वरूप सामाजिक संघर्ष उत्पन्न होंगे। इसी से बचने के लिए वर्ण-व्यवस्था में सम्मान, शासन तथा धन को एक दूसरे से पृथक् रखा गया था।

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि वर्ण-व्यवस्था एक अत्यन्त विकसित सामाजिक व्यवस्था का उदाहरण प्रस्तुत करती है। यहां सामाजिक प्रगति हेतु सभी व्यक्तियों को अपनी शक्तियों एवं योग्यताओं को उपयोग में लाने का समुचित अवसर दिया गया है। वर्ण-व्यवस्था के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए श्री मैत्रेय विल्सन ने कहा है कि यह मनुष्य को स्वार्थ-त्याग का पाठ पढ़ाती, दुराचार से रोकती, दरिद्रता को दूर करती तथा उन्नति के पथ पर अग्रसर करती है।

वर्ण-व्यवस्था के दोष (Defect of Varna System)

प्रारम्भ में वर्ण-व्यवस्था के गुणों का लाभ समाज को मिलता रहा। लेकिन जब प्रत्येक वर्ण सैकड़ों हजारों जातियों एवं उपजातियों में विभक्त हो गया तो कालान्तर में समाज को कुछ हानियां भी उठानी पड़ीं। वर्ण व्यवस्था के आधार पर हिन्दू समाज धीरे धीरे असंख्य जातियों में बंट गया, लोगों की सामुदायिक भावना अत्यन्त संकुचित हो गई और राष्ट्रीय एकता के मार्ग में बाधाएं उपस्थित हुईं। परिणाम-स्वरूप विदेशी आक्रमणकारियों ने भारत को पददलित कर यहां सैकड़ों वर्षों तक शासन किया। इसी वर्ण व्यवस्था ने आगे चलकर अस्पृश्यता को जन्म दिया। आज वर्ण के आधार पर विभिन्न जातियां एवं उपजातियां एक होकर अपना वीभत्स रूप प्रकट कर रही हैं, वे प्रजातन्त्र के मार्ग में बाधा स्वरूप हैं। इस व्यवस्था के अन्तर्गत समाज के एक बड़े वर्ग शूद्रों को अपने विकास के समुचित अवसर प्राप्त नहीं हो सके और उन्हें अन्य वर्गों की सेवा करके ही अपनी जीविका कमानी पड़ी। यहां हम इस बात का ध्यान में रखना है कि ये दोष प्रारम्भिक वर्ण-व्यवस्था के नहीं बल्कि कालान्तर में विकसित जाति-व्यवस्था के हैं। वर्ण-व्यवस्था ने तो वास्तव में समाज को अनेक संघर्षों से बचाया है, विभिन्न वर्णों को धर्मानुसार अपने पृथक्-पृथक् कर्त्तव्य पालन करने हेतु प्रेरित किया, आध्यात्मिकता को प्रोत्साहन एवं विभिन्न वर्णों में पारस्परिक सहयोग पर बल दिया है। आज वर्ण-

व्यवस्था एक सैद्धान्तिक व्यवस्था मात्र है और अब इसका स्थान जाति-व्यवस्था ने ले लिया है।

वर्ण और वर्ग (Varna and Class)

कुछ लोगो की यह मान्यता है कि वर्ण और वर्ग एक दूसरे के समान हैं। मैकाइवर तथा पेज ने बतलाया है कि एक सामाजिक वर्ग समुदाय का वह भाग है जो सामाजिक स्थिति के आधार पर दूसरों से पृथक् किया जा सके।[12] ऑगबर्न तथा निम्कॉफ का कहना है कि एक सामाजिक वर्ग ऐसे व्यक्तियो का योग है जो सामाजिक स्थिति के आधार पर दूसरो से पृथक् किया जा सके।[13] जिस्बर्ट ने लिखा है कि एक सामाजिक वर्ग व्यक्तियो का समूह अथवा एक विशेष श्रेणी है जिसका समाज मे एक विशेष पद होता है। यह विशेष पद ही अन्य समूहो से उनके सबध का निर्धारण करता है।[14] इन परिभाषाओ से स्पष्ट है कि एक सामाजिक वर्ग विशेष सामाजिक स्थिति वाले व्यक्तियो का एक समूह है। यहा हमे इस बात को ध्यान मे रखना चाहिए कि सामाजिक स्थिति और विशेष सस्कृति सामाजिक वर्ग के आधार हैं तथा वर्ग-चेतना प्रत्येक वर्ग का आवश्यक लक्षण है।

वर्ग की परिभाषाओ से ऐसा प्रतीत होता है कि वर्ग और वर्ण की प्रकृति समान है। वर्ग और वर्ण दोनों में ही ऐसी श्रेणिया पायी जाती हैं जो सामाजिक स्थिति की दृष्टि से एक दूसरे से ऊची अथवा नीची मानी जाती है। वर्ग और वर्ण दोनो की सदस्यता म परिवर्तन किया जा सकता है। इस दृष्टि से दोनो मे खुलापन पाया जाता है। व्यक्ति अपने गुण तथा क्षमताओ के आधार पर एक वर्ग से दूसरे वर्ग में पहुच सकता है, अपना वर्ग बदल सकता है। इसी प्रकार वर्ण-व्यवस्था भी गुण तथा कर्म पर आधारित व्यवस्था है और व्यक्ति अपने गुण तथा कर्मों को बदलकर अन्य वर्ण की सदस्यता प्राप्त कर सकता है। वर्ग और वर्ण परिवर्तन सिद्धान्त रूप म सरल मालूम पडता है परन्तु व्यवहार रूप मे एक वर्ग से दूसरे वर्ग अथवा एक वर्ण स दूसरे वर्ण मे पहुचना काफी कठिन है। कुछ समानताओं के उपरान्त भी वर्ग और वर्ण-व्यवस्था को एक नहीं माना जा सकता। इन दोनों में अनेक अन्तर पाये जाते हैं जो निम्नलिखित है

(१) वर्ग व्यवस्था का मुख्य आधार आर्थिक है। इसका तात्पर्य यह है कि सदस्यो की आर्थिक स्थिति के आधार पर वर्गों का निर्माण होता है। जब तक सदस्यो की आर्थिक स्थिति मे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नही हो जाता है तब तक उनके लिए किसी अन्य वर्ग की सदस्यता ग्रहण करना सम्भव नही है। दूसरी ओर वर्ण-व्यवस्था का आधार गुण तथा कर्म है। यह एक सामाजिक अवधारणा है। यहा धन के प्रचुर मात्रा मे नही होने पर भी व्यक्ति अपने गुण तथा कर्मों के आधार पर उच्च प्रस्थिति प्राप्त कर सकता है, एक वर्ण से दूसरे वर्ण में पहुच सकता है।

(२) वर्गों का आधार आर्थिक होने मे विभिन्न वर्गों मे आपसी विरोध पाया जाता है। एक वर्ग यह समझता है कि दूसरा वर्ग उसका शोषण कर रहा है। एक वर्ग के हित

---

12 MacIver & Page, Society, p 348
13 Ogburn & Nimkoff, A Hand-book of Sociology, p 210.
14. Gisbirt, Fundamentals of Society, p 303

दूसरे वर्ग के हितो से टकराते है। परिणाम यह होता है कि वर्ग-संघर्ष की गम्भीर समस्या उठ खडी होती है। वर्ण-व्यवस्था के धार्मिक विश्वासो पर आधारित होने के कारण विभिन्न वर्ण अपने आपको एक दूसरे का विरोधी नहो समझ कर पूरक मानते हैं। परिणामस्वरूप वर्ण-व्यवस्था ने एकीकृत समाज के निर्माण मे योग दिया है।

(3) वर्ग-व्यवस्था के अन्तर्गत पेशे के चुनाव सम्बन्धी स्वतन्त्रता रही है। यहाँ व्यक्ति अपनी इच्छा और साधनो के अनुसार किसी भी व्यवसाय को चुन सकता है। वर्ण व्यवस्था मे परम्परागत पेशो की व्यवस्था रही है और प्रत्येक वर्ण के सदस्यो को अपने वर्ण हेतु निर्धारित व्यवसाय को ही साधारणत अपनाना पडा है।

(4) वर्ग सरचना की एक प्रमुख विशेषता यह है कि यह पिरामिड के समान पायी जाती है। इसमे सर्वोच्च शिखर पर वह वर्ग आता है जो प्रतिष्ठा की दृष्टि से सबसे उच्च होता है लेकिन जिसके सदस्यो की सख्या सापेक्ष रूप से बहुत कम होती है। इस पिरामिड के धरातल पर वह वर्ग आता है जो प्रतिष्ठा की दृष्टि से सबस निम्न होता है लेकिन जिसके सदस्यो की सख्या सबसे अधिक होती है। वर्ण व्यवस्था मे सभी वर्णों को समान महत्त्व दिया गया है और किसी एक वर्ण की सदस्य-सख्या अन्य वर्णा स कम अथवा अधिक होना आवश्यक नही है।

(5) वर्ग की सदस्यता पूर्णत अर्जित होती है। व्यक्ति अपनी शिक्षा, व्यवसाय, आय तथा धन आदि के आधार पर अपना वर्ग परिवर्तित कर सकता है। लेकिन वर्ण-व्यवस्था म गुण तथा कर्म का महत्त्व होते हुए भी व्यक्ति साधारणत सुगमता से अपना वर्ण नही बदल पाता।

वर्ण और जाति (Varna and Caste)

बहुत से व्यक्ति वर्ण तथा जाति को एक मान लेते है जबकि वास्तव मे ये दोनो एक दूसरे से पूर्णत भिन्न हैं। वर्ण और जाति मे निम्नलिखित अन्तर पाए जाते हैं :

(1) वर्ण गुण तथा कर्म पर आधारित थे, जातियाँ जन्म पर आधारित है। श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता मे कहा है कि चारो वर्णों की व्यवस्था गुण कर्मानुसार की गई है। जन्म के समय सभी व्यक्तियो को शूद्र माना जाता था। उपनयन सस्कार के पश्चात् ही उन्ह द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) माना जाता। उनके वर्ण का निर्धारण गुण तथा कर्मों के आधार पर ही होता था। व्यक्ति उत्तम कर्म द्वारा ब्राह्मण बन सकता था तथा निकृष्ट कर्म से ब्राह्मण भी शूद्र बन जाता था। जाति व्यवस्था मे गुण तथा कर्म को महत्त्व न देकर जन्म को ही महत्त्व दिया गया है। ब्राह्मण कुल मे उत्पन्न होने वाला व्यक्ति जीवन भर ब्राह्मण जाति का ही सदस्य माना जाता है चाहे उसके गुण तथा कर्म शूद्र जैसे ही क्यो न हो। एक निम्न जाति से उत्पन्न व्यक्ति चाहे कितना ही शिक्षित क्यो न हो, चाहे ब्राह्मण के समान ही उत्तम कर्म क्यो न करता हो, पर जन्म के आधार पर वह सम्पूर्ण जीवन भर निम्न जाति का सदस्य या शूद्र ही माना जायेगा।

(2) वर्ण व्यवस्था बहुत अधिक लचीली और परिवर्तनशील थी जबकि जाति-व्यवस्था अपरिवर्तनशील, कठोर और स्थिर है। गुण तथा कर्म के आधार पर व्यक्ति अपने वर्ण को परिवर्तित कर लेता था। ऐसे बहुत से उदाहरण मिलते है जिनसे स्पष्ट है कि वर्ण परिवर्तन होते थे। क्षत्रिय विश्वामित्र बाद मे कर्म के आधार पर ब्राह्मण बन गए थे। परशुराम यद्यपि ब्राह्मण थे तथापि कर्म से क्षत्रिय हो गए। प्राचीन भारत मे वर्ण-परिवर्तन के अनेक उदाहरण मिलते हैं। परन्तु जाति प्रणाली के अन्तर्गत व्यक्ति अपनी जाति को परिवर्तित

नही कर सकता। जन्म से लेकर मृत्यु तक उसे एक ही जाति मे जिसमे जन्म हुआ हो, रहना पड़ता है।

(३) वर्ण मे विवाह, भोजन तथा सामाजिक-सहवास सम्बन्धी प्रतिबन्ध नही पाए जाते जबकि जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत ये प्रतिबन्ध बहुत कठोर होते हैं। राजा शान्तनु ने क्षत्रिय होते हुए भी शूद्र कन्या सत्यवती के साथ विवाह किया। क्षत्रिय राजा दुष्यन्त ने ब्राह्मण ऋषि कण्व द्वारा पालित शकुन्तला से विवाह किया और क्षत्रिय राजा ययाति ने ब्राह्मण पुरोहित शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी से विवाह किया। इन उदाहरणो से स्पष्ट है कि वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत विभिन्न वर्णों के सदस्यो के बीच वैवाहिक-सम्बन्ध स्थापित होते थे तथा उन लोगो का एक दूसरे के साथ खान-पान का सम्बन्ध पाया जाता था। परन्तु जाति प्रणाली इतनी कठोर एव स्थिर है कि प्रत्येक व्यक्ति को खान-पान सम्बन्धी व्यवहार और विवाह अपनी जाति मे ही करना पड़ता है। इस सम्बन्ध मे सभी जातियो के अपने-अपने नियम हैं और इनका उल्लंघन करने वालो को जाति से बहिष्कृत किया जा सकता है।

(४) वर्णों की सख्या केवल चार है जबकि जातियो की सख्या बहुत अधिक है। दोज ने विभिन्न जातियो की सख्या वर्तमान म करीब चार हजार बतायी है। ये जातिया जन्म पर आधारित सामाजिक वर्ग है। व्यक्ति साधारणत: अपनी जाति मे ही वैवाहिक-सम्बन्ध स्थापित कर सकते है। वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत जीवन–साथी के चुनाव का क्षेत्र काफी विस्तृत था।

(५) जाति–व्यवस्था मे खण्ड–विभाजन तथा ऊँच–नीच की भावना विद्यमान है, वर्ण–व्यवस्था मे ये दोनो नही पाये जाते। जाति–व्यवस्था के अन्तर्गत समाज कई पृथक–पृथक खण्डो मे विभाजित है जिनमे ऊँच–नीच की भावना बहुत अधिक पाई जाती है, वर्ण–व्यवस्था मे समाज पृथक्–पृथक् खण्डो मे विभाजित नही था और न ही ऊँच–नीच की भावना पाई जाती थी। गांधीजी ने लिखा है कि वर्ण हमारे अधिकार नही कर्त्तव्य बताता है। यह आवश्यक रूप से उन पेशों से सम्बन्धित है जो मानव कल्याण के लिए अनिवार्य हैं। इसका यह भी तात्पर्य है कि कोई भी पेशा बुरा–भला नही है।

उपर्युक्त विवेचना स स्पष्ट है कि वर्ण और जाति दो भिन्न धारणाए है।

प्रश्न

१. भारतीय सामाजिक व्यवस्था मे वर्ण सस्तरण के महत्त्व की व्याख्या कीजिए।
२ भारतीय समाज मे स्तरीकरण का परम्परागत आधार क्या है?
३ वर्ण-व्यवस्था की विशेषताओ पर प्रकाश डालिए। वर्ण-व्यवस्था वर्ग–व्यवस्था से किस प्रकार भिन्न है?
४. हिन्दू वर्ण-व्यवस्था पर एक सक्षिप्त निबन्ध लिखिए।
५ वर्ण तथा जाति का अन्तर स्पष्ट कीजिए।
६ हिन्दू समाज मे विभिन्न वर्णों के धर्म की व्याख्या कीजिए।
७ वर्ण का अर्थ स्पष्ट करते हुए वर्ण–व्यवस्था की उत्पत्ति पर प्रकाश डालिए।
८ वर्ग के समाजशास्त्रीय महत्त्व की व्याख्या कीजिए।

आश्रम-व्यवस्था

ASHRAMA SYSTEM

भारतीय संस्कृति में त्यागमय भोग को अत्यन्त महत्त्व दिया गया है। हमारे यहां आध्यात्मवाद एवं सांसारिकता में समन्वय स्थापित करने का अपूर्व प्रयास मिलता है। हिन्दू जीवन-पद्धति में व्यक्ति को संसार के प्रति उदासीन रहने का आदेश नहीं है और न ही सांसारिकता में, विभिन्न भोगों में इतना लिप्त हो जाने का कि जिससे वह जीवन के अन्तिम लक्ष्य-'मोक्ष-प्राप्ति' को ही भूल जाय। हिन्दू शास्त्रकारों ने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में धर्म को महत्त्वपूर्ण माना है। उन्होंने धर्म की प्राप्ति को ही जीवन का मुख्य लक्ष्य घोषित किया। श्री कृष्ण ने धर्म का अर्थ स्पष्ट करते हुए महाभारत में बतलाया है —

प्रभवार्थं च भूतानां धर्म प्रवचनं कृतम्।

अर्थात् प्राणियों के लाभ या परमार्थ के लिए धर्म का प्रवचन किया गया है। वास्तव में धर्म वही है जिससे किसी प्राणी को हानि न पहुँचे। अपने तथा समाज के जीवन को उन्नत बनाने के लिए भारतीय संस्कृति में यह आवश्यक माना गया है कि इस संसार में रहते हुए मनुष्य त्यागमय भोग की ओर प्रेरित हो, धर्म के अनुसार अपने कर्त्तव्यों का पालन करे और अपने जीवन के अन्तिम उद्देश्य-मोक्ष की प्राप्ति करे। इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए हमारे यहाँ सुविचारित एवं क्रमबद्ध जीवन-व्यवस्था की आवश्यकता को अनुभव किया गया है। अतः यहाँ व्यक्ति के जीवन को चार भागों में विभाजित किया गया है जिसे आश्रम-व्यवस्था कहा जाता है।

आश्रम-व्यवस्था हिन्दू सामाजिक संगठन का एक मूल आधार रही है। प्रभु नामक विद्वान ने उचित ही लिखा है, "हिन्दुओं के द्वारा सोची तथा नियोजित की गई आश्रम-व्यवस्था विश्व के सामाजिक विचारों के सम्पूर्ण इतिहास में एक अपूर्व देन है।"[1] वास्तव में जीवन-व्यवस्था का इतना सुन्दर ढंग अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन तथा उससे सम्बन्धित कार्यों को आश्रम-व्यवस्था के अन्तर्गत ले लिया गया है। आश्रम व्यवस्था के माध्यम से व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास करता हुआ एक उन्नत समाज के विकास में योग दे सकता है। इस व्यवस्था के अनुसार कार्य करता हुआ वह अपने उद्देश्यों की पूर्ति में सफल होता है। एक हिन्दू के लिए सम्पूर्ण जीवन ज्ञान प्राप्ति एवं आत्मानुशासन का काल है, इस अवधि में चार विभिन्न अवस्थाओं में रह कर उसे प्रशिक्षण प्राप्त करना पड़ता है। इसे ही आश्रम-व्यवस्था कहा गया है। इस सम्बन्ध में महर्षि दयानन्द सरस्वती ने लिखा है कि सब मनुष्यों को अपनी आयु का प्रथम भाग विद्या पढ़ने में व्यतीत करना चाहिए और सम्पूर्ण विद्याओं का ज्ञान प्राप्त कर उसके द्वारा संसार की उन्नति करने के

---

1 "The scheme of the ashramas as thought out and devised by the Hindu is a unique contribution in the whole history of the social thought of the world."
—P. H. Prabhu "Hindu Social Organization", P. 75

लिए गृहस्थाश्रम में भी अवश्य प्रवेश करना चाहिए। साथ ही विद्या और संसार के उपकार के लिए एकान्त में बैठकर (वानप्रस्थ के अनुसार) समस्त जगत् के अधिष्ठाता ईश्वर का ज्ञान भली प्रकार प्राप्त करना और मनुष्यों को समस्त व्यवहारों का उपदेश देना चाहिए। तत्पश्चात् समस्त सन्देहों के छेदन और सत्य के निर्धारण हेतु सन्यास आश्रम भी अवश्य ग्रहण करना चाहिए क्योंकि इसके बिना सम्पूर्ण पक्षपात से मुक्ति मिलना बहुत कठिन है।

आश्रम का अर्थ

(Meaning of Ashrama)

डॉ० प्रभु के अनुसार आश्रम शब्द मूल रूप में संस्कृत की श्रम धातु से बना है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार आश्रम का अर्थ है (अ) एक स्थान जहां प्रयत्न या उद्योग किया जाता है तथा (ब) इस प्रकार के प्रयत्न या उद्योग की क्रिया।[1] इस प्रकार आश्रम को एक क्रिया-स्थल माना गया है जहाँ कुछ समय ठहर कर व्यक्ति उद्योग करता है। शाब्दिक दृष्टि से आश्रम ठहरने या विश्राम करने का स्थान है। यहाँ पर ठहर कर व्यक्ति अपने आपको आगे की यात्रा के लिए तैयार करता तथा अपने में उपर्युक्त गुणों का विकास करता। प्रभु ने कहा है कि आश्रम को जीवन के अन्तिम लक्ष्य—मोक्ष-प्राप्ति हेतु व्यक्ति द्वारा की जाने वाली यात्रा के मार्ग में पड़ने वाला विश्राम-स्थल मानना चाहिए।[2] प्रत्येक आश्रम जीवन की एक अवस्था है जिसमें कुछ समय तक रहकर व्यक्ति स्वयं को प्रशिक्षित करता और इस प्रशिक्षण के आधार पर कार्य करता हुआ अपने को दूसरी अवस्था के योग्य बनाता। इस सम्बन्ध में महाभारत में व्यासजी ने कहा है कि जीवन के चार विश्राम-स्थल अर्थात् आश्रम व्यक्ति के विकास की चार सीढ़ियाँ हैं। इन पर क्रम से चढ़ते हुए व्यक्ति 'ब्रह्म' की प्राप्ति करता है।[3]

आश्रम व्यवस्था में पुरुषार्थ के सिद्धान्त की पूर्ण अभिव्यक्ति हुई है। व्यक्ति के सम्पूर्ण दायित्वों को इस सिद्धान्त के माध्यम से व्यक्त किया गया है। पुरुषार्थ चार माने गए हैं धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष। व्यक्ति इन चारों दायित्वों का निर्वाह तभी कर सकता है जब वह अपना मानसिक, शारीरिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास करे, यानि अपने व्यक्तित्व का चहुँमुखी विकास करे। विभिन्न आश्रमों में रहता हुआ व्यक्ति स्वयं में इन सब गुणों के विकास का प्रयत्न करता हुआ जीवन के अन्तिम लक्ष्य—मोक्ष-प्राप्ति के लिए अपने को योग्य बनाता। आश्रम-व्यवस्था के द्वारा व्यक्ति अर्थ तथा काम का उपभोग करते हुए धर्म तथा मोक्ष को भी प्राप्त करता है। श्री कापडिया ने उचित ही लिखा है, "हिन्दू आश्रम-व्यवस्था में पुरुषार्थ सिद्धान्त की वास्तविक अभिव्यक्ति की

---

1. "The word ashrama is originally derived from the sanskrit root ashrama 'to exert oneself', therefore, it may mean, by derivation (i) a place where exertions are performed, and (ii) the action of performing such exertions" P. N. Prabhu "Hindu Social Organization" P. 83

2. "The ashramas, then, are to be regarded as resting places during one's journey on the way of final liberation which is the final aim of life" Ibid, P 83

३. महाभारत, शान्ति पर्व, २४२, १५ :

गई है ।[5] इस व्यवस्था के अनुसार व्यक्ति धर्म को जीवन मे प्रमुख स्थान देता है, वह ससार मे रहता हुआ काम तथा अर्थ की प्राप्ति करता है, स्वार्थवश होकर नही बल्कि परमार्थ तथा सामाजिक कर्त्तव्य ध्यान मे रख कर। वह काम और अर्थ को धर्म तथा मोक्ष–प्राप्ति का साधन-मात्र मानते हुए अपना जीवन व्यतीत करता है। इस प्रकार यह अपूर्व व्यवस्था है जो हिन्दू जीवन को विभिन्न स्तरो मे विभाजित कर व्यक्ति को समय–विशेष के लिए प्रत्येक स्तर पर रखकर उसे भावी जीवन के लिए इस प्रकार तैयार करती है कि वह ससार की वास्तविकताओ के मध्य अपने प्रयास द्वारा समस्त दायित्वो को क्रमबद्ध रूप से पूर्ण करता हुआ जीवन के अन्तिम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त कर सके। यह प्रणाली हिंदू जीवन के प्राथमिकता पर आधारित क्रम-बद्ध एव सुनियोजित तरीकों को व्यक्त करती है। यह प्रयासमय जीवन की ओर सकेत करती है जिसका चरम लक्ष्य—मोक्ष है।

आश्रम-व्यवस्था की उत्पत्ति
(Origin of Ashrama System)

आश्रम-व्यवस्था की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे निश्चित रूप से कुछ भी कहना सम्भव नही है। डा० अल्टेकर ने यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि आश्रम-व्यवस्था वैदिक काल की सांस्कृतिक प्रतिभा का ही एक अग था। यद्यपि वैदिक साहित्य मे आश्रम शब्द का प्रयोग नही हुआ है तथापि इतना अवश्य ज्ञात होता है कि उस समय इस योजना पर विचार आरम्भ हो चुका था, जीवन को विभिन्न स्तरो मे विभाजित करने का प्रयास चालू हो गया था। अथर्ववेद मे मुनि शब्द का प्रयोग हुआ है।

यह उत्तर वैदिक कालीन व्यवस्था है। विकास के प्रारम्भिक स्तर पर केवल तीन आश्रमों का ही वर्णन मिलता है। वानप्रस्थ एव सन्यास आश्रम एक-दूसरे से मिले हुए थे जिन्हे कालान्तर मे पृथक किया गया।[6] डा० मोदी तथा आल इण्डिया ओरियण्टल कान्फ्रेंस के विभिन्न निबन्धो मे दिए गए उदाहरणो से ज्ञात होता है कि छान्दोग्य उपनिषद् के समय तक इस व्यवस्था का काफी विकास हो चुका था। इस उपनिषद् मे जीवन के तीन क्रमो का वर्णन मिलता है—गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा ब्रह्मचर्य। यहाँ ब्रह्मचर्य आश्रम को जीवन का अन्तिम स्तर माना गया है।[7] मनुस्मृति मे भी आश्रम व्यवस्था का उल्लेख मिलता है, लेकिन इस समय तक केवल तीन आश्रम ही विकसित हो पाये थे।[8] श्री कल्लूक नामक विद्वान की मनुस्मृति-टीका से भी यही बात व्यक्त होती है। जाबालि उपनिषद् मे सर्वप्रथम, चारो आश्रमो का व्यवस्थित रूप मे वर्णन मिलता है। स्पष्ट है कि आश्रम व्यवस्था की वैचारिक पृष्ठ-भूमि वैदिक काल मे निर्मित हो चुकी थी परन्तु व्यवहार रूप मे इसका विकास उपनिषद् काल मे हुआ।

---

5 "The theory of purusarthas is given concrete expercssion in the Hindu scheme of ashramas " K M. Kapadia, "Marriage and Family in India" P. 27

6 Vedic Index by Macdonell and Keith, Vol. I, PP. 68-69, and C V. Vaidya, "History of Sanskrit Literature " Vol I, Sec. II, P. 180.

७. छान्दोग्य उपनिषद्, २।२३,१

६०

आश्रमो का विभाजन
(Division of Ashramas)

आश्रम-व्यवस्था के अन्तर्गत साधारणतः व्यक्ति की आयु को १०० वर्ष मान कर उसकी सम्पूर्ण जीवन अवधि को चार बराबर भागो मे बाँटा गया है। इस प्रकार प्रत्येक आश्रम की अवधि २५ वर्ष मानी गई है।

व्यक्तिगत जीवन के समुचित विकास के लिए जीवन यात्रा की सम्पूर्ण अवधि को चार आश्रमो मे विभाजित किया गया है। ये चार आश्रम निम्नलिखित है —

(१) **ब्रह्मचर्य आश्रम** —विद्यार्थी के रूप मे जीवन व्यतीत करने का स्तर। इस स्तर पर विद्यार्थी स्थायी रूप से गुरु के घर पर ही निवास करता है।

(२) **गृहस्थ आश्रम** —वैवाहिक एव परिवार से सम्बन्धित दायित्वो के निर्वाह का जीवन। इस स्तर पर एक व्यक्ति से यज्ञ, अध्ययन और दान करने की आशा की जाती है। यहाँ वह धर्म, अर्थ और काम की पूर्ति करता है।

(३) **वानप्रस्थ आश्रम** —घर को त्याग कर जगल मे तपस्यामय जीवन व्यतीत करने का स्तर ताकि सासारिक इच्छाओ से छुटकारा प्राप्त किया जा सके। इस स्तर पर एक व्यक्ति से तप करने की आशा की जाती है।

(४) **सन्यास आश्रम** —सासारिक सम्बन्धो एव बन्धनो के पूर्ण त्याग का स्तर। यहाँ व्यक्ति अपने आपको मोक्ष प्राप्ति के प्रयत्न मे पूर्णत लगा देता।

मोक्ष-प्राप्ति की इच्छा वाले प्रत्येक हिन्दू के लिए क्रमश इन चारो आश्रमो मे रहना आवश्यक बतलाया गया है। परन्तु श्री कीथ का मत है कि आश्रम-व्यवस्था के अन्तर्गत केवल तीन आश्रमो की व्यवस्था ही उचित है। उनका तर्क है कि सन्यासी को आश्रम की सीमाओ से परे सब आश्रमो से ऊपर माना जाता था। वह एक 'सामाजिक व्यक्तित्व' के रूप मे नही देखा जाता था। वह पारिवारिक बन्धनो से मुक्त होता, भिक्षा माग कर जीवन-यापन करता, उसके पास कोई सम्पत्ति अथवा वस्तुएँ नही होती, यहाँ तक कि वह अपने पूर्व नाम का भी त्याग कर देता था। तात्पर्य यह कि वह प्रत्येक वस्तु का परित्याग कर देता था। जब सन्यासी का परिवार समाज और ससार से कोई सम्बन्ध ही नही रहता तो ऐसी दशा मे एक सामाजिक व्यवस्था म अर्थात् आश्रम-व्यवस्था मे सन्यास आश्रम को सम्मिलित करना उचित प्रतीत नही होता।

प्रत्येक आश्रम म जीवन व्यतीत करने की अवधि के विषय मे विद्वानो के अलग-अलग मत रहे है। कामसूत्र मे कहा गया है कि व्यक्ति का जीवन सौ वर्ष का है, इसलिए उसे इस अवधि को बाँट कर प्रत्येक आश्रम मे रहना चाहिए। इन चारो आश्रमो का परस्पर इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि व्यक्ति एक के कर्त्तव्यो का पूर्ण सफलता से निर्वाह किये बिना, दूसरे के दायित्वो को पूर्ण नही कर सकता। प्रत्येक आश्रम उत्तरोत्तर अन्य आश्रम मे प्रवेश हेतु प्रशिक्षण का एक स्थल है, भावी जीवन की तैयारी का काल है। व्यक्ति इन आश्रमो मे सफलतापूर्वक जीवन-यापन करने के पश्चात् ही अन्त मे मोक्ष प्राप्ति का अधिकारी बनता है। यहाँ प्रत्येक आश्रम की प्रकृति और महत्त्व पर प्रकाश डाला जा रहा है।

(१) **ब्रह्मचर्य आश्रम** (Brahmacharya Ashrama) :

उपनयन सस्कार (जनेऊ धारण) के पश्चात् बालक ब्रह्मचर्य आश्रम मे प्रवेश करता

था। इस संस्कार के सम्पादन का समय विभिन्न वर्णों के लिए अलग-अलग बतलाया गया है। यही कारण है कि इस आश्रम में प्रवेश की आयु ब्राह्मण-बालक के लिए ८ वर्ष, क्षत्रिय-बालक के लिए ११ वर्ष और वैश्य-बालक के लिए १२ वर्ष बताई गई है। ब्रह्मचर्य शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है 'ब्रह्म' और 'चर्य'। 'ब्रह्म' का तात्पर्य है महान और 'चर्य' का अर्थ है, अनुसरण करना अथवा चलना। इस प्रकार ब्रह्मचर्य का अर्थ है महानता के मार्ग पर चलना अर्थात् महान् आत्माओं का अनुसरण करना। ब्रह्मचर्य का तात्पर्य संयम से भी है, लेकिन यह ब्रह्मचर्य का केवल एक पक्ष है। डॉ० मातृदत्त त्रिवेदी के अनुसार, ब्रह्मचर्य का तात्पर्य केवल इन्द्रिय निग्रह से नहीं था, अपितु इन्द्रिय-निग्रह पूर्वक वेदाध्ययन से था, क्योंकि ब्रह्म और वेद ये दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। ब्रह्मचारी तप के माध्यम से अपने जीवन की साधना करता था। इस आश्रम में बालक अनेक गुणों का विकास करता और अपने चरित्र का निर्माण कर भावी जीवन हेतु प्रशिक्षण प्राप्त करता था।

ब्रह्मचारी अपने गुरु के घर पर रहकर वेदों का अध्ययन प्रारम्भ करता था। परन्तु उपनयन संस्कार के तत्काल पश्चात् ही बालक अध्ययन प्रारम्भ नहीं कर देता था। गुरु उसे बहुत-से कार्य, जैसे ईंधन लाने, पशुओं की देखभाल करने और दान प्राप्त करने की आज्ञा देता था। जब बालक अपने दैनिक कार्यों से गुरु को प्रसन्न कर लेता और गुरु यह समझता कि बालक में अध्ययन करने की वास्तविक इच्छा और जिज्ञासा है तभी उसे वेदाध्ययन की आज्ञा दी जाती थी। सांस्कृतिक परम्पराओं को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुंचाने, ऋषि-ऋण से छुटकारा पाने और ऋषियों के प्रति आदर-भाव व्यक्त करने के लिए वेदों का अध्ययन आवश्यक था।

धर्मशास्त्रों तथा मनुसंहिता में विद्यार्थी की दिनचर्या सम्बन्धी बहुत-से नियम बताए गए हैं। उसका यह कर्त्तव्य है कि वह प्रातःकाल सूर्योदय के पूर्व उठे, दिन में केवल दो बार भोजन करे, शहद, नमक, मीठी वस्तुएँ, मांस, गन्ध, जूता, छतरी आदि का प्रयोग न करे। उसके लिए नृत्य, गायन, जूआ, झूठ, हिंसा आदि वर्जित हैं। ब्रह्मचारी के लिए विभिन्न कर्त्तव्यों का निर्धारण इस प्रकार किया गया है कि वह अपना शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक विकास कर सके। इस आश्रम में वह अपने शरीर को स्वस्थ बनाता, बौद्धिक विकास करता, अनेक विधाओं से स्वयं को परिपूर्ण करता और अपनी आत्मा को पवित्र बनाता था। ऐसा करने के लिए वह यौगिक संयम, यथार्थ आचरण, सत्य-प्रयोग एवं सत्य की खोज करता तथा आध्यात्मिक विकास हेतु अनेक यम-नियमों का पालन करता था। योग दर्शन में कहा गया है कि शौच (पवित्रता), संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर-पूजा—ये नियम हैं। इनसे मानसिक विकास होता है। आध्यात्मिक विकास हेतु यमों का पालन आवश्यक है। यमों के अन्तर्गत अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आते हैं।

ब्रह्मचर्य आश्रम का महत्त्व

हम देखते हैं कि ब्रह्मचर्य आश्रम विद्यार्थी के जीवन-निर्माण अर्थात् उसके व्यक्तित्व के विकास का काल माना जाता था। इस काल में गुरु के प्रत्यक्ष सम्पर्क में रहता हुआ वह बौद्धिक कुशलता प्राप्त करता और संयमी जीवन व्यतीत करता हुआ अपना चरित्र-निर्माण करता एवं नैतिक जीवन को उन्नत बनाता था। इस अवधि में विद्यार्थी अपनी यौन-इच्छाओं पर नियन्त्रण रखते हुए ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करता था।

डा० कापडिया ने इस आश्रम के महत्त्व को इस प्रकार स्पष्ट किया है—"छात्रत्व जीवन अवधि का वह समय है जिसमे वेग होता है। यह समय तूफान और तनाव, आतुरता शारीरिक-शक्तिवर्द्धन, भावात्मक अस्थिरता, यौन प्रवृत्ति के विकास, यौनिक उत्तेजना और आत्म-प्रदर्शन का काल होता है। हिन्दू मनीषियो ने विद्यार्थी जीवन को इस प्रकार नियन्त्रित करने का प्रयास किया है कि उसकी युवावस्था का विकास सन्तुलित रूप मे हो सके। उन्होंने मस्तिष्क तथा शरीर के लिए उचित नियम निर्धारित किए हैं।............ वास्तव मे, यह जीवन अत्यन्त कष्टपूर्ण था, परन्तु जीवन का यह ढग यौवनावस्था के प्रबल वेग को नियन्त्रित करता था। इसे नियन्त्रित जीवन कहा जा सकता है। लेकिन जब सम्पूर्ण दैनिक जीवन नियम-बद्ध हो जाता है तथा इसे जीवन के महान् उद्देश्य की प्राप्ति के लिए अनुशासित कर दिया जाता है, तब इसके दमन का प्रश्न ही नहीं उठता है।"[9] ब्रह्मचर्य आश्रम का इस दृष्टि से भी अत्यन्त महत्त्व था कि उस समय सांस्कृतिक परम्पराएँ मौखिक रूप से पीढी दर पीढी हस्तान्तरित होती थी। समाज का एक वर्ग अध्ययन, संवर्द्धन तथा प्रसारण द्वारा अपनी सांस्कृतिक परम्पराओ और तत्त्वो को सजीवित रखता था। इसी आश्रम के माध्यम से कई शताब्दियो तक हमारे व्यावहारिक प्रतिमानो और सामाजिक आदर्शों को अपने विशुद्ध रूप में रखा जा सका था। ब्रह्मचर्य आश्रम मे सरल और सादगी से पूर्ण जीवन व्यतीत करके विद्यार्थी यह सीखता था कि भौतिक आवश्यकताएँ आध्यात्मिक उद्देश्य की पूर्ति मे केवल साधन-मात्र हैं। वह सादा जीवन और उच्च विचार के आदर्श की ओर प्रेरित होता था। इस आश्रम मे रहकर बालक सर्वप्रथम अपना उचित धर्म सीखता था।

ब्रह्मचर्य आश्रम मे पठन-पाठन का कार्य सम्पूर्ण कर विद्यार्थी एक प्रतिकात्मक स्नान करता। तत्पश्चात् वह स्नातक कहलाता और द्वितीय आश्रम-गृहस्थाश्रम मे प्रवेश प्राप्त करने का अधिकारी बनता। प्रतीकात्मक स्नान के पश्चात् गुरु का आशीर्वाद प्राप्त कर वह 'स्नातक' अपने घर लौटता। इसे 'समावर्तन संस्कार' कहा जाता है।

(२) गृहस्थ आश्रम (Grihastha Ashrama)

ब्रह्मचर्य आश्रम के पश्चात् विवाह संस्कार सम्पन्न होने पर व्यक्ति गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करता था। विवाह धार्मिक तथा सामाजिक कर्त्तव्यपालन हेतु किया जाता था। विवाह का उद्देश्य धर्म, प्रजा तथा रति था। इस आश्रम मे व्यक्ति मर्यादा युक्त धर्म, अर्थ तथा काम की प्राप्ति करता था। इसके माध्यम से वह स्वय, परिवार तथा समाज के प्रति अपने दायित्वो को पूर्ण करते हुए अगले आश्रमो के लिए अपने को तैयार करता। यह आश्रम धर्म का महान स्थल है जहाँ गृहस्थ ब्रह्मचर्य आश्रम मे प्राप्त शिक्षाओ को मूर्त रूप देता है। श्री गोमने गृहस्थ-धर्म के सम्बन्ध मे बतलाता है कि इस आश्रम के अन्तर्गत एक गृहस्थ का धर्म है कि वह जीव हत्या, असयम तथा असत्य से दूर रहे, पक्षपात, शत्रुता, निर्बुद्धिता तथा डर को पास न आने दे। मादक द्रव्यो का सेवन, कुसग, अकर्मण्यता और चाटुकारो पर धन व्यय न करे, माता-पिता, आचार्यों और वृद्धो का आदर करें, पत्नी के प्रति उसका व्यवहार धर्म, अर्थ तथा काम की मर्यादाओं के अनुसार हो। इस प्रकार परिवार

9 K M. Kapadia. "Marriage and Family in India", P.P. 29-30

के सदस्यो मे पारस्परिक आदर तथा एक-दूसरे के कल्याण का ध्यान ही कुल-धर्म का सार है।[10]

गृहस्थ धर्म पूर्ति के लिए प्रतिदिन पच महायज्ञ करता था। इसके द्वारा वह ऋषियो, देवताओ, माता पिता, अतिथियो तथा अन्य प्राणियो के प्रति अपने दायित्व का निर्वाह करता था। इन महायज्ञो का उद्देश्य विभिन्न प्रकार की हिंसा से अपने को मुक्त करना था। मनु के अनुसार, गृहस्थ के घर मे चूल्हा, चक्की, झाडू ऊखल मूसल तथा जलपात्र अनेक जीव-जन्तुओ की हिंसा के स्थान हैं। इनसे होने वाली हिंसा के प्रायश्चितस्वरूप पच महायज्ञो का विधान किया गया है। इनका मुख्य लक्ष्य यही था कि व्यक्ति ईश्वर के प्रति श्रद्धा रखे वैदिक साहित्य का अध्ययन करे, अपनी सास्कृतिक परम्पराओ की रक्षा करे, ऋषि-मुनियो, गुरुजनो माता पिता तथा अतिथियो के प्रति अपना दायित्व निर्वाह करे,प्राणी-मात्र के कल्याण का ध्यान रखे तथा त्यागमय जीवन व्यतीत करता हुआ अपने और समाज के जीवन को उन्नत बनाए। विभिन्न ऋणो अर्थात् देव-ऋण, पितृ-ऋण और ऋषि-ऋण से मुक्त होने के लिए गृहस्थ के लिए यज्ञो की पूर्ति आवश्यक बताई गई है। पच महायज्ञ ये हैं—ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ पितृयज्ञ, भूतयज्ञ, और नृयज्ञ या अतिथि यज्ञ। ब्रह्मयज्ञ को ऋषि यज्ञ भी कहा जाता है। इस यज्ञ के अन्तर्गत दो कर्म आते हैं स्वाध्याय एव सन्ध्योपासन। स्वाध्याय का तात्पर्य है कि व्यक्ति सदैव प्रात एव सध्या समय वैदिक तथा अन्य धर्म ग्रन्थो का पठन-पाठन करे जिससे उसमे सद्गुणो का विकास हो। सन्ध्योपासन का अर्थ है कि व्यक्ति प्रात तथा सायकाल सध्या तथा ईश्वर आराधना करे। ईश्वरोपासना से आत्मिक शुद्धि बुरे विचारो का नाश, नैतिकता का विकास और मानसिक शान्ति प्राप्त होती है। इस प्रकार ब्रह्मयज्ञ के द्वारा एक ओर सास्कृतिक परम्पराओ को सुरक्षित बनाये रखने म और दूसरी ओर व्यक्ति समाज एव राष्ट्र के निर्माण मे योग मिलता था। देवयज्ञ को अग्निहोम भी कहते हैं। इस यज्ञ म देवताओ के प्रति स्वाहा के साथ कुछ आहुतियाँ दी जाती हैं। ऐसा माना जाता है कि मनुष्य के पास जो कुछ भी है वह देवताओ की कृपा का ही परिणाम है। इन देवताओ के ऋण मे उऋण होने के लिए आहुतियो के रूप मे कुछ वस्तुएँ देवताओ को समर्पित करनी चाहिए। अग्नि को प्रज्ज्वलित करके उसम आहुतियाँ देने स जन-कल्याण भी होता है। इससे व्यक्ति मे कल्याणकारी उत्तम विचार पैदा होते, आन्तरिक और वाह्य शुद्धता आती एव शरीर तथा मन बलिष्ठ बनता है। पितृयज्ञ मे माता-पिता के ऋण म उऋण होने के लिए व्यक्ति को सन्तानोत्पत्ति एव उनका पालन-पोषण करना होता है। यह यज्ञ केवल गृहस्थाश्रम मे ही सम्भव है। इस यज्ञ म श्राद्ध के अवसर पर पितरो को जलदान या तर्पण एव भोग प्रदान किया जाता है। तर्पण या पिण्डदान करने का अधिकारी विशेषत पुत्र ही होता है। अत पुत्र प्राप्ति हेतु व्यक्ति का गृहस्थाश्रम मे प्रवेश अनिवार्य है। सृष्टि विकास एव ज्ञान परम्परा की निरन्तरता के लिए भी यह यज्ञ आवश्यक है। 'भूतयज्ञ म हानिकारक प्रेतात्माओ, जानवरो, कीडे मकोडा, अपाहिजो एव अस्पृश्यों को बलि अर्थात् भोजन का कुछ अश दिया जाता है जिससे इन सबके जीवन की रक्षा हो सके। इस यज्ञ से व्यक्ति की दान एव त्याग भावना और त्यागमय भोग की आदर्श

---

10 B. G Gokhale 'Indian Thought Through the Ages", P 41

अभिव्यक्ति होती है तथा उसका मानवतावादी दृष्टिकोण प्रकट होता है। डॉ० कापडिया का कथन है कि समस्त निम्न से निम्न जीवधारी प्राणियो के प्रति हिन्दू आचारशास्त्र का यह दृष्टिकोण इस बात का उत्तम उदाहरण है कि मानवता का क्षेत्र वास्तव मे अत्यधिक विस्तृत है।[11] नृयज्ञ को अतिथियज्ञ भी कहते हैं। साधु-सन्तो एव अन्य अतिथियो के प्रति आदर भाव व्यक्त करने के दृष्टिकोण से यह यज्ञ सम्पन्न किया जाता है। इसके अन्तर्गत अतिथियो का सत्कार सम्मिलित है। उनको साधनो के अनुसार भोजन, वस्त्र, दक्षिणा आदि देना गृहस्थ का परम पवित्र कर्तव्य और सामाजिक-धार्मिक एव नैतिक दायित्व माना गया है। प्रो० हरिदत्त के अनुसार समावर्तन सस्कार के अवसर पर प्रत्येक स्नातक को 'अतिथि देवो भव' (तैत्तिरीय उपनिषद् २।११।२।२) का उपदेश दिया जाता था।

इन पच महायज्ञो के द्वारा गृहस्थ ऋषियो, देवताओ, माता-पिता, गुरुजनो, अतिथियो और समस्त जीवधारियो के प्रति अपने दायित्व का निर्वाह करता था। वह ईश्वर मे भक्ति-भाव रखता, सत्-साहित्य का पठन-पाठन करता और मानव मात्र के प्रति अपने कर्त्तव्यो को पूर्ण करता था।

गृहस्थ-आश्रम का महत्त्व

गृहस्थ जीवन के साथ अनेक सामाजिक, धार्मिक एव नैतिक कर्त्तव्य जुडे हुए होने से गृहस्थाश्रम का महत्त्व बहुत बढ जाता है। इसी कारण महाभारत तथा अन्य धर्म-ग्रथो मे कहा गया है कि गृहस्थाश्रम मे जीवन व्यतीत किए बिना व्यक्ति के लिए मोक्ष-प्राप्ति सभव नहीं है। अन्य सभी आश्रमो के लोग अपने भरण-पोषण के लिए गृहस्थ पर ही निर्भर रहते हैं। इसीलिए यह कहा गया है कि गृहस्थाश्रम वह धुरी है जिस पर सम्पूर्ण आश्रम व्यवस्था का अस्तित्व बना हुआ है। गृहस्थाश्रम-चारो आश्रमो मे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है क्योकि इसकी सफलता पर ही जीवन की सफलता निर्भर करती है। मनु ने बतलाया है कि जिस तरह वायु का आश्रय लेकर सब जीव-जन्तु जीते हैं, उसी तरह गृहस्थ का आश्रय लेकर सब आश्रम जीवन प्राप्त करते हैं। सभी आश्रमो म रहने वाले व्यक्तियो को गृहस्थ से ही भोजन एव पवित्र ज्ञान प्राप्त होने के कारण गृहस्थाश्रम ही सर्वोपरि आश्रम है। जिस प्रकार सभी छोटी और बडी नदियाँ अन्त मे समुद्र मे ही स्थायी रूप से विश्राम पाती हैं उसी प्रकार सब आश्रमों के व्यक्ति गृहस्थ के हाथो मे ही सुरक्षा एव स्थायित्व प्राप्त करते हैं।[12] स्वामी विवेकानन्द ने लिखा है,—"गृहस्थ सारे समाज की नीव सादृश्य है, यही मुख्य धन उपार्जन करने वाला होता है। जीवन के इन भिन्न भिन्न आश्रमो मे भिन्न भिन्न कर्तव्य होते हैं। वास्तव मे इन आश्रमो मे से कोई किसी से श्रेष्ठ नहीं है, एक गृहस्थ का जीवन भी उतना ही श्रेष्ठ है, जितना कि एक ब्रह्मचारी का, जिसने अपना जीवन धर्म-कार्य के लिए उत्सर्ग कर दिया है। ... ... यह कहना व्यर्थ है कि 'गृहस्थ से सन्यासी श्रेष्ठ है।' ससार को छोडकर, स्वच्छन्द और शान्त जीवन मे रहकर

---

11. "This attitude towards all living creatures however lowly they might be on the biological plane exemplified a wider range of humanity that had come to be conceived in Hindu ethics"

—K. M. Kapadia, "Marriage & Family in India", P. 33

१२. मनुस्मृति, ३।७७, ३।७८०

ईश्वरोपासना करने की अपेक्षा ससार मे रहते हुए ईश्वर की उपासना करना बहुत कठिन है।"[13] गृहस्थाश्रम का मूल आधार धर्म है। धर्मानुसार कर्त्तव्यपालन करते हुए गृहस्थ स्वय को वानप्रस्थ के लिए तैयार करता तथा मोक्ष प्राप्ति हेतु अपना मार्ग प्रशस्त करता।

स्पष्ट है कि गृहस्थाश्रम का महत्त्व अन्य सभी आश्रमो से इस दृष्टि से सबसे अधिक है कि यहा व्यक्ति अर्थ का उपार्जन और काम का उपभोग कर सका है, अन्य आश्रमो मे इनकी व्यवस्था नही है। गृहस्थाश्रम सामूहिक जीवन से सम्बन्धित है। पच महायज्ञो के निर्वाह का यही केन्द्र स्थल रहा है। इन्ही यज्ञो के माध्यम से वह समस्त जीवधारियों के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन कर सका, सामान्य कल्याण मे योग दे सका। मनु-स्मृति मे बतलाया गया है कि जो व्यक्ति पृथ्वी पर स्थायी प्रसन्नता एव स्वर्ग का आशीर्वाद चाहते हैं, उनके लिए गृहस्थ आश्रम के दायित्वो को परिश्रम और लगन से पूरा करना आवश्यक है क्योंकि दुर्बल मन के व्यक्ति गृहस्थाश्रम के महान दायित्वो को कठिनता से पूर्ण कर सकते है।[14] इस प्रकार, हम देखते हैं कि गृहस्थाश्रम का महत्त्व सभी दृष्टिकोणों से सर्वोपरि है।

(३) वानप्रस्थ आश्रम (Vanaprasth Ashrama)

करीब २५ वर्ष तक गृहस्थाश्रम में रहने के पश्चात् ५० वर्ष की आयु मे व्यक्ति के वानप्रस्थ आश्रम मे प्रवेश करने का विधान शास्त्रकारो ने किया है। मनु ने इस सम्बन्ध मे लिखा है —

'गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मन ।
अपत्यस्यैव चापत्य तदारण्य समाश्रयेद् ।'[15]

अर्थात् जब गृहस्थ यह देखे कि उसके शरीर की त्वचा शिथिल हो गई है, उसमे झुर्रियां पड़ गई हैं, बाल पक गए हैं, उसके पुत्र के भी पुत्र हो गया है तब विषयो से मुक्त होकर वह वन का आश्रय ले। ५० से ७५ वर्ष तक के आयु के समय को वानप्रस्थ आश्रम मे रहकर व्यतीत करने की व्यवस्था की गई है। इस आश्रम मे व्यक्ति सपत्नीक अथवा अकेले प्रवेश कर सकता था। वह अपना घर तथा गाव त्याग कर वन का आश्रय लेता और विषय-भोगो से विमुख होता हुआ उन पर पूर्ण नियन्त्रण पाने का प्रयास करता। घर की चहार दीवारी से निकल कर वह वन मे सरल त्यागमय और सेवायुक्त पवित्र जीवन व्यतीत करना तथा प्रभु चिन्तन मे निमग्न होना। वानप्रस्थी अकर्मण्य जीवन व्यतीत नही करता था। गृहस्थाश्रम मे वह सकाम-कर्म करता था, यहां वह निष्काम-कर्म करता। वह समाज-कल्याण मे रत रहता, विद्यार्थियो को निःशुल्क शिक्षा प्रदान करता और उनके चरित्र एव व्यक्तित्व के निर्माण मे महत्त्वपूर्ण योग देता।

---

१३. विवेकानन्द : 'कर्मयोग', पृष्ठ ३०

१४. मनुस्मृति, ३/७९

१५ पूर्व उद्धृत, ६।२

इस आश्रम मे वानप्रस्थी सासारिक सुखो से धीरे-धीरे विरक्त होने का प्रयत्न करता। यहाँ वह कदमूल और फलो का सेवन करता तथा मृगचर्म या पेड की छाल-पत्तो के वस्त्र पहनता था। वह जमीन पर सोता तथा घास-फूस से बनी कुटिया मे अथवा वृक्ष के नीचे निवास करता। वह भयकर गर्मी मे भी अग्नि के सामने बैठ कर तपस्या करता। वह इस आश्रम मे भी गृहस्थाश्रम मे किए जाने वाले पच महायज्ञ जारी रखता और अपने भोजन के लिए जो कुछ प्राप्त करता, उसमे से दान देता तथा अतिथियो का आदर-सत्कार करता था। वह वेदो, उपनिषदो तथा अन्य धार्मिक ग्रथो का अध्ययन करता, तप द्वारा शरीर को पवित्र करता, आत्म चिन्तन करता, परम सत्य की खोज मे अपने आपको लगा देता तथा परमात्मा की अनुभूति प्राप्त करने का प्रयत्न करता। इस प्रकार, इस आश्रम मे व्यक्ति का जीवन स्वाध्याय, अग्निहोत्र, सयम और सब प्राणियो के प्रति करुणा तथा मैत्री से पूर्ण होता था। यहाँ सयमी और सदाचारी जीवन व्यतीत करते हुए वानप्रस्थी सन्यास आश्रम मे प्रवेश करन के पूर्ण योग्य बनता।

वानप्रस्थ आश्रम का महत्व '

वानप्रस्थी के द्वारा किए जाने वाले कार्य सामाजिक-कल्याण मे अपूर्व योग देते थे। पचास वर्ष की आयु मे गृहस्थ के वानप्रस्थाश्रम मे प्रवेश करने से युवा पीढ़ी के लोगो के लिए स्वत ही स्थान रिक्त हो जाते थे। समाज को आर्थिक समस्या का सामना नही करना पडता था, बेकारी की समस्या ही उत्पन्न नही हो पाती थी। वानप्रस्थी के यहाँ, जगल मे नि शुल्क शिक्षा प्राप्त करने से, समाज को शिक्षा सम्बन्धी समस्याओ का भी सामना नहीं करना पडता था। वानप्रस्थी अपने ज्ञान तथा अनुभव के द्वारा ब्रह्मचारियो को शिक्षा प्रदान करता, उनके चरित्र-गठन और व्यक्तित्व के विकास मे योग देता।

(४) संन्यास आश्रम (Sanyasa Ashrama)

वानप्रस्थी के रूप मे जीवन के तृतीय भाग को वन म व्यतीत करने के पश्चात् चतुर्थ भाग म व्यक्ति ससार का परित्याग करके सन्यास आश्रम मे प्रवेश करता था। वानप्रस्थाश्रम तक वह समाज का सदस्य था, परन्तु अब वह सब प्रकार क सामाजिक तथा सासारिक सम्बन्धो से स्वय को मुक्त कर लेता। यहा तक कि इस आश्रम मे प्रवेश करने पर वह अपना सामाजिक नाम भी त्याग देता और सन्यासी के रूप में नवीन नाम ग्रहण करता। वह इस आश्रम मे परिव्राजक बन जाता अर्थात् एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमता और लोगो को उपदेश देता रहता। इस आश्रम म प्रवेश करने पर उसे अपने पास कुछ भी रखने की आज्ञा नही थी। वह भिक्षा के लिए दिन मे केवल एक बार जा सकता था। अधिक मिलने पर वह प्रसन्न नही होता और कम या न मिलने पर दु खी नही होता। वस्तुत वह जीवन-मृत्यु की चिन्ता से मुक्त होता था।

वायु पुराण (अध्याय ८) मे सन्यासी के दस कर्त्तव्य बताए गए हैं भिक्षावृत्ति से भोजन प्राप्त करना, चोरी न करना, बाह्य तथा आन्तरिक पवित्रता रखना, प्रमादी न होना, ब्रह्मचर्य का पालन करना, दया करना, प्राणियो के प्रति क्षमावान होना, क्रोध न करना, गुरु की सेवा करना तथा सत्य बोलना। ये उसके परम कर्त्तव्य माने गए हैं। मनु ने सन्यासी के लिए लिखा है —

"दृष्टिपूत न्यसेत्पाद वस्त्रपूत जल पिबेत् ।
सत्यपूता वदेद्वाच मन पूत समाचरेत् ॥"[16]

अर्थात् सन्यासी को अपने पर पूर्ण सयम रखना चाहिए। उसे नीची दृष्टि करके चलना चाहिए, कपडे से छानकर जल पीना चाहिए, सत्य से पवित्र करके वाणी का प्रयोग करना चाहिए एव मन को पूर्ण पवित्र रख कर आचरण करना चाहिए ।

सन्यासी निर्लिप्त भाव से प्राणी मात्र के कल्याण मे लगता था। मिट्टी और सोना दोनो के प्रति उसका समभाव होना था। सन्यासी कर्म-फल की इच्छा से रहित निष्काम कर्म करता था, जन-जन के जीवन को उत्तम एव उन्नत बनाने मे योग देता था। वह आत्मा और परमात्मा के गूढ रहस्यो का पता लगाने का प्रयत्न करता था। इस प्रकार, इस आश्रम मे विभिन्न कर्त्तव्य पूर्ण करते हुए सन्यासी समाज-कल्याण मे लगता, अमरत्व-प्राप्ति योग्य बनता और जीवन के अन्तिम लक्ष्य—मोक्ष को प्राप्त करता ।

साधारणत वानप्रस्थ आश्रम में अपना जीवन व्यतीत करने के पश्चात् ही व्यक्ति सन्यास आश्रम मे प्रवेश करता था। लेकिन यदि व्यक्ति मे गृहस्थाश्रम मे ही वैराग्य और ससार के प्रति अनासक्ति भाव पदा हो जाता तो वह सीधा सन्यासाश्रम मे प्रवेश कर सकता था। इसी प्रकार, यदि कोई ब्रह्मचारी विषय-भोग की कामना से पूर्णत रहित, जितेन्द्रिय तथा जन-कल्याण की भावना से ओत प्रोत होता तो वह भी सीधा ही सन्यास आश्रम मे प्रवेश कर सकता था। शास्त्रकारो का ऐसा मत है।

संन्यास आश्रम का महत्त्व

कुछ लोगो का विचार है कि सन्यास आश्रम सामाजिक दृष्टि से उपयोगी नहीं है। इसका कारण यह है कि जब एक व्यक्ति अपने ज्ञान तथा अनुभवो के आधार पर नवीन विचारो से समाज के सदस्यो का मार्ग-दर्शन करने योग्य होता तब उसे ससार से पूर्णत विरक्त होकर सन्यासी बनकर जगल के किसी कोने मे जाने के लिए विवश किया जाता था। वहां मोक्ष प्राप्ति ही उसका एकमात्र उद्देश्य रहता था। इस प्रकार, आश्रम-व्यवस्था कुछ अशों में समाज के प्रति उदासीनता की भावना को जन्म देती है। इस व्यवस्था से सम्बन्धित भारतीय दृष्टिकोण को स्वार्थपूर्ण कहा गया है क्योकि जब व्यक्ति मोक्ष-प्राप्ति के उद्देश्य से जगल में चला जाता तो समाज उसकी सेवाओ का लाभ नही उठा पाता था।

परन्तु वास्तव मे सन्यासी का सकीर्ण और स्वार्थपूर्ण दृष्टिकोण नहीं होता था। वह अपने ज्ञान तथा अनुभव के आधार पर लोगो का मार्ग दर्शन करने की क्षमता रखता था और वह ऐसा करता भी था। कुटिया बनाकर एक स्थान पर रहने की बजाय वह एक स्थान से दूसरे स्थान पर अनेक ग्रामो का भ्रमण करता रहता था। लोग उस श्रेष्ठ पुरुष-सन्यासी का स्वागत कर उसके जीवन से अनेक शिक्षाऐं ग्रहण करते, उससे परामर्श और मार्ग दर्शन प्राप्त करते। सन्यासी के जीवन को असामाजिक नही माना जा सकता। वह तो परमात्मास्वरूप माना जाता था जिसके आगे श्रद्धा से लोग नत मस्तक होते थे। वह व्यक्तियो को अनेक रूपो मे सद्कर्म करने के लिए प्रेरित करता और उनके जीवन को प्रभावित करता था।

---

१६ मनुस्मृति ६।४६।

आश्रम-व्यवस्था के आधारभूत सिद्धान्त
(Fundamental Principles of Ashrama System)

यहा पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि आश्रम-व्यवस्था का निर्माण किन आधारभूत सिद्धान्तो को लेकर किया गया था। आश्रम-व्यवस्था, वास्तव म, तत्कालीन समाज के सास्कृतिक मूल्या एव जीवन-दशन का प्रतिनिधित्व करती है। भारतीय सस्कृति सर्दव ही समूह कल्याण के आदर्श की ओर उन्मुख रही है। यहाँ समूह हित को ध्यान मे रखत हुए व्यक्तियो को अपने व्यक्तित्व के विकास का पूर्ण अवसर दिया गया, लेकिन व्यक्तिवादिता को प्रोत्साहित न कर उस पर अकुश रखा गया। आश्रम-व्यवस्था के आधारभूत सिद्धान्ता के रूप मे निम्नलिखित सिद्धान्त महत्त्वपूर्ण हैं —

ऋणों की धारणा, यज्ञो की धारणा, पच महायज्ञ, सस्कार एव पुरुषार्थ। यहाँ प्रत्यक का पृथक से वर्णन किया जा रहा है।

ऋणों की धारणा—हिन्दू जीवन-व्यवस्था मे, आश्रम-व्यवस्था के मूल मे ऋणो की धारणा पाई जाती है। हमारे यहाँ यह मान्यता है कि प्रत्येक हिन्दू अनक चर एव अचर सत्त्वो का ऋणी है, समाज का उस पर अनेक रूपो मे ऋण पाया जाता है। साधारणत व्यक्ति पर पाच प्रकार के ऋण माने गए हैं—देव-ऋण, ऋषि-ऋण, पितृ-ऋण, अतिथि-ऋण और भूत-ऋण। व्यक्ति ने जो कुछ भी प्राप्त किया है, वह जो कुछ भी है, उसका जैसा भी विकास हुआ है, उन सबके लिए वह दूसरो का ऋणी है। देवताओ ने व्यक्ति को अनेक वस्तुएँ प्रदान की हैं, जैसे—जल, भूमि, वायु तथा अन्य महत्त्वपूर्ण साधन जिन्होने उसके विकास और अस्तित्व को बनाये रखने म योग दिया है। ऋषियो न अपने ज्ञान तप, साधन एव अनुभूति से व्यक्ति के बौद्धिक एव उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व के विकास मे योग दिया है। माता-पिता ने व्यक्ति को जन्म देकर, उसके पालन-पोषण और शिक्षा की समुचित व्यवस्था करके उसके विकास मे महत्त्वपूर्ण योग दिया है।

समाज के उन अनेकानेक व्यक्तियो ने भी उसके विकास म योग दिया है जिन्होने ब्रह्मचारी के रूप म उसकी आवश्यकताएँ पूरी की हैं। अनेक अन्य जीवधारियो ने भी समय-समय पर व्यक्ति की रक्षा की है, उसके अस्तित्व को बनाये रखने म योग दिया है। ऐसी दशा म हम इन सबक ऋणी है। देवताओ, ऋषियो, माता पिता, अतिथियो और अनेक अन्य जीवधारियो के ऋण स उऋण होने के लिए यह आवश्यक है कि इन सबक प्रति हम अपने कर्त्तव्यो का पालन करें, इनके प्रति आदर और त्याग की भावना व्यक्त करें तथा मानवता का परिचय दें।

विभिन्न आश्रमो मे अनेक कर्त्तव्य-सम्पादन करते हुए व्यक्ति इन ऋणो से उऋण होने का प्रयत्न करता है जिससे वह जीवन क अन्तिम-लक्ष्य, मोक्ष प्राप्ति की ओर अग्रसर हो सके। इन ऋणो की अवधारणा क माध्यम से व्यक्ति म प्रेम, सहानुभूति, दया, उदारता, त्याग, आदर भावना आदि गुणो का विकसित करन तथा समाज के प्रति दायित्व निर्वाह की ओर लोगो को अग्रसर करने का प्रयास किया गया है।

यज्ञो की धारणा एव पच महायज्ञ :—विभिन्न ऋणो से उऋण होने के लिए आश्रम-व्यवस्था के अन्तगत यज्ञो के महत्त्व को स्वीकार किया गया है। ब्रह्मचर्याश्रम म विद्यार्थी ज्ञान-यज्ञ करता है, गुरु निर्देशित नियमो एव नियमों का पालन करत हुए अपने पर नियन्त्रण रखता है गृहस्थाश्रम मे वह गुरु द्वारा समावतन सस्कार के अवसर पर दिय गये उपदेश

मे मोक्ष को जीवन-मुक्ति और विदेह मुक्ति के रूप मे व्यक्त किया गया है। जीवन मुक्ति का *तात्पर्य है—ससार मे रहते हुए ससार के कष्टों से निवृत्ति एव तत्त्व-ज्ञान की उपलब्धि।* विदेह-मुक्ति का आशय है—जीवन-मरण के बन्धन से मुक्त होना अर्थात् मरने के पश्चात् पुन ससार मे लौटकर नही आना। वेदान्त मे आध्यात्मिक पूर्णावस्था को ही मोक्ष कहा गया है। मोक्ष को ब्रह्म की अनुभूति और परम आनन्द की स्थिति के रूप मे समझा गया है। मोक्ष का तात्पर्य यह है कि आत्मा का परमात्मा से मिलन हो जाय, व दोनो एकाकार हो जाए और व्यक्ति को पुन-पुन विभिन्न रूपो म ससार मे लौटकर नही आना पडे—उसे आवागमन के बन्धनो से छुटकारा प्राप्त हो जाए। विभिन्न आश्रमो मे इस तरह धर्मानुसार दायित्व निर्वाह करते हुए *व्यक्ति सन्यासाश्रम मे मोक्ष प्राप्ति हेतु प्रयत्नशील होता था।*

इस प्रकार, आश्रम-व्यवस्था के एक आधारभूत सिद्धान्त के रूप म 'पुरुषार्थ का महत्व है। डा० कापडिया ने लिखा है, "पुरुषार्थ का सिद्धान्त भौतिक इच्छाओ एव आध्यात्मिक जीवन मे सामञ्जस्य स्थापित करता है। यह मानव मे पैतृक-सहजात-यौन-भावना, उसके शक्ति और सम्पत्ति के प्रति मोह, कलात्मक और सास्कृतिक जीवन के प्रति उसकी तृष्णा, परमात्मा के साथ उसके पुनर्मिलन की कामना-सन्तुष्टि का प्रयत्न भी करता है। यह जीवन को एक समग्र रूप मे देखता है, इसकी आशाओ और प्रेरणाओ, इसकी प्राप्तियो एव आनन्दो तथा इसकी महानता और आध्यात्मिकता को स्पष्ट करता है।"[20]

स्पष्ट है कि भारतीय जीवन-दर्शन मे ऋणो, पच महायज्ञो, सस्कारो एव पुरुषार्थों का महत्व होने के कारण आश्रम-व्यवस्था जैसी समन्वित व्यवस्था का विकास हो सका जिसने *एक ओर व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास मे और दूसरी ओर समाज की प्रगति मे अपूर्व* योग दिया।

आश्रम व्यवस्था का समाजशास्त्रीय महत्व

(Sociological Importance of Ashrama System)

आश्रम व्यवस्था भारतीय सामाजिक सगठन मे एक मौलिक आधार के रूप मे रही है। इस व्यवस्था का महत्व इसी बात से स्पष्ट है कि इसने व्यक्तियो के समाजीकरण मे अपूर्व योग दिया है। भारतीय विचारक इस तथ्य से पूर्णत परिचित थे कि व्यक्ति के समुचित विकास के बिना समाज प्रगति की ओर आगे नही बढ सकता। आश्रम-व्यवस्था का महत्व निम्न आधारो पर समझा जा सकता है —

(१) आश्रम व्यवस्था ने मानवीय गुणो के विकास में काफी सहायता प्रदान की है। *विभिन्न आश्रमो म व्यक्ति के कर्त्तव्य इस प्रकार से निर्धारित किये गये कि उन्होंने व्यक्ति* मे त्याग, परोपकार, निष्ठा, सरलता, कर्त्तव्य-परायणता, बन्धुत्व तथा आध्यात्मिकता के गुणो को विकसित करने मे योग दिया।

(२) आश्रम व्यवस्था ने समष्टिवादी दृष्टिकोण के विकास में योग दिया है। व्यक्ति प्रत्येक आश्रम मे रहता हुआ यह अनुभव कर सका है कि वह केवल स्वय के लिए नही जीता है और वह जो कुछ भी है, केवल स्वय के प्रयत्नो का ही परिणाम नही है। समाज ने उसे अपने विकास हेतु विविध प्रकार की सुविधाए प्रदान की हैं। अत समाज के प्रति

---

20. Ibid P 27.

का कुछ दायित्व है। इस प्रकार इस व्यवस्था ने व्यक्ति और समाज की पारस्परिक निर्भरता पर जोर दिया।

(३) आश्रम व्यवस्था ने सामाजिक नियन्त्रण की दृष्टि से महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। व्यक्ति के कर्त्तव्यों एवं दायित्वों का निर्धारण इस प्रकार से किया गया था कि व्यवहार के मान्यता प्राप्त तरीकों या आदर्श मानदण्डों से उसके विचलित होने का साधारणतः प्रश्न ही नहीं उठता। उसके चरित्र का गठन और व्यक्तित्व का विकास ही कुछ ऐसा होता था कि वह साधारणतः अनुचित कार्य कर ही नहीं पाता था।

(४) आश्रम व्यवस्था ने बौद्धिक विकास, ज्ञान के संग्रह एवं प्रसार तथा समाज की सांस्कृतिक परम्पराओं को पीढ़ी दर-पीढ़ी हस्तान्तरित करने में अपूर्व योग दिया है। ब्रह्मचर्य आश्रम में आदर्श गुरुओं की देख-रेख में बालक का प्रशिक्षण प्रारम्भ होता था। उसे गुरुओं के ज्ञान और संचित अनुभव का लाभ उठाने का सुअवसर प्राप्त होता। यहां उसे अपने बहुमुखी विकास एवं व्यक्तित्व के निर्माण का अवसर मिलता। वेदों एवं अन्य धर्म-ग्रन्थों के अध्ययन द्वारा न केवल उसका बौद्धिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास होता, बल्कि समाज की सांस्कृतिक परम्पराओं का भी हस्तांतरण होता रहता।

(५) आश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत व्यावहारिक उपयोगितावादी दृष्टिकोण सर्वत्र बनाये रखा गया है। यहां धर्म के व्यावहारिक पक्ष पर विशेष जोर दिया गया है। पंच महायज्ञों के द्वारा व्यक्ति समाज के अन्य लोगों के प्रति अपने दायित्व का निर्वाह करता है। गृहस्थ के रूप में व्यक्ति आर्थिक क्रियाएं एवं धन का उपार्जन करता है ताकि समाज के सभी लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके।

(6) आश्रम-व्यवस्था ने व्यक्तिवादिता पर अंकुश रखने, पारिवारिक और सामाजिक तनावों से व्यक्तियों को छुटकारा दिलाने और जन-कल्याण की भावना से प्रेरित होकर कार्य करने में सहायता पहुंचायी है। केवल मानव-मात्र की सेवा करना ही यहां व्यक्ति का पुनीत कर्त्तव्य नहीं बतलाया गया है, बल्कि पशु पक्षियों, कीड़ों-मकोड़ों और कीट-पतंगों तक का भरण-पोषण करना उसका दायित्व समझा गया है। प्रत्येक गृहस्थ के पचास वर्ष की आयु के पश्चात् वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करने से युवा पीढ़ी को समय पर अधिकार प्राप्त हो जाते और ऐसी स्थिति में पारिवारिक संघर्षों की संभावना नहीं रहती। वानप्रस्थी और सन्यासी जन-जन के कल्याण हेतु सेवा-कार्य में अपने को लगाते, लोगों का मार्ग-दर्शन करते और उनकी समस्याओं को सुलझाने के लिए उचित परामर्श देते।

कुछ लोगों के मन में यह शंका उत्पन्न होती है कि आश्रम-व्यवस्था एक सैद्धान्तिक व्यवस्था मात्र थी अथवा व्यावहारिक भी। समाज के कितने लोग इस व्यवस्था की परिधि में आते थे? इस व्यवस्था ने समाज के लोगों को कहां तक प्रभावित किया? इन प्रश्नों पर ऐतिहासिक प्रमाणों के अभाव में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। महाभारत काल में अनेक स्थलों पर आश्रम-व्यवस्था का वर्णन मिलता है। इस व्यवस्था को केवल सैद्धांतिक व्यवस्था मात्र नहीं माना जा सकता। यदि यह व्यवस्था केवल सैद्धान्तिक व्यवस्था ही होती तो सदियों तक लोगों के व्यवहारों को विविध रूपों में प्रभावित करना इसके लिये सम्भव नहीं होता। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि पचास वर्ष की आयु के बाद अपने परिवार को छोड़ कर वानप्रस्थी बनने में कभी-कभी व्यक्ति के सामने कठिनाई अवश्य आती होगी।

आश्रम-व्यवस्था के सम्पूर्ण विश्लेपण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारतीय समाज-द्रष्टाओ ने जीवन की मौलिक आवश्यकताओ की पूर्ति हेतु परमार्थ पर आधारित आश्रम-व्यवस्था को जन्म दिया था। इसके अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति अपने धार्मिक कृत्यो की पूर्ति तथा अपने जीवन के उद्देश्य-धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति करता था। ब्रह्मचर्य आश्रम मे वह वेदो के अध्ययन के द्वारा अपने धर्म को समझता था, गृहस्थाश्रम मे धर्म के अनुसार अर्थ तथा काम का उपभोग करता था तथा वानप्रस्थाश्रम मे परिवार से अलग, वन मे अपनी इच्छाओ पर नियन्त्रण रखता हुआ समाज के हित मे कार्य करता था। इन तीनो आश्रमो में रहकर वह देव-ऋण पितृ-ऋण, और ऋषि ऋण चुकाता था। अन्त में सन्यासाश्रम मे रहकर आत्म-चिन्तन मे लीन हो वह मोक्ष-प्राप्ति करता था। वास्तव मे आश्रम-व्यवस्था जीवन को सुचारु रूप से चलाने की एक अति सुन्दर और आदर्श व्यवस्था थी। इस व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक आश्रम का व्यावहारिक पक्ष के साथ-साथ सामाजिक उपयोगिता मूलक पक्ष भी रहा है।

प्रश्न

१. हिन्दू समाज मे आश्रम-व्यवस्था के समाजशास्त्रीय महत्त्व को प्रकट कीजिये।
२. "आधुनिक जीवन के सन्दर्भ मे आश्रम-व्यवस्था केवल एक आदर्श-मात्र रह गयी है।" समालोचना कीजिये।
३. 'पुरुषार्थ' के सिद्धान्त की विवेचना कीजिये। हिन्दू आश्रम-व्यवस्था मे यह सिद्धान्त किस प्रकार अभिव्यक्त किया गया है?
४. भारतीय जीवन व्यवस्था मे गृहस्थाश्रम के समाजशास्त्रीय महत्त्व की व्याख्या कीजिये।
५. आश्रम-व्यवस्था के आधारभूत सिद्धातो पर प्रकाश डालिए।
६. गृहस्थाश्रम के समाजशास्त्रीय महत्त्व की विवेचना कीजिए। इस आश्रम को अन्य सभी आश्रमो से अधिक महत्त्वपूर्ण क्यो माना गया है?
७. आश्रम-व्यवस्था पर एक निबन्ध लिखिए।
८. 'ब्रह्मचर्य आश्रम' पर एक टिप्पणी लिखिए।
९. आश्रम-व्यवस्था क्या है? क्या आधुनिक भारतीय समाज मे यह व्यवस्था उपयुक्त हो सकती है?

□ □

अध्याय 4

भारतीय जाति-व्यवस्था

(INDIAN CASTE SYSTEM)

संसार के सभी भागों में, आदिकालीन समाजों से लेकर आज के आधुनिक जटिल समाजों तक में सामाजिक स्तरीकरण का कोई न कोई रूप अवश्य पाया जाता है। सामाजिक स्तरीकरण एक ऐसी व्यवस्था है जिसके द्वारा समाज को कई स्तरों में इस प्रकार विभाजित कर दिया जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति एवं समूह के अधिकार और कर्त्तव्य अन्य व्यक्तियों तथा समूहों की तुलना में स्पष्ट मालूम पड़ें। सामाजिक स्तरीकरण के माध्यम से विभिन्न स्तरों के व्यक्तियों के कार्य निर्धारित कर दिये जाते हैं और प्रत्येक स्तर का व्यक्ति यह समझ लेता है कि उससे किस प्रकार के व्यवहार की अपेक्षा की जाती है। जिस्बर्ट ने बतलाया है कि सामाजिक स्तरीकरण का अर्थ समाज को कुछ ऐसे स्थायी समूहों एवं श्रेणियों में विभाजित करने वाली व्यवस्था से है जिसमें सभी समूह और श्रेणियां उच्चता और अधीनता के सबंधों द्वारा एक-दूसरे से बंधे रहें। सामाजिक स्तरीकरण का तात्पर्य समाज को कुछ उच्च एवं निम्न सामाजिक इकाइयों में विभाजित कर देने वाली व्यवस्था से है। यहां मूल प्रश्न यह उठता है कि समाज को विभिन्न इकाइयों, समूहों एवं श्रेणियों में बांटने का प्रयत्न क्यों किया जाता है? इसका मुख्य कारण यह है कि प्रत्येक समाज यह चाहता है कि अधिक कुशल व्यक्तियों को सामाजिक व्यवस्था में वे कार्य सौंपे जायें जो सापेक्ष रूप से अधिक महत्त्वपूर्ण हों। समाज अपने अस्तित्व और प्रगति के लिये जिन कार्यों को विशेषत महत्त्वपूर्ण मानता है, उन्हें योग्य से योग्य व्यक्तियों को सौंपना चाहता है। सामाजिक स्तरीकरण के द्वारा इसी उद्देश्य की पूर्ति की जाती है। एक समाज विशेष के सामाजिक मूल्यों और संस्कृति की दृष्टि से जिन कार्यों को उच्च माना जाता है उन्हें पूरा करने वालों को समाज में सर्वोच्च स्थान प्रदान किया जाता है। भारतीय समाज में सामाजिक-स्तरीकरण को प्रभावित करने में धार्मिक मान्यताओं का विशेष योग रहा है।

भारतीय समाज में सामाजिक स्तरीकरण के रूप में किसी समय वर्ण-व्यवस्था पायी जाती थी। तत्पश्चात् इसका स्थान जाति-व्यवस्था ने ले लिया। जाति-व्यवस्था हिन्दू सामाजिक संरचना का एक प्रमुख आधार रही है, जिसने हिन्दुओं के सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक जीवन को अनेक रूपों में प्रभावित किया है। हिन्दू जीवन के सम्पूर्ण अध्ययन के लिए जाति-व्यवस्था का वैज्ञानिक विश्लेषण अत्यन्त आवश्यक है।

भारतीय समाज को एक जातिगत समाज के नाम से पुकारा जा सकता है। जाति भारतीय समाज की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण संस्था है। पिछले सैकड़ों, हजारों वर्षों से जाति-व्यवस्था अपने विभिन्न विधि निषेधों के द्वारा भारतीय जीवन को प्रभावित करती रही है।

लोगो ने जाति प्रणाली को ईश्वर की एक महान् कृति समझकर इसे हृदय से स्वीकार किया। आज परिवर्तनकारी शक्तियो के प्रभाव से लोग इसे एक अलौकिक व्यवस्था के रूप मे मानने को प्रस्तुत नही हैं, तो इसने भी अपने स्वरूप मे परिवर्तन कर लिया है। आज यह व्यक्तिगत एव राजनैतिक स्वार्थों की पूर्ति का साधन बनकर अपने अस्तित्व को बनाये हुए है।

भारतीय जाति-प्रणाली ने विभिन्न सामाजिक समूहो को न्यूनाधिक मात्रा मे प्रभावित अवश्य किया है। यहाँ शायद ही कोई ऐसा सामाजिक समूह बचा हो जो इसके प्रभाव से पूर्णत मुक्त हो। मुसलमान तथा ईसाई तक भी इसके प्रभाव से मुक्त नही रह सके। १६११ की जनगणना के अनुसार हमारे देश के मुसलमानो मे ६४ जातीय-समूह पाये गए। ईसाई भी आज अनेक उच्च एव निम्न स्थिति वाले समूहो मे विभक्त हैं। १६३१ की जनगणना के अनुसार, भारतीय समाज मे ३१६३ जातियाँ एव उपजातिया पाई गई थीं।

पिछले करीब चालीस वर्षों में जातीय-समूहो की सख्या मे वृद्धि ही हुई है। श्री हट्टन के अनुसार विभिन्न जातीय समूहो के सम्यक् अध्ययन के लिए विशेषज्ञो की एक सेना की आवश्यकता है। प्रारम्भ मे जाति प्रणाली अधिक जटिल नही थी, लेकिन समय के साथ-साथ इसके रूप मे परिवर्तन हुआ और आज यह प्रणाली काफी जटिल हो गई है। इसका अध्ययन समय-समय पर इतिहासकारों, भारतशास्त्रियो (Indologists), जनगणना आयुक्तो तथा अग्रेज मिशनरियो ने किया और अपने-अपने दृष्टिकोण से इसकी महत्ता को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया। इन विद्वानो के ऐसे अध्ययनो मे अनेक त्रुटियाँ रह गई और इनके द्वारा प्रस्तुत जाति-प्रणाली के विवेचन से भ्रामक स्थिति उत्पन्न हो गई है। इससे निराकरण एव वैज्ञानिक आधार पर भारतीय जाति प्रणाली का अध्ययन एव विश्लेषण करने की दृष्टि से मानव शास्त्रियो एव समाज शास्त्रियो के द्वारा किये गए प्रयास सराहनीय हैं। यहाँ जाति प्रणाली को समझने के लिए सर्वप्रथम जाति शब्द के अर्थ को समझ लेना आवश्यक है।

जाति का अर्थ :—जाति शब्द अग्रेजी भाषा के 'Caste' (कास्ट) शब्द का हिन्दी रूपान्तर है। Caste शब्द की व्युत्पत्ति पुर्तगाली शब्द (कास्टा) से हुई है। जिसका अर्थ *प्रजाति, नस्ल या जन्म* है। इस अर्थ के अनुसार जाति प्रणाली प्रजातीय अथवा जन्म पर आधारित एक व्यवस्था है। परन्तु जाति प्रणाली जैसी जटिल व्यवस्था को इस अर्थ के आधार पर नही समझा जा सकता।

जाति एक ऐसा बन्द वर्ग है जो प्रमुख रूप से भारतवर्ष मे ही पाया जाता है। इसकी सदस्यता जन्म से निश्चित होने के कारण यह मानव मानव के बीच ऊँच-नीच की दीवार खडी कर देती है। डा० डी० एन० मजुमदार और टी० एन० मदान ने जाति का परिभाषित करते हुए लिखा है,

"जाति एक बन्द वर्ग है।"[1]

कूले ने जाति की परिभाषा इस प्रकार की है, "जब एक वर्ग पूर्णत वशानुसक्रमण पर

1 "A caste is a closed class', Majumdar, D N & Madan, T N, 'An Introduction to Social Anthropology, P. 221

आधारित होता है तो हम उसे जाति कहते हैं।"[2] जाति एक ऐसा वर्ग है जिसकी सदस्यता केवल जन्म से ही निश्चित होती है अर्थात् कोई भी व्यक्ति अपनी योग्यता आदि बढ़ाकर अपनी जाति परिवर्तित नहीं कर सकता। जाति जन्म पर आधारित एक ऐसा सामाजिक समूह है जो अपने सदस्यों पर विवाह, शिक्षा, व्यवसाय, धर्म, सस्कार तथा राजनैतिक एवं सामाजिक व्यवहार सम्बन्धी अनेक प्रतिबन्ध लगाता है।

रिजले के अनुसार, "जाति परिवारों या परिवारों के समूहों का एक सकलन है, जिसका एक सामान्य नाम है, जो एक काल्पनिक पूर्वज, मानव या देवता से सामान्य उत्पत्ति का दावा करता है, समान आनुवंशिक व्यवसाय को करने पर जोर देता है और सम्मति देने मे समर्थ लोगो द्वारा एक सजातीय समुदाय माना जाता है।"[3] हट्टन ने जाति की इस परिभाषा की आलोचना करते हुए कहा है कि काल्पनिक पूर्वज से वंश-परम्परा गोत्र के लोग मानते हैं न कि जाति के लोग। जाति का कोई काल्पनिक सामान्य पूर्वज नही होता है। रिजले द्वारा प्रस्तुत की गई जाति की परिभाषा मे जाति तथा गोत्र के अन्तर को ध्यान मे नही रखा गया है जो इसका सबसे बड़ा दोष है। हट्टन ने लिखा है कि जाति एक ऐसी व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत एक समाज अनेक आत्म-केन्द्रित एवं एक-दूसरे से पूर्णत पृथक् इकाइयो (जातियो) मे विभाजित रहता है। इन इकाइयों के बीच पारस्परिक सम्बन्ध ऊँच-नीच के आधार पर सास्कारिक रूप से निर्धारित होते हैं।[4]

मार्टिण्डेल और मोनाचेसी (Martindale & Monachesi) ने लिखा है, "जाति व्यक्तियों का ऐसा समूह है जिनके कर्त्तव्यों तथा विशेषाधिकारों का भाग जन्म से निश्चित होता है जिनको जादू या धर्म या दोनों की स्वीकृति और समर्थन प्राप्त होता है।[5] इस परिभाषा मे जाति की अनेक विशेषताओं को छोड़ दिया गया है, इसलिए यह अपूर्ण है।

केतकर के अनुसार जाति एक सामाजिक समूह है जिसकी दो विशेषताएँ हैं :—

(१) सदस्यता केवल उन व्यक्तियों तक ही सीमित है जो सदस्यों से जन्म लेते हैं, और इस प्रकार से पैदा हुए व्यक्ति ही इसमे सम्मिलित होते हैं।

(२) सदस्य एक कठोर सामाजिक नियम द्वारा समूह के बाहर विवाह करने से रोक दिए जाते हैं।[6]

---

2 "When a class is somewhat strictly hereditary we may call it a caste" Cooley, C. H., 'Social Organisation.' P. 11

3. "Caste is a collection of families or groups of families bearing a common name, claiming a common descent from a mythical ancestor, human or divine, professing to follow the same hereditary calling; and regarded by those who are competent to give an opinion as forming a single homogeneous community" —Herbert Risley, "The people of India." P. 5

4 J H Hutton, Caste in India, P 50

5. "A caste is an aggregate of persons whose share of obligations and privileges is fixed by birth, sanctioned and supported by magic and or religion."
—Martindale & Monachesi, "Elements of Sociology" P. 529

6. Caste as "A social group having two characteristics. (i) Membership is confined to those who are born of members, and includes all persons so born, and (ii) The members are forbidden by an inexorable social law to marry outside the group." Ketkar, "History of Caste in India." P. 15.

जाति की यह परिभाषा सामान्य रूप से सत्य है, यद्यपि ये दोनों विशेषताएं सभी अवस्थाओं में पूर्ण सही नहीं है। दक्षिणी भारत में जाति से बाहर उत्पन्न होने वाले व्यक्तियों को भी जाति में शामिल कर लिया जाता है। वर्तमान समय में अन्य जातियों के सदस्यों से विवाह होने लगे हैं जिसके परिणामस्वरूप जाति की सदस्यता उन्हीं तक सीमित नहीं रह गई है जो सदस्यों से जन्म लेते हैं।

इन परिभाषाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जाति जन्म पर आधारित सामाजिक-स्तरीकरण की वह गतिशील व्यवस्था है जो अपने सदस्यों पर विवाह, खान-पान, व्यवसाय तथा सामाजिक-सहवास सम्बन्धी अनेक प्रतिबन्ध लगाती है। परन्तु हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि जाति प्रणाली एक गतिशील व्यवस्था है जिसे निश्चित और स्थायी परिभाषा की सीमाओं में नहीं बांधा जा सकता। यही कारण है कि हट्टन, धुरिए तथा एन० के० दत्त नामक विचारकों ने जाति की परिभाषा न देकर उसके प्रमुख लक्षणों का वर्णन करना ही अधिक ठीक समझा है। एन० के० दत्त ने जाति के प्रमुख लक्षणों का विवरण निम्नलिखित प्रकार से दिया है[7] —

१ एक जाति के सदस्य जाति के बाहर विवाह नहीं कर सकते।
२ दूसरी जाति के सदस्यों के साथ खाने-पीने के सम्बन्ध में भी कुछ प्रतिबन्ध होते हैं।
३ अधिकतर जातियों के पेशे निश्चित होते हैं।
४ जातियों में ऊंच-नीच की प्रणाली है जिसमें ब्राह्मण जाति की स्थिति सर्वमान्य रूप से शिखर पर है।
५ मनुष्य की जाति का निश्चय जन्म के आधार पर जीवन भर के लिए होता है। यदि कोई व्यक्ति उसके नियमों को तोड़ने के कारण निकाल दिया जाए तो दूसरी बात है, अन्यथा एक जाति से दूसरी जाति की सदस्यता ग्रहण करना असम्भव है।
६ सम्पूर्ण जाति प्रणाली ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा पर आधारित है।

दत्त का उपर्युक्त उल्लेख भारतीय जाति प्रणाली की विस्तृत व्याख्या करता है तथा ये लक्षण काफी सत्य भी हैं। इसमें कुछ अपवाद अवश्य पाए जाते हैं। ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जब राजाओं ने कुछ व्यक्तियों को जाति का दान करके ऊँची जातियों में रखा, जैसे—मनीपुर राज्य की लौही जाति को वहां के राजा ने क्षत्रिय घोषित किया तथा उन्हें जनेऊ धारण करने की आज्ञा दी।

जाति की विशेषताएँ
(Characteristics of Caste)

जाति प्रणाली के संरचनात्मक और संस्थात्मक दोनों पहलुओं पर प्रकाश डालते हुए डा० जी० एस० घुरिये ने इसकी छः विशेषताएं बताई हैं। आपने प्रारम्भ में ही स्पष्ट कर दिया है कि ये विशेषताएं जाति प्रणाली के मूल रूप में सर्वधित हैं जबकि वह अधिकारों एवं कर्त्तव्यों के आधुनिक विचारों से अप्रभावित थी।[8]

(१) समाज का खण्डात्मक विभाजन (Segmental division of Society)

भारतीय जाति प्रणाली के आधार पर हिंदू समाज विभिन्न खण्डों में विभाजित है और

7 N K Dutta 'Origin & Growth of Caste in India' P 15
8 G S Ghurye Caste Class and Occupation pp 2 19

प्रत्येक खण्ड के सदस्यों की स्थिति, पद तथा कार्य निश्चित हैं। खण्ड विभाजन का अर्थ यह है कि जाति प्रणाली यु [illegible] उनकी सामुदायिक भावना सम [illegible] के रूप में होती है। [illegible] प्रति अधिक श्रद्धा रखता है। यदि कोई व्यक्ति अपनी जाति के नैतिक नियमों का पालन नहीं करता तो उस पर जुर्माना किया जाता है और कभी-कभी उसे जाति से निकाल भी दिया जाता है।

(२) संस्तरण (Hierarchy)

जाति प्रणाली की अन्य विशेषता यह है कि विभिन्न खण्डों में ऊंच-नीच का एक संस्तरण अथवा उतार चढ़ाव की एक प्रणाली होती है। इस प्रणाली में जन्म के आधार पर प्रत्येक जाति की निश्चित स्थिति होती है। इस संस्तरण में ब्राह्मणों का खण्ड अथवा उनकी स्थिति सबसे ऊपर होती है। इसके बाद क्रमशः क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र आते हैं। जन्म पर आधारित होने के कारण इस संस्तरण में दृढ़ता एवं स्थिरता अधिक होती है। यही कारण है कि एक नीची जाति के व्यक्ति के लिए ऊँचे स्तर पर उठना मुश्किल है। इस जातीय संस्तरण में ब्राह्मणों तथा शूद्रों की स्थिति काफी स्थिर है क्योंकि ब्राह्मणों का, जो इस संस्तरण में सबसे ऊपर हैं, और ऊपर जाना तथा शूद्रों का, जो सबसे नीचे हैं और नीचे जाना असम्भव है। परन्तु इन दो जातियों के बीच असंख्य ऐसी जातियां हैं जो अपने आपको अपनी पास वाली जाति से उच्च प्रमाणित करने की कोशिश करती रही हैं।

(३) भोजन तथा सामाजिक सहवास पर प्रतिबन्ध (Restrictions on fooding and Social intercourse)

जाति प्रणाली के कारण भोजन तथा सामाजिक सहवास के सम्बन्ध में अनेक निषेधात्मक नियम पाए जाते हैं। प्रत्येक जाति के ऐसे नियम हैं कि कोई व्यक्ति पक्का, कच्चा तथा फलाहारी भोजन किन व्यक्तियों के हाथ का बना, किनके साथ कर सकता है तथा किनके हाथ का पानी पी सकता है। प्रायः ब्राह्मणों के हाथ का कच्चा तथा पक्का खाना सब जातियों के व्यक्ति खा लेते हैं जबकि शूद्र के हाथ का बना हुआ भोजन किसी भी अन्य जाति के लोग नहीं खाते हैं।

(४) विभिन्न जातियों की सामाजिक एवं धार्मिक निर्योग्यताएं तथा विशेषाधिकार (Civil and religious disabilities and Privileges)

जाति प्रणाली के अन्तर्गत संस्तरणात्मक व्यवस्था के अनुसार उच्च जातियों को अनेक सामाजिक और धार्मिक विशेषाधिकार प्राप्त हैं जबकि निम्न जातियों की कई निर्योग्यताएं रही हैं। ब्राह्मणों को अनेक प्रकार के विशेषाधिकार प्राप्त हैं जबकि अछूत जातियां अनेक प्रकार की निर्योग्यताओं से पीड़ित हैं। दक्षिणी भारत में अछूत जातियों की स्थिति अत्यन्त दयनीय रही है। वहां अछूत लोग उच्च जातियों का स्पर्श नहीं कर सकते थे, उन्हें अपनी शक्ल नहीं दिखा सकते थे। ट्रावनकोर, पूना आदि की कुछ सड़कों पर चलने तक का अधिकार अछूतों को नहीं था। वे मन्दिरों में नहीं जा सकते थे, स्कूलों में नहीं पढ़ सकते थे तथा कुओं तालाबों आदि से पानी नहीं भर सकते थे। उन्हें गांव या शहर के बाहर उच्च जातियों से अलग बस्ती बना कर रहना पड़ता था। उन्हें किसी भी प्रकार के सामाजिक तथा धार्मिक अधिकार प्राप्त नहीं थे। आजकल अनेक सरकारी एवं गैर सरकारी प्रयत्नों के कारण अछूतों पर लगाए गए अनेक प्रतिबन्ध ढीले पड़ गए हैं।

ऑगबर्न और निम्कॉफ के शब्दों में, "एक सामाजिक वर्ग ऐसे व्यक्तियों का योग है जिनको एक दिए हुए समाज में अनिवार्य रूप से समान सामाजिक स्थिति है।"[11]

लेपियर नामक समाजशास्त्री के अनुसार, "एक सामाजिक वर्ग सांस्कृतिक रूप में परिभाषित एक समूह है जिसको सम्पूर्ण जनसंख्या में एक विशिष्ट पद या स्थिति प्रदान की जाती है।"[12]

मोरिस जिन्सबर्ग ने लिखा है, "वर्ग व्यक्तियों का ऐसा समूह है जोकि सामान्य वंशक्रम, समान व्यवसाय, धन एवं शिक्षा के कारण एकसा जीवन बिताते हैं और जो समान विचारों, भावनाओं एवं व्यवहार का भण्डार रखते हों और जो इनमें से कुछ या सभी आधारों पर एक दूसरे से समान रूप से मिलते हों और अपने को एक समूह का सदस्य समझते हों चाहे इस सम्बन्ध में चेतना की मात्रा या 'वर्ग चेतना' विभिन्न अंशों में पायी जाये।"[13]

उपर्युक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि एक सामाजिक वर्ग एक विशेष सामाजिक स्थिति वाले व्यक्तियों का ऐसा समूह है जिन्हें कुछ विशेष अधिकार व शक्तियां प्राप्त हैं तथा जिनके कुछ उत्तरदायित्व है। यहां हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि सामाजिक स्थिति और विशेष संस्कृति सामाजिक वर्ग के आधार है तथा वर्ग-चेतना प्रत्येक वर्ग का आवश्यक लक्षण है। सेंटर्स ने वर्ग विभाजन के आधार के रूप में व्यवसाय को महत्व दिया है। मार्क्स और एंजिल्स वर्ग विभाजन का आधार आर्थिक मानते हैं। इनके अनुसार धन ही मनुष्य की सामाजिक स्थिति का निर्धारित करता है। मैकाइवर और पेज का कहना है कि आर्थिक आधार पर बने वर्गों को सामाजिक वर्ग नहीं कह कर आर्थिक वर्ग कहना चाहिए। ऑगबर्न और निमकॉफ की मान्यता है कि सामाजिक वर्गों का संबंध जीवन के अवसरों के साथ पाया जाता है न कि धन या सम्पत्ति से। एक सामाजिक वर्ग के सदस्यों का रहने-सहने का स्तर करीब-करीब एक सा होता है। सामाजिक वर्ग के सदस्यों में वर्ग चेतना का पाया जाना अत्यन्त आवश्यक है। एक वर्ग के सदस्य अपने को अन्य वर्गों के सदस्यों से भिन्न मानते हैं।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि सामाजिक वर्ग की प्रमुखतः तीन विशेषताएं होती हैं, प्रथम, स्थिति समूहों का उतार-चढ़ाव अर्थात् प्रत्येक समाज में एक दूसरे से उच्च तथा निम्न समूह पाये जाते हैं। उच्चतम वर्ग के सदस्यों की संख्या सापेक्ष रूप से कम होती है जबकि निम्नतम वर्ग के सदस्यों की संख्या सर्वाधिक। द्वितीय, ऊंच नीच की भावना अर्थात् एक वर्ग के सदस्य दूसरे वर्ग के सदस्यों के प्रति श्रेष्ठता अथवा हीनता की भावना रखते हैं। तृतीय, वर्ग-चेतना अर्थात् प्रत्येक वर्ग के सदस्यों में अपने पद एवं सामाजिक प्रतिष्ठा के सम्बन्ध में एक चेतना पायी जाती है। इसी चेतना के आधार पर उनका व्यवहार और विभिन्न वर्गों के बीच पारस्परिक संबंध निश्चित होते हैं।

वर्ग प्रणाली के जन्म पर आधारित न होने के कारण व्यक्ति को अपने श्रम, योग्यता

---

11 "A social class is the aggregate of persons having essentially the same social status in a given society" Ogburn & Nimkoff, "A Hand Book of Sociology" P. 210

12 "A social class is a culturally defined group that is accorded a particular position or status within the population as a whole" Lapiere, "Sociology" P. 452

13 M. Ginsberg, class consciousness, from Encyclopaedia of Social Sciences, P. 536

तथा साधनो के आधार पर एक वर्ग से दूसरे वर्ग मे आना-जाना सम्भव रहता है। वर्ग प्रणाली मे काफी खुलापन पाया जाता है और इसी कारण इसे मुक्त वर्ग प्रणाली (Open class system) कहा जाता है। दूसरी ओर, जाति-प्रणाली के अन्तर्गत कोई भी व्यक्ति अपने जीवनकाल मे एक जाति की जन्म पर आधारित सदस्यता को त्याग कर दूसरी जाति की सदस्यता ग्रहण नही कर सकता। इसी कारण, जाति-प्रणाली को बन्द वर्ग प्रणाली (Closed class system) कहते हैं।

जाति और वर्ग में अन्तर (Distinction between Caste and Class)

(१) जाति व्यवस्था में सदस्यता जन्म पर आधारित होती है; वर्ग प्रणाली में सदस्यता शिक्षा, व्यवसाय, आय तथा योग्यता पर:—एक व्यक्ति केवल जन्म के आधार पर ही किसी विशिष्ट जाति का सदस्य बन सकता है, परन्तु दूसरी ओर व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत क्षमता के आधार पर किसी भी वर्ग का सदस्य बन सकता है।

(२) जाति व्यवस्था में भोजन, सामाजिक-सहवास तथा विवाह सम्बन्धी अनेक कठोर प्रतिबन्ध हैं, किन्तु वर्ग प्रणाली में ऐसा नहीं है:—प्रत्येक जाति अपने सदस्यों पर भोजन, सामाजिक-सहवास तथा विवाह सम्बन्धी प्रतिबन्ध लगाती है, परन्तु वर्गों मे इस प्रकार के कोई भी कठोर बन्धन नही पाये जाते।

(३) व्यक्तिगत क्षमताओं के आधार पर वर्ग-परिवर्तन सम्भव, परन्तु जाति व्यवस्था में ऐसा नहीं :—प्रत्येक व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत क्षमताओ को बढ़ाकर अपने से उच्च वर्ग मे पहुच सकता है, पर कोई भी व्यक्ति धन, योग्यता या अन्य किसी भी विशेषता के आधार पर अपनी जाति से दूसरी जाति मे प्रवेश नही पा सकता। एक शूद्र ब्राह्मण नही बन सकता, वह सदैव शूद्र ही रहेगा चाहे वह कितना ही धनी क्यो न हो, कितनो ही शारीरिक विशेषता-सम्पन्न क्यो न हो।

(४) जाति में बन्द स्तरण, वर्ग में मुक्त स्तरण :—जाति की सदस्यता व्यक्ति न स्वेच्छा से ग्रहण कर सकता है और न ही त्याग सकता है। उसकी जाति सदैव के लिए निश्चित रहती है। वह एक जाति से दूसरी जाति मे प्रवेश नहीं पा सकता है, इसलिए जाति मे बन्द स्तरण (Closed Stratification) है। दूसरी ओर, व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत विशेषताओं के आधार पर एक वर्ग से दूसरे वर्ग मे प्रवेश पा सकता है, अपना वर्ग परिवर्तित कर सकता है, अर्थात् वर्ग मे मुक्त स्तरण (OpenStratification) है।

(५) जाति व्यवस्था में परम्परात्मक पेशों की व्यवस्था, वर्ग में ऐसा नहीं — प्रत्येक जाति का अपना एक परम्परात्मक पेशा रहा है और उस जाति के सदस्य सामान्यतः उसी को अपनाते रहे हैं। एक ब्राह्मण धार्मिक कृत्य सम्पन्न करवाने का कार्य और एक मेहतर सफाई आदि करने का कार्य ही ग्रहण करता रहा है। वर्ग-प्रणाली मे परम्परात्मक पेशो की व्यवस्था नही पाई जाती।

(६) जातियों में वर्गों की अपेक्षा सामाजिक दूरी अधिक होती है :—जाति व्यवस्था के अन्तर्गत विभिन्न जातियो मे ऊँच-नीच का एक संस्तरण या उतार-चढ़ाव की एक प्रणाली होती है। इस संस्तरण मे विभिन्न जातियो की सामाजिक स्थिति में काफी अन्तर मिलता है। इस अन्तर के आधार पर जातियो मे सामाजिक दूरी अधिक पायी जाती है। एक ब्राह्मण और एक शूद्र मे जो सामाजिक दूरी पाई जाती है उससे हम सभी पूर्णतः परिचित है। परन्तु विभिन्न वर्गों के सदस्यो मे इतनी अधिक सामाजिक दूरी नहीं पाई जाती क्योकि वर्गों का आधार धन, पेशा, शिक्षा आदि है जबकि जातियो का आधार जन्म।

(७) **जाति व्यवस्था के अन्तर्गत सामाजिक सम्बन्धों में स्थिरता, वर्ग प्रणाली के अन्तर्गत अस्थिरता** --जाति के सदस्यो मे सामाजिक सम्बन्ध स्थिर होते हैं। उन्हे कुछ निश्चित सीमाओ के भीतर अपनी जाति के सदस्यो तथा भिन्न जातियो के सदस्यो के साथ सम्पर्क स्थापित करना पडता है। परन्तु वर्ग-प्रणाली मे सामाजिक सम्बन्धो मे अस्थिरता अधिक पाई जाती है क्योकि ये सम्बन्ध समय तथा व्यक्ति के साथ बदलते रहते हैं। एक वर्ग का सदस्य दूसरे वर्ग के किसी भी सदस्य के साथ अपनी इच्छानुसार किसी भी प्रकार के सम्बन्ध स्थापित कर सकता है।

(८) **जाति व्यवस्था वर्ग प्रणाली की अपेक्षा अधिक स्थिर संगठन** — जाति व्यवस्था के जन्म पर आधारित होने के कारण, व्यक्ति एक जाति की सदस्यता को त्याग कर, दूसरी जाति की सदस्यता ग्रहण नही कर सकता। इसके अतिरिक्त उसे जाति के नियमो एव प्रतिबन्धो का भी पालन करना पडता है। इनसे जातीय सगठन मे दृढता एव स्थिरता रहती है। परन्तु वर्ग-प्रणाली मे मुक्त स्तरण होने के कारण व्यक्ति शिक्षा, व्यवसाय, आय, धन आदि के आधार पर अपना वर्ग परिवर्तित करता रहता है। वर्ग-प्रणाली के इन आधारो मे अनिश्चितता होने के कारण स्वय वर्ग व्यवस्था मे स्थिरता का पाया जाना सम्भव नही है। जाति और वर्ग का अन्तर वर्ग-व्यवस्था वाले अध्याय मे स्पष्ट किया जा चुका है।

जाति और गोत्र
(Caste and Clan)

जाति एक ऐसी व्यवस्था है जिसमे जन्म के आधार पर सामाजिक सस्तरण एव खण्ड विभाजन पाया जाता है। दूसरी ओर गोत्र एकपक्षीय परिवारो का एक ऐसा सकलन है जिसके सदस्य अपने को एक ही सामान्य पूर्वज की सन्तान मानते हैं। माता अथवा पिता के वश के सभी रक्त-सबधियो को यदि जोडा जाय और ऐसे वश-समूह म एक ही पूर्वज की सभी सन्तानो को सम्मिलित कर लिया जाय, तो उसे गोत्र कहते हैं। गोत्र के विषय मे ऑगबर्न और निम्कॉफ ने बताया है कि यह एक अर्द्ध-पारिवारिक सगठन (Quasi Family Organisation) है। यह रक्त सम्बन्धी परिवार से अधिक बडा होता है और साधारणत गोत्र कहलाता है। यह सम्बन्धियो का सगठन है जो अनेक ग्रामो मे हो सकता है। इसके व्यक्ति या तो सम्बन्धित होते या सबधित माने जाते हैं तथा जो अपनी उत्पत्ति एक ही पूर्वज से मानते हैं। विज्ञानेश्वर ने कहा है कि वश-परम्परा मे जो नाम प्रसिद्ध होता है, वही गोत्र कहलाता है। एक गोत्र के लोगो मे एक सामान्य पूर्वज की सन्तान माने जाने के कारण आपस मे वैवाहिक सम्बन्ध नही हो सकते।

जाति और गोत्र मे निम्नलिखित अन्तर पाए जाते हैं

(१) गोत्र प्राय एक काल्पनिक समूह होता है जबकि जाति एक वास्तविक एव सगठित समूह है।

(२) गोत्र के सदस्य अपनी उत्पत्ति एक ही सामान्य पूर्वज से मानते हैं जो काल्पनिक भी हो सकता हैं, जाति के सदस्य अपनी उत्पत्ति कभी भी किसी काल्पनिक पूर्वज से नहीं मानते।

(३) साधारणत गोत्र बहिर्विवाही समूह होता है अर्थात् एक गोत्र के सदस्य सगोत्रीय लोगो के साथ वैवाहिक सम्बन्ध न करके, अन्य गोत्र के लोगो के साथ करते हैं। परन्तु जाति एक अन्तर्विवाही समूह होता है अर्थात् प्रत्येक जाति के सदस्य अपनी जाति के लोगों के साथ ही विवाह करते हैं।

(४) जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत विभिन्न जातियो मे ऊ च-नीच का एक सस्तरण पाया

जाता है जबकि विभिन्न गोत्रो मे सामान्यत कोई संस्तरण नही पाया जाता, सब गोत्रो की स्थिति समान होती है।

(५) जाति अपने सदस्यो पर खाने-पीने तथा व्यवसाय चुनने के सम्बन्ध मे अनेक प्रतिबन्ध लगाती है जबकि गोत्र इस सम्बन्ध मे कोई प्रतिबन्ध नही लगाता।

जाति तथा जनजाति
(Caste and Tribe)

आदिम समुदायो मे जनजाति और हिन्दू समाज मे जाति महत्त्वपूर्ण सामाजिक समूह है। इन दोनो के अर्थ के सम्बन्ध मे काफी भ्रम रहा है। कभी-कभी जाति और जनजाति का प्रयोग पर्यायवाची रूप मे किया गया है। बहुत-सी जनजातियो को जाति और जातियो को जनजातिया कहा गया है। जाति और जनजाति का अन्तर स्पष्ट करने के पूर्व जनजाति का अर्थ समझ लेना आवश्यक है।

नातेदारी सम्बन्ध, सामान्य भौगोलिक क्षेत्र, एक राजनीतिक संगठन, एक भाषा और परस्पर संहारक संघर्षों की अनुपस्थिति एक जनजाति की मुख्य विशेषताएं मानी गई हैं। डा० मजुमदार ने जनजाति को एक ऐसा सामाजिक समूह माना है जिसका एक भौगोलिक क्षेत्र होता है, जो अन्तर्विवाही है, जिसमे कार्यों का विशेषीकरण नहीं होता, जो जनजातीय अधिकारियो द्वारा शासित होता है, जिसकी एक भाषा या बोली होती है, जो अन्य जनजातियो या जातियो से सामाजिक दूरी स्वीकार करता है, जो अपनी जन-जातीय परम्पराओ, विश्वासो और प्रथाओ को मानता है और जो जातीय और क्षेत्रीय एकीकरण की एकरूपता के प्रति जागरूक होता है।[14] आपने जनजाति को इस प्रकार परिभाषित किया है—"एक जनजाति परिवारो या परिवारो के समूहो का एक संकलन होती है, जिसका एक सामान्य नाम होता है, जिसके सदस्य एक निश्चित भू-भाग पर निवास करते हैं, एक-सी भाषा बोलते हैं और विवाह, व्यवसाय या उद्योग के विषय मे कुछ निषेधो का पालन करते है तथा परस्पर एक निश्चित एव मूल्यांकित आदान-प्रदान की व्यवस्था का विकास करते हैं।"[15]

इम्पीरियल गजेटियर ऑफ इण्डिया (Imperial Gazetteer of India) मे जन-जाति की परिभाषा इस प्रकार की गई है, "एक जनजाति परिवारो का एक संकलन है, जिसका एक नाम होता है, जो एक बोली बोलती है, एक सामान्य भू-भाग पर अधिकार रखती है या अधिकार बताती है और जो अन्तर्विवाही रही है, चाहे अब अन्तर्विवाही न हो। डॉ मजुमदार का कथन है कि एक जाति भी परिवारो का एक संकलन है जिसका एक सामान्य नाम होता है, जो एक सामान्य भू-भाग पर निवास करती या अधिकार बताती है, प्राय. जिसकी एक सामान्य बोली होती है और जो सदैव अन्तर्विवाही होती है। जब एक ही जाति विस्तृत रूप से दो पृथक क्षेत्रो मे निवास करती है, अलग-अलग बोली बोलती है, तो उनके बीच

---

14. D. N. Majumdar, "Eastern Anthropologist", Sept.—Nov., 1958

15. "A tribe is a collection of families or groups of families bearing a common name, members of which occupy the same territory, speak the same language and observe certain taboos regarding marriage, profession or occupation and have developed a well assessed system of reciprocity and mutuality of obligations." D. N. Majumdar, "Races and Cultures of India," P. 355.

कोई सामाजिक या वैवाहिक सम्बन्ध नही होते हैं। ऐसी दशा मे एक ही सामान्य नाम होते हुए भी उन्हे विभिन्न जातियो के रूप मे लेना होगा। निम्न जातियों मे अन्तर्विवाह के नियम का कठोरता से पालन नही किया जाता और ऐसी जनजातिया भी हैं तो अन्तर्विवाह के नियम का कठोरता से पालन करती है। ऐसी दशा मे जाति और जनजाति के बीच अन्तर करना बड़ा कठिन है। जहा तक राजनैतिक सगठन का प्रश्न है, यह केवल जनजातियो की ही विशेषता नही है क्योंकि आज भी भारतीयो के जीवन मे जातीय पचायतो का गहरा प्रभाव है।

जाति तथा जनजाति मे अन्तर

(१) जाति के लोगो का अधिकाशत एक ही व्यवसाय रहता है जबकि एक ही जनजाति के लोग अलग-अलग व्यवसाय करते हैं। जनजाति में जाति की तुलना मे आर्थिक स्वतन्त्रता अधिक पाई जाती है। परन्तु यहा हमे यह भी ध्यान मे रखना होगा कि देश मे अनेक ऐसी जनजातिया भी हैं जो एक ही व्यवसाय म लगी हुई हैं और विभिन्न आवश्यक वस्तुओ के लिए अन्य जनजातियो पर निर्भर हैं। वर्तमान समय मे जाति और व्यवसाय का सम्बन्ध ढीला पड़ता जा रहा है और एक ही जाति के लोग विभिन्न व्यवसायो मे लग रहे हैं।

(२) प्रत्येक जनजाति का अपना एक विशिष्ट राजनीतिक सगठन होता है, लेकिन जाति का इस प्रकार का कोई स्पष्ट राजनीतिक सगठन नहीं पाया जाता। हा, इतना अवश्य है कि नीची जातियो की पचायतें अपनी-अपनी जातियो के लिए राजनीतिक सगठन के रूप मे कार्य करती हैं।

(३) एक जाति बहुत सी उपजातियो से मिलकर बनती है, परन्तु एक जनजाति मे उप-जनजातिया नही पाई जाती, विभिन्न सामाजिक स्थिति के लोग अवश्य पाये जाते हैं। मैक्स-वेबर के अनुसार—जहा एक जनजाति मे पद और प्रस्थिति के भेद पाये जाते हैं वहा एक जाति के सभी सदस्यो का पद एकसमान होता है।

(४) जाति किसी काल्पनिक पूर्वज से अपनी उत्पत्ति नही मानती, जनजातियाँ विभिन्न कल्पनाओ को ही अपनी उत्पत्ति का आधार मानती हैं।

(५) जाति मे अन्तर्विवाह के नियम का पालन किया जाता है, प्राय प्रत्येक व्यक्ति अपनी जाति मे ही वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करता है। इसके विपरीत जनजाति मे अन्तर्विवाह के नियम का कठोरता से पालन नही किया जाता। वह पूर्णत अन्तर्विवाही समूह नही होता। परन्तु आज विवाह का दृष्टि से जाति और जनजाति दोनो मे समानता दिखाई पड़ती है जहा लोग अपनी जनजाति के बाहर विवाह करने लगे हैं वहा जाति के बाहर भी वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित होने लगे है।

(६) जनजातियो के अपने विशिष्ट धार्मिक विश्वास, देवी-देवता और विधि-सस्कार रहे हैं, परन्तु साथ ही ये हिन्दू कर्म-काण्डो का अनुसरण और उनके देवी-देवताओ को भी पूजती रही हैं। ये हिन्दू पुरोहितो की सेवाए भी प्राप्त करती रही हैं। दूसरी ओर, विभिन्न जातियो के लोग अपने ही धार्मिक विश्वासो और देवी-देवताओ को मानते रहे हैं। प्रत्येक जनजाति का अपना विशिष्ट धर्म और देवी देवता रहे हैं जबकि जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक जाति का अपना कोई पृथक् धर्म और देवी-देवता नहीं पाये जाते।

जनजातियों का जातियों में रूपान्तरण

डॉ० मजुमदार का कथन है कि प्रारम्भिक समय से ही जनजाति से जाति के रूप में शान्त परिवर्तन होता रहा है। यह परिवर्तन अनेक तरीकों से हुआ है और ऐसा विश्वास किया जाता है कि आज की अधिकतर नीची या बाह्य जातियाँ पहले जनजातियाँ ही थीं। वास्तव में हिन्दू जाति-व्यवस्था के प्रारम्भिक सदर्भों में तीन आर्य जातियों का ही उल्लेख है और एक चौथी, या एक चौथी और एक पाचवी जाति शूद्र और चाण्डाल काली चमडी और पिचकी हुई नाक वाले जनजातीय लोगों से ही बनी है।

रिजले ने जनजातियों के जातियों में रूपान्तरित होने की चार प्रक्रियाओं का उल्लेख किया है :—(१) किसी जनजाति के प्रमुख लोग स्वतन्त्र भू-स्वामी बनकर किसी ब्राह्मण पुरोहित से किसी विशिष्ट जाति की सदस्यता ग्रहण कर लेते हैं। ये लोग अक्सर अपने को राजपूत कहने लग जाते हैं। (२) बहुत-से जनजातीय लोग हिन्दू धर्म के किसी सम्प्रदाय के सिद्धान्तों को स्वीकार कर लेते हैं और अपना जनजातीय नाम छोड देते हैं। (३) एक सम्पूर्ण जनजाति (अथवा इसका एक बहुत बडा भाग) अपनी वंशावली बदलवा कर एक नई जाति के रूप में हिन्दू धर्म में सम्मिलित हो जाती है और (४) पूरी जनजाति ही अपना जनजातीय नाम परिवर्तित किए बिना ही धीरे-धीरे हिन्दुओं में सम्मिलित हो जाती है। डॉ० मजुमदार ने इन चार प्रक्रियाओं के अतिरिक्त एक पाचवी प्रक्रिया बताई है जिसमे किसी जनजाति का कोई सदस्य किसी विशिष्ट जाति का उपनाम और गोत्र अपना लेता है, और कुछ समय बाद उस जाति मे वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने लग जाता है। जिस जाति का वह सदस्य बनने की कामना करता है उसका धन और प्रभाव उस जाति के सदस्यों को उसकी ओर आकर्षित करते हैं और इस तरह लम्बी अवधि में वह उस जाति का एक स्थायी सदस्य बन जाता है।[16]

मैक्स-वेबर अपने प्रसिद्ध लेख 'सोशियल स्ट्रेक्चर्स' में एक भारतीय जनजाति को उस समय भारतीय जाति में परिवर्तित मानते हैं जब वह क्षेत्रीय अर्थ और महत्त्व खो देती है। आधुनिक समय मे आवागमन और सचार-साधनों के विकास, शिक्षा-प्रसार, औद्योगीकरण और विभिन्न विकास योजनाओं के कारण जनजातीय लोगों का अन्य लोगों के साथ सम्पर्क बढा है। इसके फलस्वरूप अनेक जनजातीय समूह अन्य लोगों की जीवन-विधि अपनाते जा रहे हैं, हिन्दुओं की प्रथा और परम्पराओं को अपना रहे हैं। कुछ पुरोहित, हिन्दू जाति-व्यवस्था में सम्मिलित होने के इच्छुक जनजातीय लोगों के आध्यात्मिक मार्ग-दर्शक बन जाते हैं। वे उन्हे अपने पडोसी हिन्दुओं की धार्मिक मान्यताए, विधि-संस्कार और रीति-रिवाज स्वीकार करने के लिए प्रेरित करते और हिन्दुओं के साथ सामाजिक और धार्मिक अन्तर को कम से कम करने का प्रयास करते हैं। कालान्तर में ऐसे जनजातीय लोग किसी जाति की सदस्यता ग्रहण कर ही लेते हैं और ऐसा करने के लिए उन्हें औपचारिक रूप से अपने धार्मिक कर्म-काण्डो को छोडने की भी आवश्यकता नहीं पडती। दिनाजपुर, रगपुर, जलपाईगुडी और कूच विहार की पोलिया जनजाति क्षत्रियों से अपनी उत्पत्ति का दावा करती और अपने को 'राजवशी' कहती है। यह जनजाति से जाति में परिवर्तन का एक

16 Majumdar & Madan opp cited, P 243

उदाहरण है। जनजातीय लोग हिन्दुओं की उच्च भौतिक संस्कृति से काफी प्रभावित हैं, वे प्रजातीय और सांस्कृतिक दृष्टि से हिन्दुओं को अपने से श्रेष्ठ मानते हैं। जनजातीय लोगों की दृष्टि मे हिन्दू होना एक गौरव की बात है, प्रतिष्ठा-सूचक है और इसीलिए कई जनजातीय लोग जाति-व्यवस्था के माध्यम से हिन्दू समाज का अंग बनते जा रहे हैं। जब जनजातीय लोग जातीय संस्तरण मे प्रवेश करते हैं तो जीवन के प्रति उनके दृष्टिकोण में भी काफी परिवर्तन आ जाता है। वे व्यक्तिवादिता, आर्थिक लाभ और स्वहित प्रधानता को महत्त्व देने लगते हैं, पुराने मूल्यों का महत्त्व कम होने लगता है और नवीन प्रथाओं को वे अपनाने लगते हैं।

प्रश्न

१. जाति को परिभाषित कीजिए तथा इसकी प्रमुख विशेषताओं का विश्लेषण कीजिए।
२. डा० घुरिये द्वारा बतलाई हुई जाति-व्यवस्था की विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।
३. भारत मे जाति-व्यवस्था की मुख्य विशेषताओं का विश्लेषण कीजिए तथा हिन्दू सामाजिक संरचना मे इसकी भूमिका की व्याख्या कीजिए।
४. जाति और वर्ग मे क्या अन्तर है? आधुनिक भारत में जाति-व्यवस्था की प्रवृत्तियां बताइये।
५. "जाति एक बन्द वर्ग है।" विवेचना कीजिए।
६. जाति क्या है? क्या आधुनिक भारत मे जाति क्रमश वर्ग के रूप मे विकसित हो रही है?
७. जाति तथा वर्ण, एवं जाति तथा गोत्र पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
८. जाति-व्यवस्था मे प्रचलित वैवाहिक और सहयोगी प्रतिबन्धों की समाजशास्त्रीय व्याख्या करने का प्रयास कीजिए।
९. जाति-व्यवस्था मे प्रचलित खान-पान और सामाजिक सहवास के प्रतिबन्धों की समाजशास्त्रीय व्याख्या कीजिए।



अध्याय 5

जाति-व्यवस्था की उत्पत्ति

(ORIGIN OF CASTE SYSTEM)

भारतीय जाति प्रणाली ऐसी आश्चर्यजनक संस्था रही है कि इसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता। इसका स्वरूप विभिन्नतामय है। यह एक सदैव परिवर्तनशील संस्था के रूप में रही है। डा० मजुमदार का कथन है, "जाति संरचना की जटिल प्रकृति इस तथ्य से प्रमाणित है कि सामाजिक व्यवस्था के इतिहास और प्रकार्य के सम्बन्ध में एक शताब्दी के परिश्रम और सावधानीपूर्ण किए गए अनुसंधान के पश्चात् भी हम निश्चित रूप से उन परिस्थितियों की व्याख्या नहीं कर पाए हैं जिन्होंने इस विशिष्ट व्यवस्था के निर्माण और विकास में योग दिया है।"[1] वास्तव में, यह कहना अत्यन्त कठिन है कि इस जटिल एवं परिवर्तनशील संस्था की उत्पत्ति और विकास में किन किन कारकों का कितना योग रहा है। इस संस्था के विश्लेषण की दृष्टि से अनेक अध्ययन एवं अनुसंधान पिछले करीब सौ वर्षों से चल रहे हैं। फिर भी इसके उद्भव का प्रश्न इतना विवादास्पद है कि उसके सम्बन्ध में आज तक किसी निश्चित निर्णय पर नहीं पहुंचा जा सका है। न केवल वेद, महाकाव्य, धर्मशास्त्र, स्मृतियों आदि के लेखकों ने ही बल्कि पाश्चात्य देशों और भारतवर्ष के अनेक समाजशास्त्रियों एवं मानवशास्त्रियों ने भी इस संस्था का गहन अध्ययन किया है और इसकी उत्पत्ति पर प्रकाश डालने के दृष्टिकोण से प्रत्येक ने अपना एक सिद्धांत प्रतिपादित किया है। परन्तु इन विद्वानों में से प्रत्येक ने अपने अपने सिद्धान्त के आधार पर इस जटिल संस्था के केवल एक पहलू पर विशेष रूप में जोर दिया है। प्रारम्भ में यूरोपीय समाजशास्त्री जाति-व्यवस्था को एक हितप्रधान व्यवस्था मानते थे, इसे अभिजात वर्ग अर्थात् ब्राह्मणों के हित सुरक्षित रखने हेतु उत्पन्न व्यवस्था समझते थे। कुछ अन्य विद्वानों ने इसे भारतीय कर्मकाण्डों का परिणाम माना। अन्य विचारकों में से किसी ने आर्यों और अनार्यों के संस्कृति-सम्पर्क एवं संघात, किसी ने प्रजाति भिन्नता, किसी ने व्यवसाय, किसी ने धार्मिक विश्वासों और भौगोलिक एवं सांस्कृतिक पृथक्ता तथा किसी ने जन जातीय विश्वासों एवं टोटम आदि के आधार पर जाति-व्यवस्था की उत्पत्ति को समझाने का प्रयास किया। तात्पर्य यह है कि विभिन्न विद्वानों ने इस संस्था की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अपने-

---

1 "The complex nature of the caste structure is evident from the fact that after a century of painstaking and meticulous research in the history and function of the circumstances that might have contributed to the formation and development of this unique system" D N Majumdar, "Races and Cultures of India" P 284

अपने सिद्धान्त प्रतिपादित कर आवश्यक तथ्यों एव तर्कों के आधार पर उसे प्रमाणित करने का प्रयत्न किया। ब्लन्ट नामक विद्वान ने कहा है, "इनमे से कुछ सिद्धान्त तो बिल्कुल हास्यास्पद हैं, लेकिन जिन सिद्धान्तो को काफी चतुरता और वैज्ञानिक रूप से प्रस्तुत किया गया है, वे भी जाति-व्यवस्था की उत्पत्ति के वास्तविक आधार को स्पष्ट नही करते।"[2] इस अध्याय मे इस सस्था की उत्पत्ति से सम्बन्धित विभिन्न सिद्धान्तो एव मत-मतान्तरो को प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। इसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध म प्रमुख सिद्धान्त निम्न-लिखित हैं —

(१) परम्परात्मक सिद्धान्त
(२) धार्मिक सिद्धान्त
(३) राजनैतिक सिद्धान्त
(४) व्यावसायिक सिद्धान्त
(५) उद्विकासीय सिद्धान्त
(६) प्रजातीय सिद्धान्त
(७) आदिम सस्कृति या माना का सिद्धान्त
(८) सास्कृतिक एकीभाव का सिद्धान्त

१. परम्परात्मक सिद्धान्त (Traditional Theory)

बहुत से विद्वानो का मत है कि जाति प्रणाली की उत्पत्ति हिन्दू-परम्परा के अनुसार हुई है। हट्टन नामक समाजशास्त्री इसी मत को मानते हैं। इस सिद्धान्त की सबसे प्राचीन व्याख्या ऋग्वेद के 'पुरुष सूक्त' के एक मन्त्र मे मिलती है। इसके अतिरिक्त उपनिषदों, महाकाव्यो, धर्मशास्त्रो और स्मृतियो म भी इसकी व्याख्या की गई है। इस सिद्धान्त के अनुसार, ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से, क्षत्रिय बाहु से, वैश्य जघा अथवा उदर से और शूद्र पैर से उत्पन्न हुए। क्योकि ब्राह्मणो की उत्पत्ति ब्रह्मा के मुख से हुई है और मुख ही बोलने का कार्य करता है, इसलिए ब्राह्मणो का काय अध्ययन करना, शिक्षा देना आदि है जिससे वेदो की रक्षा हो सके। बाहु शक्ति की सूचक है, इसलिए क्षत्रियो का कार्य अस्त्र-शस्त्रो का प्रयोग, सेना मे कार्य और जीवन तथा धन की रक्षा करना है जिसस राज व्यवस्था समुचित रूप से कायम रह सके। जघा अथवा उदर से उत्पत्ति होने के कारण वैश्यो का कार्य कृषि, व्यापार, पशु-पालन, दान देना आदि है जिससे समाज मे धन उत्पादित हो सके। पैरो से उत्पत्ति होने के कारण शूद्रो का कार्य ऊपर वाले तीनो वर्णों की सेवा करना है। बृहदारण्यक उपनिषद् मे बतलाया गया है कि जन-कल्याण को ध्यान मे रखते हुए विभिन्न कार्यों को पूर्ण करने के लिए अलग-अलग समय पर ब्रह्मा ने भिन्न भिन्न वर्णों को जन्म दिया। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त और उपनिषदो मे वर्णित तथ्यो से स्पष्ट है कि उपर्युक्त सामाजिक व्यवस्था जाति-प्रणाली नही बल्कि वर्ण-व्यवस्था थी।

मनुस्मृति मे ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त के अनुसार ही वर्णों की उत्पत्ति मानी गई है, परन्तु जातियो की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे मनु का कथन है कि प्रतिलोम विवाह और वर्णसंकरता इसके लिए उत्तरदायी है। विभिन्न वर्णो के बीच विवाह के माध्यम स मिश्रण के बढ़ने के साथ-साथ उपजातियो की सख्या भी बढती गयी।

---

2 E A H Blunt, "The Caste System in Northern India" Page 11

महाभारत मे बताया गया है कि चार वर्णों से विभिन्न जातियो की उत्पत्ति कैसे हुई। उस समय समाज मे अनुलोम विवाह (उच्च वर्ण के लडके का निम्न वर्ण की लडकी से विवाह) मान्य था और ऐसे विवाहो से उत्पन्न सन्तान की कोई समस्या नही थी। लेकिन प्रतिलोम विवाह (उच्च वर्ण की लडकी का निम्न वर्ण के लडके से विवाह) समाज मे अमान्य था तथा ऐसे विवाहो से उत्पन्न सन्तान को माता-पिता मे से किसी का भी वर्ण नही मिल सका। अत ऐसी सन्तानो को नई जातियो मे रखा गया। स्पष्ट है कि महाभारत मे वर्णसंकरता के आधार पर ही विभिन्न जातियो की उत्पत्ति को समझाया गया है।

समालोचना :

(१) इस सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्मा के भिन्न-भिन्न अगो से विभिन्न वर्णों की उत्पत्ति मानी गई है जो आज के वैज्ञानिक युग म केवल एक अलौकिक कल्पना ही कही जा सकती है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से इस सिद्धान्त को स्वीकार नही किया जा सकता।

(२) यह कहना कि प्रतिलोम विवाहो से उत्पन्न सन्तानो से नई जातियो की उत्पत्ति हुई, पूर्णत. सत्य नही है। इस सिद्धान्त के आधार पर एक ही वर्ण मे पाई जाने वाली विभिन्न जातियो की उत्पत्ति की व्याख्या नही की जा सकती। वास्तव मे जातियो तथा उपजातियो की उत्पत्ति मे अनेक कारको का योग रहा है।

(३) इस सिद्धान्त का एक अन्य दोष यह है कि इसमें वर्ण-व्यवस्था तथा जाति-व्यवस्था को एक मानकर, इनकी उत्पत्ति को एकसाथ जोड दिया गया है। वास्तविकता यह है कि इन दो व्यवस्थाओ की उत्पत्ति के आधार अलग-अलग रहे हैं।

२. धार्मिक सिद्धान्त (Religious Theory)

जाति-प्रणाली की उत्पत्ति के धार्मिक सिद्धान्त के प्रवर्तको मे होकार्ट तथा सेनार्ट नामक विद्वानों के नाम उल्लेखनीय हैं।

(क) होकार्ट का सिद्धान्त (Theory of Hocart)

होकार्ट का विचार है कि धार्मिक प्रथाओ एव सिद्धान्तो के कारण समाज का विभाजन हुआ है। आपकी मान्यता है कि धार्मिक क्रियाओ अथवा कर्मकाण्डों के कारण जाति-व्यवस्था की उत्पत्ति हुई है।[3] प्राचीन भारत मे धर्म का बहुत महत्व था तथा राजाओ को ईश्वर का अवतार समझा जाता था। वे न केवल शासक ही बल्कि धार्मिक कार्यों के अधिनायक भी होते थे। राजाओ के धार्मिक कार्यों से सम्बन्धित होने के कारण समाज मे उनको सबसे उच्च स्थान प्राप्त था। ऐसे धार्मिक अधिनायक राजाओ ने धर्म की आज्ञानुसार भिन्न-भिन्न कार्य करने वाले समूहो को अलग-अलग पद, प्रतिष्ठा या सम्मान प्रदान किए। धीरे-धीरे कालान्तर में धार्मिक सिद्धान्तो के आधार पर बने ये ही समूह जातियो के रूप मे विकसित हुए। इन जातियो द्वारा अपनाए गए पेशों से सम्बन्धित पवित्रता या अपवित्रता की धारणा के आधार पर विभिन्न जातियों का स्तर ऊँचा या नीचा निश्चित हुआ। स्पष्ट है कि धार्मिक क्रियाओ के आधार पर समाज अनेक जातीय-समूहो में विभक्त हो गया।

---

3. Hutton, Caste in India. PP. 176-77

समालोचना।

(१) इस सिद्धान्त का एक प्रमुख दोष यह है कि होकार्ट जाति प्रणाली को केवल एक धार्मिक संस्था मानते हैं जबकि यह एक सामाजिक संस्था है। इस संस्था की उत्पत्ति मे धर्म एक कारक हो सकता है, पर यह बात स्वीकार नहीं की जा सकती कि केवल धर्म के कारण ही इस संस्था का जन्म हुआ है।

(२) इस सिद्धान्त से यह भी स्पष्ट नहीं होता कि विभिन्न जातियों मे विवाह और खान-पान सम्बन्धी अनेक प्रतिबन्ध क्यो पाए जाते हैं।

होकार्ट के सिद्धान्त से अधिकतर समाजशास्त्री सहमत नहीं हैं। इस सिद्धान्त की कमियो का प्रमुख कारण यह है कि होकार्ट ने भारत मे रहकर जाति प्रणाली का वैज्ञानिक अध्ययन नहीं किया बल्कि लका और फिजी द्वीपो मे रहने वाले भारतीयो से किए गए साक्षात्कारो एव धार्मिक पुस्तको के आधार पर अपना सिद्धान्त प्रतिपादित किया।

(ख) सेनार्ट का सिद्धान्त (Theory of Senart)

सेनार्ट ने भोजन, विवाह और सामाजिक सहवास से सम्बन्धित निषेधो के आधार पर जाति प्रणाली की उत्पत्ति को समझाने का प्रयत्न किया है। आपने बतलाया है कि पारिवारिक पूजा तथा कुल-देवता मे भिन्नता के कारण भोजन सम्बन्धी प्रतिबन्ध प्रारम्भ हुए। एक ही देवता मे विश्वास करने वाले व्यक्ति अपने आपको एक ही पूर्वज की सन्तान मानते थे तथा अपने देवता को एक विशेष प्रकार का भोजन भोग के रूप मे चढाते थे। इन विभिन्नताओं के कारण एक देवता को मानने वाले स्वय को दूसरे देवता को मानने वालो से भिन्न समझने लगे। इसके अतिरिक्त भारत म आर्यों के आगमन से यहा मिश्रित प्रजातीय समूह बने। उधर आर्य लोग प्रजातीय शुद्धता, पूजा विधियो की पवित्रता आदि को बनाए रखना चाहते थे। इन विचारो के कारण नए समूहो का जन्म हुआ। धार्मिक कार्यों मे लगे लोगो ने अपनी प्रतिष्ठा बनाये रखने के लिए अपने नैतिक बल का प्रयोग किया और जाति-व्यवस्था मे सर्वोच्च स्थान प्राप्त कर लिया।

समालोचना

(१) सेनार्ट के विचारो से ऐसा ज्ञात होता है कि वे एक जाति के व्यक्तियो को एक ही सामान्य पूर्वज की सन्तान मानते हैं जबकि वास्तव मे प्रत्येक जाति मे अनेक पूर्वजो की सन्तानें पाई जाती हैं। इस प्रकार सनार्ट ने जाति तथा गोत्र मे भ्रम पैदा कर दिया है क्योंकि गोत्र के व्यक्ति ही एक सामान्य पूर्वज से अपनी उत्पत्ति मानते हैं, एक जाति के सदस्य नहीं।

(२) डालमैन (Dahlmann) नामक विद्वान का कथन है कि सेनार्ट ने जाति प्रणाली की उत्पत्ति को इतना सरल बना दिया है कि उसका सिद्धान्त वैज्ञानिक प्रतीत नहीं होता।

(३) सेनार्ट का जाति प्रणाली जैसी जटिल सस्था की उत्पत्ति केवल धार्मिक तत्वो के आधार पर मानने का प्रयत्न तार्किक प्रतीत नहीं होता क्योंकि इस सस्था की उत्पत्ति मे केवल धार्मिक कारक का ही नहीं बल्कि अनेक कारको का योग रहा है।

३ राजनैतिक सिद्धान्त (Political Theory)

फ्रांसीसी पादरी अबे डुबाय (Abbe Dubois) ने उन्नीसवी शताब्दी मे इस सिद्धात का प्रतिपादन किया। इस सिद्धात के अनुसार जाति प्रणाली ब्राह्मणो द्वारा आयोजित

एक चतुर राजनैतिक योजना माना गया है। अबे डुबाय का मत है कि ब्राह्मणो ने अपनी सत्ता को चिरस्थाई बनाए रखने तथा अपने को दूसरो से उच्च सिद्ध करने के उद्देश्य से जाति प्रणाली की रचना की। इसके अन्तर्गत ऊच-नीच की जो योजना बनाई गई, उसमे ब्राह्मणो ने अपना स्थान सबसे ऊपर रखा।

इबेट्सन (Ebbetson) और डा० घुरिये (Dr. Ghurye) ने भी आशिक रूप मे इस सिद्धान्त का समर्थन किया है। उनका कहना है कि जाति-प्रणाली की उत्पत्ति मे ब्राह्मणो का सक्रिय योग रहा और इसकी रचना करते समय उन्होंने अपने लिए विशेष अधिकारो की व्यवस्था की है। जैसे, ब्राहमण चार विवाह कर सकता है, वह प्रत्येक वर्ण की लडकी के साथ विवाह कर सकता है जबकि अन्य वर्ण के लोग ब्राह्मण लडकी के साथ विवाह नही कर सकते। ब्राह्मण चाहे विद्वान हो या मूर्ख, वह देवताओ की श्रेणी म माना जाएगा। साधारण लोगो को जिन अपराधो के लिए मृत्यु-दण्ड दिया जाता है, उन्ही अपराधो के लिए ब्राह्मणो के लिए केवल साधारण दण्ड की व्यवस्था की गई। यह सब ब्राह्मणो की चतुर राजनैतिक योजना थी। डा० घुरिये ने लिखा है, "मैं यह निष्कर्ष निकाल सकता हू कि भारत मे जाति इण्डो आर्यन सस्कृति के ब्राह्मणो का बच्चा है जो गगा और यमुना के मैदान मे पला और वहा से देश के अन्य भागो मे ले जाया गया।"[4]

घुरिये ने जाति-व्यवस्था की उत्पत्ति मे प्रजातीय कारक को अवश्य स्वीकार किया है लेकिन साथ ही यह भी माना है कि इसके विकास मे ब्राह्मणो का विशेष योग रहा है। आशिक रूप से वैदिक कर्मकाण्डो को पवित्र बनाये रखने की इच्छा, अपने को मूल निवासियों से श्रेष्ठ समझने की चेतना एव निम्न रक्त के मिश्रण को रोकने की भावना ने उन्हें कुछ ऐसे नियम बनाने को प्रेरित किया जिससे शूद्रो के साथ उनका सम्मिश्रण नही हो सके। इन्ही प्रयत्नो के फलस्वरूप सामाजिक सम्पर्क, खान-पान तथा विवाह सबधी अनेक प्रतिबन्ध विकसित हुए।

समालोचना

जाति प्रणाली के अन्तर्गत ब्राह्मणो को अनेक सुविधाए और विशेषाधिकार प्राप्त हैं जिनके आधार पर यह भ्रम उत्पन्न होता है कि इस प्रणाली की रचना ब्राह्मणो द्वारा की गई और इसे समाज पर लाद दिया गया। पर हम यह स्मरण रखना चाहिए कि समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से कोई भी सामाजिक व्यवस्था समाज पर जबरदस्ती नही लादी जा सकती। यह कदापि स्वीकार नही किया जा सकता कि ब्राह्मणो द्वारा बनाई गई इस चतुर राजनैतिक कृत्रिम योजना को लोग हजारो वर्षो तक नही समझ सके और ब्राह्मण उनका शोषण करत रहे। यद्यपि इसमे कोई सन्देह नही है कि जाति-प्रणाली की उत्पत्ति, इसके विकास और इसकी निरन्तरता को बनाए रखने मे ब्राह्मणो का विशेष योग रहा है। वास्तव मे भारतीय जाति-प्रणाली अत्यन्त प्राचीन मौलिक सामाजिक सस्था है जिसका विकास अनेक

---

4 'I may conclude that caste in India is a Brahmanic child of the Indo-Aryan culture, cradled in the land of the Ganga and the Yamuna and hence transferred to other parts of the country" —G S Ghurye 'Caste, Class and Occupation" P 172

सामाजिक शक्तियो के पारस्परिक प्रभावो के कारण स्वाभाविक रूप से हुआ है। अत यह कहा जा सकता है कि प्रवे डुवाय का सिद्धान्त समाजशास्त्रीय दृष्टि से अवैज्ञानिक है।

(४) व्यावसायिक सिद्धात (Occupational Theory)

जाति-प्रणाली की उत्पत्ति सम्बन्धी इस सिद्धान्त का प्रतिपादन नेसफील्ड (Nesfield) नामक विद्वान ने किया है। डालमैन (Dahlmann) तथा ब्लट (Blunt) ने भी व्यावसायिक प्राधार पर जाति प्रणाली की उत्पत्ति को समझाने का प्रयत्न किया है। नेसफील्ड की मान्यता है कि विभिन्न प्रकार के व्यवसायो तथा उद्योग-धन्धों के प्राधार पर जाति प्रणाली की उत्पत्ति हुई। प्रापने लिखा है—"व्यवसाय और केवल व्यवसाय ही जाति प्रणाली की उत्पत्ति के लिए उत्तरदायी है।"[5] *विभिन्न जातियों मे ऊँच-नीच का भेद भाव उच्च और* निम्न व्यवसायों पर आधारित है। ऊचा या अधिक उपयोगी व्यवसाय करने वाली जातियो को सामाजिक सरचना मे ऊचा स्थान प्रदान किया गया और नीचा या कम उपयोगी व्यवसाय करने वालो जातियों को नीचा स्थान। विभिन्न जातियो में प्रजातीय या शारीरिक लक्षणों की दृष्टि से कोई भेद नहीं किया जा सकता। जातियो में ऊच-नीच का जो कुछ भी भेद-भाव दिखाई पडता है, उसका कारण केवल ऊचे या नीचे व्यवसाय हैं। जिस समूह ने विशिष्ट ज्ञान के प्राधार पर धर्म से सम्बन्धित कार्यों पर एकाधिकार कर लिया, ब्राह्मण कहलाया। कालान्तर मे पुरोहिती का कार्य प्रानुवशिक हो गया। इसी प्रकार प्रशासन तथा प्रार्थिक क्रियाप्रो मे लगे लोगों के प्रपने-प्रपने समूह बन गये जिन्होंने धीरे-धीरे प्रानुवशिक रूप ग्रहण कर लिया। इन्होंने प्रपने व्यवसाय पर एकाधिकार बनाये रखने का प्रयत्न किया। नर्मदेश्वर प्रसाद की मान्यता है कि जाति प्रणाली की उत्पत्ति का *कारण प्राशिक रूप से सुरक्षात्मक था और प्राशिक रूप से अनुकरणात्मक।*[6] *प्रापने व्याव-*सायिक सिद्धान्त का समर्थन करते हुए अन्यत्र लिखा है, "सम्पूर्ण वाद-विवाद इस तथ्य की ओर ले जाता है कि जातियां अधिक या न्यून मात्रा मे व्यावसायिक समूह थे और जिस समूह का जितना निम्न व्यवसाय था उतनी ही निम्न उसकी सामाजिक स्थिति थी।"[7] नेसफील्ड ने जाति प्रणाली की उत्पत्ति मे धर्म को कोई स्थान नहीं दिया है। इसी बात को व्यक्त करते हुए प्रापने लिखा है, "जाति समाज की एक स्वाभाविक उपज है जिसकी रचना मे धर्म ने कोई भूमिका नहीं निभाई।"[8]

डालमैन के अनुसार *भारतीय समाज अन्य सभ्य समाजों के समान तीन समूहों—पुरोहित,* सामत (शासक) तथा व्यापारी मे विभाजित था। ये समूह वर्ण-व्यवस्था के पहले तीन वर्णों के समान ही थे, लेकिन जातियो की उत्पत्ति वर्णों से नहीं हुई।" उपर्युक्त तीन समूह

---

5 "Function and function alone is responsible for the origin of caste system" Nesfield, '*Brief view of the caste system*" P ?

6 N Prasad, The Myth of the Cast System P 26

7. "The whole discussion leads to the point that caste were more or less occupational groupings and that the lower the profession of a group, the lower was its social status" *Ibid* P 55

8 Nesfield, Quoted by Hutton, cast in India, P 170

नातेदारी एव व्यवसाय के आधार पर अनेक छोटे-छोटे समूहो मे बट गये । एक ही व्यवसाय मे लगे परिवार समान हितो के कारण सगठित हो गये और व्यावसायिक कारपोरेशन का रूप ग्रहण कर लिया । व्यापार और व्यवसायो की उन्नति के कारण ये समूह धीरे-धीरे व्यावसायिक सघो (Guilds) मे वदल गये और व्यावसायिक ज्ञान पिता से पुत्र को हस्तान्तरित होने लगा । परिणामस्वरूप ये व्यावसायिक सघ जाति-व्यवस्था का आधार बने और इनसे अनेक जातियो की उत्पत्ति हुई ।

ब्लन्ट की मान्यता है कि भारतीय समाज मे व्यावसायिक विभाजन के उत्पन्न होने से जाति-व्यवस्था की उत्पत्ति हुई ।[9] व्यवसाय के आधार पर यहा अनेक व्यावसायिक सघ बने जिनकी सदस्यता प्रारम्भ मे कोई भी व्यक्ति प्राप्त कर सकता था । धीरे धीरे ये सघ सगठित होने लगे और व्यावसायिक ज्ञान को अपने तक ही सुरक्षित बनाये रखने का प्रयत्न करने लगे । इसी उद्देश्य से उन्होंने अन्तर्विवाह की नीति का पालन किया और ये अपने ही समूह के लोगों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने लगे । ये समूह ही बाद मे जातियो मे बदल गये । आज भी अन्तर्विवाह जाति की एक महत्वपूर्ण विशेषता है ।

समालोचना :

(१) डॉ० मजुमदार के अनुसार इस सिद्धात का एक प्रमुख दोष यह है कि इसमे प्रजातीय तत्वों की उपेक्षा की गई है ।[10] इसमें यह बताया गया है कि भारत की विभिन्न जातियो में कोई प्रजातीय भेद नही पाया जाता, जबकि यह मत कई वर्तमान खोजो से असत्य प्रमाणित हो चुका है ।

(२) इस सिद्धात के आधार पर स्पष्ट नहीं होता कि विभिन्न जातिया एक दूसरे से ऊँचा नीची क्यों समझी जाती हैं । लुहार जाति नीची क्यो समझी जाती है जबकि उसका काम समाज के लिए अत्यन्त उपयोगी है ।

(३) श्री हट्टन ने इस सिद्धांत की आलोचना करते हुए कहा है कि यदि पशो के आधार पर ही ऊँच-नीच का भेद भाव पाया जाता तो देश के अलग अलग भागो मे निवास करने वाले तथा एक ही तरह के व्यवसाय करने वाले व्यक्तियो के सामाजिक स्तर म इतना अन्तर क्यों पाया जाता है ? दक्षिणी भारत मे खेती करने वाली जातिया नीची क्यो मानी जाती हैं जबकि उत्तरी भारत मे वे नीची नहीं मानी जातीं तथा उन्हे सम्माननीय स्थान प्राप्त है ।

(४) इसके अलावा इस सिद्धात का एक दोष यह भी है कि जब जातियों की उत्पत्ति व्यवसायो के आधार पर हुई है तो फिर सभी कृषकों का एक व्यवसाय होते हुए भी उनकी जाति एक ही क्यो नहीं हैं ? भारत मे इतने अधिक व्यवसायों के नही होते हुए भी वर्तमान में करीब चार हजार जातिया एव उपजातियां क्यो पाई जाती हैं ? थोडे से व्यवसायो के होते हुए यहा हजारो जातिया कैसे बन गई ? इसी तथ्य को व्यक्त करते हुए डॉ० मजुमदार ने लिखा है कि यद्यपि पेशा (Function) प्राचीन समय मे सामाजिक वर्गीकरण का आधार रहा है, परन्तु वह हिन्दू सामाजिक पद्धति की पूर्ण और सही व्याख्या नही कर सकता ।

---

9 E A H Blunt The Caste System of Northern India pp 12-13
10 D N Majumdar Races and Cultures of India P 285

६. उद्‌विकासीय सिद्धान्त (Evolutionary Theory)

श्री इबेट्सन नामक विद्वान ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। आपका कहना है कि जातियो की उत्पत्ति चार वर्णों से नहीं बल्कि आर्थिक सघो मे हुई है। श्रम-विभाजन और पेशो की विभिन्नता के कारण अनेक वर्ग बने, वर्ग सघो के रूप मे परिवर्तित हुए और सघो से जातियो का विकास हुआ।

इबेट्सन ने बताया है कि जनजातियो के जीवन मे उस समय परिवर्तन प्रारम्भ हुआ जब उन्होंने खाना-बदोशी जीवन छोडकर धन-उत्पादन हेतु निश्चित पेशे अपनाने प्रारम्भ किए। वे लोग खेती के अतिरिक्त उद्योग तथा व्यापार भी करने लगे और उनके आर्थिक जीवन मे जटिलता आती गई। कृषि, उद्योग तथा व्यापार बढने से श्रम-विभाजन की आवश्यकता हुई और लोगो ने भिन्न भिन्न व्यवसाय करना प्रारम्भ किया। इसमे विभिन्न सामाजिक वर्गों की उत्पत्ति हुई। एक ही प्रकार का व्यवसाय करने वाले लोगो मे सामुदायिक भावना का विकास हुआ तथा वे एक-दूसरे की सहायता तथा हितो की रक्षा करने लगे। अपने हितो की रक्षा हेतु पेशो के आधार पर बने वर्ग व्यावसायिक सघो मे बदल गये। इन व्यावसायिक सघो ने अपनी महत्ता बढाने तथा व्यवसाय सम्बन्धी भेद (Trade Secrets) गुप्त रखने के लिये अन्तर्विवाह (Endogamy) के सिद्धान्त को अपनाया। एक व्यावसायिक सघ के व्यक्ति केवल अपने ही सघ के व्यक्तियो के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने लगे। इन सघो ने न केवल दूसरे सघो से विवाह सम्बन्धो मे पृथक्ता की नीति अपनाई बल्कि अपनी प्रतिष्ठा के लिये आपस मे सघर्ष भी किया जिसमे ब्राह्मण विजयी हुये। इन ब्राह्मणो ने अपने तथा अपने सरक्षक राजाओ के पेशो के अतिरिक्त अन्य सब पेशो को नीचा माना। उन्होंने अपने पेशे की महत्ता बनाये रखने के लिये उसका दृढ़ता से पालन तो किया ही, साथ ही वे विवाह भी अपने समूह म ही करने लगे। अन्य सघो ने भी अन्तर्विवाह करने वाले ब्राह्मण-सघ का अनुकरण किया और इस प्रकार अन्तर्विवाही सघो की सख्या बढ़ने लगी। कालान्तर मे इन सघो न जातियो का रूप धारण कर लिया और इस तरह भारतीय जाति-प्रणाली का उद्‌विकास हुआ।

समालोचना :

(१) हट्टन के अनुसार इबेट्सन का यह सिद्धान्त सही नही माना जा सकता क्योंकि व्यावसायिक सघ तो विश्व के लगभग सभी समाजो मे पाये जाते है, किन्तु जाति-व्यवस्था का विकास केवल भारतवर्ष मे ही हो पाया है। यदि व्यावसायिक सघो या पशो के आधार पर ही जाति-व्यवस्था की उत्पत्ति होती तो फिर क्या कारण है कि भारत के अतिरिक्त अन्य किसी भी जाति-व्यवस्था का विकास नही हो पाया। इससे यह स्पष्ट है कि जाति-व्यवस्था की उत्पत्ति व्यावसायिक सघो या पेशो के कारण नही हुई। केवल इतना कहा जा सकता है कि जाति-व्यवस्था के विकास मे इस कारक का योग रहा है।

(२) डा० मजुमदार ने उपर्युक्त आलोचना को इस आधार पर उचित नही माना है कि एक सस्था के सब तत्त्व सभी देशा मे एक ही तरह से नही पाये जाते। अन्य देशो मे भी जनजातिया, व्यावसायिक सघ तथा व्यक्ति के एकाधिकार पाए जाते हैं, पर वहाँ ये कारक, जाति-व्यवस्था की मुख्य विशेषताओ के अभाव मे जातिया नही बना सके। उनके अनुसार इस सिद्धान्त का सबसे बडा दोष यह है कि इसमे सामाजिक समूहो के प्रजातीय भेदों पर तनिक भी ध्यान नही दिया गया है।

(३) इसके अलावा यह भी स्वीकार नहीं किया जा सकता कि ब्राह्मणों ने अपनी प्रतिष्ठा एव प्रभुत्व को बनाये रखने के लिये भारतीय जाति प्रणाली जैसी जटिल सस्था को जन्म दिया।

६. प्रजातीय सिद्धान्त (Racial Theory)

सर हरबर्ट रिजले (Sir Herbert Risley) ने सर्वप्रथम जाति प्रणाली की उत्पत्ति विषयक इस सिद्धान्त की वैज्ञानिक आधार पर व्याख्या की है। अनेक विदेशी एव भारतीय लेखको ने इस प्रणाली की उत्पत्ति मे प्रजातीय तत्वो के महत्व को स्वीकार किया है। इन लेखको में विदेशी लेखक श्री क्रावर (Kroeber), मैकाइवर (Mac-Iver), मैक्स वेवर (Max Weber) और भारतीय लेखक श्री एन० के० दत्त एस० सी० राय, डा० घुरिये, डा० मजुमदार आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। यहा श्री रिजले, डा० घुरिये और डा० मजुमदार के मत प्रस्तुत किए जा रहे हैं।

हर्बर्ट रिजले का मत है कि भारत में विभिन्न प्रजातियो के मिश्रण एव अनुलोम विवाहों के परिणामस्वरूप जाति प्रणाली की उत्पत्ति हुई। इण्डो आर्यन प्रजाति के प्रागैतिहासिक काल मे फारस से भारत आने के पश्चात् जाति प्रणाली की उत्पत्ति हुई। फारस मे समाज चार भागो मे बँटा हुआ था। आर्यों ने विभाजन की इस सामाजिक सरचना को भारतीय समाज के लिये भी स्वीकार किया। इसके अलावा आर्य लोग जब यहा विजेता के रूप में आये तो उन्हें यहा के मूल निवासियो का सामना करना पडा। मूल निवासी सास्कृतिक और प्रजातीय अथवा शारीरिक दृष्टि से आर्यों से भिन्न थे। सास्कृतिक एव प्रजातीय भिन्नताओ के कारण आर्यों तथा यहा के मूल निवासियो मे आपस मे सघर्ष रहा।

इसके अतिरिक्त आक्रमणकारियो के रूप मे भारत मे आने के कारण आर्य लोग अपने साथ अधिक स्त्रिया नही लाये थे। स्त्रियो की कमियो को पूरा करने के लिये आर्यों ने, अनेक सास्कृतिक एव प्रजातीय भिन्नताओ के होते हुये भी यहा के मूल निवासियो की लडकियो से विवाह करना प्रारम्भ कर दिया और इस तरह "अनुलोम विवाह प्रथा की उत्पत्ति हुई। परन्तु चूँकि आर्य लोग विजेता थे और वे अपने को यहा के मूल निवासियो से श्रेष्ठ समझते थे, इस कारण उन्होने अपनी लडकियो का विवाह यहा के मूल निवासियो के साथ करना स्वीकार नहीं किया अर्थात् उन्होंने 'प्रतिलोम' विवाह की आज्ञा नही दी। जब आर्य लोगो को अपनी आवश्यकता के अनुसार स्त्रिया प्राप्त हो गयी, तो उन्होंने अनुलोम विवाह प्रथा को समाप्त कर दिया और ये आक्रमणकारी समूह विभिन्न जातियो के रूप मे परिणत हो गए। रिजले ने प्रजातीय सम्पर्क, इस प्रकार के सम्पर्क से उत्पन्न वर्णसकरता तथा वर्ग भेद की भावना को जाति-व्यवस्था के आधारभूत कारक के रूप मे स्वीकार किया है। आपकी मान्यता है कि भारत मे आर्यों और यहा के मूल निवासियो के बीच प्रजातीय सघर्ष एव सम्पर्क हुआ, प्रतिबन्ध के बावजूद प्रतिलोम विवाह भी हुए। परिणामस्वरूप वर्णसकरता समूहों का निर्माण हुआ जिनमे वर्ग भेद बढता गया। ये समूह ही जातियो के रूप में बदल गये।

डॉ० घुरिये के अनुसार इण्डो आर्यन प्रजाति के लोग जहा भी गए, वहा उन्होंने मूल निवासियो को 'दास', दस्यु' आदि शब्दो से सम्बोधित किया। भारत मे आर्य लोग ईसा से करीब २५०० वर्ष पूर्व आए और यहां के मूल निवासियो पर विजय प्राप्त की तथा उन्हें 'दास' कहा। इण्डो आर्यन प्रजाति ने धार्मिक पवित्रता की भावना तथा अपने विजय-गर्व के

कारण स्वय को यहा के मूल निवासियो से दूर रखने का प्रयत्न किया। जब इडो-आर्यन प्रजाति भारत मे आई, तब उनमे कम से कम तीन वर्ग थे जो आपस मे साधारणत विवाह नही करते थे, यद्यपि इस प्रकार का कोई निषेध नही था। भारत मे आने के पश्चात् आर्य लोगो ने सबसे पहले यहाँ के आदिवासियो से बने शूद्रो से विवाह करने पर कठोर प्रतिबन्ध लगा दिया और उन्हे आर्यों की धार्मिक पूजा आदि करने की आज्ञा नही दी। वास्तव मे जाति-व्यवस्था के सब तत्व आर्यों के उन प्रयत्नो का परिणाम है जिनके द्वारा वे भारत के मूल निवासियो को ब्राह्मण सभ्यता के धर्म तथा सामाजिक ससर्ग से अलग रखना चाहते थे।

घुरिये ने जाति व्यवस्था की उत्पत्ति मे प्रजातीय तत्वो एव प्रजातीय भेद-भाव को काफी महत्त्व दिया है। आपकी मान्यता है कि जाति-व्यवस्था का प्रारम्भिक स्रोत आर्यों तथा द्रविड़ो की प्रजातीय भिन्नता थी। आपने इस व्यवस्था के विकास मे अन्य कारको के महत्व को भी स्वीकार किया है।[11]

डा० घुरिये का कथन है कि अन्तर्विवाह की उत्पत्ति सर्वप्रथम गगा के मैदान मे रहने वाले ब्राह्मणो मे हुई और अन्तर्विवाह तथा जाति-प्रणाली के अन्य तत्व यही से ब्राह्मण अनुयायियो द्वारा देश के अन्य भागो मे फैलाये गए। गगा के मैदान मे रहने वाले ब्राह्मणो ने शारीरिक शुद्धता एव सास्कृतिक दृढता को बनाए रखने के लिए प्रयत्न किया जिसके फल-स्वरूप विभिन्न वर्ग एक-दूसरे से पृथक् रहे तथा जाति-व्यवस्था की उत्पत्ति हुई।

डा० मजुमदार ने भी प्रजातीय सिद्धान्त को जाति-व्यवस्था की उत्पत्ति का आधार माना है। आपका कहना है कि हमे जाति-व्यवस्था की उत्पत्ति के लिए सस्कृत शब्दो की सहायता लेनी चाहिए। सस्कृत भाषा मे जाति-व्यवस्था के लिए शुरू मे वर्ण शब्द का प्रयोग किया जाता था जिसका अर्थ 'रग' तथा 'धर्म' दोनो होते हैं। प्रारम्भ मे तीन ऊँचे वर्ण, रग के आधार पर एक-दूसरे से भिन्न थे, ये इण्डो आर्यन प्रजाति और भारत के मूल निवासी प्राग-द्रविड (Pre-Dravidian) या भूमध्य-सागरीय (Proto-mediterranean) प्रजातियो के मिश्रण से बने थे। इस प्रजातीय मिश्रण के अनेक कारण थे —आक्रमण-कारी समूह मे स्त्रियो की कमी, भारत के मूल निवासियो के स्थायी जीवन का आकर्षण, अति विकसित द्रविड सस्कृति की मातृ-सत्तात्मक व्यवस्था, देवियो की पूजा, सस्कार, पुरोहित-व्यवस्था, शिक्षा आदि। आर्यों के भारत-आगमन के पश्चात् भी समय-समय पर अनेक अन्य प्रजातीय समूह यहा आते रहे तथा आक्रमणो की प्रक्रिया जारी रही। इस सम्पर्क और सघर्ष के परिणामस्वरूप अनेक नवीन सामाजिक समूहो का निर्माण हुआ। भारत मे सस्कृति के सघर्ष तथा प्रजातियो के सम्पर्क से विभिन्न समूह बने हैं। डा० मजुम-दार ने इस सम्बन्ध मे स्पष्ट शब्दो मे लिखा है, "विभिन्न प्रजातीय समूहो के पारस्परिक सम्पर्क और सास्कृतिक सघर्षों ने ही भारत म विभिन्न सामाजिक समूहो को निर्मित किया है। जिन समूहो ने दूसरे प्रजातीय समूहो के मिश्रण और प्रभाव से बचकर अपनी प्रजातीय विशुद्धता और सास्कृतिक एकता की रक्षा की, वे सभी अन्तर्विवाही बन गए।"[12] इन सामाजिक समूहो—ब्राह्मणो, क्षत्रियो और वैश्यो ने प्रारम्भिक मिश्रण के पश्चात् प्रजाति

11. G. S Ghurye, Op, Cit, pp, 159-77,
12. The clash of culture and contacts of races crystallized social groupings in india endogamous groups were formed which jealously guarded their racial purity and cultural integrity against wholesale admixture and miscegenation, D. N. Majumdar, "Races and cultures of India (1958)", P. 301.

सांस्कृतिक एकता और अपनी उच्च स्थिति के स्थायित्व के लिए महत्वपूर्ण पेशे अपनाए, अन्य व्यक्तियों को उन पेशों को अपनाने की आज्ञा नहीं दी तथा अन्तर्विवाह के नियम प्रचलित किए। इस वर्ण-व्यवस्था को समाज पर लादने के लिए ब्राह्मणों की पूर्ण सहायता ली गई। यद्यपि उपर्युक्त तीनों वर्णों ने अपना स्थान सबसे ऊँचा रखा तथापि अनेक प्रयत्नशील सामाजिक समूहों को सामाजिक संरचना में सम्मिलित कर उन्हें अधिकार देने ही पड़े। इस तरह भारतीय मूल निवासियों के अनेक समूहों को जाति-व्यवस्था में सम्मिलित कर लिया गया यद्यपि इनकी स्थिति काफी नीची रही।

डॉ० मजुमदार के अनुसार, जाति व्यवस्था में किसी जाति की स्थिति या पद इस बात पर आधारित है कि उसमें किस अंश तक रक्त की शुद्धता है और उसने कहा तक दूसरे सामाजिक समूहों से पार्थक्य रखा है। सबसे अधिक ब्राह्मणों ने अपनी प्रजातीय विशुद्धता को बनाए रखा। भारत की मूल जनजातियों ने भी अपनी विशुद्धता को बनाए रखने के प्रयत्न किए, लेकिन अन्य समूहों से उनका अधिक सम्पर्क न होने से उन्हें निम्नतम सामाजिक स्थिति प्राप्त हुई। इन दोनों समूहों के बीच सैकड़ों अन्य समूह थे जिनके रक्त की शुद्धता और सांस्कृतिक सम्पर्क की मात्रा एक दूसरे से पर्याप्त भिन्न थी। इस सम्पूर्ण व्यवस्था को गलती से 'हिन्दू जाति व्यवस्था' कहते हैं।[13]

समालोचना :

(१) श्री हट्टन ने प्रजातीय सिद्धान्त की आलोचना करते हुए लिखा है कि जाति-व्यवस्था की उत्पत्ति के प्रजातीय सिद्धान्त द्वारा खाने पीने के निषेधों पर प्रकाश नहीं पड़ता। इस सिद्धान्त में यह भी बताया गया है कि अछूतों या निम्न जातियों के स्पर्श से भोजन अपवित्र क्यों हो जाता है। अमेरिका तथा दक्षिणी अफ्रीका में नीग्रो प्रजाति के लिए यद्यपि अलग होटल और जल पान गृहों की व्यवस्था है तथापि उनके स्पर्श से भोजन और अन्य वस्तुयें किसी प्रकार भी अपवित्र नहीं होती।

(२) प्रजातीय और सांस्कृतिक भिन्नताओं तथा सम्पर्क के कारण ही यदि जाति व्यवस्था उत्पन्न हुई तो भारत में आने वाले मुसलमानों तथा ईसाइयों में इन दोनों के बावजूद भी जाति प्रणाली का विकास क्यों नहीं हो पाया ?

(३) श्री हट्टन के अनुसार प्रजातीय भेद तथा पक्षपात के आधार पर अनुलोम विवाह के सम्बन्ध में तो प्रकाश डाला जा सकता है पर यह बात समझ में नहीं आती कि इससे जाति-व्यवस्था की उत्पत्ति कैसे सम्भव हुई।

(४) इस सिद्धान्त के प्रतिपादकों की यह मान्यता गलत है कि वर्ण-व्यवस्था को समाज पर लादने के लिए ब्राह्मणों के प्रभाव को काम में लाया गया क्योंकि हट्टन के अनुसार जाति-व्यवस्था की अनेक विशेषतायें ऐसे क्षेत्रों में फैली हुई हैं, जहा ब्राह्मणों का तनिक भी प्रभाव नहीं है।

(५) भारत में न केवल जाति व्यवस्था के बल्कि भाषा सम्बन्धी भेदों तथा भौगोलिक आधार पर भी अन्तर्विवाह के नियम पाए जाते हैं। ऐसी दशा में यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि अन्तर्विवाह के नियम ब्राह्मणों द्वारा बनाए गए।

(६) इस सिद्धान्त का एक प्रमुख दोष यह है कि यह जाति-व्यवस्था की उत्पत्ति केवल

---

13 Ibid, P 302

प्रजातीय आधार पर मानता है। जाति व्यवस्था जैसी जटिल संस्था की उत्पत्ति केवल प्रजातीय आधार पर नहीं हुई बल्कि इसकी उत्पत्ति में अनेक कारकों का योग रहा है।

७ आदिम संस्कृति या माना का सिद्धान्त

(Theory of Primitive Culture or Mana)

हट्टन (Hutton) ने जाति-व्यवस्था की उत्पत्ति के कारणों का पता लगाने के लिये ऐसे आदिवासी लोगों की संस्कृति का अध्ययन करने पर जोर दिया है जो सभ्यता और बाह्य-सम्पर्कों के प्रभाव से मुक्त रहे हैं। ऐसे लोगों के उदाहरण के रूप में आपने नागा जनजाति के कुछ विशेष समूहों को लिया है। इन पर हिन्दू बौद्ध तथा इस्लाम धर्म का प्रभाव नहीं पड़ा है और न ही इनमें जातियां पाई जाती हैं। इनमें कुछ ऐसी संस्थायें अवश्य हैं जो जाति व्यवस्था की उत्पत्ति पर प्रकाश डालती हैं।[14] इन लोगों का प्रत्येक ग्राम एक स्वतन्त्र राजनैतिक इकाई रहा है। साधारणत एक गांव के लोग एक ही पेशा करते रहे हैं। किसी गाव में केवल कपड़ा बुनने का काम तो किसी में केवल मिट्टी के बर्तन बनाने का काम ही होता रहा है। आतक ग्रन्थ में बतलाया गया है कि कुछ व्यवसाय पृथक् पृथक ग्रामों में सीमित थे कुछ में बर्तन बनाने का काम, अन्य में लोहे का काम तथा कुछ में कोई दूसरा व्यवसाय होता था।[15] यह जाति व्यवस्था के परम्परागत पेशों के समान विशेषता है जो आर्यों के आने के पहले भी भारतीय समाज में पाई जाती थी।

जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत पाए जाने वाले भोजन तथा विवाह सम्बन्धी प्रतिबन्धों को हट्टन ने माना के आधार पर समझाने का प्रयत्न किया है। माना एक रहस्यमयी अलौकिक एवं अवयक्तिक शक्ति है जो प्रत्येक वस्तु में अनिवार्य रूप से पाई जाती है। यह वह जीवन शक्ति है जो स्पर्श मात्र से एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में आ जा सकती है तथा जो हित अहित दोनों कर सकती है। इस जीवन शक्ति पर अधिक शक्तिशाली जीवन शक्तियों का प्रभाव पड़ सकता है और इस प्रभाव के फलस्वरूप नुकसान हो सकता है। यही कारण है कि माना में विश्वास करने वाले लोग अपरिचित व्यक्तियों के स्पर्श से बचना चाहते हैं। हट्टन के अनुसार नागा जनजाति में भोजन सबंधी निषेधों के पाये जाने का कारण माना में विश्वास ही है। अन्य शक्तियों एवं समूहों के माना से बचने के लिये यहां अन्तर्विवाह की प्रथा सामाजिक सहवास पर रोक खान-पान में छुआ छूत का विचार आदि प्रारम्भ हुए।

हट्टन की मान्यता है कि जीवन तत्व (Life Matter) या आत्म-तत्व (Soul Stuff) तथा माना में विश्वास ही विभिन्न समूहों के लोगों के बीच भोजन, सामाजिक सहवास तथा विवाह सम्बन्धी निषेधों के लिए उत्तरदायी है। आपका कहना है कि भारत में आर्यों के आगमन के पूर्व ही यहां के मूल निवासी पेशों के आधार पर अनेक समूहों में विभक्त थे। ये समूह माना की धारणा के कारण अन्य समूहों के सम्पर्क से बचना चाहते थे। आपने लिखा है कि ऐसा प्रतीत होता है कि यह अधिकांशत ऋग्वैदिक आक्रमणकारियों (आर्यों) जिनमें निश्चित श्रेणीकृत सामाजिक वर्ग थे का सामाजिक और राजनैतिक प्रभाव था जो एक ऐसे समाज में सामाजिक श्रेष्ठता के सिद्धान्त को जो पहले से निषेधों के आधार पर पृथक्-पृथक् समूहों में विभक्त था प्रारम्भ करने के लिये उत्तरदायी था।[16] आपने जाति व्यवस्था की उत्पत्ति में जनजातीय समूहों में पायी जाने वाली माना की धारणा और आर्यों

---

14 Hutton op cit P 18?
15 Ibid P 113
16 Ibid P 188

के सामाजिक और राजनैतिक प्रभाव को विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण माना है। लेकिन हमे यहा इस बात को भी ध्यान मे रखना है कि आपने स्वय इस बात को भी स्वीकार किया है कि अनेक कारको के सम्मिलित प्रभाव के फलस्वरूप जाति-व्यवस्था की उत्पत्ति हो सकी। इन कारको मे आपने भौगोलिक पृथकृता, खान-पान सम्बन्धी निषेध, टोटम, निषेध एव माना सम्बन्धी विश्वास, कर्मकाण्ड सम्बन्धी पवित्रता, पूर्वज पूजा, पुर्नजन्म तथा कर्म सघ, विभिन्न सस्कृतियो और प्रजातियो के सघर्ष और विजय, धार्मिक एव सामाजिक विशेषाधिकारो सहित वर्णों का विकास, आर्थिक और प्रशासकीय नीतियां एव धार्मिक दर्शन को सम्मिलित किया है।[17]

समालोचना :

(१) डॉ० मजुमदार तथा एस० सी० राय ने इस सिद्धान्त की आलोचना करते हुए कहा है कि यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि 'माना' ने भारतीय जाति-व्यवस्था की उत्पत्ति मे कितना योग दिया है। इस सिद्धान्त मे यह नही बताया गया है कि 'माना' की धारणा के विश्व की सभी जनजातिया मे पाई जाने के बावजूद भी उसके आधार पर भारतवर्ष मे ही केवल जाति-व्यवस्था की उत्पत्ति क्यो हुई ?

(२) एक क्षेत्र विशेष मे पाई जाने वाली नागा जनजाति की सस्कृति की विशेषतायें सपूर्ण देश की सस्कृति का प्रतिनिधित्व नही करती हैं। ऐसी स्थिति मे इस जनजातीय सस्कृति की कुछ विशेषताओ के आधार पर जाति व्यवस्था की उत्पत्ति को नही समझाया जा सकता है।

(३) हट्टन स्वय जाति-व्यवस्था की जटिलता को स्वीकार करते हुए यह मानते हैं कि इसकी उत्पत्ति मे अनेक कारको का योग रहा है। अत केवल आदिम सस्कृति या माना की धारणा के आधार पर इस सस्था के उद्भव को स्पष्ट नही किया जा सकता।

इतना अवश्य कहा जा सकता है कि अन्य सिद्धान्तो की तुलना मे यह सिद्धान्त अधिक प्रामाणिक तथ्यो पर आधारित प्रतीत होता है।

■ **सांस्कृतिक एकीभाव का सिद्धान्त (Theory of Cultural Integration)**

इस सिद्धान्त के प्रवर्तक श्री शरतचन्द्र राय के अनुसार भारत की विभिन्न प्रजातियो की सास्कृतिक विशेषताओं के आपसी मिलन तथा अन्त क्रिया के फलस्वरूप जाति-व्यवस्था की उत्पत्ति हुई। श्री शरतचन्द्र राय ने भारत म पाई जाने वाली विभिन्न प्रजातियो की सास्कृतिक विशेषताओ का वर्णन करते हुए कहा है कि प्रागद्राविडा मे आत्मतत्त्व की धारणा ('Soul' Substance) का बहुत महत्त्व था तथा उनमे जनजातीय सामाजिक व्यवस्था थी। द्राविडो मे यह विश्वास था कि पुजारी, जादूगर मे कोई विशेष अलौकिक शक्ति होती है। उनमे पेशों के आधार पर व्यावसायिक विभाजन पाया जाता था और साथ ही कर्मकाण्डो की जटिलता और जादुई क्रियाओ मे विश्वास। इण्डो आर्यन लोगो मे 'कर्म की धारणा' का विशेष महत्त्व था और उनका विश्वास था कि विभिन्न सद्गुणो और सत्-कर्मों के कारण सब वर्णों मे अलग-अलग शक्तिया या गुण हैं। इन लोगो मे वर्ण व्यवस्था थी।

प्राग-द्राविड और द्राविड तथा इण्डो आर्यन लोगो की सस्कृति की विशेषताओ में काफी समानता पाए जाने से प्राग-द्राविड तथा द्राविड लोगो ने इण्डो आर्यनो (आर्यों) की वर्ण व्यवस्था को बिना किसी कठिनाई के स्वीकार कर लिया। इन तीनो सस्कृतियो के पारस्परिक प्रभाव तथा एकीभाव के कारण जाति-व्यवस्था की उत्पत्ति हुई। शरतचन्द्र राय के अनुसार इण्डो आर्यन लोगो की वर्ण-व्यवस्था, प्राग द्राविडो की जनजातीय व्यवस्था

17. Ibid, PP, 189-90,

ग्रौर द्राविडो की व्यावसायिक विभाजन की व्यवस्था के परस्पर प्रभाव एव सघर्ष के परिणामस्वरूप जाति-व्यवस्था की उत्पत्ति हुई। ग्रार्यों को ग्रपने राजनैतिक प्रभाव के कारण इस व्यवस्था मे सर्वोच्च स्थान प्राप्त हो गया।

समालोचना :

(१) इस सिद्धान्त का प्रमुख दोष यह है कि इण्डो-आर्यन, द्राविड तथा प्राग-द्राविड सस्कृतियो के परस्पर मिलने के कोई ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नही हैं।

(२) इस सिद्धान्त मे यह भी स्पष्ट नही किया गया है कि विभिन्न जातियो मे ऊच-नीच तथा जन्म के आधार पर जाति की सदस्यता का निर्णय किस प्रकार मान्य हुआ।

निष्कर्ष (Conclusion)

जाति-व्यवस्था के सम्बन्ध मे अनेक विद्वानो द्वारा प्रस्तुत उपर्युक्त सिद्धान्त एकागी है। प्रत्येक विद्वान ने ग्रपने सिद्धान्त को प्रमाणित करने के प्रयत्न मे जाति-व्यवस्था की उत्पत्ति के किसी विशेष कारण पर आवश्यकता से ग्रधिक जोर दिया है। वास्तव म, इस जटिल सस्था का उद्‌भव ग्रौर विकास किसी एक तत्त्व के कारण नहीं बल्कि ग्रनेक कारको के सयुक्त प्रभाव के फलस्वरूप हुग्रा है। इसलिए किसी एक कारक पर जोर देने वाला सिद्धात निश्चित रूप से दोषपूर्ण है। श्री हट्टन ने लिखा है, "यह जोर देते हुए कहा जा सकता है कि भारतीय जाति-व्यवस्था ग्रनेक भौगोलिक, सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक एव ग्रार्थिक कारको की अन्त क्रिया का स्वाभाविक परिणाम है जो कही ग्रन्यत्र एकत्र नही मिलते।"[18]

यहा हमे यह स्मरण रखना चाहिए कि इस सस्था की उत्पत्ति किसी निश्चित काल मे नहीं हुई बल्कि एक लम्बी अवधि मे इसका विकास हुआ है जिसमे ग्रनेक कारको का योग रहा है। जाति-व्यवस्था उक उद्‌विकासीय प्रक्रिया का परिणाम है। हजारो वर्षों के विभिन्न कारकों के सयुक्त प्रभाव के फलस्वरूप जाति व्यवस्था का विकास हुग्रा है। प्रारम्भ मे यहा वर्ण-व्यवस्था पाई जाती थी जिसमें काफी खुलापन था अर्थात् एक वर्ण का व्यक्ति दूसरे वर्ण की सदस्यता ग्रहण कर सकता था। इस वर्ण-व्यवस्था के कारण समाज कई समूहो मे विभाजित था जिनमे ऊच-नीच का सस्तरण पाया जाता था। इस सम्पूर्ण विभाजन मे ब्राह्मणो ने विशिष्ट भूमिका निभाई। उन्होने ग्रपने व्यवसाय एव प्रतिष्ठा को सुरक्षित रखने हेतु अनेक धार्मिक विश्वासों एव पवित्रता की धारणा को जन्म दिया। हट्टन ने इस सम्बन्ध मे कहा है, "धर्मशास्त्र को ब्राह्मणो ने इतना जटिल बना दिया कि जनसाधारण उनकी इस चतुराई को पकड सकने म ग्रसमर्थ रहा।"[19] धीरे धीरे जब प्रजातीय सम्पर्क एव सास्कृतिक सघर्ष बढने लगे, रक्त की शुद्धता एव धार्मिक पवित्रता के विचारो को महत्त्व दिया जाने लगा, तब इनसे प्रभावित वर्ण व्यवस्था का स्वरूप भी बदलने लगा, उसमे अधिक दृढता ग्राने लगी, जाति व्यवस्था के अनेक लक्षण उसमे दिखाई पडने लगे। यही वर्ण-व्यवस्था कालान्तर मे जाति व्यवस्था के रूप मे विकसित हुई। ब्राह्मणो का, ज्ञान एव शिक्षा पर विशेषाधिकार होने के कारण उनके प्रयत्नो से समाज मे इस व्यवस्था को धार्मिक

---

18 "It is urged emphatically that the Indian caste system is the natural result of the integration of a number of geographical, social, political, religious and economic factors not elsewhere found in conjunction", Idid, P. 188,

19 Ibid, P 191

ाधार पर मान्यता प्राप्त हो गई। अपने से निम्न प्रजातीय समूह, निम्न सामाजिक समूह थवा भिन्न सांस्कृतिक समूह के साथ सामाजिक सम्पर्क स्थापित करने वाले व्यक्ति को हेय ष्टि से देखा जाने लगा, उसे वर्ण-संकर कहा जाने लगा और उसे अपवित्र समझकर समूह निष्कासित किया जाने लगा। इस प्रक्रिया के परिणामस्वरूप ऐसे वर्ण-संकर व्यक्तियों ी भिन्न-भिन्न उपजातियां बनने लगीं। भारतीय प्रायद्वीप की भौगोलिक पृथकता, कर्म और नर्जन्म की धारणा, आत्मा, टोटम, माना, धर्म, व्यवसाय या आर्थिक कारण, ब्राह्मणों के ायत्न, विभिन्न जनजातीय समूहों का पार्थक्य आदि कारकों ने भी जाति-व्यवस्था के उद्भव ्व विकास में योग दिया है। दसवीं शताब्दी के पश्चात् जब भारत परतन्त्र हो गया, तो र्म सामाजिक जीवन का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आधार बन गया और परिणामस्वरूप जाति-व्यवस्था ने एक स्थायी रूप ग्रहण कर लिया।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जाति व्यवस्था की उत्पत्ति में अनेक कारकों का योग रहा है। इसकी उत्पत्ति एक उद्विकासीय क्रम से हुई है एवं इसे वर्तमान स्थिति में पहुंचने म करीब ३००० वर्ष लगे हैं। जाति-व्यवस्था की उत्पत्ति और विकास-प्रक्रिया के एकसाथ सम्बन्धित होने से इस व्यवस्था पर ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विचार करना आवश्यक है। वास्तव में जाति व्यवस्था के उद्भव को उसकी गत्यात्मकता के आधार पर ही समझा जा सकता है।

प्रश्न

१ जाति व्यवस्था की उत्पत्ति म हट्टन के सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

२ "पेशा और केवल पेशा ही जाति व्यवस्था की उत्पत्ति के लिए उत्तरदायी है।" इस कथन पर आलोचनात्मक ढंग से अपने विचार प्रकट कीजिए।

३ जाति व्यवस्था की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न सिद्धांतों की संक्षेप में समीक्षा कीजिए।

४ जाति की उत्पत्ति के परम्परात्मक सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

५ भारत में जाति की उत्पत्ति सम्बन्धी उद्विकासीय सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

६ "भारत में जाति इण्डो-आर्यन संस्कृति के ब्राह्मणों का बच्चा है जो गंगा और यमुना के मैदान में पला और वहां से देश के अन्य भागों में ले जाया गया।" विवेचना कीजिए।

७ उन परिस्थितियों पर प्रकाश डालिये जिन्होंने भारत में जाति-व्यवस्था की उत्पत्ति में योग दिया।

८. जाति की उत्पत्ति के लिए जे० एच० हट्टन तथा रिजले के सिद्धान्तों का तार्किक मूल्यांकन कीजिए।

९ जाति की उत्पत्ति की प्रजातीय व्याख्याओं की आलोचनात्मक परीक्षा कीजिए।

अध्याय 6

जाति-व्यवस्था के कार्य एवं जातिवाद

(FUNCTIONS OF CASTE-SYSTEM & CASTEISM)

जाति-व्यवस्था का वर्तमान स्वरूप चाहे कैसा भी क्यो न हो इतना निश्चित है कि इसने व्यक्ति, जातीय समुदाय, समाज एव राष्ट्र के लिए अनेक महत्वपूर्ण कार्य किए हैं। इसी का यह परिणाम है कि यह संस्था अनेक संघर्षों एवं क्रांतियों के मध्य से गुजर कर भी सहस्त्रो वर्षों से आज तक जीवित है। जाति-व्यवस्था के महत्वपूर्ण कार्यों के फलस्वरूप सामाजिक व्यवस्था मे सामाजिक स्थायित्व उत्पन्न हो सका है। जाति-व्यवस्था ने भारतीय समाज के संरक्षण एवं संवर्द्धन मे अभूतपूर्व योग दिया है। यहा इसी व्यवस्था के प्रमुख कार्यों का उल्लेख किया जा रहा है।

श्री हट्टन ने जाति-व्यवस्था द्वारा किए जाने वाले कार्यों को तीन भागो मे बाटा है—(१) सदस्यो के व्यक्तिगत जीवन मे जाति के कार्य, (२) जातीय समुदाय के लिए कार्य, और (३) समाज और सम्पूर्ण राष्ट्र के लिए जाति के कार्य।[1]

I सदस्यो के व्यक्तिगत जीवन मे जाति के कार्य :

व्यक्ति के जीवन के सारे सम्बन्धो एव घटनाओ पर जाति का अमिट प्रभाव पडता है। यह प्रत्येक हिन्दू के जीवन को अनेक रूपो मे प्रभावित करती है। व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्धित जाति के कार्य ये हैं —

(१) जाति व्यवस्था के आधार पर जन्म से ही व्यक्ति की सामाजिक स्थिति का निर्धारण हो जाता है। यदि वह जाति के स्वीकृत व्यवहार सम्बन्धी नियमो का उल्लघन न करे तो सम्पत्ति, निर्धनता, सफलता, असफलता, व्यक्तिगत गुण-दोष आदि उसे इस स्थिति से वचित नही कर सकते। यदि एक व्यक्ति ब्राह्मण जाति मे जन्म लेता है तो आजीवन ब्राह्मण के रूप मे उसकी स्थिति सुरक्षित रहेगी। जाति के व्यवहार सम्बन्धी नियमो का उल्लघन करने पर उसे जाति से अवश्य निष्कासित किया जा सकता है। वर्तमान समय मे, विशेष रूप से नगरीय समुदायो म धन, शिक्षा, व्यक्तिगत गुण एव राजनैतिक सत्ता आदि के आधार पर व्यक्ति की सामाजिक स्थिति निश्चित होने लगी है, लेकिन ग्रामीण समुदाय मे स्थिति प्रदान करने की दृष्टि स जाति आज भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

(२) प्रत्येक जाति अपने सदस्यो के लिए वैवाहिक समूह का निर्धारण करती है। वह अपने सदस्यो को यह बताती है कि वे किस समूह मे किन लोगो के साथ विवाह कर सकते

1. J H. Hutton, 'Caste in India', P 111.

या नही कर सकते हैं। जाति विवाह के सम्बन्ध मे अनेक प्रतिबध भी लगाती है जिनका पालन व्यक्ति को अनिवार्य रूप से करना पडता है। वैवाहिक समूह निश्चित करने मे व्यक्ति की अपनी इच्छा कोई काम नही करती, जाति स्वय इस कार्य को पूरा करती है। वर्तमान समय मे कुछ अन्तर्जातीय विवाह होने लगे हैं तथापि इनकी सख्या अति न्यून है।

(३) प्रत्येक जाति का साधारणत अपना निश्चित परम्परागत पेशा रहा है। उस जाति के सदस्य प्रारम्भ से उसे अपनाते रहे है। इस व्यवसाय के अन्तर्गत व्यवसाय चयन मे व्यक्ति को किसी भी समस्या का सामना नही करना पडा है। पेशे का पूर्व-निर्धारण जाति के सदस्यो को अवाञ्छित प्रतियोगिता से बचाता है। जाति व्यवस्था के अन्तर्गत स्व-जाति व्यवसाय के पर्यावरण मे बाल्यावस्था से ही पलने के कारण सदस्यो को नि शुल्क तान्त्रिक एव औद्योगिक प्रशिक्षण प्राप्त हो जाता है। एक सुनार अथवा दर्जी का लडका अपनी जाति के परम्परागत व्यवसाय मे सम्बन्धित प्रशिक्षण अपने परिवार मे ही प्राप्त कर लेता है। जाति अपने सदस्यो के लिए न केवल नि शुल्क औद्योगिक प्रशिक्षण की व्यवस्था करती रही है, साथ ही अपने व्यावसायिक रहस्यो को गुप्त भी रखती रही है। इस प्रकार अन्य जाति या व्यक्ति के समक्ष व्यावसायिक रहस्य खोले बिना जाति विशेष का व्यवसाय अपनी ही जाति के सदस्या म पीढी-दर-पीढी सहज ही हस्तातरित होता रहा है।

(४) जाति सदस्यो के व्यवहारो को नियन्त्रित करती रही है। प्रत्येक जाति के अपने कुछ नियम एव प्रतिबन्ध रहे हैं। अपनी जाति के नियमो एव विधि-निषेधो का पालन करना व्यक्ति के लिए आवश्यक रहा है। इनके विपरीत कार्य करने वाले को जाति से निष्कासित कर दिया जाता था। जाति निष्कासन व्यक्ति के लिए सामाजिक मृत्यु के समान था। इस स्थिति से व्यक्ति सदैव बचने का प्रयास करता रहा है। परिणामस्वरूप साधारणत व्यक्ति अपनी जाति के नियम एव आदेशो का पालन करते रहे है। इस प्रकार जाति अपने सदस्यो के व्यवहारो पर नियन्त्रण रखने का कार्य भी करती रही है।

(५) प्रत्येक जाति अपने सदस्यो को सामाजिक सुरक्षा प्रदान करने का कार्य भी करती रही है। प्रत्येक जाति का अपना एक जातीय सगठन और पचायत रही है। व्यक्ति पर किसी भी प्रकार के सकट के समय जाति के अन्य सदस्य उसकी सहायता को तत्पर रहे हैं। बेकारी, दुर्घटना अथवा अन्य किसी विपत्ति के अवसर पर जाति अपने सगठन के माध्यम से व्यक्ति को सुरक्षा प्रदान करती है। वर्तमान समय मे सामाजिक सुरक्षा की दृष्टि से राज्य की ओर से अनेक योजनाओ के कारण जाति के इस कार्य का महत्व अपेक्षाकृत कम हो गया है।

(६) जाति के माध्यम से व्यक्ति के आजीवन सभी आवश्यक कार्यो की पूर्ति होती रही है। भारतीय समाज म जातीय आधार पर श्रम विभाजन हुआ है। विभिन्न कार्यों को अलग अलग जातियो म बाटा गया है। प्रत्येक जाति अपने अपने कार्य को सुव्यवस्थित ढग से करती रही है, चाहे शिक्षा से लेकर सफाई एव मल-मूत्र उठाने तक का कार्य ही क्यो न हो। इस प्रकार, सभी कार्यों की व्यवस्था जातीय आधार पर होती रही है। जीवन से सम्बन्धित विभिन्न सस्कारो की व्यवस्था भी जाति व्यवस्था के अन्तर्गत होती रही है।

(७) जाति एक स्थिर सामाजिक पर्यावरण प्रस्तुत कर अपने सदस्यो को मानसिक सुरक्षा प्रदान करती रही है। जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत व्यक्ति व्यवसाय के चयन, अपनी स्थिति तथा भूमिका और जीवन साथी के चुनाव के सम्बन्ध म मानसिक चिन्ता से मुक्त रहा

है, उसे परीक्षण मे अपनी शक्ति नष्ट नही करनी पडी है। इस प्रकार, निश्चित मार्ग पर चलने का सदेश देकर जाति-व्यवस्था ने व्यक्ति को अनेक सघर्षों से बचाया है, उसे मानसिक सुरक्षा प्रदान की है। इस महत्वपूर्ण कार्य के सम्बन्ध मे डा० मजुमदार तथा मदान ने बताया है कि जाति-व्यवस्था सामाजिक सुरक्षा का वह आधार है, जहाँ व्यक्ति को रोजगार आवास, सरक्षण और विवाह के सम्बन्ध म सुरक्षा प्राप्त होती है जो व्यक्ति की परिवर्तन-शील मनोवृत्ति से सम्भव नही है। इन्ही विद्वानो का मत है कि "एक स्थायी वातावरण या अवस्था के अन्तर्गत सामाजिक आर्थिक सुरक्षा प्रदान करने के लिए जाति, व्यक्ति की की प्रतिरक्षा की प्रमुख व्यवस्था है जो उसकी परिवर्तनशील क्षमताओ पर आधारित नही है।[2]

II जातीय समुदाय के लिए कार्य :

व्यक्तिगत जीवन स सम्बन्धित अनेक कार्यों के अतिरिक्त जाति-व्यवस्था स्वय विभिन्न जातियो के लिए भी कुछ कार्य करती है जो निम्नलिखित है —

(१) जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक जाति को जातीय सस्तरण (Caste Hierarchy) मे एक निश्चित सामाजिक स्थिति होती है। सामान्यत एक जाति की स्थिति दूसरी जातियो की तुलना मे ऊँची अथवा नीची होती है। इस सामाजिक स्थिति निर्धारण के परिणामस्वरूप विभिन्न जातिया एक दूसरे की विरोधी न होकर अपने अपने कार्यों की दृष्टि से एक दूसरे की सहायक होती हैं। डा० मजुमदार और मदान के अनुसार—"सामू-हिक प्रयत्न और आन्दोलन के लिए एक सामान्य सगठन के निर्माण द्वारा, स्वय की जाति व्यक्ति के लिए गतिशीलता के अवसर बढाती है। इस प्रकार कायस्थ जो अब उत्तर भारत मे ब्राह्मणो के बाद ही समझे जाते है, १८ वी शताब्दी मे केवल एक परिष्कृत शूद्र जाति थी।"[3] स्पष्ट है कि जाति ने अपने सदस्यो की स्थिति उन्नत करने मे भी योग दिया है। श्री हट्टन का कथन है कि अनेक जातिया, जो १९२१ की जनगणना मे केवल क्षत्रिय या वैश्य समूह के अन्तर्गत आती थी, १९३१ की जनगणना मे ब्राह्मणो के रूप मे मान्य हो गई।[4]

(२) जाति-व्यवस्था ने अन्तर्गत प्रत्येक जातीय समूह एकता के सूत्र में बधा रहा है। इस समूह मे व्यक्ति अपने आपको सुरक्षित अनुभव करता रहा है। आवश्यकता के समय अपनी जाति के अन्य सदस्यो की सहायता करना अपना पवित्र कर्त्तव्य समझता रहा है। जातीय समूह मे एकता तथा सदस्यो म सहयोग के फलस्वरूप अनेक जातीय विद्यालय, धर्मशालाए तथा अनेकानेक बाल-कल्याण कार्यक्रम प्रारम्भ हुए जो जन-हित की दृष्टि से अत्यन्त लाभप्रद हैं।

(३) धार्मिक क्षेत्र में लोगो के जीवन पर जाति का स्पष्ट प्रभाव दिखाई पडता है। श्री हट्टन ने कहा है कि धार्मिक क्षेत्र मे जाति व्यवस्था इस प्रकार कार्य करती है कि बदलते हुए नैतिक आदर्शों अथवा जनमत के झुकाव के अनुसार, सामाजिक एव धार्मिक व्यवहार-

---

2 Majumdar and Madan, Social Anthropology," P, 237,

3 Ibid, P 237

4 Hutton, ' Census of India , 1931, pt I, P 431,

विधान परिवर्तित कर सकती या उनमे सुधार ला सकती है।[5] स्पष्ट है कि सामाजिक अनुकूलन की दृष्टि से भी जाति ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। श्री हट्टन के अनुसार, प्रत्येक जाति की अपनी एक सामान्य संस्कृति रही है जिसके अन्तर्गत उस जाति-विशेष का ज्ञान, कार्य-कुशलता, व्यवहार आदि आते हैं। ये सब जाति के सदस्यो मे पीढी दर-पीढी हस्तान्तरित होते रहते हैं, नए सदस्य वयस्क सदस्यो से इन बातो को सीखते रहते हैं। इस प्रकार जाति, संस्कृति की रक्षा एव उसे स्थिर बनाए रखने में योग देती रही है।

(४) श्री सेजविक की यह मान्यता है कि जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत अन्तर्विवाह पद्धति के परिणामस्वरूप सुप्रजनन की शुद्धता बनी रहती है। इसका कारण यह है कि बाहर के समूह के साथ वैवाहिक सम्बन्ध न होने से वशानुसंक्रमणीय दोष नही आ पाते। परन्तु आज वैज्ञानिक आधार पर यह सिद्ध नही हो पाया है कि विभिन्न जातियो मे आपस मे वैवाहिक सम्बन्ध होने से वशानुसंक्रमणीय दोष उत्पन्न होते हैं। जाति-अन्तर्विवाह (Caste Endogamy) के कारण एक जाति के लोग अपने ही जातीय-समूह मे वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करते है, अन्य जाति के लोगो के साथ नही। इसमे रक्त की शुद्धता बनी रहती हैं, निम्न जातियो के साथ रक्त का सम्मिश्रण नही हो पाता। परन्तु आज वैज्ञानिक आधार पर रक्त-शुद्धता की धारणा साधारणत स्वीकार नही की जाती।

डा० मजुमदार और मदान ने जाति के एक मौन कार्य पर प्रकाश डाला है। हिन्दू समाज मे नि सन्तान दम्पत्ति को मानसिक शान्ति नही मिलती क्योकि उसके अभाव मे न तो स्वर्ग ही मिलता है और न ही शान्ति। यह पाया गया है कि अन्तर्विवाह के फलस्वरूप लड़के अधिक जन्मते हैं। इस प्रकार, जाति व्यवस्था ने अन्तर्विवाह के द्वारा हिन्दुओ को हजारो पीढियो को मानसिक शान्ति प्रदान की है।[6] हिन्दू समाज मे परिवार की निरतरता बनाए रखने तथा पिंड दान, तर्पण आदि धार्मिक क्रिया सम्पादन की दृष्टि से पुत्र-सन्तान को आवश्यक माना गया है।

III समाज और सम्पूर्ण राष्ट्र के लिए जाति के कार्य :

समस्त समाज और राष्ट्र की दृष्टि से भी जाति ने अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किये हैं। इस सम्बन्ध मे श्री हट्टन ने लिखा है कि व्यक्ति और जातीय-समूह के लिये जाति-व्यवस्था द्वारा किये जाने वाले कार्य अन्य समूहो के द्वारा भी किये जा सकते हैं। लेकिन जाति एक ऐसी विशिष्ट संस्था है जो केवल भारत मे ही पायी जाती है और इसने सम्पूर्ण भारतीय समाज के लिये ऐसे कार्य सम्पन्न किये हैं जो अन्यत्र कही भी नही किये जाते।[7]

(१) जाति-व्यवस्था ने हिन्दू समाज के विकास में महत्त्वपूर्ण योग दिया है। विभिन्न समूहो को एक सूत्र मे बांधने की दृष्टि से 'जाति व्यवस्था का कार्य अत्यन्त सराहनीय है। श्री फरनीवाल के अनुसार, जाति-व्यवस्था के कारण भारत मे 'एक बहु-समाज' (A plural society) स्थिर रह पाया है। 'जाति व्यवस्था ने समाज मे ऐसी अवस्था प्राप्त की है कि जिसमे कोई भी समुदाय–चाहे वह प्रजातीय. सामाजिक, व्यावसायिक अथवा धार्मिक हो,

5 J H Hutton, Op Cit, P. 114
6 Majumdar and Madan, Op Cit, P 238
7 Ibid, P 115

सामाजिक समग्र के एक सहयोगी अंग के रूप में अपने को उपयुक्त बना सकता है तथा साथ ही अपनी विशिष्ट प्रकृति और पृथक् व्यक्तित्व को बनाए रख सकता है।[8]"

भिन्नताओं के मध्य भी हिन्दू समाज, जाति-व्यवस्था के कारण 'एक समाज' के रूप में अपनी स्थिति सुदृढ़ बनाए हुए है। ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर स्पष्ट है कि समय-समय पर भारत में अनेक आक्रमणकारी समूह आये, लेकिन जाति-व्यवस्था के कारण वे कालान्तर में हिन्दू समाज के अंग बन गए। यह बात अनेक आदिवासी समूहों के सम्बन्ध में भी सत्य है। डा० आर० एन० सक्सेना का कथन है, "पश्चिमी भारत में कोली, पंजाब में चूहड़ा, उत्तर प्रदेश में डोम, बंगाल में राजवंशी और मद्रास में बडागा ऐसे समूह हैं जो आदिवासियों से हिन्दू समाज में आए, फिर भी उनकी सामाजिक विशिष्टता बनी रही। वे समूह जो भारतीय जाति-प्रथा के विरोध या उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में उठे, उन्हें भी जाति-प्रथा के कारण समाज में एक विशिष्ट स्थान मिला। दक्षिण के लिंगायत इसका उदाहरण है।"[9] विभिन्न धार्मिक सम्प्रदाय भी जाति-व्यवस्था के कारण ही हिन्दू समाज का अंग बने हुए हैं, जैसे—जैन, सिक्ख, कबीरपन्थी आदि। इस प्रकार स्पष्ट है कि जाति-व्यवस्था हिन्दू समाज को एकता के सूत्र में बांधती है। यही बात व्यक्त करते हुए श्री हट्टन ने लिखा है कि जाति का एक महत्त्वपूर्ण कार्य, शायद इसके कार्यों में सबसे अधिक महत्व-पूर्ण कार्य, जो उसे एक अद्वितीय संस्था बना देता है, यह है अथवा रहा है कि यह भारतीय समाज को एकीकृत करती है और विभिन्न प्रतिद्वन्द्वी समूहों को एक समुदाय में जोड़ती है।[10] इस प्रकार स्पष्ट है कि हिन्दू समाज के विकास और उसकी आन्तरिक एकता बनाए रखने में जाति-व्यवस्था ने अद्वितीय भूमिका निभाई है।

(२) जाति-व्यवस्था ने भारतवर्ष में राजनैतिक स्थिरता बनाए रखने में महत्वपूर्ण योग दिया है। यहां पर समय-समय पर विदेशी आक्रमणकारी आये, जैसे—शक, हूण, मंगोल और यहां तक कि मुसलमान और अंग्रेज भी। जहां-जहां भी मुसलमानों एवं अंग्रेजों ने अपना साम्राज्य स्थापित किया, वहां-वहां महत्त्वपूर्ण राजनैतिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन हुए, परन्तु भारत इसका अपवाद है। यहां जाति-व्यवस्था ने भारतीय समाज, राजनैतिक संगठन एवं संस्कृति की रक्षा की, इन्हें नष्ट होने से बचाया। इस सम्बन्ध में श्री अबे डुबाय ने लिखा है कि मैं हिन्दुओं की जाति-व्यवस्था को उनके अधिनियम का सबसे अधिक सुखमय प्रयास मानता हूं। उस समय भी भारत की जनता बर्बरता के गर्त में नहीं डूबी जब सम्पूर्ण यूरोप उसमें डूबा हुआ था और यदि भारत ने सदैव अपना मस्तिष्क ऊंचा रखा, अनेकानेक विज्ञानों, कलाओं एवं सभ्यता का संरक्षण एवं विकास किया तो इसका पूर्ण श्रेय इसकी उस जाति-व्यवस्था को ही है जिसके लिए यह बहुत प्रसिद्ध है।[11] इस प्रकार, भारतीय जाति-व्यवस्था ने हिन्दू समाज के लिए एक कवच के रूप में कार्य किया है, उसने हिन्दू समाज और संस्कृति के संरक्षण में योग दिया है।

(३) जाति-व्यवस्था धार्मिक क्षेत्र में सहिष्णुता एवं उदारता के लिये उत्तरदायी रही

---

8. J S Furnivall, "Netherlands India, A Study of Plural Economy," P 464
९. डा० आर० एन० सक्सेना, "भारतीय समाज तथा सामाजिक संस्थाएं", पृष्ठ ९२।
10. J H Hutton, Op Cit, P 119
11. Abbe Dubois, Hindu Manners and Customs, P. 14.

हैं। धार्मिक आधार पर विश्व के विभिन्न भागो में समय-समय पर अनेक क्रान्तिया होती रही हैं। भारत मे भी जाति-व्यवस्था के विरोध मे, प्रतिक्रिया के रूप मे अनेक धार्मिक सम्प्रदायो का विकास विभिन्न अवसरो पर हुआ। लेकिन जाति-व्यवस्था ने इन सबको धीरे-धीरे अपने मे आत्मसात कर लिया, वे सब कालान्तर मे हिन्दू समाज के ही अग बन गये। जाति-व्यवस्था का यह कार्य धार्मिक क्षेत्र मे सहिष्णुता एव उदारता को व्यक्त करता है।

(४) जाति व्यवस्था हिन्दू समाज के सदस्यो को दायित्व निर्वाह और कर्तव्य पालन के लिए प्रेरणा प्रदान करती रही है। भारतीय समाज मे जाति-व्यवस्था और कर्म के सिद्धान्त मे एक गहरा सम्बन्ध पाया जाता है। कर्म सिद्धान्त के आधार पर लोगो को यह विश्वास दिलाया गया कि ऊँची अथवा नीची जाति म जन्म और उच्च या निम्न आर्थिक स्थिति का कारण व्यक्ति के पूर्वजन्म के कर्म है। जिस व्यक्ति ने पूर्वजन्म म अच्छे कर्म किए हैं, उसे उच्च कुल, उच्च जाति एव उच्च आर्थिक स्थिति प्राप्त होती है। इस विश्वास के परिणामस्वरूप अपने विभिन्न दायित्वो का निर्वाह करना प्रत्यक ने आवश्यक समझा। इससे अनावश्यक प्रतियोगिता पर नियत्रण रहा, समाज सामाजिक एव आर्थिक सघर्षो से मुक्त रहा, लोगो ने वर्तमान परिस्थिति को शान्तिपूर्वक स्वीकार किया, अच्छे कार्य करने के लिए प्रेरित हुए जिससे उनका भविष्य सुखमय बन सके। इस प्रकार, जाति-व्यवस्था ने लोगो को सामाजिक ईर्ष्या एव अपूर्ण आकाक्षाओ की व्याधि से बचाया तथा सामाजिक दृढता के बनाए रखन म अभूतपूर्व योग दिया।

(५) जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत समाज मे विभिन्न कार्यों के सम्पादन की उचित व्यवस्था की गई है। विभिन्न जातियो म कार्यों का विभाजन इस प्रकार से किया गया है कि समाज को श्रम विभाजन एव विशेषीकरण का पूर्ण लाभ मिल सके। श्री हट्टन ने लिखा है—"सामाजिक जीवन के लिए आवश्यक विभिन्न कार्यों, जिनम शिक्षा से लेकर सफाई, सरकारी से लेकर पारिवारिक सेवा तक के कार्यो की गणना है, जाति व्यवस्था के कारण सुचारु रूप से चलते हैं तथा कार्यो की यह सारी व्यवस्था धार्मिक विश्वास या कर्म की धारणा पर आधारित है।'[12] स्पष्ट है कि जाति व्यवस्था के कारण समाज के समस्त कार्यों की समुचित व्यवस्था हो जाती है और लोगो को समाज द्वारा मान्य कार्य करने की प्रेरणा तथा समाज को विशेषीकरण का पूर्ण लाभ मिलता है।

उपर्युक्त कार्यों के अलावा जाति व्यवस्था ने नैतिक शिक्षा प्रदान करने, समाज के भावनात्मक मूल्यो को सुरक्षित रखने, लोगो म उच्च कोटि के नागरिक गुणो का विकास, सभ्यता और सस्कृति की रक्षा एव सुपरीक्षित वैज्ञानिक समाजवाद को स्थापित करने की दृष्टि स महत्वपूर्ण कार्य किए है। जाति-व्यवस्था क कार्यो अथवा लाभो की विवेचना स स्पष्ट है कि हिन्दुओ के लिए जाति एक उपकारी सस्था क रूप म रही है। इसन विभिन्न जातीय समुदायो को एकता के सूत्र मे बाधे रखा, सामाजिक सगठन को बनाए रखने म सहयोग दिया, और हिन्दू समाज के विकास एव सुरक्षा की दृष्टि से अभूतपूर्व कार्य किया है। सद्-उद्देश्यो के आधार पर विकसित जाति-व्यवस्था म बदली हुई परिस्थितियो मे आज

12 J H. Hutton, Op Cited, pp 121-122,

अनेक दोष आ गए हैं। आज यह व्यवस्था उन कार्यों का सम्पादन नहीं कर पा रही है जिनके लिए इसका विकास हुआ था। डा० राधाकृष्णन ने एक बार अपने भाषण मे कहा था कि दुर्भाग्यवश वही जाति-प्रथा, जिसे सामाजिक सगठन को विनष्ट होने से बचाने के साधन के रूप मे विकसित किया गया था, आज उसी की उन्नति मे बाधक बन रही है। यहा अब हमे जाति-व्यवस्था के दोषो पर विचार करना है।

जाति-व्यवस्था से हानिया
(Demerits of Caste System)

यह सत्य है कि जाति-व्यवस्था ने विभिन्न दृष्टिकोणो से अनेकानेक महत्त्वपूर्ण कार्य किए हैं, परन्तु इस बात से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि आज की परिवर्तित परिस्थितियो मे यह व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के विकास के मार्ग मे बाधक है। इसीलिए बहुत-से लोग इसके उन्मूलन की बात करते हैं। इस सम्बन्ध मे प्रो० वाडिया ने लिखा है, 'उपनिषदो का उच्च कोटि का तत्व दर्शन और गीता का कर्म ज्ञान इस व्यवस्था के अत्याचारो के कारण केवल वाग्जाल बन गया। एक तरफ तो भारत सम्पूर्ण विश्व को एकता का उपदेश देता है और दूसरी ओर उसने एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था का अपनी छाती से चिपटा रखा है जिसने उसकी सन्तानो को निर्ममतापूर्वक अलग-अलग गुटो मे विभाजित कर रखा है, उनको अनन्त शताब्दियो के लिए एक-दूसरे से पृथक् कर दिया है।'[13] जाति-व्यवस्था के परम्परागत कार्य आज हिन्दू समाज को विघटित कर रहे हैं। श्री पनिक्कर का कथन है, 'यदि जातिया उपजातियो मे विभाजित होने की बजाय चार आदर्शात्मक विभागो (वर्णों) मे एकीकृत होती, तो समाज का यह विनाशकारी विभाजन कभी नहीं होता।'[14] परन्तु वास्तविकता यह है कि आज हिन्दू समाज सैकड़ो जातियो-उप जातियो मे विभक्त हो गया है। जाति व्यवस्था म वर्तमान मे निम्नलिखित दोष पाए जात हैं —

१ निम्न जातियो का शोषण एव धर्म-परिवर्तन

जाति व्यवस्था के अन्तर्गत जहा एक ओर उच्च जातियो को कुछ विशेषाधिकार प्राप्त है वहा दूसरी ओर निम्न जातिया अनेक निर्योग्यताओ मे पीडित हैं। उच्च जातियो ने मनमाने ढग से अपने अधिकारो का प्रयोग किया है। निम्न जातियो के करोडो लोगो के साथ अन्यायपूर्ण व्यवहार किया गया है। इन सबका परिणाम यह हुआ कि निम्न जातियो के बहुत-से लोगो ने बाध्य होकर अपना धर्म-परिवर्तन कर लिया, मुसलमान या ईसाई बन गए। यह स्थिति समाज के स्वस्थ विकास की दृष्टि से श्रेयस्कर नहीं है।

२ अस्पृश्यता के लिए उत्तरदायी

एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को कितना निम्न अथवा हीन समझ सकता है, इसका एक ज्वलन्त उदाहरण जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत पाई जाने वाली अस्पृश्यता की धारणा है। जातीय-सस्तरण मे निम्नतम स्थान प्राप्त अस्पृश्यो को छूना और यहा तक कि उन्हे देखना

13 A R Wadia, Contemporary Indian Philosophy, P 368
14 K M Panikkar, "Hindu Society at Cross Roads," P. 13

तक—उच्च जातियों के व्यक्तियों के लिए पाप समझा गया। अछूतों पर अनेक निर्योग्यताएं लाद दी गईं, उन्हें सामान्य मानवीय अधिकारों से वंचित रखा गया। अस्पृश्यता वास्तव में हिन्दू समाज के लिए एक अभिशाप है, मनुष्य के प्रति मनुष्य के हृदय में संचित घृणा की चरम अभिव्यक्ति है।

३ सामाजिक समस्याओं के लिए उत्तरदायी

जाति-व्यवस्था की एक महत्वपूर्ण विशेषता के रूप में जाति अन्तर्विवाह का नियम प्रचलित है। इस नियम पालन से अनेक सामाजिक समस्याएं उठ खड़ी हुई हैं। इसने कुलीन विवाह, बाल विवाह, दहेज प्रथा, विधवा विवाह पर प्रतिबन्ध, बेमेल विवाह आदि अनेक गम्भीर समस्याओं का जन्म दिया है। यदि समाज में जाति अन्तर्विवाह का कठोर नियम नहीं होता और अन्तर्जातीय विवाहों का सामान्यतः प्रचलन होता तो ये सामाजिक समस्याएं नहीं पनप पातीं।

४ समाज का हजारों स्वार्थ-समूहों में विभाजन

सामाजिक व्यवस्था को स्थिरता प्रदान करने के प्रयत्न में जातिगत नियमों की रक्षा के नाम पर अनेक कुरीतियों और रूढ़ियों का पालन किया जाने लगा। समाज में पाखण्ड, कर्म-काण्ड और अन्धविश्वासों को धर्म का आवश्यक अंग मानकर महत्ता प्रदान की गई। फलस्वरूप व्यक्ति सम्पूर्ण समाज की दृष्टि से विचार ही नहीं कर पाता और भारतीय सामाजिक जीवन सैंकड़ों हजारों छोटे-छोटे स्वार्थ समूहों में बट कर छिन्न भिन्न हो गया। व्यक्ति का दृष्टिकोण अत्यधिक संकुचित और कार्य क्षेत्र बहुत सीमित हो गया।

अकर्मण्यता एवं भाग्यवाद की पोषक

जाति-व्यवस्था ने व्यक्तियों को अकर्मण्य एवं भाग्यवादी बना दिया है। प्रत्येक व्यक्ति की जाति उसकी सामाजिक स्थिति एवं उसका व्यवसाय जन्म के आधार पर निश्चित होते हैं। उसके लिए सब-कुछ पूर्व निर्धारित हैं, उसे तो केवल परम्परागत मार्ग पर चलना होता है। ऐसी दशा में उसे विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ता। इसका परिणाम यह होता है कि व्यक्ति आलसी एवं अकर्मण्य बन जाता है। वह समझता है कि इस जीवन में वह जो कुछ है, पूर्वजन्म के संस्कारों एवं कर्मों के कारण है। इसका स्वाभाविक प्रभाव यह पड़ता है कि वह भाग्यवाद में विश्वास करने लगता है। यह परिस्थिति समाज की प्रगति में बाधक है।

५ आर्थिक विकास में बाधक

औद्योगीकरण के विकास के पूर्व तक जाति-व्यवस्था स्थिर श्रम विभाजन की नीति अपना कर समाज को विशेषीकरण का लाभ प्रदान करती रही, लेकिन वर्तमान में यह आर्थिक विकास के मार्ग में बाधा उपस्थित कर रही है। जाति व्यवस्था में जन्म के आधार पर व्यवसाय निर्धारित होने से व्यक्ति की आर्थिक कुशलता में कमी आती है। वह अपनी रुचि एवं योग्यता के अनुसार स्वतन्त्रतापूर्वक किसी भी व्यवसाय को नहीं अपना सकता। ऐसी दशा में समाज व्यक्ति की कार्य क्षमता का पूर्ण लाभ नहीं ले पाता तथा उत्पादन पूर्ण मात्रा में नहीं हो पाता।

औद्योगिक संस्थानों में संघर्षपूर्ण समूहों का निर्माण

जाति व्यवस्था के आधार पर पनपने वाले जातिवाद ने विभिन्न औद्योगिक संस्थानों में संघर्षपूर्ण समूहों के निर्माण में योग दिया है। जाति के आधार पर पनपने वाले ये छोटे-

छोटे परस्पर विरोधी समूह अथवा गुट उत्पादन की कमी के लिए उत्तरदायी हैं। व्यक्ति अपने गुट अथवा जातीय समूह के स्वार्थ की दृष्टि से सोचता है, फलस्वरूप, अयोग्य व्यक्तियों को आगे बढ़ने का अवसर मिलता है। आर्थिक विकास की दृष्टि से यह स्वस्थ परिस्थिति नहीं है।

८ राष्ट्रीयता के विकास में बाधक

आज लोगों में राष्ट्रीय दृष्टिकोण का अभाव पाया जाता है। जाति-व्यवस्था के कारण समाज अनेक खण्डों एवं उपखण्डों में बट गया है। विविध जातियों तथा उपजातियों ने इसे छोटे छोटे भागों में बांट दिया है। इन सब समूहों में ऊंच-नीच का एक संस्तरण और उतार चढ़ाव की एक प्रणाली पाई जाती है। ये हजारों प्रतियोगी समूह व्यक्तियों में एकता, समानता एवं 'हम' भावना को पनपने ही नहीं देते। व्यक्ति अपनी जाति अथवा उपजाति के संकुचित दृष्टिकोण से सोचता है। ऐसी दशा में समग्र राष्ट्र का चित्र व्यक्ति के सम्मुख उपस्थित नहीं होता, राष्ट्रीयता नहीं पनप सकती, फलतः राष्ट्रीय एकता का अभाव पाया जाता है।

६ प्रजातन्त्र के लिए गम्भीर चुनौती

जाति व्यवस्था और प्रजातन्त्र परस्पर विरोधी मूल्यों पर आधारित है। जाति-व्यवस्था में जन्म के आधार पर ही किसी को ऊंचा तथा किसी को नीचा समझा जाता है, इसमें अनेकानेक सामाजिक भेद भाव और रूढ़िवादिता पाई जाती है। एक जाति द्वारा दूसरी का शोषण पाया जाता है। इसके विपरीत प्रजातन्त्र समानता, स्वतन्त्रता एवं न्याय पर आधारित व्यवस्था है। ऐसी दशा में परस्पर दो विरोधी व्यवस्थाओं का एकसाथ चलना कठिन प्रतीत होता है। आज स्वस्थ प्रजातन्त्र के मार्ग में जाति व्यवस्था बाधा उपस्थित कर रही है। व्यक्ति, जाति के संकुचित दृष्टिकोण से सोचता है राष्ट्रीय दृष्टिकोण का उसमें अभाव पाया जाता है। जाति के नाम पर वोट मांगे और दिए जाते हैं। आज ग्रामीण क्षेत्रों में पंचायती राज्य संस्थाओं के विकास से राजनीति में जाति का प्रभाव बढ़ा है विशेष रूप से प्रो० श्री निवास के अनुसार—प्रभुत्वशाली जाति (Dominant Caste) का। जाति के एक इशारे मात्र पर उसके सभी सदस्य व्यक्ति विशेष को वोट देते हैं। आज जाति का नेता अपनी जाति के वोटों की संख्या के आधार पर चुनाव लड़ने वाले विभिन्न प्रत्याशियों के साथ सौदेबाजी करता है। वर्तमान में प्रशासन, सेवाओं एवं चुनाव में जातिगत भावनाओं का सर्वत्र बोलबाला है। यह परिस्थिति स्वस्थ प्रजातन्त्र के लिए गम्भीर चुनौती है, बाधक है।

आज राजनीति में जाति के महत्त्व को स्वीकार करना ही पड़ेगा। डा० रजनी कोठारी का कथन है कि प्रजातन्त्र की रक्षा के लिए ऐच्छिक संगठनों (Voluntary Organizations) की आवश्यकता होती है जिसकी पूर्ति जाति व्यवस्था द्वारा होती है। आन्द्रे बेटली (Andre Beteille) ने जाति व्यवस्था एवं राजनैतिक व्यवस्था के बीच सम्बन्धों की विवेचना करते हुए कहा है कि प्रजातन्त्र में राजनैतिक सत्ता प्राप्त करने हेतु लोगों का समर्थन अत्यन्त आवश्यक है। इसके लिए ऐसे माध्यम की आवश्यकता होती है जिसके द्वारा सत्ताधारियों एवं जनता के बीच सम्पर्क स्थापित हो पाए। जाति प्रधानतः इस माध्यम के अभाव की पूर्ति करती है।

जाति-व्यवस्था से सम्बन्धित अनेक दोषों का वर्णन ऊपर किया जा चुका है। इसके दोषों पर प्रकाश डालते हुए मेन्चर (Mencher) लिखते हैं कि जब हम नीचे से ऊपर की

ओर देखते हैं तो इस व्यवस्था की दो प्रमुख विशेषताएं सामने आती हैं। प्रथम, व्यवस्था के निम्नतम स्तर के लोगो के दृष्टिकोण, से जाति आर्थिक शोषण की प्रभावशाली व्यवस्था रही है। द्वितीय, इस व्यवस्था का अन्य कार्य हित या उद्देश्य की एकता के आधार पर बनने वाले वर्गों के निर्माण को रोकना रहा है। मैन्चर ने मार्क्सवादी दृष्टिकोण से 'वर्ग', शब्द का प्रयोग किया है। आपके अनुसार, जाति शोषण की एक व्यवस्था है, न कि अन्त निर्भरता और पारस्परिकता की व्यवस्था।[15] इस व्यवस्था के दोषो के आधार पर बहुत से विद्वान् यह मत व्यक्त करते है कि जाति केवल एक विश्रृंखलित सामाजिक सस्था है जो अपनी सेवाओ के पश्चात् वर्तमान मे भारत के वातावरण को दूषित कर रही है। अत वे इसे जड से समाप्त कर देने की बात करते हैं। लेकिन जाति-व्यवस्था से जहा व्यक्ति, समाज और राष्ट्र को अनेक हानिया हुई हैं वहा इससे प्राप्त लाभो को भी अस्वीकार नही किया जा सकता। इस सम्बन्ध मे श्री हट्टन के विचारो का व्यक्त करना उचित है। उन्होने जाति-व्यवस्था द्वारा सम्पन्न किये जाने वाले कार्यों को दृष्टि मे रखते हुए कहा है कि जाति एक अच्छी सस्था है जिसने अपनी उपयोगिता सिद्ध कर दी है। उसको जड से समाप्त न कर, उसम सुधार किया जाना चाहिए। डा० मजुमदार एव मदान का कथन है, 'इस व्यवस्था की हानिकारक सहवर्ती प्रथाओ—अस्पृश्यता, एक जाति का दूसरी द्वारा शोषण और ऐसी ही *अन्य का समाप्त कर देना चाहिए न कि सम्पूर्ण व्यवस्था को, टूटी हुई विषैली अगुली का* काटना चाहिए न कि पूरे हाथ को।'[16] जाति व्यवस्था म अनेक दोष आ गये हैं, इसलिए इसे पूर्णत समाप्त कर देना चाहिए ऐसा कहना वैज्ञानिक दृष्टिकोण स तार्किक प्रतीत नही होता। जहा तक सम्भव हो, इसम सुधार और इसके दोषो को दूर करने का प्रयास किया जाना चाहिए। हम इसम सुधार करने के दायित्व से बचने का प्रयत्न नही करना चाहिए। आज सम्पूर्ण जाति व्यवस्था विविध परिवर्तनो के परिणामस्वरूप स्वय परिवर्तित हो रही है, बदलती हुई परिस्थितियो के साथ सामञ्जस्य स्थापित करने की इसकी शक्ति अद्वितीय है। इसम सुधार सम्भव एव अनिवार्य है। आज आवश्यकता इस बात की है कि लागो के सकुचित दृष्टिकोण मे परिवर्तन लाया जाए और उनम राष्ट्रीयता का विकास किया जाय। क्षेत्रीयता एव भाषावाद से उन्हे ऊपर उठाया जाय एव जातिवाद का प्रत्येक स्तर पर विरोध किया जाय।

जातिवाद (Casteism)

जाति व्यवस्था से सम्बन्धित एक गम्भीर समस्या के रूप मे जातिवाद पाया जाता है। जातिवाद वह सकुचित मनोभाव है जा व्यक्तियो को अपनी जाति विशेष के स्वार्थों की दृष्टि से सोचने के लिए प्रेरित और अपनी जाति के हितो को सर्वोपरि समझने के लिए प्रोत्साहित करती है, सम्पूर्ण समाज और राष्ट्र से भी अधिक महत्व जाति का देती है। आज जातिवाद के कारण ही जातिया आतरिक दृष्टि से शक्तिशाली होती जा रही हैं। जाति के नाम पर स्कूल, कॉलेज, धर्मशाला, अस्पताल, मन्दिर एव अनेक सगठन चलाए जाते हैं। इन सगठनो का उद्देश्य अपनी ही जाति के लोगो को विशेष सुविधायें प्रदान कर उनकी सामाजिक

---

15 Mencher, Joan P, The Caste System Upside Down, or The Not-so-Mysterious East, current Anthropology, Vol 15, No 4

16 Majumdar & Madan, Op Cit, P 238

स्थिति को ऊँचा उठाते हुए, जातीय समूह को सामाजिक संस्तरण में उच्च स्थान प्रदान करवाना है। वर्तमान में जातिवाद का प्रभाव जीवन के सभी क्षेत्रों–सामाजिक, धार्मिक अथवा राजनैतिक में दिखाई पड़ता है। आज व्यक्ति को सामाजिक प्रतिष्ठा एवं उच्च स्थिति प्रदान करने की दृष्टि से जन्म और जाति का महत्व कम हो गया, और इनका स्थान शिक्षा, सम्पत्ति, उच्च नौकरी एवं राजनैतिक शक्ति आदि ने ले लिया है। ऐसी दशा में अपनी जाति के लोगों की उच्च सामाजिक स्थिति बनाए रखने अथवा जातीय समूह के रूप में सामाजिक संस्तरण में स्थिति को ऊँचा उठाने की दृष्टि से यह आवश्यक हो जाता है कि अपनी ही जाति के लोगों को अधिकाधिक मात्रा में शिक्षा, उच्च नौकरियां, धन एवं राजनैतिक शक्ति प्राप्त करने के अवसर प्रदान किए जायें। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु करीब-करीब सभी जातियां प्रयत्नशील हैं तथा विभिन्न जातीय संगठनों के निर्माण में लगी हुई हैं।

अपनी ही जाति के स्वार्थ को सर्वप्रमुख समझ कर, उसी के प्रति अपने नैतिक कर्तव्य का पालन करना अपनी जाति के स्वार्थों के आगे अन्य जातियों के सामान्य स्वार्थों की अवहेलना करना ही जातिवाद है। जातिवाद के अन्तर्गत व्यक्ति अपनी ही जाति की उन्नति और कल्याण के सम्बन्ध में, सोचता एवं व्यवहार करता है चाहे ऐसा करने में अन्य जातियों, सम्पूर्ण समाज एवं राष्ट्र का अहित ही क्यों न हो। व्यक्तियों का यह संकुचित दृष्टिकोण ही जातिवाद का पोषक है।

जातिवाद वह संकुचित भावना है जो प्रत्येक व्यक्ति को अपनी जाति के सदस्यों को ही प्राथमिकता देने को प्रेरित करती है। जाति व्यवस्था के अन्तर्गत व्यक्ति अपने से उच्च जाति के सदस्यों को आदर देता और उन्हें अपनी जाति वालों की तुलना में बड़ा समझता रहा है। लेकिन जातिवाद ने व्यक्ति की निष्ठा को उसकी जाति अथवा उपजाति तक ही सीमित कर दिया है। डा० के० एम० पनिकर का कथन है कि जब तक उपजाति की अवधारणा पाई जाती है तब तक जातिवाद अपरिहार्य है क्योंकि यह एक ऐसी स्थाई निष्ठा है जो हिन्दुओं ने उत्तराधिकार में प्राप्त की है।[17] वर्तमान समय में जहां एक ओर *जाति-व्यवस्था के बन्धन ढीले होते जा रहे हैं वहां दूसरी ओर जातिवाद अधिक* प्रबल होता जा रहा है। जातिवाद का स्पष्ट प्रभाव नगरों के शिक्षित लोगों पर भी प्रतीत होता है और जहां जातीय आधार पर गुटबन्दी पाई जाती है। डा० के० एन० शर्मा ने जातिवाद को परिभाषित करते हुए कहा है "जातिवाद या जातिभक्ति एक जाति के व्यक्तियों की वह भावना है जो देश के या समाज के सामान्य हितों का ख्याल न रखते हुए केवल अपनी जाति के सदस्यों के उत्थान, जातीय एकता और जाति की सामाजिक प्रस्थिति को दृढ़ करने के लिए प्रेरित करती हो।[18] डा० शर्मा ने अपनी इस परिभाषा में दो पक्षों पर जोर दिया है–एक है मनोवैज्ञानिक पक्ष और दूसरा है व्यवहार पक्ष। मनोवैज्ञानिक पक्ष के अन्तर्गत व्यक्ति की भावनायें आती हैं और व्यवहार-पक्ष के अतर्गत उसकी क्रियायें। जातिवाद से प्रभावित व्यक्ति न केवल भावनाओं की दृष्टि से बल्कि व्यवहार

---

17 K M Pann klar, op cit., p [illegible]

१८ डा० के० एन० शर्मा "भारतीय समाज और संस्कृति,' पृष्ठ ३१८।

की दृष्टि से भी अपनी जाति के स्वार्थ, हित और कल्याण की चिन्ता करता है। वह अपनी भावनाओं एवं क्रियाओं को स्वजाति में ही केन्द्रित कर देता है। इसके परिणामस्वरूप वह अपनी ही जाति के लोगों को शिक्षा, नौकरी, व्यापार और उद्योग के क्षेत्रों एवं राजनीति में प्राथमिकता और संरक्षण देता है। ऐसा करने से जाति विशेष में आन्तरिक दृढ़ता बढ़ती है, एकता पनपती है, परन्तु अन्य जातियों के प्रति घृणा के भाव भी उत्पन्न होते हैं, उनके न्यायपूर्ण हितों की अवहेलना होती है, तथा उनके साथ संघर्षात्मक सम्बन्ध भी उत्पन्न हो जाते हैं।

जातिवाद के विकास के कारक :

इसके विकास के कारकों में वैवाहिक प्रतिबन्ध प्रमुख है। जाति अन्तर्विवाह की प्रथा के कारण प्रत्येक व्यक्ति के लिए अपनी ही जाति में वैवाहिक संबंध स्थापित करना आवश्यक है। वैवाहिक क्षेत्र के जाति अथवा उपजाति तक ही सीमित होने के कारण योग्य जीवन-साथी के चुनाव की समस्या बनी रहती है। ऐसी दशा में लोग अपनी ही जाति अथवा उपजाति के लोगों को विभिन्न क्षेत्रों में विशेष सुविधायें प्रदान करना हितकर समझते हैं। यातायात और सन्देशवाहन के साधनों के बढ़ने से जातिवाद राष्ट्रव्यापी बन गया है। एक ही जाति के लोग विभिन्न स्थानों में फैल गये हैं। समय समय पर उनके प्रान्तीय एवं अखिल भारतवर्षीय सम्मेलन होते हैं जिनमें अपनी जाति के हितों के संरक्षण पर विचार किया जाता है। इन साधनों के विकास ने विभिन्न जातियों के संगठनों की स्थापना में योग दिया है। अपनी जातीय प्रतिष्ठा को ऊँचा उठाने के लिये नवीन पैमाने के अनुसार अपनी जाति के लोगों को विभिन्न क्षेत्रों में आगे बढ़ाने हेतु विशेष अवसर प्रदान करना आवश्यक हो गया है। इसके फलस्वरूप व्यक्ति संकुचित दृष्टिकोण से सोचता एवं व्यवहार करता है। जजमानी प्रथा टूटने से भी जातिवाद के विकास को प्रोत्साहन मिला है। उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्व तक इस प्रथा ने विभिन्न जातियों को कार्यात्मक आधार पर एक सूत्र में बाँध रखा था। विभिन्न जातियाँ एक-दूसरे के लिये कुछ सेवायें प्रदान करती थीं और विविध रूपों में उन्हें कुछ परितोषण प्राप्त होता था। विभिन्न जातियों की पारस्परिक निर्भरता प्रत्यक्ष एवं परम्परात्मक थी। आज अनेक कारणों से जजमानी प्रथा टूट चुकी है विभिन्न जातियों के उदग्र सम्बन्ध (Vertical Relations) समाप्तप्राय हो चुके हैं और एक ही जाति के विभिन्न व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों, जिन्हें क्षैतिज सम्बन्ध (Horizontal Relations) कहते हैं, में दृढ़ता बढ़ी है। औद्योगिक विकास ने भी जातिवाद को प्रोत्साहित किया है। आधुनिक समय में औद्योगीकरण के कारण अनेक नवीन व्यवसायों का जन्म हुआ है जिनका किसी जाति विशेष के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। एक ही जाति के लोग विभिन्न व्यवसायों को अपना रहे हैं और विभिन्न जातियों के अनेक लोग एक ही व्यवसाय में पाये जाते हैं। औद्योगीकरण ने परिवार एवं जाति के वंशानुगत पेशों को धक्का पहुंचाया है। परिणामस्वरूप विभिन्न जातियों एवं परिवारों की आर्थिक सुरक्षा समाप्त हो गई है। धीमी गति से औद्योगिक विकास होने एवं जनसंख्या के तेजी से बढ़ने के कारण सभी व्यक्तियों को अपनी योग्यता के अनुसार नौकरियां प्राप्त करने की सुविधा नहीं मिली है। ऐसी दशा में आर्थिक सुरक्षा प्रदान करने की दृष्टि से एक जाति के लोग अपनी ही जाति के लोगों को उच्च पद प्रदान करने की दशा में प्रयत्नशील दिखाई पड़ते हैं। नगरों की दशाओं के परिणामस्वरूप भी जातिवाद का विकास हुआ है। नगरों में विभिन्न जातियों, धर्मों, संस्कृतियों एवं आर्थिक

स्तरो के व्यक्ति पाये जाते हैं। साथ ही विविध स्वार्थों के आधार पर बने अनेक संगठन भी वहा मिलते है। ऐसी दशा मे जाति ही पीछे क्यो रहती? घनिष्ट और दृढ समूह के रूप मे नगरो मे जातीय आधार पर विशिष्ट सगठनो का विकास होने लगा जो अपनी ही जाति के लोगो की स्वार्थपूर्ति मे लग गये।

जातिवाद को प्रोत्साहित करने वाला एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कारक विभिन्न जातियों का विभेदीकृत विकास रहा है। कुछ जातियो को लम्बे समय से कुछ विशेषाधिकार प्राप्त रहे है जबकि कुछ अन्य अनेक प्रकार की निर्योग्यताओं से पीडित रही हैं। परिणाम यह हुआ कि कुछ जातिया पिछड़ गई है, आर्थिक दृष्टि से अनाभप्रद परम्परागत व्यवसायो मे ही लगी रही है तथा राजनैतिक शक्ति प्राप्त नही कर सकी हैं। स्पष्ट है कि विभिन्न जातियो को आगे बढने का समान अवसर नही मिला। उनका विभेदीकृत विकास हुआ जिसने भिन्न-भिन्न जातियो मे आपसी कटुता को बढाया है। ऐसी दशा मे जातीय सगठन मजबूत हुये हैं, जातियो के उदग्र सम्बन्ध कमजोर पड़े हैं और लोग अपनी ही जाति अथवा उपजाति के सकुचित स्वार्थ की दृष्टि से सोचने लगे हैं। इस प्रकार, विविध कारकों ने जातिवाद के विकास मे सहायता पहुचाई है।

जातिवाद के परिणाम :

जातिवाद के परिणामस्वरूप अनेक गम्भीर समस्यायें उत्पन्न हो गई हैं। जातिवाद प्रजातन्त्र के स्वस्थ विकास म बाधक है। लोक सभा, विधान-सभाओ, म्युनिसिपल कमेटियो और पचायतो के चुनाव मे कई लोग जातिवाद का लाभ उठाते और जाति के नाम पर वोट मागते है। जब जाति विशेष के आधार पर ऐसे व्यक्ति चुनाव मे सफलता प्राप्त कर लेते हैं तो वे अपनी जाति के हितो को प्रधानता देते है और समाज अथवा राष्ट्र के हितो की अवहेलना करते हैं।

जातिवाद न केवल प्रजातत्र के लिए खतरा है बल्कि औद्योगिक कुशलता के लिए भी बाधक है। अपनी जाति के आधार पर अयोग्य व्यक्ति उच्च नौकरिया प्राप्त कर लेते हैं। वे विभिन्न उद्योगो, व्यवसायो एव सरकारी नौकरियों मे प्रविष्ट हो जाते हैं। ऐसी दशा मे योग्य एव कुशल व्यक्तियो को अवसर नही मिल पाता। यह स्थिति औद्योगिक कुशलता के लिये खतरा उपस्थित कर रही है।

जातिवाद लोगो के नैतिक पतन के लिये भी उत्तरदायी है। जातिवाद की सकुचित भावना के वशीभूत हो उच्च पदो पर आसीन कई लोग अपने जाति के व्यक्तियो के साथ पक्षपात करते एव उन्हे विशेष सुविधायें प्रदान करते हैं। वे समग्र समाज के हितो की चिन्ता न कर अपनी जाति के लोगो को ही सब प्रकार की सुख-सुविधायें उपलब्ध कराने का प्रयत्न करते हैं। जातिवाद की यह अनुचित धारणा व्यक्ति का नैतिक पतन कराती और भ्रष्टाचार को प्रोत्साहित करती है।

जातिवाद राष्ट्रीय एकता के मार्ग मे भी बाधक हैं। वर्तमान समय मे व्यक्ति की सामुदायिक भावना अत्यन्त सकुचित हो गई है, वह जाति अथवा उप-जाति के सीमित दायरे मे सोचता है। जहा समाज ऐसे सैकडो हजारो छोटे खण्डो मे विभक्त हो, जिसके सदस्य सम्पूर्ण समाज एव राष्ट्र के दृष्टिकोण से न सोचकर जातिगत कल्याण की दृष्टि से सोचते हैं, वहां स्वस्थ राष्ट्रीयता का विकास एव एकता सम्भव नही है। लोग इस तथ्य को भूल

जाते हैं कि जाति राष्ट्र से बढकर नहीं है। जातिवाद के कारण संवैधानिक प्रावधानो का ठीक प्रकार से पालन नही हो पाता। राष्ट्रीय दृष्टिकोण से यह सारी परिस्थिति श्रेयस्कर नही है। जातिवाद के निराकरण के लिए सगठित कार्यक्रम आवश्यक है।

जातिवाद के निराकरण के उपाय :

जातिवाद के निराकरण के लिए कुछ लोगो का सुझाव है कि जाति-व्यवस्था को ही समाप्त कर देना चाहिये। पिछले कुछ सालो से सरकारी एव गैर सरकारी प्रयत्नो के आधार पर नेतागण यह विश्वास दिलाते रहे हैं कि शीघ्र ही जातिविहीन समाज की रचना होगी, लेकिन आज तक ऐसा सम्भव नही हुआ है और निकट भविष्य मे भी इसकी आशा कम ही प्रतीत होती है। जातियो को समाप्त करना व्यावहारिक दृष्टि से सम्भव प्रतीत नही होता क्योकि प्रत्येक जाति के ऐतिहासिक एव सामाजिक सम्बन्ध होते हैं जिन्हें समाप्त करना इतना सरल नही है। जाति व्यवस्था की जडें भारतीय समाज म इतनी गहरी बैठी हुई हैं कि कुछ कानूनो के आधार पर इसे समाप्त नही किया जा सकता।

जातिवाद को समाप्त करने के लिये डा० घुरिये ने सुझाव दिया है कि अन्तर्जातीय विवाहो को अधिक लोकप्रिय बनाया जाना चाहिये। आज आवश्यकता इस बात की है कि देश म अन्तर्जातीय विवाहो के लिये अनुकूल वातावरण तैयार किया जाये। उचित शिक्षा के माध्यम से लोगो की मनोवृत्तियो म परिवर्तन लाना भी आवश्यक है। शिक्षा ऐसी हो जिससे बच्चो म जाति-पाति का भेद भाव उत्पन्न न हो, धर्म निरपेक्षता को प्रोत्साहन मिले और जातिवाद के विरुद्ध स्वस्थ जनमत तैयार हो। इस प्रकार, श्री पी० एच० प्रभु के अनुसार उचित शिक्षा के द्वारा व्यवहारो के आन्तरिक स्रोतो पर प्रभाव डालकर जातिवाद को दूर किया जा सकता है। डा० राव ने सुझाव दिया है कि लोगो के लिए अन्य वैकल्पिक समूह होने चाहिये जिनके द्वारा वे अपनी सामूहिक मनोवृत्तियो को व्यक्त एव अपनी विभिन्न क्रियाओ को सगठित कर सकें। अधिकाधिक सामाजिक और सास्कृतिक सगठनो का निर्माण जातिवाद को दूर करने मे अवश्य सहायक होगा बशर्ते कि इन समूहो म भी जाति-वादिता प्रवेश नहीं कर जाये। श्रीमती इरावती कर्वे का सुझाव है कि विभिन्न जातियो मे आर्थिक एव सास्कृतिक समानता लाने से जातिवाद दूर किया जा सकता है। इस प्रकार, स्पष्ट है कि जातिवाद से छुटकारा प्राप्त करने के लिये अनेक उपायो को काम मे लाना आवश्यक है।

अन्तर्जातीय सम्बन्ध
(Inter Caste Relations)

जब हम जाति-व्यवस्था की विशेषताओ पर विचार करते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक जाति अन्य जातियो से पृथक् है, उसका दूसरी जातियो के साथ किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध नही है। एक जाति के व्यक्तियो को अपनी ही जाति म वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने पडते है और अपनी जाति के लोगों के साथ ही अधिकतर खान-पान एव अन्य प्रकार के सम्बन्ध रखने पडते है। इससे ऐसा मालूम पडता है कि जाति के लोगो का सम्बन्ध अधिकाशत जाति तक ही सीमित रहा है, परन्तु वास्तविकता यह नही है। आदिकाल से ही विभिन्न जातिया एक दूसरे से सम्बन्धित रही हैं, उनमें आपस मे प्रकार्यात्मक सम्बन्ध पाया जाता है।

प्रारम्भ मे हिन्दू समाज चार वर्णों मे विभाजित था और प्रत्येक वर्ण के अलग-अलग निश्चित कार्य थे। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र मिलकर एक-दूसरे की आवश्यकताओं को पूरा करने मे योग देते, एक दूसरे को आवश्यकतानुसार सेवायें एवं वस्तुयें प्रदान करते थे और समाज मे विभिन्न कार्यों की समुचित व्यवस्था थी। प्रत्येक व्यक्ति साधारणत अपने वर्ण धर्म का पालन करता हुआ समाज के सर्वतोमुखी विकास मे योग देता था। धीरे-धीरे समाज अनेक जातियो मे विभक्त हो गया और प्रत्येक जाति का एक व्यवसाय निश्चित हो गया। व्यवसाय के आधार पर अनेक जातियो के विशिष्ट नाम रखे गए, जैसे—सुनार, लुहार, खाती, कुम्हार, भडभूजा, कहार, नाई, माली, काछी, तेली, धोबी, धानुक, जुलाहा, चमार, भगी आदि आदि।

जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत विभिन्न जातियो के बीच यद्यपि सामाजिक दूरी पाई जाती है, एक जाति दूसरी जाति मे ऊँची अथवा नीची मानी जाती है तथापि साथ ही ये आर्थिक एवं व्यावसायिक आधार पर पारस्परिक आदान प्रदान की एक निश्चित व्यवस्था के द्वारा एक-दूसरे से सम्बन्धित भी रही हैं। जिस व्यवस्था द्वारा ये जातिया एक-दूसरे से सम्बन्धित रही हैं, उसे जजमानी व्यवस्था कहते हैं। वाइजर नामक विद्वान ने इस व्यवस्था का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है, "इस प्रथा के अन्तर्गत प्रत्येक जाति का कोई निश्चित कार्य पीढी-दर-पीढी चलता रहता है। इस कार्य पर उसका एकाधिकार होता है। इसमे एक जाति दूसरी जाति की आवश्यकतायें पूरी करती है।"[19]

जजमानी व्यवस्था पारस्परिक आदान प्रदान की व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत विभिन्न जातिया परम्परागत रूप मे एक-दूसरे को आवश्यक सेवायें प्रदान करती हैं, बदले म अनाज तथा अन्य वस्तुओ के रूप म आवश्यक पारिश्रमिक प्राप्त करती हैं और पीढी-दर-पीढी एक घनिष्ठ सम्बन्ध मे बधी रहती हैं। इस व्यवस्था म सेवा प्राप्त करने वाला 'जजमान' और सेवा प्रदान करने वाला 'कमीन' कहा जाता है। भारतीय ग्रामो म जजमानी व्यवस्था विशेष रूप से प्रचलित रही है। कहीं-कहीं गावो म अब भी इस व्यवस्था का प्रभाव दिखाई पडता है। मिसर श्रीनिवास, गफ, एस० सी० दुबे, स्टीड और ओपलर एव सिंह आदि ने अपने अध्ययनो के आधार पर देश के विभिन्न भागो मे इस व्यवस्था के पाये जाने के उद्धरण प्रस्तुत किये हैं।

जजमानी व्यवस्था वशानुगत है। प्रत्येक कमीन के कुछ निश्चित जजमान होते हैं। पीढी-दर-पीढी कमीन अपने जजमानो की सेवा करता रहता है। साधारणत न तो कोई जजमान एक कमीन को छोड दूसरे की सेवायें प्राप्त कर सकता है और न ही कोई कमीन अपने जजमान की सेवा करने से इन्कार कर सकता है। कमीन के लिये जजमान सम्पत्ति के रूप मे होते हैं। जब कमीन की सम्पत्ति का विभाजन होता है, तो उसके बेटो मे जजमान-परिवार भी बँट जाते हैं। जजमान और कमीन के निश्चित पारस्परिक अधिकार और कर्त्तव्य रहे हैं जिनका सरक्षण जाति-पचायत और ग्राम-पचायत द्वारा रहा है। इस व्यवस्था म सेवाओ का भुगतान साधारणत फसल के समय अनाज के रूप मे किया जाता है और विवाह, सामाजिक तथा धार्मिक उत्सव एव त्यौहार आदि के अवसर पर कमीन को वस्त्र,

---

19 W H, Wisher, 'The Hindu Jajman System,'

अनाज तथा नकद के रूप में भी कुछ दिया जाता है। जजमान और कमीन के परस्पर भावात्मक सम्बन्ध पाये जाते हैं। उनके सम्बन्ध प्राथमिक प्रकार के होते हैं। यह व्यवस्था विभिन्न जातियों के बीच अन्तर्जातीय सम्बन्धों को दृढ करती है, पारस्परिक निर्भरता को अनिवार्य बनाती है और ग्राम समुदाय में एकता स्थापित करने में योग देती है।

जजमानी व्यवस्था कृषि-प्रधान समुदायों की दृष्टि से लाभप्रद रही है। परन्तु वर्तमान समय में जाति का अपने परम्परागत व्यवसाय से सम्बन्ध टूटता जा रहा है। एक ही जाति के लोग आज विभिन्न व्यवसायों को अपनाने लगे हैं और विभिन्न जातियों के लोग एक ही व्यवसाय में पाये जाते हैं। आज की आर्थिक व्यवस्था में मुद्रा का विशेष महत्व है। वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य या दर निश्चित होते हैं और नकद के रूप में भुगतान किया जाता है। वर्तमान परिस्थितियों में जजमानी व्यवस्था का बना रहना सम्भव नहीं है और अनेक कारकों, जैसे—औद्योगीकरण, राजनैतिक, व्यावसायिक और सामाजिक समानता, जमींदारी प्रथा के उन्मूलन, शिक्षा के व्यापक प्रसार आदि ने इस व्यवस्था को विघटित किया है।

वर्तमान समय में यद्यपि जजमानी व्यवस्था का अन्तर्जातीय सम्बन्धों की दृष्टि से कोई विशेष प्रभाव नहीं दिखाई पड़ता तथापि नवीन आधारों पर विभिन्न जातियों के लोगों में पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित होते जा रहे हैं। आज अन्तर्जातीय विवाह और भिन्न-भिन्न जातियों के व्यक्तियों के बीच खान-पान के सम्बन्ध स्थापित होने लगे हैं। वर्तमान में दफ्तरों, स्कूलों, कॉलिजों, कारखानों और औद्योगिक संस्थानों में सभी जातियों के लोग एक-साथ काम करते हुये दिखाई पड़ते हैं। बिना एक-दूसरे की जाति का ध्यान किये लोग एकसाथ होटलों, जलपान-गृहों तथा सार्वजनिक स्थानों पर खाते-पीते हैं। नगरीय क्षेत्रों में विभिन्न जातियों के मध्य अन्तर्जातीय सम्बन्ध उदारतापूर्वक विकसित हो रहे हैं और नगरीकरण, पश्चिमीकृत जीवन शैली तथा क्षेत्रीय-गतिशीलता ने इस कार्य में योग दिया है।

आज विभिन्न जातियों के बीच सामाजिक दूरी कम होती जा रही है। नीची जाति के लोग सरकारी सहयोग से अपनी आर्थिक स्थिति ऊँची उठाने में लगे हुये हैं और नगरीय जीवन के सम्पर्क ने उन्हें ऊपर उठने के लिये प्रोत्साहित किया है। डा० मजुमदार ने मोहाना ग्राम के अध्ययन के आधार पर बताया है कि वर्तमान परिस्थितियां सभी जातियों के एकरूपीकरण (Fusion) अथवा सबके लिए कम से कम समान प्रस्थिति (Status) की ओर अग्रसर होती है। यद्यपि ऊँची जातियों के द्वारा नीची जाति के लोगों के साथ परम्परागत सामाजिक दूरी बनाये रखने के प्रयत्न अवश्य किये जाते हैं तथापि सामाजिक दूरी कम होती जा रही है और समानता के आधार पर विभिन्न जातियों के बीच सम्बन्ध स्थापित होते जा रहे हैं।[20]

प्रश्न

१. वर्तमान भारत में जाति-व्यवस्था के कार्यों का मूल्यांकन कीजिए।

---

20. D. N Majumdar . "Caste and Communication in an Indian Village,," P. 84.

१. वैदिक काल (Vedic Period)

(ईसा से ६०० वर्ष पूर्व तक)

वैदिक काल भारतीय इतिहास का सबसे प्राचीन काल समझा जाता है। अधिकतर विद्वानों ने इस काल का प्रारम्भ ईसा के २००० वर्ष पूर्व से माना है। इस काल का सबसे पुराना ग्रन्थ ऋग्वेद है जिसमें ब्राह्म, क्षात्र तथा विश नामक तीन वर्णों का उल्लेख किया गया है। ऋग्वेद के बाद के मन्त्रों में कहीं-कहीं शूद्रों का वर्णन भी मिलता है। ये शूद्र दास, दस्यु या अनार्य थे जो न तो यज्ञ करते थे और न ही ईश्वर को मानते थे। इस समय समाज कर्म के आधार पर चार वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में विभक्त था। इन वर्णों में ऊंच नीच की कटु भावना नहीं पाई जाती थी। ऋग्वेद में कथन है कि उस समय पेशा के चुनाव में कोई प्रतिबन्ध नहीं था। व्यक्ति अपना पेशा बदल कर कोई भी अन्य पेशा अपना सकता था। ब्राह्मण पूजा-पाठ, अध्ययन अध्यापन छोड़कर क्षत्रिय का कार्य कर सकता था। इस काल में व्यक्ति अपने पेशे के आधार पर अपना वर्ण परिवर्तन कर सकता था। क्षत्रिय राजा विश्वव्रत अपना वर्ण परिवर्तित कर ब्राह्मण ऋषि विश्वामित्र हो गए। इसी प्रकार याज्ञवल्क्य की शिक्षा ग्रहण कर राजा जनक क्षत्रिय से ब्राह्मण बन गए। इस तरह यह स्पष्ट है कि वैदिक काल में जन्म पर आधारित जाति-व्यवस्था नहीं थी बल्कि कर्म पर आधारित वर्ण-व्यवस्था थी जो पाश्चात्य देशों की मुक्त वर्ग प्रणाली (Open Class System) के समान थी।

परन्तु इस काल के अन्तिम भाग में ब्राह्मणों में कुछ मात्रा में वर्ग भावना के विचार उत्पन्न हुए तथा ब्राह्मण और क्षत्रियों में, ब्राह्मणों द्वारा रखी गई सुविधाओं सम्बन्धी मांगों के कारण संघर्ष हुआ। यद्यपि ब्राह्मणों को हरा दिया गया तथापि उन्हें बहुत-सी सुविधाएं प्राप्त हो गईं। पुजारी या पंडित का पद वंशानुगत हो गया तथा ब्राह्मण रक्त-शुद्धता पर ध्यान देने लगे। इस काल में जाति-व्यवस्था नहीं थी। खान पान सम्बन्धी प्रतिबन्ध भी नहीं पाए जाते थे। ऊपर के तीनों वर्णों (ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य) में विवाह सम्बन्धी कोई प्रतिबन्ध नहीं था तथा वे आपस में वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर सकते थे। श्याम शास्त्री ने लिखा है—"बुद्ध-काल के पूर्व के हिन्दुओं में भोजन तथा विवाह सम्बन्ध में ऐसे नियम नहीं थे जो उन्हें दूसरे व्यक्तियों के साथ भोजन करने और वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने से रोकते।"[1] भोजन तथा विवाह सम्बन्धी प्रतिबन्धों के न होने का कारण यह था कि इन वर्णों में आपस में ऊंच नीच की भावना नहीं थी। ये तीनों वर्ण एक ही प्रजाति के थे तथा उनमें भाषा, धर्म तथा संस्कृति की दृष्टि से कोई भेद नहीं था।

ऋग्वेदीय साहित्य के अध्ययन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस काल के अन्तिम वर्षों में ब्राह्मणों का उच्चतम स्थिति प्राप्त हो गई थी। इस समय वंश शुद्धि एवं पवित्रता को महत्त्व दिया जाता था। इस बात के निश्चित प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं कि इस समय ब्राह्मण अन्तर्विवाही थे अथवा नहीं। कहीं कहीं ब्राह्मणों के क्षत्रिय कन्याओं से

---

1 The Hindus of the Pre-Buddhist period had no such rules of diet and marriage as prevented them from inter-dining and inter marrying with other people,' Shastry Shyam R 'Evolution of Indian Polity', pp 40-41

विवाह के प्रमाण मिलते हैं। ब्राह्मण विद्यादान, यज्ञ कराने तथा ब्रह्म ज्ञान प्राप्त करने मे लीन थे। स्पष्ट है कि वैदिक-काल के अन्तिम वर्षो मे ब्राह्मण वर्ग को जाति की विशेषताए प्राप्त हो चुकी थी। इस सम्बन्ध मे डा० कीथ का कथन उल्लेखनीय है। उन्होने लिखा है—"उच्च विद्वानो (म्यूर, जिम्नर, वेबर) के अनुसार ऋग्वेदीय युग मे किसी प्रकार का भी जाति-भेद नही था, लेकिन हाल ही मे (जिटमर, न्यूबर्ग के मतानुसार) बडे जोरो से यह कहा जाने लगा है कि उस युग में जाति-भेद था। एक दृष्टि से, वास्तव मे, ऋग्वेद मे जाति व्यवस्था के अस्तित्व को अस्वीकार नही किया जा सकता। " "" ऋग्वेद मे कोई भी ऐसा सही प्रमाण नही है कि उस काल मे पौरोहित्य (ब्राह्मण) एक वशानुगत बद वर्ग (जाति) नही था।"[2]

इस काल के अन्त मे क्षत्रियो को 'राजन्य' कहा गया। राजन्य शब्द का प्रयोग शासको के लिए किया गया था। इस वर्ग के लोग मुख्यत शासन तथा सेना सम्बन्धी कार्यों मे लगे हुए थे, परन्तु वे अन्य पेशे अपना सकते थे। इस वर्ग को ब्राह्मणो से निम्न स्थिति प्राप्त हुई। डा० घुरिये का कथन है कि क्षत्रिय वर्ग धीरे धीरे एक सवृत्त वर्ग (Compact class) हो गया। क्षत्रियो ने अपने वर्ण के अतिरिक्त अन्य किसी वर्ण मे वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित नही किए। कही-कही उन्होने अपनी कन्याओ का विवाह ब्राह्मणो के साथ किया, परन्तु ब्राह्मणो ने अपनी कन्याए उन्हे नही दी। वैदिक साहित्य मे वैश्य वर्ण का वर्णन बहुत कम मिलता है। ऐतरेय ब्राह्मण मे वैश्यो को दूसरा के जीवन का आधार माना गया है। अन्य दो वर्गों की स्थिति ब्राह्मण और क्षत्रिय की तुलना मे निम्न थी, वैश्यो की स्थिति महत्वपूर्ण नही थी। ऋग्वेद मे शूद्र का वर्णन केवल एक स्थान पर मिलता है। घरेलू नौकरो के रूप मे अथवा दासो के रूप मे इनका उल्लेख है। शूद्र को दूसरे का नौकर, इच्छानुसार निष्कासित या कत्ल किए जाने वाले के रूप म बताया गया है। ऋग्वद म आर्य और दस्यु के बीच जो भेद किया जाता था, वही बाद मे आर्य और शूद्र के बीच किया जाने लगा।

चार वर्णों के अतिरिक्त ऋग्वेदीय साहित्य म अनेक व्यवसायो क नाम पाए जाते है, जैसे सुनार, नाई, मोची, चिकित्सक, लुहार, व्यापारी तथा रथ बनाने वाला आदि। यह स्पष्ट नही है कि इन व्यवसायो मे लगे हुए लोग चार वर्णों के अन्तर्गत ही विभक्त थे अथवा उनके अपने अलग वर्ग थे। एक ही पेशे के विभिन्न नाम भी मिलत है। एक ही पेशे मे लगे हुए दो समूहो के बीच भिन्न भिन्न नाम पाए जाते हैं तथा उनकी स्थिति पृथक् जातियो अथवा उपजातियो के रूप म है। यह भी सम्भव है कि उस समय कुछ पशे वशानुगत हो गए हो। ऋग्वेद मे कुछ ऐसे समूहो का वर्णन मिलता है जिनसे जाति का बोध होता है, जैसे चाण्डाल, निषाद आदि। चाण्डाल को शूद्र पिता और ब्राह्मण माता की सन्तान तथा वर्ण-सकर और पतित माना गया है। डा० घुरिये का मत है कि चाण्डाल एव निषाद आदिवासी समूह रहे हैं जिनका आर्यों के साथ सम्पर्क हुआ तथा आर्यों ने उन्हे समाज मे निम्नतम

---

2 "The existence of caste system in any form in the age of the Rigveda has been denied by high authority (Muir, Zimner, Weber), though it has been asserted of late with increasing insistence (Gelmer, Niubarg) In one sense, indeed, its presence in the Rigveda cannot be disputed there is no actual proof in the Rigveda that the priesthood was not then a closed hereditary class." Dr. K

स्थिति प्रदान की। इतना अवश्य है कि निषादो को चाण्डालो की तुलना मे अपेक्षाकृत उच्च स्थिति प्रदान की गई।

डा० घुरिये ने बताया है कि "ऋग्वेद काल के प्रारम्भिक समय के तीन वर्ग बाद मे चार समूहो के रूप मे सुदृढ हो गए, सवृत्त समूह बन गए, और इनके साथ पृथक् रूप से तीन या चार अन्य समूहो का उल्लेख होता था। यद्यपि ये समूह बहुत-कुछ एकातिक (Exclusive) सामाजिक इकाइया बन चुके थे, तथापि ऊपर की ओर और नीचे की ओर व्यक्तियो का गमन पूर्णत असम्भव नही था, हालाकि ऐसा बहुत कम होता था। जहा तक धार्मिक तथा कर्मकाण्डीय जीवन का सम्बन्ध था, वह केवल पहली तीन श्रेणियो तक ही सीमित माना गया था। यद्यपि शूद्र को आर्यों के सघ की परिसीमा मे ले लिया गया, तथापि उसे व्यवस्थित रूप से आर्यों की धार्मिक प्रथाओ का अनुसरण करने से वचित रखा गया।"[3] स्पष्ट है कि वैदिक काल के अन्त मे ब्राह्मणो की स्थिति सर्वोच्च हो चुकी थी। प्रत्येक वर्ग साधारणत अन्तर्विवाही समूह बन चुका था। उस समय खान-पान और छुआ-छूत का उल्लेख नही मिलता है, अत यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वैदिक युग मे जाति व्यवस्था की कुछ विशेषताए प्रकट होने लगी थी।

२. उत्तर वैदिक काल (Post Vedic Period)

(तीसरी शताब्दी के अन्त तक)

वैदिक काल के पश्चात् ब्राह्मण-ग्रन्थो तथा उपनिषदो का काल आता है जिसे उत्तर वैदिक काल कहा जाता है। इस काल का प्रारम्भ ईसा के ६०० वर्ष पूर्व से होता है। इस काल मे ब्राह्मणो एव क्षत्रियो म वर्ग सघर्ष रहा। इस काल की दो मुख्य विशेषताए है — (१) ब्राह्मणो की सामाजिक स्थिति का सगठन एव (२) शूद्रो का अध पतन।

महाभारत के अध्ययन स स्पष्ट हो जाता है कि इस काल म वर्ग-भेद बढता जा रहा था। श्री पी० वी० काणे (P V Kane) के अनुसार इस काल मे गौतम, बौधायन तथा आपस्तम्ब के धर्मशास्त्रीय ग्रन्थ लिखे गए जो सबसे प्राचीन हैं। इस समय चारो वर्ण एक दूसर से पृथक् हो गए तथा प्रत्येक मे आन्तरिक दृढता आने लगी। ब्राह्मणो ने अपनी शक्ति को बढाने का प्रयत्न किया और धर्मशास्त्रो ने इसमे योग दिया। सर्वप्रथम इस काल म 'जाति' शब्द का प्रयोग हुआ। वास्तव म, 'जाति' शब्द का प्रयोग वर्णों और उनके अन्तर्गत बनने वाले उपसमूहो के लिए किया गया।

सामाजिक तथा आर्थिक परिवर्तनो के कारण सामाजिक विभेद बढता जा रहा था। ब्राह्मण दण्ड और उत्तराधिकार के सम्बन्ध म पक्षपातपूर्ण नियम बना रहे थे। वर्ग-सघर्ष अधिक जटिल रूप धारण करता जा रहा था। इस समय जैन तथा बौद्ध धर्म का विकास हुआ। समानता की नीति पर आधारित, क्षत्रियो द्वारा पोषित जैन तथा बौद्ध धर्म ब्राह्मणवाद के विरुद्ध थे। जैन तथा बौद्ध धर्म ग्रन्थो मे क्षत्रियो को ब्राह्मणो से ऊचा माना गया है जिससे ब्राह्मणवाद को क्षति पहुची। जन्म को महत्व न देकर कर्म

---

3 G S Ghurye, 'Caste, Class and Occupation', P 52,

को महत्त्व दिया गया, बुद्ध ने कहा—व्यक्ति कर्म से ब्राह्मण होता है, न कि जन्म से। यद्यपि गौतम, बौधायन तथा आपस्तम्ब संहिताओं मे हिन्दू समाज के लिए अनेक प्रतिबन्धों की व्यवस्था की गई, परन्तु उनको व्यावहारिक रूप से स्वीकृति प्रदान नही की गई, अत उन्हे समाज पर लागू नही किया जा सका।

जैन तथा बौद्ध धर्म के पतन के पश्चात् ब्राह्मणो की शक्ति फिर से बढने लगी। उन्होने धर्म के क्षेत्र मे यज्ञ, विधि-विधान तथा अनुष्ठान आदि बनाकर धार्मिक विधानो को अत्यन्त जटिल बना दिया। वर्ण-व्यवस्था मे जाति-व्यवस्था की अनेक विशेषताए आने लगी। फिक (Fick) का कथन है कि इस काल मे ब्राह्मण एव वैश्य, जाति का रूप प्राप्त कर चुके थे। अपने वर्ण से बाहर विवाह करने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। यद्यपि अनुलोम विवाह मान्य थे तथापि ऐसे विवाहो से उत्पन्न सन्तान को माता-पिता की जाति मे न रखकर अलग जातियो मे रखा गया। जाति-वर्ण-सकरता को हेय दृष्टि से देखा गया। गौतम तथा बौधायन ने मिश्रित जातियो की एक सूची प्रस्तुत की है। इन सबमे, विभिन्न वर्णों मे प्रतिबन्धों के उपरान्त भी अन्तर्जातीय विवाह होते रहे। इस काल मे प्रत्येक जाति के पेशे तथा कर्त्तव्य जन्म के आधार पर निश्चित कर दिए गए। बौद्ध धर्म से सम्बन्धित साहित्य मे अनेक पेशों को आनुवशिक माना गया है। छुआछूत के विचारो का प्रारम्भ इसी काल मे हुआ। भोजन के सम्बन्ध मे छुआछूत के नियमो का उल्लेख प्रथम बार आपस्तम्भ के धर्मशास्त्र मे मिलता है। इस समय भोजन के सम्बन्ध मे अनेक नियम बनाए गए जिनमे मुख्य रूप से शूद्रो के हाथ का बनाया हुआ भोजन अन्य वर्णों के लिए वर्जित माना गया।

इस काल मे एक ओर जहा ब्राह्मणो की स्थिति और भी उच्च हुई वहा दूसरी ओर शूद्रो की स्थिति मे गिरावट आई। शास्त्रकारो ने शूद्रो को 'पादज' (पैरो से उत्पन्न) कहा। इन लोगो को विद्याध्ययन एव उपनयन-सस्कार से वचित रखा गया। उन्हे नागरिक एव धार्मिक अधिकारो से पूर्णत वचित कर दिया गया। डा० घुरिये ने लिखा है कि प्रमाणो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस काल मे वैश्य और शूद्र एक ही स्तर पर रखे गए थे, उन्हे समान माना गया था। १८४ ई० पूर्व भारत के इतिहास मे प्रथम बार ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र शुग राजा बना। इसके राज्य-काल मे ब्राह्मणो की शक्ति काफी बढी। इसी समय प्रसिद्ध धर्म-ग्रन्थ मानव-धर्मशास्त्र या मनुस्मृति की रचना हुई। मनुस्मृति का सर्वमान्य विधान के रूप मे स्वीकार किया गया। इस ग्रन्थ ने ब्राह्मणवाद की उन्नति मे बहुत योग दिया तथा समाज को अनेक कठोर बन्धनों मे बाध दिया गया। मनुस्मृति ने शूद्रों को शासन करने या न्याय-निर्णय देने की आज्ञा नहीं दी गई। इस ग्रन्थ मे यह भी उल्लेख किया गया है कि यदि कोई शूद्र घृणापूर्वक किसी द्विज के नाम का उच्चारण करे तब उसके मुह मे दस अगुल लम्बी लोहे की कील डाल दी जाएगी, यदि वह ब्राह्मणो को उनका कर्त्तव्य सिखाने की धृष्टता करेगा, तो राजा उसके मुह और कान मे गरम तेल डलवा देगा।[४]

इसी काल मे वास्तविक जाति-व्यवस्था का निर्माण प्रारम्भ हुआ। जन्म तथा वशानुसानमण के तत्त्वो को महत्त्व दिया जाने लगा। जन्म के आधार पर व्यक्ति का वर्ण निश्चित

४. मनुस्मृति ८।२७१,८।२७१।

होने लगा। ब्राह्मण परिवार में जन्म लेने वाला ब्राह्मण ही कहलाने लगा चाहे वह कोई भी कार्य क्यो न करे। इतना सब-कुछ होने के उपरान्त भी इस काल में जाति-व्यवस्था के बन्धन पूर्णत स्पष्ट नहीं थे।

३ धर्मशास्त्र काल (Dharmashastra Period)

(११वीं शताब्दी तक)

तीसरी शताब्दी के अन्तिम वर्षों से इस काल का प्रारम्भ होता है। इस काल में जाति-व्यवस्था को अधिक स्थायित्व प्राप्त हुआ। इस युग में ब्राह्मणों का स्थान बहुत ऊंचा हो गया। यह समय मनुस्मृति के नियम, व्यवहार के आदर्श रूप में स्वीकार कर लिए गए। याज्ञवल्क्य सहिता, विष्णु-सहिता, पाराशर-सहिता और नारद स्मृति के आधार पर इस काल में अलग अलग वर्णों के लिए भिन्न-भिन्न कर्त्तव्य निर्धारित किए गए। डा० घुरिए का कथन है कि इस काल में हिन्दू धर्म के आदर्शों में दो महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए जिनका जाति-व्यवस्था के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पहलुओं पर काफी प्रभाव पडा। एक ओर ब्राह्मणों को दान देन की पवित्रता एव महत्त्व को व्यक्त कर उनकी सामाजिक स्थिति को दृढ किया गया, तथा दूसरी ओर पुनर्जन्म और कर्मवाद के सिद्धान्तों को प्रतिपादित किया गया। अनेक नरकों की कल्पना की गई ताकि व्यक्ति अपने जातिगत कर्मों के अनुसार ही आचरण करता रहे, जातिगत दायरे से बाहर नहीं निकल सके।[5]

इस काल में ब्राह्मणों का अनेक विशेषाधिकार प्राप्त हुए, उनकी सामाजिक स्थिति उच्चतर हुई। मनु का कथन है कि ब्राह्मण इस सृष्टि के सम्राट् हैं क्योंकि उनकी उत्पत्ति विराट्-पुरुष अर्थात् जगत सृष्टा के मुख से हुई है जो पवित्र है। विष्णु ने बताया है कि देवता अदृश्य हैं जबकि ब्राह्मण साक्षात् देवता है। ब्राह्मण के द्वारा ही यह विश्व सधा है। यदि साक्षात् देवता प्रसन्न होते है तो अदृश्य देवता भी। इस काल में केवल शूद्र का ही नहीं बल्कि सभी वर्णों का ब्राह्मणों की सेवा करना प्रमुख कर्त्तव्य हो गया। इस युग में वैश्यों को शूद्रों के समान ही माना गया। मनु के अनुसार शूद्र और वैश्य दोनों की उत्पत्ति अपेक्षाकृत अधिक अपवित्र भाग से हुई है, इस कारण वे ब्राह्मणों एव क्षत्रियों की तुलना में कम पवित्र हैं। विष्णु ने कहा है कि सवर्णों को शूद्र के साथ यात्रा नहीं करनी चाहिए। चाण्डालों के लिए मनु ने लिखा है कि उन्हे नगर के बाहर बसाया जाना चाहिए। कौटिल्य ने कहा है कि चाण्डालों को नगर के बाहर श्मशान भूमि के उस पार बसना चाहिए तथा उन्हे मध्याह्न के पूर्व नगर में प्रवेश नहीं करना चाहिए।

इस काल में अन्तर्जातीय विवाहो पर कठोर प्रतिबन्ध लगाए गए और जाति अन्तर्विवाह के नियम का पालन करना अति आवश्यक बताया गया, परन्तु अनुलोम विवाह मान्य थे और ऐसे विवाहों से उत्पन्न द्विज वर्णों की सन्तानों को द्विज ही माना गया। चार वर्णों के लोगो में होने वाले अनुलोम और प्रतिलोम विवाहो के कारण इस काल में जातियां उत्पन्न हुईं और इन जातियों के बीच होने वाले विवाहों से जातियों की संख्या में और वृद्धि हुई। यद्यपि लोगो का झुकाव जाति-अन्तर्विवाह की ओर था तथापि कुछ मात्रा में अन्तर्जातीय विवाह होते रहे। उदाहरणार्थ, हर्षवर्धन नामक वैश्य राजा ने अपनी बहन राज्यश्री

---

5 G S Ghurye, 'Caste, Class and Occupation', pp 87-88.

का विवाह एक क्षत्रिय के साथ किया था। यद्यपि अन्तर्जातीय विवाह होते थे तथापि धर्म-शास्त्रकारों का मत ऐसे विवाहो के विरुद्ध था।

इस काल म आठवी शताब्दी से राजनैतिक अस्थिरता बढने से सामाजिक व्यवस्था एव वैयक्तिक व्यवहारो पर ब्राह्मणो द्वारा प्रतिपादित धर्म का गहरा प्रभाव पडा। भोजन सम्बन्धी अनेक प्रतिबन्ध स्पष्ट होने लगे, व्यवसाय अधिकाधिक आनुवशिक होते गए, विशुद्धता एव पवित्रता को दृष्टि म रखकर कम आयु मे विवाह करना अच्छा समझा गया तथा अन्तर्विवाह एव अनुलोम विवाह सम्बन्धी नियमो का काफी प्रचार किया गया। स्पष्ट है कि इस काल मे जाति-व्यवस्था हिन्दू सामाजिक सगठन के एक आवश्यक अग के रूप म स्वीकार कर ली गई तथा इसे बनाए रखने के लिए अनेक सामाजिक, राजनैतिक एवं धार्मिक आदर्शों की रचना की गई।

४. मध्य काल (Medieval Period)

(११वी शताब्दी से १७वी शताब्दी तक)

११वी शताब्दी के अन्तिम वर्षो मे इस काल का प्रारम्भ हुआ। इस समय निम्न वर्गों का शासन समाप्त हो चुका था, राजपूत राजाओ का आधिपत्य स्थापित हो चुका था, और उन्होने ब्राह्मण-व्यवस्था को पूरी तरह स्वीकार कर लिया था। दूसरी ओर मुसलमानो के आक्रमणकारियो के रूप मे भारत मे आने से धीरे धीरे राजपूत राजाओ की शक्ति क्षीण होती जा रही थी उनका पतन होना जा रहा था। श्री बी० एन० दत्त ने इस सम्बन्ध मे लिखा है कि इस समय भारत म धार्मिक विश्वासो एव कर्मकाण्डो की शक्ति इतनी बढ़ चुकी थी कि एक पृथक् राजनैतिक एकता और सुदृढ शासन जैसी कोई वस्तु नही रह गई थी। इसी कारण मुसलमान सैकडो मीलो की दूरी बिना किसी विरोध के तय करके मन्दिरो को लूट लेते थे।[6] इस काल मे मुसलमानो ने भारत मे अपना साम्राज्य स्थापित किया। वे यहा इस्लाम का प्रचार करना चाहते थे। मुस्लिम शासको ने हिन्दुओ पर 'जजिया' नामक कर लगाया और उन्हे इस्लाम स्वीकार करने के लिए बाध्य किया। मुसलमानो की आक्रमणकारी भावना के कारण इस काल मे जाति के बन्धन स्वत ही कठोर होते गए।

इस समय क्षत्रिय राजाओ एव वैश्यो की शक्ति समाप्त हो जाने से ब्राह्मण, समाज के कर्ता धर्ता बन गए। वे अपने आपको भूपति या भूदेव कहने लगे। देश मे अनेक मन्दिरो का निर्माण हुआ जिनमे अपार धन एकत्र होने लगा। इन मन्दिरो मे ब्राह्मण महन्त के रूप मे कार्य करने लगे। ये मन्दिर धार्मिक जीवन के अतिरिक्त सम्पूर्ण सामाजिक जीवन के केन्द्र भी थे। प्रत्येक महत्त्वपूर्ण कार्य इन मन्दिरो मे ही सम्पन्न होता था। इस तरह मन्दिरो की सहायता से ब्राह्मण सम्पूर्ण हिन्दू समाज के स्वामी बन गए। यह व्यक्त करते हुए केतकर ने लिखा है, "मुसलमानो के हिन्दू राजकुमारो से सत्ता छीन लेने के पश्चात् हिन्दू राजाओ एव सरदारो की प्रतिष्ठा को अत्यधिक क्षति पहुची, परन्तु हिन्दुओ का नेतृत्व नवीन राजनैतिक सत्ता अर्थात् मुस्लिम शासको के हाथ म जाने के बजाय पूर्णत ब्राह्मणो

---

6. B N Dutt, 'Studies in Indian Social Polity', P 263.

के हाथ मे आ गया।"[7] अनेक व्रतो, सस्कारो एव कर्मकाण्डो के माध्यम से ब्राह्मणों की आर्थिक स्थिति को सुदृढ करने का प्रयत्न किया गया। अनजाने ही किसी जीव की हत्या हो जाने पर प्रायश्चित के रूप मे उस जीव के वजन के बराबर सोना ब्राह्मण को दान देना आवश्यक बताया गया।

शक्तिशाली ब्राह्मणो ने वेदो तथा धर्मशास्त्रो के मन्तव्यो को परिवर्तित कर अपनी इच्छानुसार उनकी व्याख्या की। उन्होने जाति-व्यवस्था को और भी सकुचित करने का प्रयत्न किया। जाति के नियमो मे कठोरता आने लगी। अन्तर्विवाह पर जोर दिया गया और अनुलोम विवाहो को समाप्त कर दिया गया। चारो वर्ण अन्तर्वैवाहिक समूह बन गये। जन्म और शुद्धता को विशेष महत्व दिया गया। भोजन सम्बन्धी प्रतिबन्ध भी बढने लगे और कारीगरी का काम करने वाली जातियो को जिनमे सुनार, लुहार, धोबी, बढई, जुलाहा इत्यादि आते है नीचा समझा गया। जातियो मे पवित्रता, अपवित्रता और छुआ-छूत के भाव निर्मित किये गये। इस काल के एक प्रसिद्ध शास्त्रकार माधव ने कहा है कि ब्राह्मण को शूद्र के साथ एक ही घर मे नही रहना चाहिये और न ही एक गाडी म यात्रा करनी चाहिए। एक अन्य शास्त्रकार हेमाद्रि का कथन है कि शूद्र के घर पर अपने हाथ का बनाया हुआ भोजन भी करना ब्राह्मण के लिए अनुचित है, पाप है। आर्थिक परिवर्तनो के कारण लोगो का इस काल मे परम्परागत पेशो के अतिरिक्त अन्य पेशे भी विवशतावश अपनाने पडे। इस काल मे वर्णसकर जातियो की सख्या मे वृद्धि हुई। कमलाकर नामक शास्त्रकार ने कहा है कि जाति समूह अनेक हैं और य वर्ण सकरता से उत्पन्न हुए हैं।

इस काल मे कबीर, नानक, चैतन्य महाप्रभु आदि सन्तो ने ब्राह्मणो द्वारा फैलाये गये आडम्बर, रूढिवादिता छुआछूत इत्यादि का विरोध किया। तेरहवी शताब्दी के प्रारम्भ मे महाराष्ट्र मे नामदेव और तुकाराम नामक प्रसिद्ध शूद्र सन्त हुए। इन लोगो के फलस्वरूप शूद्रो को कुछ अधिकार प्राप्त हुए तथा उनके लिए मोक्ष प्राप्ति का साधन जप बताया गया, लेकिन इस समय तक समाज मे इतनी जडता आ चुकी थी क्योकि इतने गतिहीन एव धर्म-भीरु बन चुके थे कि साधु सतो के सुधार प्रयासो का लोगो पर कोई विशेष प्रभाव नही पडा। इस काल मे जाति की कट्टरता मे और भी अधिक तेजी आई और लोग अधिकाधिक मात्रा मे रूढिवादी एव अन्धविश्वासी बनते गये। वास्तव मे, इस समय तक जाति व्यवस्था हिन्दुओ के सामाजिक जीवन का एकमात्र आधार बन चुकी थी। हिन्दू स्त्रियो की सतीत्व रक्षा, मुसलमानो के साथ उनके विवाह रोकने एव रक्त शुद्धता को बनाये रखने के लिये एक ओर तो बाल विवाहो का प्रचलन हुआ, सती प्रथा को प्रोत्साहित किया गया एव दूसरी ओर स्त्रियो की गतिशीलता पर रोक लगाई गई, पर्दा प्रथा को बढावा दिया गया। विधवा-विवाह पर अनेक कठोर प्रतिबन्ध लगा दिये गये। इस प्रकार हिन्दू समाज जातिगत

---

7 "After the overthrow of the Hindu pr nces by the Muhammedans the Hindu princes and chiefs lost a good deal of their prestige but the leadership of the Hindus instead of passing in to the new political authority, namely Muhammedan rulers passed atmost entirely to the Brahmans S V Ketkar "A Essay on Hinduism" P. 149

सकीर्णता और रूढ़ियो मे जकड गया। विदेशी हम पर दिन-प्रतिदिन आक्रमण करके अपना साम्राज्य विस्तार करने मे सफल होते जा रहे थे और हम लोग जातिगत नियमो एव निषेधो का पालन करने मे ही अपने कर्त्तव्य की पूर्ति समझ बैठे थे।

५. आधुनिक काल (Modern Period)

(१८वी शताब्दी से प्रारम्भ)

भारत मे ब्रिटिश साम्राज्य के स्थापित होने के पश्चात् जाति-व्यवस्था मे अनेक परिवर्तन हुये। ब्रिटिश काल मे उन उपजातियो मे स्थायित्व आ गया जिनकी रचना मध्यकाल मे हुई थी। इस काल मे उपजातियो की सख्या मे भी वृद्धि हुई। भारत मे आने पर अग्रेजो ने देखा कि भारतीय समाज पर ब्राह्मणो का अत्यधिक प्रभाव है। अत उन्होने ब्राह्मणो की सहायता से अपना शासन सुदृढ बनाने की कोशिश की। उन्होने ब्राह्मणो को उच्च आय वाले पदो पर नियुक्त किया और ब्राह्मणो ने सार्वजनिक प्रशासन के प्रत्येक क्षेत्र मे अपने को अनिवार्य बना दिया। इस समय ब्राह्मण पूर्ण शक्ति सम्पन्न हो गये। नर्मदेश्वर प्रसाद ने लिखा है, "ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत ब्राह्मणवाद अत्यधिक सुरक्षित हो गया।"[8]

ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने मन्दिरो को काफी प्रोत्साहन दिया क्योकि ये कम्पनी की आय के अच्छे साधन थे। इन मन्दिरो ने ब्राह्मणवाद एव जाति व्यवस्था के विकास मे अत्यधिक सहयोग दिया। इस काल के कई सुधारवादी आन्दोलन असफल रहे क्योकि ब्राह्मणवाद को ब्रिटिश शासन का सरक्षण प्राप्त था। इसके अतिरिक्त अग्रेजी शासन काल मे कानून के हिन्दू धर्म ग्रन्थो पर आधारित होने के कारण ब्राह्मणो से उनकी व्याख्या करवाई जाती थी। सन् १७६७ ई० मे ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने जातीय अदालतो की स्थापना की जिन्हे हिन्दुओ के सामाजिक और पारिवारिक जीवन मे हस्तक्षेप करने के अधिकार दिये गये। हिन्दू इन अदालतो से बहुत डरते थे क्योकि इनके द्वारा दिये गये विरुद्ध फैसले का अर्थ था, व्यक्ति की सामाजिक मृत्यु।[9] इन सबका परिणाम यह हुआ कि जाति व्यवस्था, जिस पर ब्राह्मणो का सामाजिक एव धार्मिक प्रभुत्व आधारित था, अत्यन्त शक्तिशाली होती गई।

लेकिन ब्रिटिश सरकार ने धीरे-धीरे भारतीयो के सामाजिक एव धार्मिक जीवन मे रुचि लेना बन्द कर दिया। विज्ञान तथा दर्शन का विकास होने लगा और ब्राह्मण पण्डितो एव पुजारियो का प्रभाव कम होने लगा। पिछले चार कालो मे जाति-व्यवस्था मे जो परिवर्तन हुए, वे इतने महत्वपूर्ण एव क्रान्तिकारी नही थे जितने आधुनिक काल मे हुये परिवर्तन। इस काल मे एक ओर हिन्दू समाज पर एकेश्वरवादी ईसाई धर्म का प्रभाव पडा और दूसरी ओर देश की नवीन पूजीवादी आर्थिक और धर्म निरपेक्ष राजनीतिक व्यवस्था का। ईसाई धर्म के प्रभाव के कारण जाति व्यवस्था के विरोध मे अनेक सुधारवादी आन्दोलन उठ खडे हुये। ब्रह्म समाज, आर्य समाज एव प्रार्थना समाज इत्यादि ने जातीय आधार पर पाए जाने वाले भेद-भाव के विरुद्ध आवाज उठाई और गुण तथा कर्म पर आधारित वर्ण-व्यवस्था को स्वीकार कर, उसी का प्रचार प्रारम्भ किया। सुधारवादी आन्दोलनो के कारण शूद्रो की

---

8 'Brahmanism got fortified under the British rule" N. Prasad "The myth of the caste system' P 91

9 Ibid, P 84

स्थिति मे काफी सुधार हुआ। स्वामी विवेकानन्द ने कहा—"ईश्वर-प्रेम से जाति के बन्धन समाप्त हो जाते हैं तथा भक्ति के बल से अछूत भी श्रेष्ठ एव शुद्ध बन जाते हैं।" इन सुधार आन्दोलनो के कारण इतना अवश्य हुआ कि समय समय पर अनेक अधिनियम पारित हुए जिन्होने सती प्रथा एव बाल विवाह को बन्द करने और अन्तर्जातीय विवाहो को प्रोत्साहित करने मे योग दिया।

२० वी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे जाति व्यवस्था के आधारभूत सिद्धान्तो का विरोध प्रारम्भ हुआ। इस दिशा म गोपालकृष्ण गोखले, लोकमान्य तिलक, रानाडे तथा महात्मा गाँधी के प्रयास उल्लेखनीय हैं। अछूतो को हिन्दू समाज का अभिन्न अग माना गया। स्वतन्त्रता-प्राप्ति हेतु राष्ट्रीय काग्रेस के नेतृत्व मे चल रहे आन्दोलन मे विभिन्न जातियो के व्यक्तियो को एकसाथ काम करने का अवसर मिला। वे एकसाथ जेलो मे गये तथा एक-दूसरे के निकट सम्पर्क मे आए। इसी अवसर पर एक प्रमुख नेता श्री लाठे ने कहा—"जातियो की सकुचित तानाशाही के दिन अब फिर गए, और उन्हे लौटाया नहीं जा सकता और न ही लौटाया जाना चाहिए। राज्य मे जो लोग सकीर्ण जातिगत अभिमान को प्रोत्साहित करते हैं—वे जनता और देश के सबसे बडे शत्रु हैं।"[10] इस काल म अनेक कारको के फलस्वरूप देश मे ऐसा वातावरण तैयार हुआ जिसने जाति-व्यवस्था मे तेजी से परिवर्तन लाने म महत्त्वपूर्ण योग दिया। यहाँ हम उन कारको पर विचार करेंगे जो निम्न-लिखित हैं —

जाति-व्यवस्था में परिवर्तन लाने वाले कारक
(Factors Responsible for Change in Caste System)

(१) पाश्चात्य शिक्षा एव बढता हुआ ज्ञान (Western Education and Growing Knowledge) —अग्रेजो के आगमन के पूर्व भारतीय शिक्षा का सगठन ब्राह्मणो के हाथ मे था और उच्च जातियो के अतिरिक्त अन्य जातियो के लोग १६ वी शताब्दी तक शिक्षण सस्थाओ मे शिक्षा भी प्राप्त नही करते थे। अधिकाश व्यक्ति अपने परम्परागत पेशे करते थे जिनकी शिक्षा उन्हे अपने परिवारो म ही प्राप्त हो जाती थी। पाठशालाओ मे दी जाने वाली शिक्षा मूल रूप स धार्मिक थी जिसने जाति व्यवस्था के कार्यों मे सदैव योग दिया। लेकिन अग्रेजो ने भारत मे धर्म निरपेक्ष (Secular) शिक्षा प्राप्त की जिसकी सहायता से ज्ञान म वृद्धि हुई विद्यार्थियो के दिमाग से रूढिवादिता और धर्मान्धता दूर होने लगी और समानता, बन्धुत्व एव स्वतन्त्रता की विचारधारा का प्रादुर्भाव हुआ। इसके अतिरिक्त वैज्ञानिक शिक्षा तथा विज्ञान के प्रभाव से व्यक्ति म तार्किक दृष्टिकोण का विकास हुआ, अनेक अन्धविश्वास दूर हुये और जाति-व्यवस्था की जडें खोखली होने लगी।

(२) पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव (Impact of Western Civilization) —पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव से भारतीय जाति-व्यवस्था मे अनेक परिवर्तन हुए। पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव से यहा व्यक्तिवाद, भौतिकवाद एव उदारवाद से सम्बन्धित विचारो का प्रसार होने लगा। व्यक्तिवाद के प्रसार के कारण जातीय भावना को ठेस पहुची और व्यक्ति पर से जाति का नियन्त्रण कम होने लगा। भौतिकवाद के प्रसार से जाति के स्थान पर धन का महत्त्व बढा। व्यक्ति अपने जातिगत पेशे छोडकर उन कार्यों को करने लगा जिनसे

---

10 A, B Lathe, Quoted by G S Ghurye, 'Caste, Class and Occupation," P 312,

उसे अधिक धन प्राप्त हो। अब जाति के बजाय धन के आधार पर व्यक्ति को सम्मान प्राप्त होने लगा। प्रेम, रोमांस और व्यक्ति-स्वातंत्र्य का महत्त्व बढने लगा जिसके फलस्वरूप अन्तर्जातीय विवाहों को प्रोत्साहन मिला। शिक्षित भारतीयो के रहन-सहन, खान-पान और वेश भूषा मे समानता आने लगी। इन परिवर्तनो का फल यह हुआ कि जाति-व्यवस्था के बन्धन ढीले पडने लगे।

(३) आधुनिक आवागमन एव सन्देशवाहन के साधनों का प्रभाव (Impact of Modern means of Transport and Communication) —आधुनिक आवागमन एव सन्देशवाहन के साधनो मे उन्नति होने से अनेक नवीन उद्योगों, व्यवसायो एव कारखानो की उत्पत्ति हुई। इससे विभिन्न धर्मों, जातियो एव प्रदेशो के लोगो को एक-दूसरे के सम्पर्क मे आने तथा विचार-विनिमय करने का अवसर प्राप्त हुआ। उनमें समानता की भावना का बीजारोपण हुआ और सकुचित जातीय भावना कम हुई। इसके अलावा रेलो, बसो, ट्रामो इत्यादि मे विभिन्न जातियो के लोग एकसाथ यात्रा करते तथा जाति-पाँति या छुआ-छूत पर ध्यान दिए बिना वही एक-दूसरे के निकट बैठे हुए खाते-पीते हैं। इससे खाने-पीने के बन्धन एव छुआछूत के विचार कमजोर पडते जा रहे हैं। साथ ही इन साधनों ने व्यक्ति की गतिशीलता मे वृद्धि की है। आज गतिशीलता के कारण जाति-बहिष्कार व्यक्ति के लिए भय का कारण नही है, आज वह अपने जातीय-समूह द्वारा की जाने वाली निन्दा अथवा आलोचना की भी चिन्ता नही करता। वह किसी भी स्थान पर जाकर किसी भी व्यवसाय को अपना सकता है। इस प्रकार गतिशीलता के कारण जाति की नियन्त्रण-शक्ति काफी कम हो गई है।

(४) नवीन आर्थिक व्यवस्था (New Economic System) :—भारतीय जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक जाति के वशानुगत पेशे रहे हैं। अपने-अपने पेशो के अनुसार विभिन्न जातियाँ एक-दूसरे की सेवा करती रही हैं। भारतीय मुद्रा-रहित अर्थ-व्यवस्था ने सेवाओ को यथावत् बनाये रखा और सेवाओ तथा वस्तुओ का आदान-प्रदान होता रहा, लेकिन ब्रिटिश सरकार ने भारतीय अर्थ-व्यवस्था मे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन ला दिए जिससे ऐसी आर्थिक परिस्थितियो का जन्म हुआ जिन्होने जाति-व्यवस्था को अधिक प्रभावित किया। जाति-व्यवस्था को प्रश्रय देने वाले कारको मे कृषि पर आधारित भारतीय अर्थ-व्यवस्था और ग्रामीण सहकामी समुदाय प्रणाली मुख्य है, लेकिन अग्रेजो के राज्यकाल मे पूँजीवादी व्यवस्था के विकास तथा औद्योगीकरण ने इन कारको को ही समाप्त कर दिया। ऐसी दशा में जाति-व्यवस्था मे शिथिलता आने लगी।

अग्रेजो के शासन-काल मे, आत्म-निर्भर भारतीय ग्राम अधिक समय तक अपनी ऐसी स्थिति बनाये नहीं रख सके। ग्रामो की आत्म-निर्भरता समाप्त हो गई और वे राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के अग बन गए। साथ ही, मुद्रा-व्यवस्था के विकास के कारण वशानुगत पेशो के आधार पर पाई जाने वाली जजमानी प्रथा, जिसके अनुसार विभिन्न जातियाँ एक-दूसरे की सेवा करती थी, समाप्त होने लगी। मुद्रा-व्यवस्था ने धन का महत्त्व बढ़ा दिया। समाज मे धनी व्यक्ति का सम्मान होने लगा चाहे वह किसी भी जाति का क्यो न हो। अर्थ-व्यवस्था के कारण व्यक्तियों को धन कमाने के अवसर प्राप्त हुए। जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत जिन्हें निम्न समझा जाता था उन्हे भी धन के आधार पर सम्मान प्राप्त होने लगा।

इस समय भारतवर्ष में पूंजीवादी व्यवस्था के परिणामस्वरूप औद्योगीकरण प्रारम्भ हुआ। इसके कारण कई प्रकार के व्यवसाय तथा कल-कारखाने स्थापित हुए। इन मिलों-कारखानों में विभिन्न जातियों के लोग एकसाथ काम करने लगे। इनमें जाति-व्यवस्था के आधार पर श्रम या पेशों का विभाजन सम्भव नहीं था। मिलों में काम करने वाले ये लोग एक साथ उठते-बैठते, खाते-पीते तथा मनोरञ्जनात्मक कार्यक्रमों में भाग लेते। इन सब कारणों से उनमें समानता एवं एकता की भावना का विकास हुआ और जाति-व्यवस्था निर्बल होने लगी।

(५) नवीन पेशों का प्रभाव (Impact of New Occupations) —जाति और पेशों के बीच सदैव सम्बन्ध रहा है, लेकिन पूंजीवादी व्यवस्था और इसके साथ ही विकसित होने वाले औद्योगीकरण तथा नागरीकरण ने अनेक नवीन पेशों को जन्म दिया। इसके अलावा प्रशासन सम्बन्धी कार्यों के लिए अनेक भारतीयों को नियुक्त किया गया। प्रत्येक जाति के व्यक्ति को अपनी व्यक्तिगत क्षमता तथा शिक्षा के आधार पर पेशे अपनाने का अवसर प्राप्त हुआ। अब वे डाक्टर, इन्जीनियर, वकील, अध्यापक आदि के रूप में कार्य करने लगे। विभिन्न जातियों के व्यक्तियों को अपने वंशानुगत पेशे छोड़कर नवीन पेशे अपनाने का मौका मिला। पेशों को जातीय परम्पराओं के अनुसार किसी जाति के साथ जोड़ना सम्भव नहीं था। इन सबका फल यह हुआ कि जाति और पेशे के बीच पाया जाने वाला सम्बन्ध कमजोर पड़ गया। यद्यपि गांवों में आज भी जाति और पेशे में सम्बन्ध पाया जाता है, किन्तु नगरों में वह प्रायः समाप्त हो चुका है।

(६) नगरीकरण का प्रभाव (Impact of Urbanization) —औद्योगीकरण तथा अन्य कई कारणों से नगरों की जनसंख्या में आश्चर्यजनक वृद्धि हुई। नगरों में देश के भिन्न-भिन्न भागों तथा जातियों के व्यक्ति पाये जाते हैं। ये नगर काफी विस्तृत क्षेत्र में फैले होते हैं। नगरों में विभिन्न संस्कृतियों एवं जातियों के व्यक्तियों को एक-दूसरे के सम्पर्क में आने का अवसर मिला है। मिलों, दफ्तरों, स्कूलों तथा अन्य क्षेत्रों में अनेक जातियों के व्यक्तियों को साथ-साथ कार्य करना पड़ता है। उन्हें रेलों, बसों, ट्रामों आदि में एकसाथ बैठना पड़ता है। एक ही मोहल्ले तथा कभी-कभी एक ही भवन में कई जातियों के लोग साथ-साथ रहते पाए जाते हैं। सिनेमा, होटल, क्लब, सामाजिक उत्सव आदि में लोग जातिगत भेद न रखकर साथ-साथ उठते-बैठते तथा खाते-पीते हैं। इन सब परिवर्तनों के कारण जातिगत भेद या ऊंच-नीच की भावना कम हुई है। नगरों में व्यक्ति जाति के नियमों एवं प्रतिबन्धों की चिन्ता नहीं करता। साथ ही यहाँ औद्योगीकरण तथा व्यावसायिक उन्नति के कारण धनी व्यक्तियों का महत्त्व बढ़ गया है। चाहे व्यक्ति किसी भी जाति का क्यों न हो, यदि वह धनी है तो समाज में उसका सम्मान है। स्पष्ट है कि नागरीकरण के फलस्वरूप जाति-व्यवस्था की दृढ़ता समाप्त होती जा रही है।

(७) नवीन सामाजिक समूहों का जन्म (Origin of New Social Groups) —नए व्यवसायों, राजनैतिक कार्यों, शिक्षा, धन इत्यादि के आधार पर वर्तमान में अनेक नवीन सामाजिक समूहों का निर्माण हुआ है। आवागमन एवं सन्देशवाहन के साधनों ने इस कार्य में काफी सहयोग दिया है। कई प्रकार की आर्थिक समस्याओं तथा सामान्य हितों के कारण एक ओर मजदूरों ने मजदूर-संघ बनाए तो दूसरी ओर उद्योगपतियों ने भी अपने एसोसियेशन बनाए। साथ ही डाक्टरों, वकीलों और अन्य नौकरी-पेशों में लगे हुए व्यक्तियों

के अनेक क्लब तथा व्यावसायिक संघ बने। इन समूहों में जातीय हितों की बजाय वर्गीय हितों का ध्यान रखा जाता है। इनमें जाति-चेतना नहीं बल्कि वर्ग चेतना पाई जाती है। सामान्य हितों के आधार पर बने ये वर्गीय संगठन सारे देश में फैले हुए हैं, जिनमें विभिन्न जातियों के व्यक्ति पाए जाते हैं। इन नवीन समूहों ने जातियों के महत्त्व को कम किया है।

(८) धार्मिक आन्दोलन (Religious Movements) —ईसाई धर्म के प्रभाव के कारण जाति-व्यवस्था के विरोध में राजा राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन, रानाडे तथा स्वामी दयानन्द सरस्वती के प्रयत्नों से अनेक सुधारवादी आन्दोलन प्रारम्भ हुए। ऐसे आन्दोलनों में ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज तथा आर्य समाज मुख्य हैं। इन संगठनों ने जाति-व्यवस्था के विरोध में आवाज उठाई तथा जाति-पाँति के भेद-भाव, छुआछूत और ब्राह्मणवाद का कड़ा विरोध किया। जहाँ ब्रह्म समाज और प्रार्थना समाज ने समानता को महत्त्व देते हुए तार्किक आधारों पर जाति-व्यवस्था का विरोध किया वहाँ आर्य-समाज ने धार्मिक आधार पर। यद्यपि ये आन्दोलन जाति-व्यवस्था को समाप्त करने में सफल नहीं हो सके, परन्तु फिर भी इनके परिणामस्वरूप अन्तर्जातीय विवाहों को प्रोत्साहन मिला, खान-पान सम्बन्धी निषेधों में भी कुछ शिथिलता आई तथा देश में जाति-व्यवस्था विरोधी वातावरण की सृष्टि हुई।

(९) राजनीतिक आन्दोलन (Political Movement) —भारत में ब्रिटिश शासन को समाप्त करने के उद्देश्य से राजनीतिक आन्दोलन संगठित किया गया। इस आन्दोलन ने विभिन्न जातियों को एक-दूसरे के निकट आने का अवसर दिया। महात्मा गाधी के नेतृत्व में विभिन्न भाषा-भाषी, धर्म और जाति के लोगों ने कन्धे से कन्धा मिलाकर देश के स्वातन्त्र्य-संग्राम में भाग लिया, सत्याग्रह किया तथा जेलों में गए। इस राजनीतिक आन्दोलन में भाग लेने वाले व्यक्तियों में जाति-पाँति, छुआछूत या ऊँच-नीच की भावना के पाए जाने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। इसके अतिरिक्त महात्मा गाधी द्वारा चलाए गए हरिजन आन्दोलन के अन्तर्गत अस्पृश्यता को समाप्त करने और हरिजनों की धार्मिक तथा आर्थिक दशा सुधारने के लिए विशेष प्रयत्न किए गए। इस प्रकार, राजनीतिक आन्दोलन ने छुआछूत के भेदों को दूर करने में योग दिया।

(१०) सामाजिक आन्दोलन (Social Movements) —जाति व्यवस्था को परिवर्तित करने में सामाजिक आन्दोलनों ने भी योग दिया है। सामाजिक आन्दोलनों के अन्तर्गत महिला आन्दोलन का विशेष महत्त्व रहा है। महिला आन्दोलन के कारण स्त्रियों में शिक्षा का प्रचार हुआ, उन्हें अनेक सामाजिक एवं राजनीतिक अधिकार प्राप्त हुए। पर्दा प्रथा के समाप्त होने से वे न केवल स्कूलों एवं कॉलिजों में ही जाने लगीं बल्कि राजनीतिक तथा सामाजिक आन्दोलनों में भी पुरुषों के साथ भाग लेने लगीं। यही नहीं, दफ्तरों, मिलों, शिक्षण संस्थाओं तथा अन्य क्षेत्रों में भी स्त्रियाँ पुरुषों के साथ काम करने लगीं। इसका परिणाम यह हुआ कि विभिन्न जातियों के स्त्री-पुरुषों को एक-दूसरे के सम्पर्क में आने का अवसर मिला। इससे उन्हें देर से विवाह करने का प्रोत्साहन मिला, यद्यपि इस कार्य में पाश्चात्य सामाजिक मूल्यों का भी योग रहा है। इन विवाहों तथा परिवर्तनों के कारण जातीय बन्धनों में भी शिथिलता आई है।

(११) प्रजातन्त्रीय प्रणाली का प्रभाव (Impact of Democratic System) —पाश्चात्य प्रभाव के कारण प्रजातन्त्रीय सिद्धान्तों का देश में प्रचार हुआ। प्रजातन्त्रीय

प्रणाली स्वतन्त्रता, समानता और विश्व-बन्धुत्व के सिद्धातो पर आधारित है जबकि जाति-व्यवस्था भेदभाव, असमानता और धार्मिक कट्टरता पर। आज अनेक कारकों के अतिरिक्त प्रजातन्त्रीय मूल्यो के प्रसार के कारण लोग जातिगत भेदभाव या ऊंच-नीच के विचारो को अनुचित समझने लगे हैं तथा जाति-व्यवस्था को स्वस्थ राष्ट्रीयता के विकास मे बाधा मानने लगे हैं।

(१२) **कानूनों का प्रभाव (Effect of Laws)**—हिन्दू शास्त्रकारो द्वारा निर्मित हिन्दू कानून-व्यवस्था मे ऊंच-नीच के भेद को स्वीकार किया गया था। जातीय पंचायतें समान अपराधों के लिए विभिन्न जातियो के व्यक्तियो को असमान दण्ड देती थी, लेकिन अंग्रेजो द्वारा बनाए गए कानूनो मे ऊंच-नीच के भेद को स्वीकार नहीं किया गया तथा कानून के समक्ष सभी जातियों को समान समझा गया। भारतीय-दण्ड-संहिता की रचना की गई तथा उसे लागू करने का कार्य पुलिस तथा न्यायालयो को सौंपा गया। यही नही बल्कि अंग्रेजों द्वारा बनाए गए नवीन कानूनो ने जाति-पंचायतो के क्षेत्र को और भी संकुचित कर दिया। इसका फल यह हुआ कि जातीय पंचायतो के सब अधिकार समाप्त हो गए और उनका महत्त्व भी धीरे-धीरे कम होता गया।

जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत यहा जाति-अन्तर्विवाह का नियम प्रचलित रहा है, लेकिन ब्रिटिश शासन-काल मे कानून द्वारा इसे समाप्त करने का प्रयत्न किया गया। १८७२ ई० मे 'विशेष विवाह अधिनियम' पारित करके अंग्रेजी भारत में अन्तर्जातीय विवाहो (Inter-caste Marriages) को स्वीकृति प्रदान की गई, लेकिन यह अधिनियम जाति-अन्तर्विवाह की प्रथा को समाप्त नही कर सका क्योकि इसके अनुसार विवाह करने वालो को अपना धर्म-परिवर्तन करना पडता था। सन् १९३७ मे 'आर्य विवाह वैधकरण अधिनियम' पास किया गया। इसके अनुसार, दो आर्य समाजियो को विवाह करने की अनुमति प्रदान की गई, चाहे विवाह के पूर्व वे भिन्न जातियो, उपजातियो या धर्मों से सम्बन्धित रहे हो।

स्वतन्त्र भारत मे १९४९ मे 'हिन्दू विवाह वैधकरण अधिनियम' पारित किया गया। इसके अनुसार, विभिन्न धर्मों, जातियो तथा उप-जातियो के व्यक्तियो के बीच होने वाले विवाहो को मान्यता प्रदान कर दी गई। सन् १९५४ मे पारित 'विशेष विवाह अधिनियम' (जो १८७२ ई० के विशेष विवाह अधिनियम का ही विस्तृत रूप है) के द्वारा अन्तर्जातीय विवाहों की वैधानिक अड़चनो को दूर कर दिया गया। सन् १९५५ मे 'हिन्दू विवाह अधिनियम' पारित किया गया जो जातीय प्रतिबन्धो के प्रतिकूल था तथा जिसके अनुसार विवाह सम्बन्धी अनेक प्रतिबंध समाप्त कर दिए गए। विवाह से सम्बन्धित इन अधिनियमो के अतिरिक्त सन् १९५५ मे 'अस्पृश्यता अपराध अधिनियम' पारित किया गया। इसके द्वारा हरिजनो की सभी निर्योग्यताओ को दूर कर, अस्पृश्यता को कानूनी आधार पर समाप्त करने का प्रयत्न किया गया। भारतीय संविधान के अनुच्छेद १५ के अनुसार राज्य किसी नागरिक के विरुद्ध केवल धर्म, मूल वंश, जाति, लिंग, जन्म स्थान अथवा इनमे से किसी के आधार पर कोई विभेद नही करेगा। अनुच्छेद १७ के अनुसार अस्पृश्यता को समाप्त कर दिया गया है और अनुच्छेद २५, २९, ३८ तथा ४६ के द्वारा उनकी निर्योग्यताओ को दूर कर, उन्हें अनेक सुविधाएं प्रदान की गई हैं। इन समस्त कानूनो के फलस्वरूप जाति-व्यवस्था में काफी शिथिलता आई है।

धर्म ने जाति को स्थायित्व प्रदान करने मे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। आज धर्म का रूढिवादी रूप तेजी से परिवर्तित हो रहा है। जातिगत रूढियों का पालन ही आज धर्म नही रह गया है, अब वैज्ञानिक दृष्टिकोण से धर्म की विवेचना की जाने लगी है। आज धर्म का सम्बन्ध कर्त्तव्य-पालन तथा मानवतावादी दृष्टिकोण अपनाने से है। रूढिवादी धर्म के ह्रास ने जाति-व्यवस्था के प्रभाव को कम किया है। इस प्रकार, जाति-व्यवस्था मे परिवर्तन लाने मे अनेक कारको का योग रहा है।

भारतीय जाति-व्यवस्था मे वर्तमान परिवर्तन या इसकी वर्तमान अवस्था (Recent Changes in Caste System or Its Present Position) :

उपर्युक्त कारको के परिणामस्वरूप जाति-व्यवस्था मे अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। अंग्रेजी शासन-काल मे तथा स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक एव सास्कृतिक क्षेत्र मे होने वाले विभिन्न परिवर्तनो ने एक ओर विभिन्न जातियो की स्थिति और कार्यों को प्रभावित किया है तो दूसरी ओर जाति-व्यवस्था से सम्बन्धित अनेक प्रतिबन्धो को शिथिल किया है। एक ओर जाति की सरचना मे, तो दूसरी ओर जातिगत निषेधो एव मनोवृत्ति मे परिवर्तन हुए हैं। तात्पर्य यह है कि वर्तमान मे जाति व्यवस्था के सरचनात्मक एव सस्थात्मक या सांस्कृतिक-दोनो ही पक्षो मे अनेक परिवर्तन स्पष्ट हो रहे हैं। यहा इन्ही परिवर्तनो पर प्रकाश डाला जाएगा ताकि इसकी वर्तमान परिवर्तित अवस्था को समझा जा सके। ये परिवर्तन निम्नलिखित है —

(१) ब्राह्मणों की स्थिति में गिरावट (Decline in the Status of Brahmins) :— भारतीय जाति-सरचना मे ब्राह्मणो की स्थिति सदैव से सर्वश्रेष्ठ रही है और आज भी ब्राह्मण जाति की स्थिति अन्य जातियो के ऊपर ही है, परन्तु अब सामाजिक एव राजनीतिक क्षेत्र मे उनका वह महत्त्व नही रह गया जो पहले था। वर्तमान मे समाज मे राजनीतिक, आर्थिक एव शैक्षणिक शक्ति का महत्त्व होने के कारण इन शक्तियो से युक्त व्यक्तियो की स्थिति ही उच्च है, चाहे वे किसी भी जाति के क्यों न हो। आज सामाजिक स्थिति के निर्धारण मे जन्म अथवा जाति का महत्त्व कम और सम्पत्ति, सत्ता एव शैक्षणिक योग्यता का महत्त्व बढता जा रहा है। आज निम्न जाति का व्यक्ति भी अपनी योग्यता बढा कर उच्च पद प्राप्त कर लेता है और उच्च जातियो के अनेक व्यक्तियो को उनकी अधीनता मे कार्य करना पडता है। यह सारी परिस्थिति ब्राह्मणो के प्रभुत्व मे ह्रास के लिए उत्तरदायी है। इसके अलावा धार्मिक-क्रियाओं से सम्बन्धित होने के कारण ब्राह्मणों का पुरोहितों के रूप में विशेष महत्त्व रहा है, परन्तु अब नगरो मे धार्मिक क्रियाओ, पूजा-पाठ आदि के महत्त्व के कम होने से ब्राह्मणो की परम्परागत प्रभुता को काफी धक्का लगा है।

(२) जातीय सस्तरण में परिवर्तन (Changes in Caste Hierarchy) – जाति-व्यवस्था की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता विभिन्न जातियो मे उतार-चढाव की एक प्रणाली अथवा सस्तरण (Hierarchy) रही है। जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक जाति की अन्य सभी जातियो की तुलना मे पूर्णत निश्चित स्थिति रही है जिसमे साधारणत किसी प्रकार का कोई परिवर्तन सम्भव नहीं था। स्वयं निम्न जातिया भी उच्च जातियों को अपने से श्रेष्ठ मानती रही हैं, लेकिन वर्तमान मे इस सस्तरण मे काफी परिवर्तन आए हैं। प्रत्येक जातीय समूह ने, विशेष रूप से निम्न जातियो ने, अपने से उच्च जातियो

की जीवन-विधि अपना कर जातीय-सस्तरण मे अपनी सामाजिक स्थिति ऊचा उठाने क प्रयत्न किया है। इस प्रक्रिया को डा० श्रीनिवास ने 'सस्कृताइजेशन' (Sanskritization कहा है—लेकिन जहां जहा सामाजिक सस्तरण मे जातीय समूह की सामाजिक स्थिति क ऊचा उठाने का प्रयास हुआ, वहाँ-वहा जाति विशेप के लोगो म दृढता की भावना मज बूत हुई है। यह बात सही है कि धार्मिक अथवा सस्कारात्मक क्षेत्र मे आज भी परम्परागत सस्तरण को महत्त्व दिया जाता है, लेकिन राजनैतिक, आर्थिक तथा सामाजिक क्षेत्र केवल उच्च जाति से सम्बन्धित होने के कारण उनका प्रभुत्व अथवा विशेषाधिकार अब नही है। केवल ब्राह्मण मात्र होने से व्यक्ति की प्रभुता और आधिपत्य मानने के लि आज लोग तैयार नही हैं। आज कोई भी जाति अपने को किसी अन्य जाति से नीचा नह मानती है। वर्तमान समय मे व्यक्ति की सामाजिक स्थिति का निर्धारण भी जन्म अथव जाति के आधार पर न होकर उसके गुण, योग्यता, कार्य क्षमता, धन तथा राजनैति शक्ति के आधार पर होता है। ऐसी स्थिति मे जातीय सस्तरण मे परिवर्तन होन स्वाभाविक है। आज व्यक्तिगत स्तर पर जाति-परिवर्तन के उदाहरण भी सामने आने लगे हैं। बाहर से आकर बसने वाले लोग नगरीय क्षेत्रो मे अपने आपको अपरिचितो के ससार मे पाते हैं। इस स्थिति का लाभ उठाकर वे अपने आपको किसी भी अन्य जाति का घोषित कर देते हैं।

(३) अस्पृश्य एव दलित वर्गों की सामाजिक एव धार्मिक निर्योग्यताओं में परिवर्त (Changes in Social & Religious Disabilities of Untouchables and Depressed Classes) —जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत जिन लोगो को अस्पृश्य, दलित अथवा हरिजन होने के कारण अनेक अधिकारो से वचित रखा गया, जिन पर अनेक सामाजिक और धार्मिक निर्योग्यताए लागू की गई, उनकी स्थिति मे आज महत्त्वपूर परिवर्तन हुआ है। इन लोगो की दशा सुधारने के लिए अनेक समाज सुधारको ने महात्मा गाधी तथा डा० अम्बेदकर ने उल्लेखनीय प्रयास किये। भारतीय सविधान द्वार हरिजनो को अन्य लोगो के समान ही राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एव धार्मि अधिकार दिये गये। उनके लिए सरकारी नौकरियो, विधान सभाओ, मन्त्रि-मण्डलो एव लोकसभा मे स्थान सुरक्षित रखे गए तथा उन्हें शिक्षा की विशेष सुविधाएं प्रदान क गई। साथ ही अस्पृश्यता के निवारण हेतु सन् १९५५ ई. मे 'अस्पृश्यता अपराध अधि नियम' (The Untouchability Offences Act 1955) भी पारित किया गया। उन्ह मन्दिरो में प्रवेश का अधिकार तथा सार्वजनिक पूजा के स्थानो पर जाने की आज्ञा दी गई। सब अधिकारो के मिल जाने से इन जातियो की निर्योग्यताए दूर हुई हैं एव सवण तथा अस्पृश्यो के बीच जो विभेद पाया जाता था, वह कम हुआ है। विशेषतः नगरीय क्षेत्रों मे इनकी परम्परागत निर्योग्यताए काफी कम हुई है।

(४) विवाह सम्बन्धी प्रतिबन्धों में परिवर्तन (Changes in Marriage Prohibitions) —जाति-व्यवस्था की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विशेषता अन्तर्विवाह (Endogamy) की नीति रही है। यहा सप्रवर एव सगोत्र विवाह सम्बन्धी निषेध भी पाए जाते रहे हैं विधवा-पुनर्विवाह पर नियन्त्रण, बाल-विवाह एव कुलीन विवाहो का यहां प्रचलन रहा है। वर्तमान मे, विवाह से सम्बन्धित इन मान्यताओ मे काफी परिवर्तन आ रहा है। आधुनिक काल मे सह शिक्षा एव स्त्री-पुरुषो के साथ-साथ काम करने से उन्हे एक-दूसर

के निकट आने का मौका मिला है, उनका आपस में सम्पर्क बढा है। उनमे प्रगतिशील विचारो का प्रसार हुआ है तथा उनके सामाजिक मूल्यो मे भी परिवर्तन आया है। इसके अतिरिक्त विवाह के सम्बन्ध मे उन्हें अनेक कानूनी सुविधाए प्राप्त हो चुकी हैं। इन सबके परिणामस्वरूप प्रेम-विवाह, विलम्ब विवाह एव अन्तर्जातीय विवाह की प्रवृत्ति बढती जा रही है, गौत्र, प्रवर एव पिण्ड जैसी धारणाओ मे लोगो का पहले जैसा विश्वास नही रहा है। आज विवाह-विच्छेद के सम्बन्ध मे भी उदारवादी दृष्टिकोण विकसित होता जा रहा है। वर्तमान समय मे अन्तर्जातीय विवाहो को कानूनी मान्यता प्राप्त है लेकिन जाति की अन्तर्विवाह सम्बन्धी विशेषता जिस पर जाति का अस्तित्व निर्भर करता है, आज भी विद्यमान है। आज भी कुछ अपवादों को छोडकर अधिकाश लोग अपने ही जातीय समूह मे वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करते हैं। इतना अवश्य है कि अन्तर्जातीय विवाहो के प्रति लोगो मे उदारवादी दृष्टिकोण का विकास होता जा रहा है।

(५) **पेशे के चुनाव में स्वतन्त्रता** (Freedom in Selection of Profession) – अधिकाश जातियो के निश्चित परम्परागत पेशे रहे हैं जो पीढी दर-पीढी हस्तान्तरित होते रहे हैं। ब्रिटिश-काल मे अनेक नवीन पेशो का जन्म हुआ जिनका विभिन्न जातियो में विभाजन करना असम्भव था। आज व्यक्ति अपनी इच्छा एव योग्यतानुसार किसी भी पेशे को अपना सकता है, शिक्षा द्वारा योग्यता बढा कर किसी ऊँचे से ऊँचे पद को प्राप्त कर सकता है, नगरो मे इस प्रकार के बहुत-से उदाहरण दिखाई पडते है। यहा 'शर्मा ब्रू कपनी', 'चतुर्वेदी टेलरिंग हाउस,' 'त्रिपाठी लाउण्ड्री' आदि व्यावसायिक फर्में मिलती हैं और अनेक निम्न जातियों के व्यक्ति उच्च पदो पर कार्य करते हुये भी पाए जाते हैं, परन्तु इतना अवश्य है कि आज भी पौरोहित्य ब्राह्मणो के द्वारा और गन्दगी उठाने का पेशा हरिजनो या अछूतो के द्वारा ही किया जाता है। अन्य जाति के लोग अब भी इन पेशो को नहीं अपना रहे है और न ही भविष्य मे ऐसी सम्भावना है। इसका कारण यह है कि पौरोहित्य को आजकल बहुत अच्छा पेशा नही समझा जाता, स्वय पुरोहितो के लडके अब नौकरी एव व्यवसाय करने लगे हैं और हरिजनो या अछूतो के गन्दगी उठाने के पेशे को उच्च जातियों के लोगो द्वारा अपनाने का तो प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। व्यावसायिक क्षेत्र मे गतिशीलता बढ़ने से विभिन्न जातियो के लोगो को समान आर्थिक अवसर मिलने लगे हैं एव जाति का व्यावसायिक आधार कमजोर होता जा रहा है।

भूमि के स्थान पर मुद्रा के आर्थिक जीवन का आधार बन जाने से शूद्रो की स्थिति मे परिवर्तन आया। वे उन पेशों को छोडने लगे हैं जिनके करने से उन्हें निम्न स्तर प्राप्त था और अब वे नवीन पेशो को अपनाने लगे हैं। इतना अवश्य है कि आज भी उच्च जातियाँ कुशल पेशो मे हैं जबकि निम्न जातियाँ अकुशल पेशो मे। आज औद्योगीकरण एव नगरीकरण के कारण जाति और पेशे का रहा-सहा सम्बन्ध काफी शिथिल पड गया है, विशेष रूप से नगरीय क्षेत्रों मे, परन्तु ग्रामीण क्षेत्रो में जाति और पेशे की घनिष्ठता आज भी पाई जाती है। डा० योगेश अटल ने राजस्थान और मध्यप्रदेश के दो गावों के अध्ययन के आधार पर बताया है कि ऐसे उदाहरण बिलकुल नहीं मिलते जहां सम्पूर्ण जाति ने अपने परम्परागत व्यवसाय छोड दिये हों।[11]

---

11. Yogesh Atal, "The Changing Frontiers of Caste". P. 246

(६) पेशो के सम्बन्ध में ऊँचाई-निचाई की धारणा में परिवर्तन (Changes in the Concept of Superiority and Inferiority of Occupations) —पवित्रता तथा अपवित्रता की धारणा के आधार पर जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत कुछ पेशो को ऊँचा एव कुछ को नीचा माना गया था, लेकिन आज आर्थिक परिवतनो, विशेष रूप से औद्योगीकरण के कारण, पेशो की ऊँचाई-निचाई नापने के धर्म-निरपेक्ष पैमानो का विकास हुआ है। आज किसी पेशे से प्राप्त होने वाले धन एव सत्ता के आधार पर उस पेशे को ऊँचा एव नीचा माना जाने लगा है। यह बात नवीन पेशो के सम्बन्ध मे अधिक सही है। आज परम्परागत पेशो की बजाय नवीन पेशो का महत्व अधिक बढ़ता जा रहा है ताकि अधिक धन कमाया जा सके और सत्ता प्राप्त की जा सके। इसका कारण यह है कि वर्तमान मे व्यक्ति की सामाजिक स्थिति का निर्धारण भी धन एव सत्ता आदि के आधार पर होने लगा है। इस प्रकार, परिस्थितियो के बदलने तथा नवीन सामाजिक मूल्यो के पनपने से पेशो की ऊँचाई-निचाई नापने के पैमानो मे परिवर्तन आया है। जूते बनाने का बडा कारखाना चलाने वाले उद्योगपतियो के इस काय को हेय दृष्टि से नही देखा जाता चाहे उसकी जाति उच्च ही क्यो न हो, लेकिन पेशो की ऊँचाई-निचाई की धारणा ग्रामीण क्षेत्रो मे आज भी विद्यमान है। नगरीय क्षेत्रो म परिवर्तन अवश्य आया है।

(७) खाने-पीने सम्बन्धी प्रतिबन्धो में शिथिलता (Relaxation in the Restrictions Relating to Food and Drink) —वतमान समय मे शाकाहारी और मांसाहारी भोजन के सम्बन्ध मे पवित्रता या अपवित्रता की धारणा समाप्त हो रही है। आज विभिन्न प्रकार के भोजनो की उपयोगिता उनमे पाये जाने वाले तत्त्वो के आधार पर निश्चित होने लगी है। औद्योगीकरण तथा नगरीकरण के कारण वर्तमान समय मे खान-पीने सम्बन्धी प्रतिबन्धो मे काफी शिथिलता आई है। नगरो मे विभिन्न जातियो, धर्मो तथा प्रदेशो के लोगो के एकसाथ रहने और काम करने से उनम परिचय तथा मित्रता का विकास हुआ है। वे जाति-पाति का ध्यान नही करते हुये एक दूसरे के घर आने जाने और साथ बैठकर घरो, होटलो एव जलपान गृहो मे खाने-पीने लगे हैं। शिक्षा के प्रसार के कारण लोगो मे जीवन के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास हुआ है। पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव से विभिन्न जातियो म सास्कृतिक समानता बढी और भोजन सम्बन्धी धारणा परिवर्तित हुई है। इन सब परिवर्तनो के फलस्वरूप खाने-पीने सम्बन्धी प्रतिबन्धो मे काफी शिथिलता आई है और अनेक जातियो के लोग एक दूसरे के हाथ का बना हुआ भोजन एकसाथ बैठकर करने लगे हैं। यहा तक कि जाति व्यवस्था के अन्तर्गत वर्जित अस्पृश्य लागो के हाथ की बनी हुई वस्तुयें भी लोग खाने-पीने लग हैं।

(८) 'जन्म' के महत्व में कमी (D-cline in the Importance of Birth) —जाति-व्यवस्था का मूल आधार जन्म रहा है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत जन्म के आधार पर व्यक्ति की स्थिति सदैव के लिये निर्धारित होती थी जिसमे किसी भी प्रकार का कोई परिवर्तन सम्भव नही था। ब्राह्मण परिवार मे जन्म लेने वाला व्यक्ति केवल इसलिये श्रेष्ठ और सम्मानित माना जाता रहा है कि उसका जन्म सर्वोच्च जाति मे हुआ है। आज शिक्षा के प्रसार से व्यक्ति की मनोवृत्ति मे परिवर्तन हुआ है। जन्म के आधार पर ही किसी को उच्च एव सम्माननीय तथा किसी को निम्न एव असम्माननीय नही माना जाता। आज जीवन के विभिन्न क्षेत्रो मे सफलता प्राप्त करने वाले योग्य, कुशल एव साहसी व्यक्ति को

श्रेष्ठ माना जाता है चाहे उसकी जाति कोई भी क्यो न हो, चाहे उसका जन्म किसी भी परिवार मे क्यो न हुआ हो। वर्तमान मे जन्म के स्थान पर कर्म का महत्त्व बढने से जाति के मौलिक आधार 'जन्म' की महत्ता मे कमी आई है।

आज बहुत-से शिक्षित लोग जाति की प्रामाणिकता मे ही सन्देह प्रकट करने लगे हैं। वे इसे एक अलौकिक व्यवस्था मानने को तैयार नही, इसका सम्बन्ध धर्म और ईश्वरीय शक्ति के साथ जोडने को प्रस्तुत नही।

(६) जातीय समितियों का निर्माण (Creation of Caste Associations) — जाति-पचायतो के अतिरिक्त वर्तमान मे जाति-समितियो का गठन एक नवीन लक्षण है। आज परम्परागत जाति पचायतें अपने क्षेत्र मे कार्य कर रही हैं तो नवीन जाति-समितिया, परम्परागत जाति-व्यवस्था की बुराइयों को दूर करने मे और समान स्तर की जातियो में एकता स्थापित करने के प्रयत्नो मे लगी हैं। रुडोल्फ एव रुडोल्फ तथा अन्य सामाजिक वैज्ञानिको ने अपने अध्ययनो मे यह पाया कि जाति-समितिया अब भारत की राजनैतिक प्रक्रियाओ में अधिकाधिक महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही हैं, विशेषत विधान-सभाओ और जिला-समितियो के चुनावो मे तथा सरकार द्वारा सचालित सस्थाओ मे पदो के वितरण के मामलो मे। रुडोल्फ एव रुडोल्फ ने बतलाया है कि भारतीय राजनीति मे जाति-समितियाँ उसी प्रकार की भूमिका निभा रही हैं, जैसी यूरोप और अमेरिका की राजनीति मे एच्छिक-समितिया (Voluntary Associations)। इन विद्वानो के अनुसार जाति-समितिया पैराकम्यूनिटीज (Paracommunities) हैं जो जातियो के सदस्यो को सामाजिक गतिशीलता, राजनैतिक शक्ति तथा आर्थिक लाभ प्राप्ति हेतु आगे बढने मे समर्थ बनाती है।[12]

(१०) बदलते हुए सन्दर्भ-समूह (Changing Reference Groups) —डा० सिंह ने बतलाया है कि अब निम्न जातियो मे उच्च जातियो का अनुकरण करने और उनके जीवन की विधि को अपनाने की प्रवृत्ति कम होती जा रही है। इसका कारण सम्मान और शक्ति के बदलते हुये स्रोत हैं। पहले सन्दर्भ अथवा आदर्श के रूप मे ब्राह्मण और क्षत्रिय थे जिनके पास सामाजिक, राजनैतिक और सास्कृतिक शक्ति थी। कार्ल-मैनहीम (Karl Mannheim) के अनुसार स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात 'मौलिक प्रजातन्त्रीकरण' की प्रक्रिया ने उच्च जातियों को सन्दर्भ समूहो के रूप मे स्थिति को चुनौती दी है। डा० सिंह ने बतलाया है कि उदग्र गतिशीलता या सस्कृतिकरण की प्रारम्भिक आकांक्षा का स्थान अब स्वय की जाति के साथ तादात्म्य या एकता स्थापित करने की नवीन भावना या बढती हुई जातीय दृढता ने ले लिया है। जातीय समितिया इसी नवीन प्रवृत्ति का एक अप्रत्यक्ष प्रतिबिम्ब हैं।[13]

(११) बदलते हुए शक्ति-सम्बन्ध (Changing Powar-Relations) —जब प्रजातन्त्रीकरण, सामाजिक सरचना के राजनीतिकरण, भूमि-सुधारो, ग्रामो मे चल रहे विकास-कार्यों तथा नगरों मे औद्योगीकरण के कारण ग्रामीण और नगरीय समुदायो की

---

12 Lloyd I Rudolph and Susanne Hoeber Rudolph, The Modernity of Tradition P. 29

13 Yogendra Singh, Modernization of Indian Tradition, P. 171.

औपचारिक रूप से बन्द व्यवस्थाओ मे कुछ खुलापन आता जा रहा है, तो ऐसी स्थिति मे जातियो का पूर्ववर्ती शक्ति का स्वरूप (Configuration of Power) भी बदल रहा है। योगेन्द्रसिंह ने बतलाया है कि भारत मे जाति-व्यवस्था मे सरचनात्मक परिवर्तन की दृष्टि से यह एक सम्भावित क्षेत्र है।[14] उपर्युक्त कारणो से विभिन्न जातियो के बीच शक्ति-सबध परिवर्तित हो रहे हैं। अनेक अध्ययनो से यह स्पष्ट होता जा रहा है कि ग्रामीण क्षेत्रो मे प्रभुत्व-सम्पन्न जातियो को अन्य जातियो की नवीन चुनौतियों का सामना करना पड रहा है। इसका कारण यह है कि भूमि-सुधारो एव ग्राम-पचायतो में स्थान प्राप्त करने से इन जातियो की शक्ति बढ गई है। अभी तक शक्ति के सस्कारात्मक एव आर्थिक स्वरूपो पर उच्च जातियो का एकाधिकार रहा है, परन्तु वर्तमान समय मे सख्यात्मक शक्ति निम्न जातियो के पास है। इन परिस्थितियो मे निम्न जातिया अपनी सख्यात्मक शक्ति का सफलतापूर्वक उपयोग कर पायी हैं, वहा उन्होंने शक्ति का परम्परागत स्वरूप बदल दिया है। इस सम्बन्ध मे नर्मदेश्वर प्रसाद ने उत्तर-प्रदेश के एक ग्राम माधोपुर का उदाहरण देते हुए लिखा है कि वहा के ठाकुर यह सीख रहे हैं कि अब वे निम्न जातिया, जिनके पास उच्च राजनैतिक शक्ति हैं, की मागो की अवहेलना नही कर सकते। निम्न जातिया अब यह अनुभव करने लगी है कि उन्हें ठाकुर जाति के अनुभव और आर्थिक समर्थन की आवश्यकता है।[15] स्पष्ट है कि वर्तमान मे विभिन्न जातियो के बीच शक्ति-सबन्ध बदल रहे हैं।

जाति-व्यवस्था मे होने वाले उपर्युक्त परिवर्तनो को देखकर बहुत-से लोग यह प्रश्न करते हैं कि क्या जाति विघटित हो रही है ? क्या इसमे शिथिलता आ रही हैं ? क्या यह वर्ग-व्यवस्था के रूप मे परिवर्तित हो रही है ? क्या वर्तमान परिस्थितियो मे जाति का अपने अस्तित्व को बनाये रखना सम्भव नही है ? जाति-व्यवस्था मे होने वाले कुछ परिवर्तनो के आधार पर कई लोग कहने लगे हैं कि जाति को निश्चित रूप से समाप्त होना चाहिए तथा कुछ अन्य लोगो की धारणा है कि यह स्वय समाप्ति की ओर अग्रसर है। ये दोनो विचार समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से उचित नही हैं। इस सम्बन्ध मे डा आर. एन सक्सेना ने लिखा है, "जाति-प्रथा को समाप्त होना चाहिए, यह कहना और बात है और क्या जाति-प्रथा समाप्त हो सकती है, यह कहना और बात। सस्थाओ को, विशेषतया ऐसी सस्था को जिसकी शाखाएं हिन्दू समाज के बाहर तक फैली हुई हैं, निर्मूल समाप्त करने की बात समाजशास्त्र के अधिकार-क्षेत्र के बाहर है। जाति-प्रथा स्वयमेव समाप्त हो रही है, ऐसा मानना निराधार है।"[16] इस सम्बन्ध मे डॉ घुरिये और डॉ. श्रीनिवास का विचार है कि जहा अग्रेजी शासन-काल मे होने वाले परिवर्तनो ने जाति-प्रथा के बन्धनो को शिथिल किया वहा उन्होने साथ ही जाति-प्रथा को प्रोत्साहन भी दिया।[17] सरकार द्वारा पिछडे वर्गों—अस्पृश्य जातियो को दी जाने वाली सुविधाओ

---

14. Ibid, P. 165
15. Narmadeshwar Prasad, Change Strategy in a Developing Society : India, P. 127.
16. डा० आर० एन० सक्सेना "भारतीय समाज तथा सामाजिक सस्थायें", पृष्ठ ६१।
17. Dr M. N Srinivas, "Presidential Address Section of Anthropology & Sociology, 40th Indian Science Congress",

एव अछूत आन्दोलनो ने जाति की जडो को मजबूत करने मे योग दिया है, जातीय-बन्धनो को दृढ किया है। डा० श्रीनिवास ने अपने एक लेख मे लिखा है कि पिछडी और उन्नत जातियो के रूप मे सोचने की प्रवृत्ति नवीन तनाव और कठिनाइयाँ उत्पन्न कर रही है जिनके निकट भविष्य मे और स्पष्ट हो जाने की सम्भावना है। वास्तव मे, बहुत-सी शक्तिशाली जातियो का पिछडेपन मे स्वार्थ निहित है तथा पिछडी श्रेणी से उनको हटाने के किसी भी प्रयास का वे विरोध करेंगी। वर्तमान मे अनेक जातियो मे राजनैतिक चेतना बढी है जिसने उन्हे सगठित होने के लिए प्रेरित किया है। एफ जी बेली ने उडीसा के एक क्षेत्र के अध्ययन के आधार पर यह बताया है कि वर्तमान परिस्थितियो के अन्तगत जाति का राजनैतिक महत्त्व बढ गया है और इस कारण प्रत्येक जाति सगठित होने के लिए प्रोत्साहित हुई है।[18] डा योगेश अटल ने दो भिन्न सास्कृतिक क्षेत्रो के दो ग्रामो के अध्ययन के आधार पर कहा है कि "जाति अभी भी एक महत्त्वपूर्ण शक्ति है और उसमे बहुत थोडे परिवर्तन हुए हैं और अधिकाशत बाह्य (Peripheral)। जाति व्यवस्था, कम-से-कम इन दो गावो मे मृत नही है और न ही इसके पतन के कोई चिन्ह हैं।'[19] नर्मदेश्वर प्रसाद ने लिखा है कि अनेक परिवर्तनो के बावजूद, जाति-व्यवस्था बहुत-कुछ पहले के समान ही है। इस व्यवस्था के स्वय के भीतर परिवर्तन होते रहते हैं, परन्तु इसके बाहर नही। जाति न केवल एक प्रक्रिया है, बल्कि यह हमारे सामाजिक, आर्थिक, और राजनैतिक चिन्तन एव व्यवहार की एक उपज भी।[20] इस सारी विवेचना से स्पष्ट है कि जाति-सस्था न तो विघटित हुई है और न ही किसी ऐसी प्रक्रिया मे है, वह केवल परिवर्तित हो रही है।

ग्रामीण समुदायो मे जाति के स्वरूप और कार्यों के सम्बन्ध मे वर्तमान मे अनेक अनुसधान हुए हैं। डॉ एस सी दुबे ने अपनी पुस्तक 'इण्डियन विलेज' मे बताया है कि विभिन्न जातियो की पारस्परिक निर्भरता एव जजमानी प्रथा परिवर्तित अवश्य हुई है, लेकिन पूर्णत समाप्त नहीं। डॉ श्रीनिवास ने सस्कृताइजेशन की प्रक्रिया का वर्णन किया है। इस प्रक्रिया ने, जिसके अन्तर्गत निम्न जातियो ने अपनी सामाजिक स्थिति को ऊचा उठाने के लिए उच्च जातियो का अनुकरण किया, जाति-व्यवस्था की गतिशीलता को प्रोत्साहित किया है। डॉ० सक्सेना का कथन है कि शहर के असुरक्षित और भीड युक्त वातावरण मे जाति को प्राथमिक समूह के रूप मे प्रधानता मिल रही है और भारतीय सामाजिक आर्थिक सगठन मे व्याप्त असुरक्षा के कारण जातिवाद को प्रोत्साहन मिल रहा है। कोई आश्चर्य नही कि इन निम्न स्तरो पर, जहा जाति और पेशे का सम्बन्ध अब भी बना हुआ है, जाति के बन्धन और भी दृढ हो गए हैं और जाति ने ट्रेड यूनियन का रूप ले लिया है।[21]

क्या जाति-व्यवस्था वर्ग-व्यवस्था के रूप में परिवर्तित हो रही है ?

जाति-व्यवस्था मे होने वाले इन सब परिवर्तनों को देखते हुए क्या यह निष्कर्ष

---

18 Quoted by R N Saxena, op cit, pp 93-94
19. Yogesh Atal, op cit, p 252.
20 Narmadeshwar Prasad, op cit, p 240
21. R N Saxena, op cit, p 94

निकाला जा सकता है कि जाति-व्यवस्था वर्ग-व्यवस्था के रूप में परिवर्तित हो रही है ? वास्तविकता का पता लगाने के लिए यह देखना अनिवार्य है कि क्या जाति मे वर्ग की विशेषताए आती जा रही हैं। कुछ लोगों का मत है कि वर्तमान मे औद्योगीकरण, नगरीकरण तथा धर्म निरपेक्ष राज्य ने अनेक सामाजिक आर्थिक शक्तियों को जन्म दिया है, जिन्होने जाति-व्यवस्था के संरचनात्मक आधार मे परिवर्तन लाने मे योग दिया है। आज जन्म के स्थान पर सम्पत्ति सामाजिक स्थिति निर्धारण का आधार बन गई है, अतः कुछ विद्वानो के अनुसार जाति-व्यवस्था वर्ग-व्यवस्था के रूप मे परिवर्तित हो रही है।

आज जाति-व्यवस्था से सम्बन्धित कई प्रतिबन्ध शिथिल होते जा रहे हैं, जाति के कुछ परम्परागत बन्धन ढीले हुए है। इसी बात को व्यक्त करते हुए डॉ राधाकमल मुकर्जी ने कहा है कि नगरीय वातावरण ने छुआछूत के नियमो और निम्न स्तर की जातियो की नागरिक और धार्मिक निर्योग्यताओ को शिथिल करने मे सहायता पहुचाई है। आज छुआछूत और खान-पान के प्रतिबन्ध ही ढीले नही हुए बल्कि जातियो की परम्परागत स्थिति भी परिवर्तित हो रही है।[22] आज जाति के साथ-साथ कुछ समानान्तर संगठन भी प्रकट होने लगे हैं। आज एक ओर जाति के भीतर वर्ग उत्पन्न होने लगे हैं और दूसरी ओर जाति की सीमाओ को पार कर विभिन्न जातियो के लोगो के वर्ग बनने लगे हैं। व्यक्तिगत उपलब्धियो के आधार पर मुख्यत वर्गों का निर्माण होता है। आर्थिक, राजनैतिक एव शैक्षणिक दृष्टि से जब व्यक्ति उच्च प्रस्थिति प्राप्त कर लेता है तो उसके परिवार की प्रस्थिति भी उच्च हो जाती है। एक जाति विशेष मे उच्च प्रस्थिति वाले परिवार चेतन अथवा अचेतन रूप मे एक परत (Layer) बना लेते हैं जो कालान्तर मे श्रेणी अथवा वर्ग के रूप मे बदल जाती है। उच्च स्थिति सम्बन्धी यह चेतना नगरो मे निवास करने वाले परिवारों म विशेष रूप से पाई जाती है। आज ऐसे संघो का निर्माण भी हुआ है जिनकी सदस्यता का आधार जाति न होकर व्यवसाय है। ये संघ, वर्गों की विशेषताओ को ही व्यक्त करते हैं। इनमे जाति की सीमाओ को लाघकर, समान व्यवसाय अथवा आर्थिक स्थिति वाले लोग पाए जाते हैं। लेकिन जहा ऐसे वर्गों का निर्माण हुआ है, वहा भी जाति-अन्तर्विवाह की अवहेलना नही की जाती, लोग वैवाहिक सम्बन्धो के लिए अभी भी अपनी जाति की ओर ही देखते हैं। इस सम्बन्ध मे डा सिंह ने लिखा है कि किसी समान राजनैतिक या आर्थिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कई बार कुछ जातिया सगठित हो जाती हैं और इस दृष्टि से उनमे वर्ग की विशेषताए दिखाई पड़ने लगती हैं, लेकिन ये परिवर्तन क्षणिक हैं। ऐसे लौकिक लक्ष्यो की प्राप्ति के बाद, जातिया पुन अपने मौलिक प्रकार्यों, जैसे वैवाहिक, सहभोजी तथा धार्मिक अनुष्ठान पर लौट आती हैं। यह सामाजिक प्रकार्य ही वह धरातल है जो जाति की स्थिरता का आधार है और इस क्षेत्र मे जाति पर्याप्त मात्रा मे नही बदल रही है। अन्तर्जातीय विवाह, जो बहुत थोड़े हैं, से सम्बंधित अध्ययन भी यह प्रकट नही करते कि जाति के इन मौलिक प्रकार्यों म परिवतन आ रहे हैं।[23]

ब्राइस रेन (Bryce Ryan) के अनुसार जाति-व्यवस्था का आधार विभिन्न जातियो के मध्य सास्कृतिक भिन्नता का पाया जाना है, किसी प्रकार के संघर्ष का पाया जाना नहीं।

---

22 R K Mukerjee "Inter Caste Tension Caste Tension Study", p 14
23 Yogendra Singh, op. cit , p 172

आज एक ओर विभिन्न जातियों के बीच सांस्कृतिक अन्तर कम हुआ है और दूसरी ओर भेद भाव सम्बन्धी आचरण ।[24] आज विभिन्न जातियों के मध्य सांस्कृतिक अन्तर कम हुए हैं, परन्तु पारस्परिक प्रतिस्पर्द्धा तथा संघर्ष बढ़ते जा रहे हैं। इससे ऐसा प्रतीत अवश्य होता है कि जाति-व्यवस्था क्रमश वर्ग-व्यवस्था के रूप में परिवर्तित हो रही है, लेकिन यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि जाति-व्यवस्था पूर्णत वर्ग-व्यवस्था के रूप में परिवर्तित हो जाएगी। यद्यपि जाति-प्रथा और वर्ग-व्यवस्था दोनों ही स्तरीकरण के दो मुख्य रूप हैं, तथापि दोनों के आधार में कुछ भिन्नता है—जाति-प्रथा का आधार सामाजिक है, वर्ग-व्यवस्था का आर्थिक। नर्मदेश्वर प्रसाद का कहना है कि भारतीय जाति-व्यवस्था धार्मिक पौराणिक किस्म की है, जबकि योरोपीय जाति-व्यवस्था आर्थिक-राजनैतिक किस्म की। आधुनिक समय में भारतीय जाति-व्यवस्था ने आर्थिक-राजनैतिक विशेषताओं को भी ग्रहण कर लिया है; अर्थात् अब इसमें दोनों किस्मों का सम्मिश्रण है। यूरोप में, जाति के वर्ग के रूप में बदलने की ओर वर्ग के जाति के रूप में दृढ़ होने की सदैव सम्भावना रही है, लेकिन भारत में जाति ने कभी भी अपने को पूर्णत वर्ग के रूप में मुक्त नहीं किया। इसका कारण यह है कि भारत में जाति को कभी भी पौराणिक कथा और अन्य विश्वासों से स्वतन्त्र नहीं किया गया। भारत में भूमि तथा मन्दिर भी एक अथवा दूसरी जाति से सम्बन्धित होते हैं। हिन्दू देवी-देवता भी प्राय उन्हीं जातीय प्रतिमानों का अनुसरण करते हैं।[25] डॉ० सक्सेना ने लिखा है कि वर्तमान भारत उन्हीं परिवर्तनकारी शक्तियों के प्रभाव में है जिन्होंने पश्चिमी समाज की वर्ग-व्यवस्था को जन्म दिया है, किन्तु, निश्चयपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि जाति प्रथा वर्ण-व्यवस्था में परिवर्तित हो रही है या परिवर्तित हो जाएगी क्योंकि समान परिवर्तनकारी शक्तियाँ दो विभिन्न समाजों में परिवर्तन की समान गति और दिशा को जन्म नहीं दे सकतीं।[26] डा० के एल शर्मा ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि जाति अपने सदस्यों के लिए शक्ति का एक स्रोत है। आज जाति में सामूहिकता की विशेषता नहीं पाई जाती, क्योंकि अनेक कारकों ने एक ही जाति या उपजाति में भूमिका सम्बन्धी भेद उत्पन्न कर दिये हैं। जाति की यह 'समूह' प्रकृति संस्कारात्मक कृत्यों तथा धर्म-सभा से हटकर चुनावों, अपनी जाति के सदस्यों के लिए व्यवसाय और नौकरी सम्बन्धी सुविधाएं प्रदान करने के रूप में बदल गई है, लेकिन जातियाँ न तो मार्क्सवादी और न ही वेबरीयन दृष्टि से 'वर्गों' के रूप में बदली हैं।[27] डा० शर्मा की मान्यता है कि भारतीय परिस्थिति इस दृष्टि से अन्य समाजों से काफी भिन्न है कि यहाँ समस्याएं 'वर्ग'-प्रकृति की हैं, परन्तु समाज के विभाजन के रूप में 'वर्ग' निश्चित प्रकार्यात्मक इकाइयों के रूप में नहीं पाये जाते।[28] इस सम्पूर्ण विवेचना के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सामाजिक वास्तविकता के हमारे मौजूदा ज्ञान के आधार पर यह कहना भ्रामक है कि भारत में जाति-व्यवस्था वर्ग-व्यवस्था के रूप में परिवर्तित हो रही है।

---

24 Bryce Ryan, quoted by R N Saxena, op cit p [redacted]
25 Narmadeshwar Prasad, op cit, p 140
26. Dr R N Saxena, op cit, p 96.
27 [redacted] L Sharma 'New Introduction', in Review of Caste in India by J Murdoch (1977), p XXV
28 Ibid, [redacted] XX

जाति-व्यवस्था का भविष्य (Future of Caste System)

जाति-व्यवस्था के भविष्य के सबध मे समय-समय पर अनेक आशकाए व्यक्त की जाती रही है, लेकिन वे निर्मूल सिद्ध होती रही है। इसका कारण यह है कि इसम अनुकूलन की अपूर्व क्षमता पायी जाती है। डा शर्मा न लिखा है कि जाति अनुकूलनशीलता तथा समुत्थान-शक्ति से सबधित अनेक अध्ययन उपलब्ध है जो जाति-व्यवस्था के समाप्त होने के झूठे भय को अप्रमाणित सिद्ध करते हैं।[29] डा श्रीनिवास गुजरात, उडीसा, मद्रास, आन्ध्र, मैसूर, बिहार तथा उत्तर-प्रदेश म उभरती हुई जाति जागरुकता और इसके नये सगठनो और उनके प्रकार्यों की समीक्षा मे इस निष्कर्ष पर पहुचे कि जाति की शक्तियाँ आधुनिकीकरण (*Modernization*) के कारण कमजोर पडने के बजाय अधिक मजबूत होती जा रही है।[30] के एल शर्मा का कहना है कि जाति के सबध मे हमारे वर्तमान ज्ञान के आधार पर इसके भविष्य के सबध म कुछ भी नही कहा जा सकता, अर्थात् यह कहना कठिन है कि यह समाप्त हो जायेगी अथवा इसका समुत्थान होगा। कुछ परिणाम जो इसकी समाप्ति या समुत्थान के समर्थन मे दिये जा सकते हैं, इसक भविष्य के सबध मे किसी निष्कर्ष पर पहुचने मे हमारी मदद नही करते।[31]

भारत एक ऐसा देश हैं जहा करीब ८० प्रतिशत जनसख्या ग्रामो मे निवास करती है। ग्रामो मे परिवर्तन की गति बहुत धीमी है। ऐसी दशा मे औद्योगीकरण, नगरीकरण एव पश्चिमीकरण के परिणामस्वरूप नगरो मे निवास करने वाले थोडे-से लोगो की मनोवृत्ति मे चाहे कितना ही परिवर्तन क्यो न आ जाए, इसके आधार पर सामाजिक व्यवस्था का रूप बदलना बहुत कठिन है। यही कारण है कि जाति-व्यवस्था का व्यापक प्रभाव आज भी विभिन्न क्षेत्रो मे पाया जाता है। सन् १९६१ मे सामुदायिक विकास के राष्ट्रीय सस्थान द्वारा सगठित सेमीनार 'ग्रामीण भारत मे परिवर्तन की प्रवृत्तियाँ' मे इसी प्रकार के निष्कर्ष पर पहुचा गया—"जाति अभी भी एक शक्ति के रूप म विद्यमान है। जाति सम्भवत एक राजनैतिक कारक के रूप मे उभर रही है क्योकि सामाजिक सरचना की कोई भी अन्य सम्बद्ध ऐसी इकाई नही है जो नवीन राजनैतिक प्रकार्यों को समाहित कर सके।"[32] जाति-व्यवस्था की निरन्तरता आज तक इसी कारण बनी हुई है कि इसम नवीन प्रकार्यों का अपने मे आत्मसात् करने की अपूर्व शक्ति पायी जाती है। डा. शर्मा ने लिखा है कि सरचनात्मक परिवर्तनो, जैसे भूमि-सुधारो, वयस्क मताधिकार तथा औद्योगीकरण ने जाति को पहले से अधिक अनुकूलनशील व्यवस्था बना दिया हैं।[33]

पिछली कुछ दशाब्दियो मे निम्न जातियो को व्यावसायिक-प्रशासकीय पदो को प्राप्त करने का प्रथम बार अवसर मिला है। समाजशास्त्रीय दृष्टि से यह एक क्रान्तिकारी परिवर्तन है। यह बात आज भी सही है कि धार्मिक-कृत्यो को सम्पन्न करने क लिए अब भी ब्राह्मणो की आवश्यकता पड़ती है, परन्तु राजनैतिक-आर्थिक मामलो मे जाति-व्यवस्था

---

29. Ibid, p, XVI,
30. *M, N Srinivas, Quoted by Yogendra Singh, op cit, p 166*
31. K, L Sharma, op, cit, p, XVI,
32. Quoted by Dr Yogesh Atal, op, cit, p. 250
33. K, L, Sharma, op, cit,, p, XXIV,

के संस्तरण के सिद्धांत को अब कोई महत्त्व नही दिया जाता। वर्तमान मे समानता एव प्रतिस्पर्द्धा पर आधारित विचारधाराए प्रबल होती जा रही है। जाति-व्यवस्था मे होने वाले सरचनात्मक परिवर्तनो को इस सस्था मे निरन्तर पायी जाने वाली समुत्थान-शक्ति एव लचीलेपन की दृष्टि से देखा जाना चाहिए। यही कारण है कि यह सस्था बदलती हुई परिस्थितियों के साथ आज तक सामजस्य स्थापित करती रही, अत निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि आने वाले लम्बे समय तक जाति राजनीति, अर्थ-व्यवस्था तथा सस्कृति के क्षेत्र मे आधुनिकीकरण करने वाली सामाजिक सरचनाओ के सचालन के लिए सरचनात्मक आधार प्रदान करती रहेगी। यह कहना वैज्ञानिक दृष्टि से अतार्किक है कि जाति-व्यवस्था समाप्त हो रही है।[34]

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि जाति-व्यवस्था एक अत्यन्त गतिशील सस्था है जिसके स्वरूप में समय के साथ-साथ, युग की आवश्यकता के अनुसार सदैव परिवर्तन होते रहे है। वैदिक काल मे वर्ण-व्यवस्था पाई जाती थी, जो धीरे-धीरे जाति-व्यवस्था के रूप में परिवर्तित होती गई और जातीय बन्धन दिन-प्रतिदिन कठोर होते गए। ब्रिटिश-काल मे भारत मे अनेक ऐसी प्रक्रियाएँ प्रारम्भ हुई जिनसे जाति-व्यवस्था के प्रतिबन्धो मे शिथिलता आने लगी और इसका स्वरूप बहुत कुछ बदल गया। वर्तमान में भी इसमे अनेक क्रान्तिकारी परिवर्तन होते जा रहे हैं।

प्रश्न

१ जाति-व्यवस्था की गतिशीलता पर एक निबन्ध लिखिए।
२ जाति-व्यवस्था मे होने वाले आधुनिक परिवर्तनों का उल्लेख कीजिए।
३ जाति-व्यवस्था पर नगरीकरण के प्रभाव की विवेचना कीजिए।
४. आधुनिक सामाजिक विधानो का भारतीय जाति-व्यवस्था पर प्रभाव व्यक्त कीजिए।
५. आधुनिक शोधो का उल्लेख करते हुए भारतीय जाति-व्यवस्था के भविष्य पर प्रकाश डालिए।
६. आधुनिक भारत मे जाति गतिशीलता के पक्ष-विपक्ष की व्याख्या कीजिए।
७ "ब्राह्मणो के लाख कहने के बावजूद भी जाति केवल एक विशृखलित सामाजिक सस्था है जो अपनी सेवाओं के पश्चात् भारत के वातावरण को दुर्गन्ध से भर रही है।" विवेचना कीजिए।

34 Yogendra Singh, op cit, pp 173-74.

अध्याय 8

अनुसूचित जातियां : अस्पृश्यता

(BACKWARD CLASSES · UNTOUCHABILITY)

भारत एक ऐसा देश है जहां पिछड़े वर्ग के लोगों की संख्या करोड़ों में है। इन पिछड़े लोगों को कई शताब्दियों से मानवीय अधिकारों से वंचित रखा गया, इन पर अनेक निर्योग्यतायें लाद दी गई और इनका विविध प्रकार से शोषण होता रहा। पिछड़े वर्गों के अन्तर्गत वे लोग आते है जो सैकड़ो वर्षों से शेष समाज से पृथक् रहे है, जो अनेक प्रकार की निर्योग्यताओं से पीड़ित एवं सामाजिक न्याय से वंचित रहे हैं। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् इन लोगों की ओर विशेष रूप से ध्यान दिया गया, इनके पिछड़ेपन को दूर करने के लिए विशेष सुविधायें प्रदान की गई तथा इनके शैक्षणिक, आर्थिक एवं सामाजिक हितों को प्रोत्साहित करने का प्रयास किया गया। इनकी हित रक्षा की दृष्टि से इन जातियों की संविधान के अन्तर्गत सूची तैयार की गई और उन्हें अनुसूचित जाति, अनुसूचित आदिम-जाति तथा पिछड़ी जाति कहा गया है। मान्द्रे बिताई के अनुसार पिछड़े वर्गों के अन्तर्गत अनुसूचित जातियां, अनुसूचित आदिम जातियां एवं अन्य पिछड़े हुए लोग आते हैं। पिछड़े वर्गों में वे सब लोग भी आते हैं जो अस्पृश्य कहलाते हैं। भारत में १९७१ की जनगणना के अनुसार अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों के लोगों की संख्या क्रमशः ७,९९,९५,८९९ और ३,८०,१५,१६२ है। पिछड़े वर्गों के अन्तर्गत आने वाले अन्य अनधिसूचित एवं घुमक्कड़ आदिम जाति के लोगों की संख्या भी इस देश में करीब ६०-७० लाख हैं। इनके अतिरिक्त बहुत-से लोग ऐसे भी हैं जो शैक्षणिक एवं आर्थिक दृष्टि से बहुत पिछड़े हुए हैं। ऐसे सभी पिछड़े वर्गों के उत्थान का विशेष प्रयास स्वतन्त्र भारत में पिछले कुछ वर्षों में किया गया है।

अस्पृश्यता का अर्थ (Meaning of Untouchability)—साधारणतः अस्पृश्य जातियों के अन्तर्गत वे जातियां आती हैं जो घृणित पेशों से अपनी जीविका अर्जित करती हैं। अस्पृश्यता मुख्य रूप से पवित्रता एवं अपवित्रता की धारणा पर आधारित है। समाज में कुछ व्यवसायों अथवा कार्यों को पवित्र समझा जाता रहा है तथा कुछ को अपवित्र। शरीर से निकले हुये पदार्थ अपवित्र माने गये हैं, चाहे वे मनुष्य या पशु-पक्षी में से किसी के भी शरीर से क्यों न निकले हों, इसलिये इन पदार्थों से सम्बन्धित पेशों में लगे हुये जातीय समूह अपवित्र समझे गये, उन्हें अस्पृश्य माना गया। स्पष्ट है कि अस्पृश्यता अपवित्र समझे जाने वाले पदार्थों के सम्पर्क से पैदा होती है। अस्पृश्यता के अन्तर्गत एक जाति के व्यक्ति दूसरी जाति के व्यक्ति को परम्परा के आधार पर स्पर्श नहीं कर सकते।

अस्पृश्यता का अर्थ है 'जो छूने के योग्य नही है।' अस्पृश्यता के आधार पर एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के छूने, देखने और यहा तक कि छाया पडने मात्र से अपवित्र हो जाता है। इस अपवित्रता से बचने के लिये अस्पृश्य लोगो के लिये उच्च जातियों से पृथक् रहने की व्यवस्था की गई, उनके सम्पर्क से बचने का हर सम्भव प्रयत्न किया गया एव उनके लिये अनेक निर्योग्यतायें निर्धारित की गई। अस्पृश्य जातियो के अन्तर्गत वे लोग आते हैं जिनके स्पर्श से एक व्यक्ति अपवित्र हो जाये तथा उसे पवित्र होने के लिये कुछ विशेष सस्कार अथवा कृत्य करने पड़ें। अस्पृश्य यदि ऐसे लोगो को माना जाये जिनके छूने से हिन्दुओ को शुद्धि करनी पड़े तो ऐसी दशा में हट्टन के द्वारा प्रस्तुत एक उदाहरण के अनुसार ब्राह्मण को भी अस्पृश्य मानना पडेगा क्योकि दक्षिण भारत म होलिया जाति के लोग ब्राह्मण को अपने गाव के बीच से नही जाने देते हैं और यदि वह चला जाता है तो वे लोग गाव की शुद्धि करते हैं।[1]

श्री हट्टन के अनुसार निम्नलिखित आधारो पर कुछ जातियो को अस्पृश्य कहा जा सकता है वे लोग जो (अ) उच्च स्थिति के ब्राह्मणो की सेवा प्राप्त करने के अयोग्य हो, (ब) सवर्ण हिन्दुओं की सेवा करने वाले नाइयो, कहारो एव दर्जियो की सेवा पाने के अयोग्य हो, (स) हिन्दू मन्दिरो मे प्रवेश प्राप्त करने के अयोग्य हो, (द) सार्वजनिक सुविधाओ (पाठशाला, सडक एव कुओं) को उपयोग मे लाने के अयोग्य हो, तथा (य) घृणित पेशे से अलग होने के अयोग्य हो।[2] सम्पूर्ण भारत मे अस्पृश्यो के प्रति समान व्यवहार के अभाव मे तथा विभिन्न भागो मे अस्पृश्य जातियो के सामाजिक स्तर की भिन्नता के कारण हट्टन के अस्पृश्यता के ये आधार भी अन्तिम नही हैं। डॉ० डी० एन० मजुमदार ने लिखा है कि अस्पृश्य जातिया वे हैं जो विभिन्न सामाजिक एव राजनीतिक निर्योग्यताओ से पीड़ित हैं, इनमे से बहुत-सी निर्योग्यतायें उच्च जातियो द्वारा परम्परागत रूप से निर्धारित एव सामाजिक रूप से लागू की गई हैं।[3] स्पष्ट है कि अस्पृश्यता से सम्बन्धित अनेक निर्योग्यतायें हैं जिनका उल्लेख आगे किया गया है।

अस्पृश्य जातियों के विभिन्न नाम (Various Names of Untouchable Castes) – अस्पृश्य जातियो को विभिन्न समय तथा काल मे अनेक प्रकार के नामो से सम्बोधित किया गया है। अस्पृश्यो के नामकरण के बारे मे शुरू से आज तक काफी विवाद रहा है। अस्पृश्यो के लिये अछूत, दलित वर्ग, बाहरी जातियां, हरिजन और अनुसूचित जाति आदि शब्दो का प्रयोग किया गया है। काफी समय तक इन लोगो के लिये अछूत शब्द का प्रयोग किया जाता रहा। इन लोगो की आर्थिक दशा के अत्यन्त दयनीय होने के कारण बाद में इनके लिये अछूत शब्द का प्रयोग न करके दलित वर्ग (Depressed class) शब्द का प्रयोग किया गया। दलित का अर्थ होता है जिसे दबाया जाये अथवा जिसे अधिकारो से वंचित रखा जाये। आर्य समाज का कहना था कि ये वर्ग अछूत नही है क्योकि अपनी दशा

---

1 डा० आर० एन० सक्सेना, "भारतीय समाज तथा सामाजिक सस्थायें", पृष्ठ ६६।
2 J H Hutton, 'Caste in India' p 195
3 "The untouchable castes are those who suffer from various social and political disabilities, many of which are traditionally prescribed and socially enforced by higher castes" D N Majumdar, "Races and Culture of India", P 226

के लिये इनका कोई दोष नही है, ये वर्ग अछूत के स्थान पर दलित हैं अर्थात् समाज ने इनको दबा रखा है। अस्पृश्य लोगो ने भी दलित शब्द को पसन्द किया है। सन् १९३१ की जनगणना के पहले अस्पृश्य व्यक्तियो के लिये 'दलित' शब्द का ही प्रयोग किया जाता था। सन् १९३१ की जनगणना के समय फिर यह प्रश्न उठा तब उस समय के जनगणना अधीक्षक ने दलित शब्द की अपेक्षा 'बाहरी जातियाँ' (Exterior Castes) शब्द का प्रयोग किया। इस शब्द का प्रयोग इस दृष्टिकोण से किया गया कि इन जातियो का भारतीय सामाजिक सरचना मे कोई स्थान नहीं था, अर्थात् इनकी सामाजिक प्रस्थिति जातीय सरचना के बाहर थी। इस शब्द के प्रयोग ने भारतीय समाज मे एक राजनैतिक समस्या उत्पन्न कर दी। डा० अम्बेदकर ने यह कहना प्रारम्भ कर दिया कि इन जातियो का हिन्दुओ से कोई सम्बन्ध नही है क्योकि ये हिन्दुओ की सामाजिक सरचना के अन्तर्गत नहीं आती, अर्थात् ये हिन्दू नही हैं। इस बात को लेकर अम्बेदकर ने सन् १९३१ मे गोलमेज कॉन्फ्रेन्स मे यह माँग की कि इन जातियो को हिन्दू न होने के कारण पृथक् निर्वाचन का अधिकार होना चाहिए तथा इनके लिए दलित वर्ग के स्थान पर किसी अन्य शब्द का प्रयोग किया जाना चाहिये। इस सम्बन्ध मे महात्मा गाधी का कथन यह था कि दलित वर्ग हिन्दुओ से पृथक् नहीं वरन् उनका ही एक अग है, इसलिये यदि इन्हें पृथक् निर्वाचन का अधिकार दिया जायेगा तो हिन्दू समाज विघटित हो जायेगा। सन् १९३१ की गोलमेज कॉन्फ्रेंस के बाद ब्रिटिश सरकार ने अस्पृश्य जातियो को हिन्दुओ से पृथक् घोषित कर दिया और उन्हें पृथक् निर्वाचन का अधिकार देने का निर्णय लिया। इसके विरोध मे महात्मा गाँधी ने आमरण अनशन किया। इसके फलस्वरूप दलित वर्ग के लिए एक समझौता हुआ जो पूना पैक्ट के नाम से प्रसिद्ध है। इस समझौते के अनुसार दलित वर्ग को विशेष अधिकार दिये गये और उन्हे हिन्दुओ का ही एक अग मान लिया गया। उस समय महात्मा गाँधी ने इन अस्पृश्यो के लिये 'हरिजन' शब्द का प्रयोग किया। सन् १९३५ के विधान मे दलित वर्ग के लोगो को कुछ विशेष सुविधायें प्रदान करने हेतु एक अनुसूची तैयार की गई जिसके आधार पर वैधानिक दृष्टिकोण से इन जातियों के लिए 'अनुसूचित जाति' (Schedule Caste) शब्द का प्रयोग किया गया। वर्तमान मे समस्त सरकारी प्रयोगो मे इन्ह अनुसूचित जाति के नाम से सम्बोधित किया जाता है। इन्हें अनुसूचित जातिया इस कारण कहा गया, क्योंकि इनकी एक सूची तैयार की गई थी, उस सूची मे जो जातिया रखी गईं उन्हे अनुसूचित कह दिया गया।

अस्पृश्यता की उत्पत्ति के कारक
(Factors responsible for the origin of untouchability)

श्री हट्टन ने अस्पृश्यता की उत्पत्ति के कारणों पर प्रकाश डालते हुये लिखा है, 'बाह्य अथवा बहिष्कृत जातियों के स्तर की उत्पत्ति अशत प्रजातीय, अशत धार्मिक और अशत सामाजिक प्रथा का परिणाम है।"[4] हट्टन का यह कथन पूर्णत उचित है। अस्पृश्यता की उत्पत्ति किसी एक कारण से नही हुई है। प्रजातीय एव सास्कृतिक असमानताओ, धर्म-सम्बन्धी पवित्रता के विचारो तथा बहुत-से सामाजिक निषेधा ने अस्पृश्यता की उत्पत्ति मे योग दिया है। हट्टन के अनुसार अस्पृश्यता की उत्पत्ति के तीन प्रमुख कारण ये हैं —(१) प्रजातीय कारक, (२) धार्मिक कारक और (३) सामाजिक कारक।

१ प्रजातीय कारक (Racial Factor) :

रिजले, घुरिये तथा मजुमदार ने अस्पृश्यता की उत्पत्ति का एक मूल कारण प्रजातीय विभिन्नता माना है। प्रत्येक प्रजाति अपने आपको दूसरी प्रजातियों से श्रेष्ठ समझती है। विशेषत: जब एक प्रजाति दूसरी प्रजाति को जीत लेती है तब वह अपने आपको उच्च तथा विजित प्रजाति को निम्न समझने लगती है। इण्डो आर्यन लोग विजेता के रूप में इस देश में आये। उन्होंने यहां के विजित मूल निवासियों को अपने से हीन समझा, उन्हें घृणा की दृष्टि से देखा, उन्हें दास, दस्यु आदि नामों से सम्बोधित किया। उन्हें समाज में सबसे निम्न सामाजिक स्थिति प्रदान की, उनके साथ किसी भी प्रकार का सम्पर्क नहीं रखा तथा अपनी धार्मिक पूजा, संस्कार आदि से उन्हें पूर्णत: अलग रखा। डा० मजुमदार ने उचित ही लिखा है कि "तथाकथित 'दलित' जातियों की निर्योग्यतायें संस्कार सम्बन्धी नहीं हैं बल्कि इसका आधार सम्भवत: प्रजातीय और सांस्कृतिक भिन्नतायें हैं।"[5] इन भिन्नताओं के कारण पृथक्ता की धारणा धीरे-धीरे इतनी तीव्र हो गई कि इण्डो-आर्यन लोगों ने यहां के मूल निवासियों को स्पर्श करना भी अनुचित समझा तथा उन्हें अछूत (Untouchables) कहा जाने लगा। इन लोगों के पेशे घृणित समझे जाने लगे तथा इन्हें उच्च समझे जाने वाले पेशे अपनाने की आज्ञा प्रदान नहीं की गई। अस्पृश्य लोगों को उच्च जातियों द्वारा पहने जाने वाले आभूषणों को भी धारण नहीं करने दिया गया। उदाहरण के रूप में, असम में नागा जाति की एक शाखा 'आओ' (Ao) लोगों को दोनों हाथों में हाथी-दांत के आभूषण नहीं पहनने दिए जाते। हट्टन ने इसका कारण यह बताया है कि 'आओ' प्रजातीय दृष्टि से अन्य नागा लोगों से भिन्न हैं, इसलिए विजेता नागाओं ने 'आओ' लोगों को निम्न समझा तथा उन्हें अपने समान आभूषण पहनने की आज्ञा प्रदान नहीं की।

२. धार्मिक कारक (Religious Factor) :

अस्पृश्यता की उत्पत्ति में धर्म भी एक प्रमुख कारक है। धर्म में निषेध (Taboo) का अत्यधिक महत्व रहा है। धर्म व्यक्तियों को कुछ कार्य करने की आज्ञा देता है तथा कुछ का निषेध करता है, उनके करने की आज्ञा नहीं देता। जिन पेशों एवं कार्यों को घृणित समझा गया एवं जिनके साथ भय का तत्व जोड़ दिया गया, उनको करने वाले स्वाभाविक रूप से अछूत या अस्पृश्य माने जाने लगे। उदाहरण के रूप में, बर्मा में कब्र खोदने का पेशा करने वाली जाति से लोग घृणा करते, उनके सम्पर्क से दूर रहते तथा उन्हें अछूत समझते हैं। मृत व्यक्तियों को कब्र में गाड़ा जाता है और कब्र खोदने वाले व्यक्तियों को मृत्यु से सबंधित समझकर उनका सम्पर्क मृत्यु लाने वाला समझा जाता है। इसी कारण सभी अन्य जातियां इन लोगों से दूर रहने का प्रयत्न करती हैं। समाज इन कब्र खोदने वाले लोगों को अस्पृश्य मानने लगा है। हट्टन ने निषेध को अस्पृश्यता की उत्पत्ति का एक प्रमुख कारण मानते हुए लिखा है, "इसमें बहुत कम सन्देह है कि अस्पृश्यता के विचार की उत्पत्ति निषेध से हुई

---

4 "The origin of the position of the exterior castes is partly racial, partly religious and partly a matter of social custom" Hutton, op cit, p. 206

5 "The disabilities of the so-called 'depressed' castes are not ceremonial but probably founded on racial and cultural differences" D. N Majumdar op cit, p 327

है।"[6] इसके अतिरिक्त धर्म मे पवित्रता और शुद्धि को भी बहुत महत्व दिया जाता है। प्राय सभी समाजो मे ऐसा विश्वास किया जाता है कि धर्म से सम्बन्धित सभी वस्तुयें शुद्ध होनी चाहिए, पूजा की सभी सामग्री पूर्णत पवित्र होनी चाहिए अन्यथा पूजा अथवा यज्ञ असफल हो सकता है। शुद्धता की इस भावना के कारण घृणित पेशे करने वाले व्यक्तियो को अस्पृश्य समझा गया। यही कारण है कि भारतीय समाज मे मल मूत्र आदि उठाने के कार्य मे लगे हुए व्यक्तियो को अस्पृश्य समझा गया तथा उन्हे भगी, महतर आदि नाम से सम्बोधित किया गया।

प्रत्येक हिन्दू के लिए अनेक संस्कारो का विधान किया गया है। संस्कारो के द्वारा ही व्यक्ति परिष्कृत अथवा शुद्ध होते हैं। जिन लोगो के लिए संस्कारो का विधान नही किया गया, उन्हे अस्पृश्य कहा गया। इन्हें यज्ञ, पूजा एव वेदाध्ययन करने की आज्ञा प्रदान नहीं की गई। प्रो० घुरिये ने कहा है—"पवित्रता का विचार, चाहे वह व्यवसाय सम्बन्धी हो अथवा संस्कार सम्बन्धी जो जाति की उत्पत्ति म एक कारक माना गया है, अस्पृश्यता के विचार और व्यवहार की आत्मा है।"[7] स्पष्ट है कि अस्पृश्यता की उत्पत्ति मे धार्मिक कारको का विशेष योग रहा है।

३. सामाजिक कारक (Social Factor)

अस्पृश्यता की उत्पत्ति का एक कारण सामाजिक भी है। सामाजिक नियन्त्रण के आन्तरिक साधनो अर्थात्, प्रथाओ, रीति रिवाजो, रूढ़ियो एव संस्थाओ का समाज मे बहुत महत्व होता है। व्यक्ति अपनी प्रथाओं एव रूढ़ियो के अनुसार ही व्यवहार करता है। जब एक सामाजिक रूढ़ि चल पडती है तो वह काफी लम्बे समय तक चलती ही रहती है। समाज मे कुछ पेशो को घृणित एव अपवित्र समझा जाने लगा तो धीरे धीरे अस्पृश्यता की प्रथा बद्धमूल होकर सामाजिक रूढ़ि बन गई। इसके सामाजिक रूढ़ि के रूप मे चल पडने के कारण उच्च जातियो के लोग सदैव अछूतो के सम्पर्क से बचने का प्रयत्न करने लगे, स्वय अस्पृश्य भी उनके सम्पर्क में आने से घबराते हैं। इसका उदाहरण तिन्नेवेल्ली जिले मे बसी हुई (२४ दिसम्बर, १९३२ के मद्रास के 'हिन्दू' मे वर्णित) अछूतो के कपडे धोने वालों की पुराद वन्नन नामक जाति है। ये लोग न केवल अस्पृश्य समझे जाते हैं, बल्कि अदर्शनीय भी माने जाते हैं। वे दिन के समय अपनी बस्ती से बाहर नहीं आ सकते क्योंकि उनके दर्शन से अन्य जातियो के दूषित होने की आशका है। वे कपडे धोने का कार्य रात मे ही करते हैं। जब ठक्कर बापा उनसे मिलने गये तो वे अस्पृश्यता की सामाजिक रूढ़ि से इतने दबे हुए थे कि बहुत प्रेरणा के बाद ही वे लोग उनसे मिलने आए और आते समय उनका सारा शरीर काँप रहा था। वे सामाजिक रूढ़ि तोडने के भय से काँप रहे थे तथा उनकी दशा शोचनीय थी।

अस्पृश्यता की उत्पत्ति के सम्बन्ध में स्टेनले राइस (Stanley Rice) ने कहा है कि अस्पृश्य लोग विजितो के वशज हैं, इन्हें दास, अनार्य, द्रविड अथवा मूल निवासी भी कहा

---

6 "There can be little doubt that the idea of untouchability originated in taboo" 'Census of India" Vol I p 486

7 G, S, Ghurye, 'Caste, Class and Occupation', p, 241

गया। ये लोग प्रजातीय संघर्ष मे परास्त हो गए थे, अत: इन्हे दास, दस्यु और बाद मे अस्पृश्य कहकर निम्न श्रेणियो मे रखा गया। राइस की यह मान्यता है कि गन्दे पेशो मे लगे हुए लोगो को अस्पृश्य माना गया। नेसफील्ड ने व्यवसाय की उच्चता एव निम्नता को अस्पृश्यता के लिए उत्तरदायी माना है। समाज मे उन लोगो को अस्पृश्य समझा गया है जो निम्न समझे जाने वाले कार्यों मे लगे हुए थे।

अस्पृश्य जातियों की निर्योग्यतायें
(Disabilities of Untouchable Castes)

भारत में अस्पृश्य जातियो की अनेक निर्योग्यतायें रही हैं जिनकी वजह से उन्हे जीवन मे उन्नति करने के अवसर प्राप्त नही हो सके। उन्हें अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए मौका नही दिया गया। उन्हें सब प्रकार की सुख-सुविधाओ से वंचित रखा गया और दासो के समान जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य किया गया। यहाँ हमें इस बात को अवश्य ध्यान मे रखना होगा कि अस्पृश्यो की ये निर्योग्यतायें मुख्य रूप से उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक ही पाई जाती रही। बीसवी शताब्दी मे अनेक सुधार-आन्दोलनो तथा सरकारी प्रयत्नो के फलस्वरूप इनकी निर्योग्यताओं में काफी कमी आई है। विविध धर्म-ग्रन्थो में वर्णित अस्पृश्यो की निर्योग्यतायें इस प्रकार हैं :—

१. धार्मिक निर्योग्यतायें (Religious Disabilities) :

अस्पृश्यो को अपवित्र मानकर उन पर अनेक धार्मिक निर्योग्यतायें लाद दी गई। उन्हें मन्दिर-प्रवेश, पवित्र स्थानो पर जाने तथा अपने ही घरो पर देवी-देवताओ की पूजा करने की आज्ञा नही दी गई। उनके लिए धर्म-ग्रन्थों का पाठन एव श्रवण वर्जित बताया गया। हिन्दू धार्मिक जीवन से अछूतो को अलग रखने के लिए सवर्णों को अनेक आदेश दिए गये। मनुस्मृति मे कहा गया है कि शूद्र को कोई परामर्श न दिया जाए, न ही उसे भोज्य का उच्छिष्ट ही दिया जाए, न ही उसे देवभोग का प्रसाद ही मिले, न उनके समक्ष पवित्र विधान की व्याख्या ही की जाए, न तपस्या या प्रायश्चित करने का ही भार डाला जाए ....वह, जो किसी (शूद्र के लिए) पवित्र विधान की व्याख्या करता है अथवा उसे तपस्या करने या प्रायश्चित करने को बाध्य करता है, उसके (शूद्र) साथ स्वय भी असंवृत्त नामक नरक में डूब जाएगा।[8] धर्म-ग्रन्थो मे शुद्धिकरण के लिए जिन सोलह प्रमुख सस्कारो का वर्णन किया गया है, उनमे से अधिकतर को पूर्ण करने का अधिकार अस्पृश्यो को नहीं दिया गया है। अस्पृश्यो को अपवित्र माना जाने के कारण सस्कारो के द्वारा उनके शुद्धिकरण की व्यवस्था नही की गई।

२. सामाजिक निर्योग्यतायें (Social Disabilities) :

अस्पृश्यो के लिए अनेक सामाजिक निर्योग्यतायें रही हैं। उनकी छाया तक को अपवित्र मानकर उन्हे सार्वजनिक स्थानो के उपयोग तक से वंचित रखा गया। दक्षिण भारत मे कई स्थानो पर उन्हें सडको पर चलने तक का अधिकार नही था। ऐसा समझा जाता था कि उनके दर्शन मात्र से सवर्ण हिन्दू अपवित्र हो जाते हैं और इसलिए अस्पृश्यो को विवश

---

८. डा० नर्मदेश्वर प्रसाद "जाति-व्यवस्था", पृष्ठ २२।

होकर अपने सब कार्य रात्रि में करने पड़ते थे। इन लोगों को सार्वजनिक कार्यों से पृथक् रखा गया। कुछ समय पूर्व तक तो इन लोगों को सवर्णों द्वारा काम में लिए जाने वाले कुओं से पानी नहीं भरने दिया जाता था, स्कूलों में पढ़ने तथा छात्रावासों और होटलों में नहीं रहने दिया जाता था। अस्पृश्यों को सवर्णों द्वारा उपभोग में लाई जाने वाली वस्तुओं के प्रयोग से भी वंचित रखा गया। उन्हें पीतल तथा काँसे के बर्तनों के उपयोग की आज्ञा नहीं थी और न ही वे अच्छे वस्त्र एवं सोने के आभूषण पहन सकते थे। नाई उनके बाल तक नहीं बनाते, धोबी कपड़े नहीं धोते, कहार पानी नहीं भरते और दुकानदार उन्हें खाना नहीं देते थे। अस्पृश्यों के सामाजिक सम्पर्क से बचने के लिए यह भी व्यवस्था की गई कि वे नगर अथवा ग्राम की सीमा के बाहर एकान्त स्थान पर रहेंगे। धर्म-ग्रंथों में कहा गया है कि चाण्डालों और श्वपाकों का निवास-स्थान गाँव के बाहर होगा, वे अपपात्र होंगे और कुत्ते व खच्चर ही उनका धन होगा।[9]

न केवल अस्पृश्यों को बल्कि शूद्रों को भी एक ओर शिक्षा-सम्बन्धी अधिकारों से वंचित रखा गया और दूसरी ओर सार्वजनिक स्थानों, जैसे—चौपालों, मेलों एवं हाटों में सम्मिलित होकर अपना मनोरंजन करने की आज्ञा तक उन्हें प्रदान नहीं की गई। इस प्रकार, अस्पृश्यों के सामाजिक सम्पर्क से बचने का हिन्दू समाज में पूर्णतः प्रयत्न रहा। आश्चर्य तो यह है कि स्वयं अस्पृश्यों में भी संस्तरण की प्रणाली पाई जाती है, वे स्वयं भी तीन सौ से अधिक उच्च एवं निम्न जातीय-समूहों में विभक्त हैं जिनमें से प्रत्येक का सामाजिक स्तर एक-दूसरे से भिन्न है। डा० के० एम० पन्निकर ने अस्पृश्यों की सामाजिक निर्योग्यताओं का सही चित्रण करते हुए लिखा है–'जाति-व्यवस्था जब अपनी यौवनावस्था में क्रियाशील थी, उस समय इन अस्पृश्यों (पंचम वर्ण) की स्थिति कई प्रकार से दासता से भी खराब थी। दास कम से कम एक स्वामी के ही अधीन होता था और इसलिए उसके अपने स्वामी के साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध होते थे, लेकिन अस्पृश्यों के परिवार पर तो गाँव-भर की दासता का भार होता था। व्यक्तियों के दास रखने की बजाय, प्रत्येक ग्राम के साथ कुछ अस्पृश्य परिवार एक किस्म की सामूहिक दासता के रूप में जुड़े हुए थे। उच्च जातियों का कोई व्यक्ति किसी भी अस्पृश्य के साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध नहीं रख सकता था।''[10]

३. आर्थिक निर्योग्यताएँ (Economic Disabilities) :

अस्पृश्यों की आर्थिक निर्योग्यताओं ने उनकी आर्थिक स्थिति को इतना दयनीय बना दिया कि उन्हें बाध्य होकर सवर्णों के जूठे भोजन, फटे-पुराने वस्त्रों और त्याज्य वस्तुओं पर निर्भर रहना पड़ा। उन्हें अपने परम्परागत पेशे को छोड़कर किसी अन्य पेशे को अपनाने की आज्ञा नहीं दी गई। एक मेहतर मल-मूत्र आदि उठाने के अतिरिक्त कोई अन्य पेशा नहीं कर सकता था। शिक्षा प्राप्त कर अपनी योग्यता बढ़ाकर किसी अन्य व्यवसाय को करने का उन्हें अधिकार नहीं था। ग्रामों में अधिकतर अस्पृश्य भूमि-हीन श्रमिकों के रूप में रहे हैं। इन्हें भूमि-अधिकार एवं धन-संग्रह से वंचित रखा गया। मनुस्मृति में कहा गया है : "अस्पृश्य व्यक्ति को धन-संचय कदापि नहीं करना चाहिए, चाहे वह ऐसा

9. Max Muller (edited), "Sacred Books of the East", pp. 51-10
10. K. M. Pannikar "Hindu Society at Cross Roads", p. 27.

करने में समर्थ ही क्यों न हो, क्योंकि धन संचित करके रखने वाला शूद्र ब्राह्मणों को पीड़ा पहुँचाता है।"[11]

अस्पृश्यों को आर्थिक दृष्टि से शोषण का शिकार होना पड़ा है। एक ओर हिन्दू समाज ने निकृष्टतम कार्य उन्हें सौंपे, घृणित से घृणित पेशे अपनाने के लिए उन्हें बाध्य किया, मल मूत्र आदि उठवाने का उनसे काम लिया और दूसरी ओर उनकी महत्त्वपूर्ण सेवाओं के बदले में उन्हें पारिश्रमिक रूप में क्या दिया?—शेष जूठा भोजन, फटे-पुराने वस्त्र, अन्य त्याज्य वस्तुएं और धर्म के नाम पर अपने इस सारे व्यवहार को उचित ठहराया। अस्पृश्यों को धार्मिक आधार पर इस व्यवस्था को स्वीकार करने के लिए बाध्य किया, उन्हें कहा गया कि इस जन्म में अपने कर्त्तव्यों का उचित रीति से पालन नहीं करने पर अगले जन्म में और भी निम्न योनि में जीवन धारण करना पड़ेगा।

४. राजनीतिक निर्योग्यताएं (Political isabilities).

अस्पृश्यों की अनेक राजनैतिक निर्योग्यताएं भी रही हैं। उन्हें शासन-संचालन में किसी प्रकार के हस्तक्षेप का कोई अधिकार नहीं रहा है। वे न सार्वजनिक सेवाओं के लिए नौकरी प्राप्त कर सकते थे, न ही कोई सुझाव दे सकते थे और न किसी प्रकार की सुरक्षा प्राप्त कर सकते थे। धर्म-शास्त्रों में शूद्रों और अस्पृश्यों के लिए कठोर दण्ड की व्यवस्था की गई। मनु ने कहा है कि निम्न वर्ण का मनुष्य (शूद्र अथवा अस्पृश्य) अपने जिस अंग से उच्च वर्णों के व्यक्तियों को चोट पहुँचाए, उसका वह अंग ही काट डाला जाएगा।"..............वह जो हाथ या डंडा उठायेगा, उसका हाथ काट लिया जाएगा, वह, जो क्रोध में अपने पांव से ठोकरें मारेगा, उसका पांव काट लिया जाएगा।"[12] स्पष्ट है कि अस्पृश्यों की अनेक राजनैतिक निर्योग्यताएं रही हैं।

अस्पृश्यों की निर्योग्यताओं के प्रभाव
(Consequences of Disabilities of Untouchables)

अस्पृश्य जातियों पर लगाए गए प्रतिबन्धों अथवा उन पर थोपी गई निर्योग्यताओं के अनेक दुष्परिणाम अस्पृश्यों को तो भुगतने पड़े ही, साथ ही हिन्दू समाज को भी अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ा। अस्पृश्यों की समस्या प्रमुखतः सामाजिक एवं आर्थिक है, न कि धार्मिक और राजनैतिक। स्थिति यहां तक पहुँच गई कि स्वयं अस्पृश्य लोग अपने को अपवित्र मानकर सवर्ण जातियों के लोगों के सम्पर्क से बचने का प्रयत्न और आर्थिक अभावों के बीच अपना जीवन-यापन करने लगे तथा अपने को असहाय समझ बैठे। इन निर्योग्यताओं का परिणाम यह हुआ कि अस्पृश्य जातियों ने अपने को हिन्दुओं से अलग समझ कर पृथक् मताधिकार की मांग की। यदि महात्मा गांधी इस बात का विरोध न करते तो अस्पृश्य जातियाँ सदा के लिए हिन्दुओं से पृथक हो जातीं। महात्मा गांधी ने कहा कि जो लोग अछूतों के राजनैतिक अधिकारों की बात करते हैं, वे भारत को नहीं पहचानते और हिन्दू समाज आज किस प्रकार बना हुआ है इसे नहीं जानते। इसलिए मैं अपनी पूरी शक्ति से यह कहूंगा कि इस बात का विरोध करने वाला यदि मैं अकेला भी

11. Max Muller, "Sacred Books of the East" quoted by N. Prasad, "The Myth of the Caste System p. 20

12 Max Muller, op cit, p 21.

रहूँ, तो भी मैं अपने प्राणो की बाजी लगाकर इसका विरोध करूंगा।"[13]

अस्पृश्यो की निर्योग्यताओ का एक अन्य प्रभाव यह भी पडा कि अस्पृश्यता के अभिशाप से बचने के लिए लाखो लोगो ने इस्लाम और ईसाई धर्म ग्रहण कर लिया। इनके धर्म-परिवर्तन का एक प्रमुख कारण इनके प्रति उच्च जातियो का दुर्व्यवहार रहा है। इन निर्योग्यताओ के कारण देश की बहुत बडी जनसख्या अज्ञानता एव अन्धकार के गर्त मे सैकडो वर्षों तक डूबी रही। वह आर्थिक कष्टो का सामना और दरिद्रतामय जीवन व्यतीत करती रही। हिन्दू समाज सैकडो उच्च और निम्न स्थिति वाले समूहो मे बट गया, समाज के इतने बडे जनसमूह के चेतना शून्य एव विवेकहीन होने से देश की प्रगति मे बाधा पहुँची और उत्थान के मार्ग मे कठिनाइयाँ आई है। इन पिछडे वर्ग के लाखो-करोडो लोगो की स्थिति को सुधारने के लिए जब-जब सुधार आन्दोलन हुए, तब तब धर्म के नाम पर उन्हे दबाने का प्रयास किया गया, लेकिन पिछले कुछ वर्षों से पिछडे वर्गों, जिनमे अस्पृश्य लोग भी आते हैं, की स्थिति सुधारने एव उनके कल्याण के लिए अनेक प्रयास हुए है। यहा हम इन प्रयासो का उल्लेख करेंगे।

अस्पृश्यता-निवारण एवं पिछड़े वर्गों का उत्थान
(Eradication of Untouchability and Upliftment of Backward Classes)

भारत के सर्वांगीण विकास के लिये यह आवश्यक है कि समाज के सभी समूह-विकसित एव अविकसित, समान स्तर पर आएँ। सम्पूर्ण समाज की उन्नति के हेतु यह आवश्यक है कि निर्योग्य समूहो को, अर्थात् सभी पिछडे वर्गों को आगे बढने का अवसर प्रदान किया जाए। वर्तमान मे अनेक कारको के प्रभाव से अस्पृश्यता की भावना मे कमी आई है। शिक्षित लोग यह अनुभव करने लगे हैं कि अस्पृश्यता समाज के लिए सबसे बडा कलक है। अस्पृश्यता-निवारण एव पिछडे वर्गों के उत्थान की दृष्टि से भारतीय समाज मे जो प्रयास हुए, उन्हे दो भागो मे बाटा जा सकता है—प्रथम, गैर-सरकारी एव द्वितीय, सरकारी प्रयास।

१. गैर-सरकारी प्रयास (Non-Governmental Efforts)

अस्पृश्यता-निवारण एव पिछडे वर्गों के उत्थान के लिए विभिन्न समितियो ने समय-समय पर अनेक प्रयास किए हैं। सन् १६२० मे डा० अम्बेदकर के प्रयासो से 'अखिल भारतीय दलित वर्ग सघ' तथा 'अखिल भारतीय दलित वर्ग फेडरेशन' की स्थापना हुई। इन सगठनो के माध्यम से अस्पृश्यो ने सामाजिक एव धार्मिक अधिकारो की माग की। महात्मा गाधी के सहयोग से सन् १६३२ मे स्थापित 'हरिजन सेवक सघ' ने अस्पृश्यता-निवारण एव पिछडे वर्गों को उन्नति के अवसर प्रदान करने की दृष्टि से अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किए। इस सघ की शाखाएँ देश के विभिन्न भागो मे फैली हुई हैं। सघ ने प्रचार द्वारा समानता की भावना को प्रसारित कर अस्पृश्यता को दूर करने का प्रयास किया। सघ के द्वारा अस्पृश्यो को व्यवसाय सम्बन्धी प्रशिक्षण देने का प्रबन्ध किया गया जिससे उनकी स्थिति सुधर सके। सघ के प्रयत्नो से हरिजनो को दक्षिण भारत के बहुत से मन्दिरो

13. Mahatma Gandhi, "Harijanothan" by Devi Dayal Chaturvedi, Indian Press Ltd Prayag 1951.

मे प्रवेश की आज्ञा प्राप्त हुई। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् सरकार की ओर से 'हरिजन सेवक सघ' को आर्थिक सहायता मिलने लगी। सघ ने अपने विविध कार्यक्रमो द्वारा अस्पृश्यता-निवारण एव पिछड़े वर्गो की स्थिति सुधारने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इस दिशा मे ईश्वरशरण आश्रम, इलाहाबाद के प्रयत्न भी सराहनीय हैं। यह आश्रम मुख्यत: अस्पृश्यता-विरोधी प्रचार द्वारा स्वस्थ जनमत का निर्माण एव पिछडे वर्ग के लोगों को शिक्षा सम्बन्धी सुविधाएं प्रदान करता रहा है। इस सम्बन्ध मे ब्रह्म समाज, आर्य समाज एव रामकृष्ण मिशन द्वारा किए गए प्रयत्न भी महत्त्वपूर्ण हैं। इन्होने भेद-भाव मिटाने और अस्पृश्यो की निर्योग्यताओ को दूर करने का भरसक प्रयास किया जिसमे इन्हे काफी मात्रा मे सफलता भी प्राप्त हुई।

स्वतन्त्र भारत मे आज अनेक सगठन पिछड़े वर्गो के कल्याण-कार्यों मे लगे हुए हैं। सरकार पिछड़े वर्गो के उत्थान हेतु व्यय की जाने वाली राशि का काफी भाग इन्हीं सगठनो के माध्यम से खर्च करती है। अधिकतर ये सगठन सवर्णो द्वारा चलाए जाते हैं। आज इन सगठनो के अधिकतर कार्यकर्ताओ की प्रेरणा का आधार उनकी अछूतोद्धार-भावना न होकर राजनीतिक महत्त्वाकांक्षा है, अछूतोद्धार उनके जीवन का लक्ष्य न होकर, साधन-मात्र है। साधारणत. आज यह देखा जाता है कि विविध गैर-सरकारी सगठनो द्वारा चलाई जाने वाली योजनाओ मे भी कार्यक्रमो की समानता का अभाव पाया जाता है। अछूतोद्धार के प्रयत्न मे लगे हुए विविध सगठनो के कार्यों और लक्ष्यो मे समानता का होना अत्यन्त आवश्यक है और इस ओर सरकार को ध्यान देना चाहिए।

२. सरकारी प्रयास (Efforts by the Government) :

महात्मा गाधी के शब्दो मे, वे स्वतन्त्र भारत को इस रूप मे देखना चाहते थे, "मैं ऐसे भारत का निर्माण करना चाहता हू जिसमे गरीब भी यह समझे कि यह मेरा देश है और इसके बनाने मे मेरी भी राय कम नहीं होगी, ऐसा भारत जिसमे न कोई उच्च होगा, न कोई निम्न, ऐसा भारत जिसमे सभी सम्प्रदाय पूरी तरह घुलमिल कर रहेगे।" इसी आदर्श को दृष्टि मे रखकर स्वतन्त्र भारत का सविधान बनाया गया जिसमे अनुसूचित जातियो एव अन्य पिछड़े वर्गो के लिए विशेष सरक्षण की व्यवस्था की गई।

संवैधानिक प्रावधान :

सविधान मे अनेक प्रावधानो के द्वारा जहाँ अस्पृश्यता निवारण का प्रयास किया गया है वहा साथ ही पिछड़े वर्गो के कल्याण की ओर भी ध्यान दिया गया है। सविधान के अनुच्छेद १५ (१) मे कहा गया है कि राज्य किसी नागरिक के विरुद्ध केवल धर्म, मूलवश, जाति, लिंग, जन्मस्थान अथवा इनमे से किसी के आधार पर कोई विभेद नहीं करेगा। कोई किसी को भी दूकानो, सार्वजनिक भोजनालयो, होटलों तथा सार्वजनिक मनोरजन के स्थानो मे प्रवेश करने से तथा साधारण जनता के उपयोग के लिए समर्पित कुओ, तालाबो, स्नान-घाटो, सड़को आदि के प्रयोग से नहीं रोक सकेगा। अनुच्छेद १७ के अनुसार अस्पृश्यता का अन्त कर उसका किसी रूप मे आचरण निषिद्ध कर दिया गया है। अनुच्छेद १६ के द्वारा अस्पृश्यो को किसी भी व्यवसाय के अपनाने की आज्ञा प्रदान की गई है। अनुच्छेद २५ मे कहा गया है कि हिन्दुओ के सार्वजनिक-धार्मिक स्थानो के द्वार सभी जातियो के लिए खोल दिए जाएं। अनुच्छेद २६ के अनुसार राज्य द्वारा पूर्ण अथवा आशिक सहायता प्राप्त किसी भी शिक्षण सस्था मे, किसी नागरिक को केवल

धर्म, वश, जाति, भाषा, तथा इनमे से किसी एक के आधार पर प्रवेश लेने से वंचित नहीं किया जा सकता। अनुच्छेद ४६ के अनुसार सरकार दुर्बलतर लोगो, जिनमें अनुसूचित जातियाँ तथा आदिम जातियाँ आती हैं, के शैक्षणिक एव आर्थिक हितो की रक्षा करेगी तथा सभी प्रकार के शोषण तथा सामाजिक अन्याय से उन्हे सुरक्षा प्रदान करेगी। अनुच्छेद १६४ मे कहा गया है कि उडीसा, बिहार तथा मध्यप्रदेश म आदिम जातियो के कल्याण के लिए भार-साधक एक मत्री होगा जो इनके कल्याण के लिए कार्यक्रम बनायेगा। अनुच्छेद ३३०, ३३२ और ३३४ के अनुसार अनुसूचित जातियो एव आदिम जातियो के के लिए सविधान लागू होने के २० वर्ष तक लोक-सभा, विधान-सभाओं, ग्राम-पचायतो एव स्थानीय निकायों मे स्थान सुरक्षित रहगे। अब लोक-सभा के द्वारा यह अवधि १० वर्ष के लिए अर्थात् २५ जनवरी, १६८० तक के लिए और बढा दी गई है। अनुच्छेद ३३५ के अनुसार सघ या राज्य के कार्यों से सम्बन्धित सेवाओ और पदो के लिए नियुक्तिया करने मे अनुसूचित जातियो एव आदिम जातियो के हितो का ध्यान रखा जाएगा। अनुच्छेद ३३८ मे कहा है कि अनुसूचित जातियो तथा अनुसूचित आदिम जातियो के लिए एक विशेष पदाधिकारी होगा जिसकी नियुक्ति राष्ट्रपति करेगा। इन विविध सवैधानिक व्यवस्थाओं के द्वारा अस्पृश्यता निवारण एव पिछडे वर्गों के उत्थान के प्रयास सरकार की ओर से किए गए हैं।

अस्पृश्यता (अपराध) अधिनियम, १६५५
(The Untouchability (Offences) Act,1955)

अस्पृश्यता को दूर करने, अस्पृश्यों पर विभिन्न निर्योग्यताओ को लागू करने वाले व्यक्तियो को सजा देने तथा पिछडे वर्गों को सामाजिक समानता प्रदान करने के लिए सम्पूर्ण भारत में १ जून, १६५५ से 'अस्पृश्यता (अपराध) अधिनियम, १६५५' लागू किया गया है। इस अधिनियम की १७ धाराओ के द्वारा अस्पृश्यो की सभी प्रकार की निर्योग्यताओं को दूर कर दिया गया है।

यद्यपि अस्पृश्यता को दूर करने के लिए राज्य सरकारों द्वारा समय-समय पर अनेक अधिनियम पारित किए गए, परन्तु इस दिशा मे सबसे महत्वपूर्ण कदम केन्द्रीय सरकार ने उपर्युक्त अधिनियम पारित करके उठाया है। इस अधिनियम के अनुसार अस्पृश्यों को सार्वजनिक पूजा के स्थानों मे प्रवेश करने, पवित्र धार्मिक नदी, तालाब, झरना आदि मे स्नान करने या पानी लेने, किसी भी दूकान, जलपान-गृह, होटल या सार्वजनिक मनोरजन के स्थान में प्रवेश करने या धर्मशालाओ एव मुसाफिरखानो के उपयोग मे लाने से रोकने पर दण्ड की व्यवस्था की गई है। यदि कोई व्यक्ति किसी को नदी, कुएँ, तालाब या नल, घाट श्मशान, कब्रिस्तान आदि को काम मे लेने से, या उसे किसी भी मोहल्ले मे जमीन खरीदने, मकान बनवाने और रहने से रोकेगा तो ऐसी दशा मे उसका इस कार्य इस अधिनियम के अन्तर्गत दण्डनीय अपराध समझा जाएगा। प्रत्येक को किसी सार्वजनिक बस्ती, सवारी, आभूषण अथवा अलकार के उपयोग की पूर्ण स्वतन्त्रता होगी। इस अधिनियम के द्वारा सभी लोगो को समान रूप से सार्वजनिक चिकित्सालयों, औषधालयों, शिक्षा-सस्थाओ एव छात्रावासों मे प्रवेश करने का अधिकार दिया गया है। अब कोई भी दूकानदार अस्पृश्यता के आधार पर किसी भी व्यक्ति को कोई भी वस्तु बेचने या सेवा करने से इन्कार नही कर सकता। व्यवसाय के चुनाव की पूर्ण स्वतन्त्रता प्रत्येक को दी गई है। इस कानून

का पालन नहीं करने वालो या किसी भी प्रकार से अस्पृश्यता को प्रोत्साहन देने वालो के लिए दण्ड की व्यवस्था की गई है जो ६ माह की कैद या पाच सौ रुपये जुर्माना अथवा दोनो हो सकते हैं। इस अधिनियम के द्वारा यद्यपि कानूनी रूप से अस्पृश्यता को समाप्त कर दिया गया है तथापि व्यावहारिक रूप से वह आज भी पाई जाती है। अनेक स्थानो पर आज भी अस्पृश्यता से सम्बन्धित कई प्रकार के आचरण दिखलाई पडते हैं।

अस्पृश्यता-निवारण हेतु प्रचार :

अस्पृश्यता-निवारण के लिए अन्य महत्वपूर्ण सरकारी प्रयत्नों में अस्पृश्यता विरोधी प्रचार मुख्य है। सभी राज्यों मे अस्पृश्यता को शीघ्रातिशीघ्र समाप्त करने के लिए भरसक प्रचार-कार्य किया जा रहा है। राज्य-सरकारो ने जिलाधिकारियो एव जन-सम्पर्क अधिकारियो को इस बात के विशेष आदेश दे रखे हैं कि वे अस्पृश्यता [निवारण हेतु पूर्ण प्रयास करें। इस कार्य म जनता का सहयोग प्राप्त करने की दृष्टि से प्रतिवर्ष 'हरिजन दिवस' तथा 'हरिजन सप्ताह' मनाया जाता है। सरकार प्रचार द्वारा अस्पृश्यता सम्बन्धित सभी आचरणो को जल्दी से जल्दी समाप्त कर देना चाहती है। कई राज्यो मे अस्पृश्यता (अपराध) अधिनियम, १९५५ का भी ठीक प्रकार से पालन करवाने हेतु छोटी-छोटी समितियो का गठन भी किया गया है। सरकार अस्पृश्यता निवारण के लिए प्रचार-साहित्य एव दृश्य श्रव्य साधनो का खूब उपयोग कर रही है। समय-समय पर सरकार पोस्टरों, पैम्फ्लेटो, अस्पृश्यता विरोधी पुस्तको तथा हैन्डबिलों आदि को छपवाकर जनता में वितरित करवाती है और रेडियो तथा फिल्मो द्वारा अस्पृश्यता विरोधी प्रचार किया जाता है। इस प्रकार, सरकार अस्पृश्यता के विरुद्ध जनमत तैयार करने का काफी प्रयास कर रही है।

शिक्षा-सम्बन्धी सुविधायें :

पिछडे वर्गों के लिए शिक्षा की विशेष व्यवस्था की गई है ताकि वे प्रगति कर सकें और देश के अन्य लोगों के समान स्तर पर आ सकें। देश के सभी सरकारी स्कूलो मे अनुसूचित जातियो और आदिम जातियो के विद्यार्थियो के लिए नि शुल्क शिक्षा का प्रबन्ध किया गया है। सन् १९४४–४५ स पिछडे वर्गों के छात्रो को छात्रवृत्तिया देने की योजना भी लागू की गई है। मैट्रिक अथवा हायर सैकन्डरी से आगे शिक्षा प्राप्त करने वाले पिछडे वर्गों के योग्य विद्यार्थियो के लिए छात्रवृत्तियो की विशेष व्यवस्था की गई है। उनमे शिक्षा का अधिक से अधिक प्रसार हो, इस हतु न केवल उन्हे नि शुल्क शिक्षा एव छात्रवृत्तिया ही बल्कि पुस्तकें तथा शिक्षा-सम्बन्धी आवश्यक वस्तुयें भी मुफ्त मे दी जाती हैं। कई स्थानों पर तो आजकल वस्त्र एव मध्यान्ह का भोजन भी स्कूल से ही दिया जाता है। अनेक राज्य-सरकारों ने अनुसूचित जातियों एव आदिम जातियो के विद्यार्थियो के लिए छात्रावास प्रारम्भ किए हैं। शिक्षा-सम्बन्धी इन सब सुविधाओ के मिलने से पिछले २५ वर्षों मे पिछडे वर्गों मे साक्षरता काफी बढी है। इन जातियो के प्रतिभाशाली विद्यार्थियों को विदेशों मे शिक्षा प्राप्त करने के लिए भी छात्रवृत्तिया प्रदान की जाती हैं। छात्रावासों मे अन्य जातियों के विद्यार्थियो के साथ मिलकर रहने को प्रोत्साहित करने के लिए पिछडे वर्ग के लोगो के लिए स्थान भी सुरक्षित रखे गए हैं। इन वर्गों के छात्रों के लिए औद्योगिक प्रशिक्षण का भी प्रबन्ध किया गया है। उन्हें मेडिकल, इन्जीनियरिंग तथा अन्य औद्योगिक शिक्षण सस्थाओं मे प्रवेश पाने के लिए काफी सुविधायें प्रदान की गई हैं।

संघीय लोक-सेवा आयोग द्वारा ली जाने वाली अखिल भारतीय तथा अन्य केन्द्रीय [से]वाओं की परीक्षा हेतु तैयारी करवाने के उद्देश्य से पिछड़े वर्गों के विद्यार्थियों के लिए [इ]लाहाबाद मे एक केन्द्र चालू किया गया है। अन्य नौकरियो हेतु ली जाने वाली परीक्षाओं [के] लिए भी इन वर्गों के छात्रों को तैयारी करवाने के लिए कई स्थानो पर केन्द्र खोलने की [व्]यवस्था की गई है। सरकार पिछड़े वर्गों की शिक्षा पर प्रारम्भ से ही उदारतापूर्वक [का]फी धन-राशि खर्च करती रही है।

[वि]धान-मण्डलो एवं पंचायतो मे प्रतिनिधित्व :

संविधान के अन्तर्गत पिछड़ी जातियो के लिए उनकी जनसंख्या के अनुपात मे राज्यों [क]ी विधान-सभाओ एव पचायतो मे स्थान सुरक्षित कर दिए गए हैं। लोक-सभा मे अनु-[सू]चित जातियों के लिए ७७ स्थान और अनुसूचित आदिम जातियो के लिए ४४ स्थान [औ]र राज्य विधान मण्डलों मे इनके लिए क्रमश ५२१ एव ३२६ स्थान सुरक्षित रखे गए [है]।[14] इसी प्रकार पचायती राज्य संस्थाओ मे भी इनके लिए सुरक्षित स्थानो की व्यवस्था [क]ी गई है।

[स]रकारी नौकरियो मे प्रतिनिधित्व :

खुली प्रतियोगिता के माध्यम से देशव्यापी आधार पर की जाने वाली नियुक्तियो मे १५ प्रतिशत और अन्य प्रकार से होने वाली नियुक्तियो मे १६$\frac{2}{3}$ प्रतिशत स्थान अनुसूचित [ज]ातियों के लिए सुरक्षित रखे गये हैं। अनुसूचित आदिम जातियो के लिए इन दोनो ही [प्र]कार की नियुक्तियो मे $7\frac{1}{2}$–$7\frac{1}{2}$ प्रतिशत स्थान सुरक्षित किए गए हैं। पदोन्नति के लिए [भ]ी अनुसूचित जातियो के लिए १५ प्रतिशत और अनुसूचित आदिम जातियो के ७$\frac{1}{2}$ प्रतिशत स्थान सुरक्षित रखे गए हैं।[15] अपने परम्परागत व्यवसाय छोड़कर पिछड़े वर्गों के लोग [स]रकारी नौकरियां प्राप्त कर सकें, इस हेतु उनकी आयु-सीमा और योग्यता के मानदण्ड मे [भ]ी विशेष छूट की व्यवस्था की गई है। राज्य सरकारों द्वारा भी नौकरियों मे पिछड़े वर्ग [क]े लोगो के लिए स्थान सुरक्षित रखने के उद्देश्य से समय समय पर अनेक नियम बनाए [ग]ए हैं।

[क]ल्याण योजनायें :

पिछड़े वर्गों के क्षेत्रो का प्रशासन ठीक प्रकार से चले, इस उद्देश्य से कई स्थानो पर परिषदों का निर्माण किया गया है। अनुसूचित क्षेत्र वाले अनेक राज्यों, जैसे—बगाल, बिहार, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, राजस्थान, आन्ध्रप्रदेश, उडीसा, गुजरात, तमिलनाडु मे *आदिम जाति सलाहकार परिषदो की स्थापना की गई है। ये परिषदें पिछड़े वर्गों के कल्याण* के सम्बन्ध मे राज्यपालो को समय-समय पर सलाह देती हैं। पिछड़े वर्गों के कल्याण हेतु देश के विभिन्न भागो मे समाज-कल्याण विभाग कार्यरत हैं। केन्द्रीय सरकार समय-समय पर अनुसूचित जातियो एव आदिम जातियो के कल्याण के लिए योजनायें तैयार कर, राज्य *सरकारो को उनको क्रियान्वित करने का आदेश देती रहती है।*

---

१४. भारत १९७५, पृष्ठ १११.

१५. भारत १९७५, पृष्ठ १०९-१२.

पिछड़े वर्ग के लोगों को इन योजनाओं के अन्तर्गत मकान बनाने हेतु नाममात्र की कीमत पर अथवा निःशुल्क भूमि और ऋण देकर सहायता दी जाती है। विविध कल्याण-योजनाओं पर आयोजन काल की अवधि मे, अर्थात् पिछले करीब २१ वर्षों मे अनुसूचित जातियो एवं अनुसूचित आदिम जातियो के कल्याण पर चौथी योजना के अन्त तक, अर्थात् सन् १९७४ तक ४ अरब ५१ करोड़ ५ लाख रुपये खर्च किए जा चुके हैं। इसके अलावा राज्य सरकारें भी अपने गैर-योजना बजटों से इन वर्गों के कल्याण पर काफी राशि व्यय करती रही है।[16]

विविध सुविधायें :

पिछड़े वर्गों के स्वास्थ्य-सुधार एवं आवास पर भी सरकार ने काफी ध्यान दिया है। इन लोगों को चिकित्सा सम्बन्धी सुविधा प्रदान करने और इनके स्वास्थ्य-सुधार हेतु सरकार ने अनेक कार्य किए है, जैसे—अस्पताल खोलना, पीने के स्वच्छ पानी का प्रबन्ध करना, बच्चों एवं प्रसूताओं के लिए कल्याण-केन्द्र और अस्पताली मोटर-गाड़ियों की व्यवस्था करना आदि। आजकल पिछड़े वर्ग के लोग इन सेवाओं का काफी मात्रा मे लाभ उठा रहे हैं। पिछड़े वर्गों के पिछड़ेपन को दूर करने के लिए उनको आर्थिक उन्नति के अवसर प्रदान करना आवश्यक है। इस दृष्टि से सरकार बेकार पड़ी भूमि को कृषि-योग्य बनाकर उसे अनुसूचित जातियो एवं आदिम जातियो में बाटती रही है। पिछले करीब दो वर्षों मे बीस-सूत्री आर्थिक कार्यक्रम के अन्तर्गत इन लोगों मे भूमि बाटने का कार्य बहुत तेजी के साथ किया गया है। पिछड़े वर्ग के लोगों मे कुटीर उद्योग धन्धों को प्रोत्साहित करने के लिए ऋण, अनुदान एवं प्रशिक्षण की विशेष व्यवस्था की गई है। उन्हें सरकारी समितियों से लाभ उठाने के लिए भी प्रोत्साहित किया गया है जिससे वे आर्थिक शोषण से बच सकें। अनेक राज्यों मे आदिम जाति अनुसंधान संस्थायें भी स्थापित की गई हैं। कई संगठनों एवं विश्व-विद्यालयों द्वारा अनुसूचित जातियो एवं आदिम जातियों पर शोध-कार्य भी किए जा रहे हैं।

निष्कर्ष (Conclusion)

अस्पृश्यता निवारण हेतु सरकार द्वारा किए गए प्रयासों की सफलता के सम्बन्ध में डा० आर० एन० सक्सेना ने लिखा है, "राजनीतिक आरक्षण ने अछूतोद्धार मे कहा तक सहयोग प्रदान किया है इस पर कई मत हो सकते है। अस्पृश्यता एक मानसिक प्रमेय है और उसके आधार हैं वे दृष्टिकोण जो समाजीकरण की प्रक्रियाओं से उत्पन्न होते हैं। राजनीतिक आरक्षण से ऐसे दृष्टिकोण का निराकरण सम्भव नहीं है। इस आरक्षण ने अछूतों में एक प्रकार की परिजीविता की भावनाओं को जन्म दिया है जिसके कारण उनका स्वयं का उत्साह समाप्त-सा हो गया है। सरकार के ऊपर निर्भर करने की भावना उनमे घर कर रही है। अछूतों का नेतृत्व राजनीतिक दलों के हाथ में है और इस कारण अछूतो-द्धार आज राजनीतिक अखाड़ा बन गया है।"[17] सरकार पर निर्भर रहने की भावना आज न केवल अनुसूचित जातियो बल्कि जनजातियो एवं अन्य सभी पिछड़े वर्गों मे पाई जाती

---

१६ भारत १९७५, पृष्ठ ११८.

१७. डा० आर० एन० सक्सेना "भारतीय समाज और सामाजिक संस्थायें," पृष्ठ १०६-१०७.

है। पिछड़े वर्गों की समस्याओ को सुलझाने के लिए अनेक सवैधानिक व्यवस्थायें की गई है। इसी उद्देश्य से अस्पृश्यता (अपराध) अधिनियम, १९५५ पारित किया गया है, लेकिन क्या कानून बना देने मात्र से अस्पृश्यता दूर हो जाएगी ? इस सम्बन्ध मे महात्मा गाधी का कथन उल्लेखनीय है, "अस्पृश्यता कानून के बल से भी दूर नही होगी। वह तभी दूर होगी जब हिन्दुओ का बहुमत इस बात को अनुभव कर ले कि अस्पृश्यता ईश्वर और मनुष्य के विरुद्ध एक अपराध है और इसके लिए लज्जित हो। दूसरे शब्दो मे, वह हिन्दुओ के हृदय-परिवर्तन अर्थात् हृदय-शुद्धि की एक क्रिया है।"[18] यहां साथ ही श्री पन्निकर के विचारो का उल्लेख करना भी उचित है। आपने कहा है, "इस सत्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि अस्पृश्यता से सम्बन्धित निर्योग्यतायें कानूनी रूप से समाप्त हो गई हैं, लेकिन इस आधार पर यह सोचना मूर्खता होगी कि अस्पृश्यता समाप्ति की घोषणा के साथ ही उनकी सामाजिक निर्योग्यताओ का अस्तित्व खत्म हो गया है। सामाजिक सस्थायें, जो कम से कम पिछले तीन हजार वर्षों से चली आ रही हैं और जो हिन्दू जीवन का अभिन्न अग बन गई हैं, एकाएक कार्य करना कैसे बन्द कर सकती हैं ? यद्यपि कानून की दृष्टि से निर्योग्यतायें समाप्त हो गई हैं, तथापि वे परिवर्तित रूप मे मौजूद हैं, और उन्हे केवल कई वर्षों के सतत प्रयत्नो से बदला जा सकता है"।[19] श्री पन्निकर के इस कथन को समझकर हम वास्तविकता के अधिक निकट पहुच सकते हैं।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि सरकार और अनेक अन्य सगठनो के द्वारा अस्पृश्यता निवारण एव पिछड़े वर्गों के उत्थान के निरन्तर प्रयत्न किए जा रहे हैं। प्रयत्नो की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि इस कार्य मे लगे लोग कर्तव्य-परायणता का कहा तक परिचय देते हैं। साथ ही हमे यह भी नही भूलना चाहिए कि जब तक अधिकाश सवर्ण हिन्दुओ के हृदय परिवर्तित नही होते, तब तक अस्पृश्यता को पूर्णत. समाप्त और पिछड़े वर्गों के पिछड़ेपन को दूर नही किया जा सकता तथा उनको अन्य हिन्दुओ के समान सामाजिक स्तर पर नही लाया जा सकता। नगरो मे अस्पृश्यता-निवारण हेतु काफी कार्य किए गये है और उनमे कुछ सीमा तक सफलता भी मिली है, लेकिन हमे यह भी ध्यान रखना चाहिये कि अधिकाश अस्पृश्य और पिछड़ी जातियो के लोग तथा आदिवासी ग्रामीण क्षेत्रो मे पाये जाते हैं, वहा प्रचार एव सामाजिक शिक्षा की अत्यन्त आवश्यकता है। सामाजिक शिक्षा उन सवर्ण हिन्दुओ को दी जानी चाहिये जो ऊँच-नीच मे, सामाजिक भेद-भाव मे और असमानताओ मे विश्वास करते हैं तथा जो अस्पृश्यता की भावना से प्रेरित होकर आचरण करते हैं। समस्या का वास्तविक हल लोगो के हृदय-परिवर्तन से ही निकल सकेगा।

विभिन्न सवैधानिक व्यवस्थाओ और राजनीतिक आरक्षणो ने पिछड़े वर्गों को अपनी शक्ति के प्रति जागरुक अवश्य बनाया है। वे आज अपने अधिकारों के प्रति सजग हैं, अपने अधिकारो के उपयोग मे लगे हैं। वास्तव मे पिछड़े वर्गों के उत्थान के प्रयत्न स्वतन्त्र भारत मे काफी हुए हैं और आज भी हो रहे हैं। इसमे पिछड़े वर्गों की स्थिति सुधारने हेतु किए

---

१८. हरिजन सेवक, २३-९-१९३९, पृष्ठ २२२
19. K. M. Pannikar, "Hindu Society at Cross Roads", P. P. 25-26.

गए कार्यों के मूल्यांकन के लिए भी, समय-समय पर समितियो का गठन होता है, सुझाव आते हैं और योजनाओं को परिवर्तित रूप मे कार्यान्वित करने का प्रयत्न किया जाता है। लेकिन मूल प्रश्न यह है कि लक्ष्यो की प्राप्ति मे कहा तक सफलता मिली है, कहा तक पिछड़े वर्गों की समस्यायें हल हो चुकी हैं और उनका कितना उत्थान हुआ है ? इस सम्बन्ध मे यह विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि शिक्षा-सम्बन्धी सुविधाओं का लाभ पिछड़े वर्गों ने अवश्य उठाया है, लेकिन इन वर्गों के लोग शिक्षा प्राप्त कर अपने ही समाज से दूर हो गये हैं, वे नगरो मे विविध प्रकार की नौकरियो मे प्रशिष्ट हो गये हैं। इसका यह तात्पर्य नही कि इन्हें शिक्षा सम्बन्धी सुविधायें नहीं मिलनी चाहिए। ये सुविधायें इन्हे अवश्य मिलनी चाहिए। सरकारी नौकरियो म पिछड़े वर्ग के लोगो के लिये सुरक्षित स्थान होने, उनकी आयु-सीमा और योग्यता के मानदण्ड मे छूट तथा पदोन्नति मे इनका प्रतिशत निर्धारित होने से इन लोगो को विविध सेवाओं मे आने, नौकरियां प्राप्त करने तथा पदोन्नति के अवसर मिले है। आज देश मे आवश्यकता इस बात की है कि पिछड़े वर्गों के परम्परागत पेशो को स्थायी आधार और सुरक्षण प्रदान किया जाय ताकि इन लोगो का आर्थिक दृष्टि से विकास हो सके। इनके लिए परम्परागत पेशो मे निपुणता-प्राप्ति हेतु प्रशिक्षण केन्द्र खोले जाने चाहिय। इच्छुक व्यक्तियो को अन्य शिल्पों की शिक्षा भी दी जानी चाहिए। अधिकाधिक सुविधायें प्रदान कर इन्हें लघु उद्योग-धन्धों मे लगाया जाना चाहिये। परम्परागत पेशो के नवीनीकरण का प्रयत्न तथा श्रम के महत्त्व को प्रतिस्थापित किया जाना चाहिए। यदि पूरी लगन के साथ यह सब किया गया तो निश्चित रूप से पिछड़े वर्गों की आर्थिक प्रगति होगी, देश मे उत्पादन बढेगा, राष्ट्र आर्थिक दृष्टि से सुदृढ बनेगा और ये लोग नौकरियो की तलाश मे नगरो की ओर नहीं भागेंगे। यहा हमे इस बात की सावधानी भी रखनी है कि सुविधाओं के नाम पर पृथक् वर्गों के रूप मे अस्तित्व को अधिक समय तक बनाए रखना किसी भी दृष्टि से लाभप्रद नहीं है। यदि अनुसूचित जातियो, आदिम जातियो अथवा पिछड़े वर्गों का लेबल इनके साथ अधिक समय तक लगाए रखा गया तो सवर्ण हिन्दुओं से ये और अधिक दूर हो जायेंगे, आपस मे ईर्ष्या और विरोध की भावना पनपेंगी और अलगाव बढेगा। वर्तमान में पिछड़े वर्गों की समस्या प्रमुखत आर्थिक है। यदि उपर्युक्त सुझाव के अनुसार इनको आर्थिक विकास के सुअवसर प्रदान किये गये तो ये अपने पावो पर खड़े हो सकेंगे, और इनकी आय मे अवश्य वृद्धि होगी। इससे इनका रहन सहन का स्तर ऊँचा होगा, विविध अवसरो पर अन्य जाति के लोगों के साथ इनका सम्पर्क बढेगा, धीरे-धीरे सामाजिक दूरी कम होगी और एक दिन ये राष्ट्रीय जीवन की मुख्य धारा मे समाहित हो सकेंगे। यही हमारा इच्छित लक्ष्य होना चाहिए। चेतन अथवा अचेतन प्रयत्न द्वारा किसी भी रूप मे हम अलगाव को प्रोत्साहित नहीं करना चाहिए। इस सम्बन्ध मे पिछड़े वर्गों की समस्याओं को सुलझाने के लिए समाजशास्त्रीय गवेषणाओं का अधिकाधिक लाभ उठाया जाना चाहिए।

प्रश्न

१ भारत मे अस्पृश्यों की स्थिति मे सुधार के लिये जो सामाजिक एव शासकीय प्रयत्न हुये हैं, उनका वर्णन कीजिये।

२ भारत मे अस्पृश्यता की उत्पत्ति के लिये उत्तरदायी कारकों की विवेचना कीजिये।

३ अस्पृश्यता के लिये सामाजिक कानून सहायक होते हैं, परन्तु वे अस्पृश्यता की समस्या को पूर्णत नही सुलझा सकते हैं क्यो ? विवेचना कीजिये ।
४ 'तथाकथित अस्पृश्यो की समस्या मुख्य रूप से सामाजिक एव आर्थिक है न कि धार्मिक और राजनीतिक' विवेचना कीजिये ।
५ भारत मे अस्पृश्यो की निर्योग्यताओ का उल्लेख कीजिये । स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् अस्पृश्यता निवारण के लिये राज्य के द्वारा क्या किया गया ?
६ अस्पृश्यता से क्या अभिप्राय है ? इसे मिटाने के लिये कौन-स वैधानिक कदम उठाये गये हैं ?
७ भारत म पिछडे वर्गों के उत्थान के लिये किये गये प्रयत्नो का मूल्याकन कीजिये ।
८. एक समाजशास्त्री के नाते अस्पृश्यता निवारण के लिये आप कौन-कौन से सुझाव दे सकते हैं ?
९ भारत म पिछडी जातियो (वर्गों) की दशाओ मे सुधार लाने हेतु उपाय बताइय ।

□ □ □

अध्याय 9

हिन्दू विवाह

(HINDU MARRIAGE)

विवाह एक ऐसी सामाजिक सस्था है जो विश्व के प्रत्येक भाग मे पायी जाती है। प्रत्येक समाज मे–चाहे वह आदिम हो अथवा आधुनिक, ग्रामिण हो अथवा नगरीय, विवाह अनिवार्य रूप से पाया जाता है। वास्तव मे विवाह परिवार की आधार-शिला है। विवाह के माध्यम से ही हिन्दू गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करते हैं, घर बसाते हैं, अपनी यौन-इच्छाओ की पूर्ति, सन्तानोत्पत्ति एव बालको का पालन पोषण करते हैं और उन्हे समाज का उपयोगी सदस्य बनाने मे योग देते हैं। हिन्दू विवाह का भारतीय सामाजिक सस्थाओ मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह गृहस्थाश्रम मे प्रवेश का द्वार है और गृहस्थाश्रम सभी आश्रमो मे श्रेष्ठ माना गया है। मनु ने कहा है कि जैसे सब प्राणी वायु के सहारे जीवित रहते हैं उसी प्रकार सभी आश्रम गृहस्थाश्रम से ही जीवन प्राप्त करते हैं। विवाह के द्वारा व्यक्ति गृहस्थाश्रम मे प्रवेश कर चार पुरुषार्थो–धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति का प्रयत्न करता है। यहाँ यह लिखना भी अप्रासगिक नही होगा कि कुछ पाश्चात्य विद्वानो ने हिन्दू विवाह के सम्बन्ध मे कुछ भ्रामक धारणाएँ व्यक्त की हैं। वे हिन्दूओ, उनकी जीवन-पद्धति और जीवन-दर्शन को समझने मे असमर्थ रहे हैं। रॉबर्ट ब्रिफाल्ट ने अपने लेख 'सेक्स इन रिलिजन' मे विशेष अवसरो पर हिन्दूओ मे यौन-सम्बन्धी स्वतन्त्रता के बारे मे जो कुछ विचार व्यक्त किये हैं, उससे यह स्पष्ट होता है कि उन्होंने हिन्दू विवाह मे यौन-सम्बन्धो की सतुष्टि को प्राथमिकता दी है। उन्होने यह भी लिखा है कि भारत मे वर्षा की मात्रा उस अवधि मे सम्पन्न हुए विवाहो की सख्या के अनुपात पर निर्भर करती है।[1] ये विचार आधारहीन हैं। हिन्दू विवाह, यौन-सम्बन्धो को प्राथमिकता नही देकर धार्मिक कार्यो को विशेष महत्व प्रदान करता है। यह व्यक्ति को एक कर्म प्रधान प्राणी बनाने मे योग देता है। हिन्दू विवाह एक धार्मिक सस्कार के रूप मे हिन्दू जीवन को स्थायित्व प्रदान करता है। शतपथ ब्राह्मण मे कहा गया है कि पत्नी निश्चित रूप से पति का अर्द्धांश है, अत जब तक पुरुष पत्नी प्राप्त नही करता एव सन्तान उत्पन्न नहीं करता, तब तक वह पूर्ण नहीं होता। विवाह के द्वारा सन्तान के माध्यम से व्यक्ति अपने को अमर बनाता है। ब्रह्मपुराण मे बतलाया गया है–देवता अमृत द्वारा अमर हुए और ब्राह्मणादि मनुष्य पुत्र द्वारा।[2] पुत्र के रूप मे पिता का ही पुनर्जन्म होता

1 Quoted by P H. Prabhu, 'Hindu Social Organisation' pp 145—46

२. ब्रह्मपुराण-१०४।६

है क्योंकि पिता के अंग-अंग और हृदय से प्राप्त अंशों में पुत्र की उत्पत्ति होती है।[3] इस प्रकार स्पष्ट है कि मानव समाज की सत्ता एवं संरक्षण विवाह और परिवार पर आधारित है। यही कारण है कि विवाह का हिन्दू समाज में केन्द्रीय संस्था के रूप में महत्व पाया जाता है। हिन्दू विवाह ने जहां एक ओर व्यक्ति को मानसिक स्थिरता, त्यागमय जीवन की प्रेरणा और व्यक्तिवादी प्रवृत्ति के समाजीकरण में योग दिया है, वहां दूसरी ओर सामाजिक जीवन को व्यवस्थित बनाने की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

हिन्दू विवाह का अर्थ
(Meaning of Hindu Marriage)

हिन्दू विवाह का अर्थ स्पष्ट करने के पूर्व यहां विवाह का अर्थ समझ लेना आवश्यक है। वेस्टरमार्क ने लिखा है, "विवाह एक या अधिक पुरुषों का एक या अधिक स्त्रियों के साथ होने वाला वह सम्बन्ध है जिसे प्रथा या कानून द्वारा स्वीकृति प्राप्त होती है तथा जिसमें इस सगठन में आने वाले दोनों पक्षों एवं उनसे उत्पन्न बच्चों के अधिकार और कर्तव्यों का समावेश होता है।"[4] हिन्दू विवाह की केवल दो विशेषताओं का संकेत इस परिभाषा में मिलता है, प्रथम, प्रथाओं का महत्त्व एवं द्वितीय, पति-पत्नी के अधिकार एवं कर्त्तव्य। लावी ने विवाह को परिभाषित करते हुए लिखा है "विवाह उन स्पष्ट रूप से स्वीकृत संयोगों को व्यक्त करता है जो इन्द्रिय-सम्बन्धी संतोष के पश्चात् भी स्थिर रहते हैं तथा पारिवारिक जीवन की आधारशिला बनते हैं।"[5] इन परिभाषाओं से स्पष्ट है कि विवाह विषम-लिंगियों का वह सम्बन्ध है जिसे प्रथा या कानून द्वारा मान्यता प्राप्त होती है तथा इस बन्धन में बन्धने वाले स्त्री-पुरुषों के एक-दूसरे के प्रति कुछ पारस्परिक अधिकार एवं कर्तव्य भी होते हैं।

इन परिभाषाओं के आधार पर हिन्दू विवाह को ठीक से नहीं समझा जा सकता। हिन्दू विवाह को डा० के० एम० कापडिया ने एक संस्कार कहा है। विविध संस्कारों को समय-समय पर सम्पन्न करता हुआ व्यक्ति आगे बढ़ता है, अपने व्यक्तित्व का विकास करता है, अपने आपको पूर्णता प्रदान करता है। एक हिन्दू के जीवन में संस्कार गर्भाधान से प्रारम्भ होते हैं और मृत्योपरान्त दाह-संस्कार के रूप में समाप्त होते हैं। हिन्दू जीवन के विभिन्न संस्कारों में विवाह एक अत्यन्त आवश्यक संस्कार माना गया है। गृहस्थ जीवन में प्रवेश करने की दृष्टि से हिन्दुओं में विवाह को अनिवार्य संस्कार माना गया है। स्त्रियों के लिए विशेष रूप से विवाह-संस्कार का विधान किया गया है। हिन्दू विवाह एक अन्य दृष्टिकोण से भी पवित्र धार्मिक संस्कार है। हिन्दू विवाह कुछ धार्मिक कृत्यों, जैसे—होम,

---

३. निरुक्त ३।४

4. "As a relation of one or more men to one or more women which is recognized by custom or law, and involves certain rights and duties both in the case of the parties entering the union and in the case of the children born of it," Westermark, 'The History of Human Marriage,' Vol I p 26

5. "Marriage denotes those unequivocally sanctioned unions which persist beyond sexual satisfaction, and thus come to underlie family life" Robert H. Lowie, 'Marriage in Encyclopaedia of Social Sciences' Vol X, p 146.

पाणिग्रहण तथा सप्तपदी आदि को सम्पन्न करने पर ही पूर्ण माना जाता है। पवित्र अग्नि की साक्षी मे ब्राह्मण वेद-मंत्रो के उच्चारण के साथ इन कृत्यो को पूर्ण करवाता है। साथ ही यह एक ऐसा धार्मिक बन्धन है जो जीवन-भर रहता है और जिसे तोडना हिन्दू सामाजिक मूल्यों की दृष्टि से अनुचित माना जाता है। यह कोई सामाजिक समझौता नहीं है जिसे दोनो पक्ष अपनी इच्छानुसार कभी भी समाप्त कर दें।

हिन्दुओ मे विवाह प्रत्येक व्यक्ति के लिए एक आवश्यक संस्कार के रूप मे स्वीकार किया गया है। 'मोक्ष प्राप्ति' हिन्दू के जीवन का अन्तिम लक्ष्य माना गया है और इसकी प्राप्ति के लिए पुत्र सन्तान का होना आवश्यक है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए मनुस्मृति मे कहा है, "माताएँ बनने के लिए स्त्रियो की उत्पत्ति हुई और पिता बनने के लिए पुरुषो की, इसलिए, वेद आदेश देते है कि पुरुष को अपनी पत्नी के साथ ही धार्मिक कार्य सम्पन्न करने चाहिए।"[6] वास्तव मे विषम-लिंगियो मे उचित सम्बन्ध-निर्वाह के लिए हिन्दू विवाह एक सामाजिक संस्था है।

शाब्दिक अर्थ की दृष्टि से विवाह का तात्पर्य वधू को वर के घर ले जाने से है, परन्तु वास्तव मे विवाह के अन्तर्गत वे सभी समारोह एवं कर्मकाण्ड आ जाते हैं जिनके माध्यम से लडके-लडकी समाज द्वारा मान्य पति पत्नी के सम्बन्धों मे बंधते हैं और एक-दूसरे के प्रति कुछ कर्त्तव्यो एवं अधिकारो को निभाते हैं। मधातिथि के अनुसार विवाह कन्या को पत्नी बनाने के लिए एक निश्चित क्रम से की जाने वाली अनेक विधियो से सम्पन्न होने वाला पाणिग्रहण-संस्कार है, जिसकी अन्तिम विधि सप्तर्षि-दर्शन है।[7] रघुनन्दन के अनुसार जिस (विधि) से नारी पत्नी बनती है, वह विवाह है,[8] अतः समाज द्वारा स्वीकृत विधि के द्वारा पति-पत्नी के सम्बन्धों मे बंधने को ही विवाह कहा जाता है। हिन्दू विवाह धर्म, प्रजा और रति की साधना का माध्यम है। हिन्दू विवाह मे रति अथवा काम-सन्तुष्टि को सबसे कम महत्त्व दिया गया है और इसे धार्मिक कार्यों के सम्पादन के लिए पुत्र प्राप्ति का साधन-मात्र माना गया है। हिन्दू विवाह स्त्री-पुरुष का पति पत्नी के रूप मे एक अलौकिक, अविच्छेद और शाश्वत् मिलन है जिसे तोडना अधार्मिक माना जाता है। इस सम्बन्ध मे हमें यह बात भी ध्यान मे रखनी होगी कि हिन्दुओ मे एक विवाह ही आदर्श माना गया है। यहाँ धार्मिक नियम तथा परम्पराओ के अनुसार एक स्त्री का साधारणतः अनेक पुरुषो से विवाह न होकर, एक पुरुष के साथ ही विवाह होता है।

हिन्दू विवाह के उद्देश्य

(Aims of Hindu Marriage)

कुछ सामाजिक एवं धार्मिक उद्देश्यों की पूर्ति हेतु प्रत्येक हिन्दू के लिए विवाह अनिवार्य माना गया है। विवाह के द्वारा गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके ही व्यक्ति अपनी आत्मोन्नति, देव, ऋषि, पितृ अतिथि और भूत ऋणों से उऋण, और परिवार और समाज के प्रति अपने दायित्वो को निभा सकता है। इसी माध्यम से व्यक्ति चार पुरुषार्थों की पूर्ति

---

६ मनुस्मृति, IX ९६

७ मनुस्मृति, ३।२०

८ उद्वाहतत्त्व-रघु भार्यात्वसम्पादक ग्रहण विवाह। पूर्वोक्त।

का प्रयास, धर्म का संचय और अर्थ का उपार्जन करता है। वह यौन इच्छाओं को पूर्ण करता हुआ सन्तानोत्पत्ति करता है और अन्त में मोक्ष-प्राप्ति की ओर बढ़ता है। एक कर्मयोगी के रूप में जीवन में साधना करता हुआ प्रत्येक हिन्दू अपने कर्तव्यों को निभाता, उत्तरदायित्वों को पूर्ण करता और स्वयं का आत्म-कल्याण करता है। इन्हीं सब कार्यों की पूर्ति के लिए धर्मशास्त्रों में हिन्दू विवाह के तीन प्रमुख उद्देश्य माने गये हैं—धर्म, प्रजा (पुत्र-प्राप्ति) और रति। डा. कापड़िया ने लिखा है, "धर्म, प्रजा (सन्तति), और रति (आनन्द) हिन्दू विवाह के उद्देश्य माने जाते हैं।"[9] यहाँ इन उद्देश्यों का वर्णन किया गया है :

१. धर्म-कार्यों की पूर्ति (Dharma-Performance of Religious Duties)

धार्मिक कर्त्तव्यों को पूर्ण करने के लिए जीवन-साथी प्राप्त करने हेतु विवाह किया जाता था। विवाह के अभाव में एक हिन्दू अपने धार्मिक कर्त्तव्यों का पालन नहीं कर सकता। वैदिक युग में यज्ञ करना अनिवार्य था, परन्तु पत्नी के बिना यह पूर्ण नहीं होता था। यही कारण है कि श्री रामचन्द्र जी को अश्वमेध यज्ञ के समय सीताजी की सोने की प्रतिमा स्थापित करनी पड़ी थी। याज्ञवल्क्य ने कहा है कि धर्म-कार्य चलाने के लिए एक पत्नी के मरने पर शीघ्र ही दूसरा विवाह करना चाहिए। कालीदास ने 'कुमार-सम्भव' में लिखा है कि कामदेव को जीतने वाले शिवजी ने जब सप्तर्षि और अरुंधती को अपने सम्मुख देखा तो उनकी अरुंधति से विवाह करने की इच्छा हुई क्योंकि धर्म-सम्बन्धी क्रियाओं के सम्पादन के लिए पतिव्रता स्त्री मूल आवश्यकता है। धार्मिक कार्यों की इसी महत्ता के कारण पत्नी को पुरुष की धर्म-पत्नी कहा गया है।

हिन्दू धर्म में विभिन्न कर्त्तव्यों की पूर्ति पर विशेष जोर दिया गया है। हिन्दू जीवन के ये विविध कर्त्तव्य 'यज्ञ' कहे गए हैं। "इन यज्ञों को सम्पन्न करने के लिए पत्नी का होना आवश्यक है। हिन्दू समाज में प्रत्येक गृहस्थ के लिए पाँच महायज्ञ—ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, पितृयज्ञ तथा नृयज्ञ करना आवश्यक बताया गया है। पत्नी के अभाव में अविवाहित व्यक्ति इन यज्ञों की पूर्ति नहीं कर सकता। डा० सम्पूर्णानन्द ने हिन्दू विवाह के इस उद्देश्य के सम्बन्ध में कहा है कि तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार पत्नीहीन मनुष्य यज्ञ का अधिकारी नहीं होता। यज्ञ केवल उस कृत्य को नहीं कहते जिसमें मन्त्र पढ़कर अग्नि में आहुति डाली जाती है, जो कोई भी काम शुद्ध बुद्धि से किया जाए, वह यज्ञ हो सकता है, परन्तु उत्कृष्ट यज्ञ वह है जो परार्थ किया जाए।..................वेदों में कहा गया है कि "सृष्टि के प्रारम्भ में जीवों के कल्याण हेतु देवताओं ने यज्ञ किया। यह विश्व शिव-शक्ति का महायज्ञ है, इसलिए यज्ञ में पति-पत्नी का योग आवश्यक है। शरीर दो हैं, परन्तु चित्त एक है, संकल्प एक है, लक्ष्य एक है—तभी यज्ञ सम्पन्न होता है।" स्पष्ट है कि धार्मिक कर्त्तव्यों की पूर्ति के लिए विवाह द्वारा पत्नी प्राप्त करना आवश्यक है। समाज में व्यवस्था बनाए रखने, और नैतिकता की रक्षा के लिए विवाह के इस उद्देश्य का अत्यन्त महत्त्व है।

---

9 "The aims of Hindu marriage are said to be Dharma, Praja (Progeny), and Rati (Pleasure)" K. M. Kapadia : "Marriage and Family in India" p. 167.

२ प्रजा अथवा पुत्र-प्राप्ति (Progeny)

हिन्दू विवाह का दूसरा उद्देश्य सन्तानोत्पत्ति माना गया है और पुत्र-प्राप्ति को विशेष महत्त्व दिया गया है। इसका कारण यह है कि पुत्र के द्वारा ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। पुत्र जब तक अपने पितरो को तर्पण और पिण्डदान प्रदान नही करता, तब तक उन्हे मोक्ष प्राप्त नही होता। ऋग्वेद मे अनेक स्थानो पर पुत्रो की कामना की गई है। पाणिग्रहण के अवसर पर मन्त्रो के माध्यम से वर वधू को कहता है–"मै उत्तम सन्तान प्राप्त करने हेतु तुमसे वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर रहा हू।" यशस्वी और दीर्घायु पुत्रो की उत्पत्ति पर हिन्दू विवाह मे जोर दिया गया है क्योंकि ऐसी सन्तान ही इहलोक और परलोक मे सुख प्रदान करने वाली होती है। महाभारत मे कहा गया है कि जो पुरुष सन्तान (पुत्र) को जन्म नही देता वह अधार्मिक होता है। सन्तान को तीनों वेद और सदैव बना रहने वाला देवता माना गया है। इस भवसागर अथवा ससार को पार करने के लिए पुत्ररूपी नौका आवश्यक है। मनुसहिता और महाभारत मे पुत्र शब्द की उत्पत्ति पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि पुत्र वह है जो अपने पिता को नरक अर्थात् पुत् मे जाने से बचाये। इस प्रकार पितृयज्ञ को सम्पन्न करने और पितृ-ऋण से उऋण होने के लिए पुत्र की उत्पत्ति आवश्यक मानी गई है। परिवार और समाज की निरन्तरता को ध्यान मे रखकर ही सम्भवतः हिन्दू शास्त्रकारो ने विवाह के इस लक्ष्य को इतनी महत्ता प्रदान की है।

३ रति (Sex Pleasure) ·

रति का तात्पर्य समाज द्वारा स्वीकृत तरीके से अपनी यौन-इच्छाओ की पूर्ति करना है। साधारणतः 'काम' अथवा यौन-इच्छाओ की पूर्ति सभी समाजो मे विवाह के एक उद्देश्य के रूप मे मान्य है। यौन-सुख की प्राप्ति को उपनिषदो मे सबसे बडे आनन्द के रूप मे महत्ता प्रदान की गई है। रति का तात्पर्य व्यभिचार या वासना से न होकर धर्मानुकूल 'काम' से है। हिन्दू धर्मशास्त्रो मे जहाँ यौन-इच्छाओ की तृप्ति को मनुष्य के लिए आवश्यक बताया गया है, वहाँ साथ ही यह प्रतिबन्ध भी लगाया गया है कि उसे केवल अपनी पत्नी के साथ ही सहवास करना चाहिए और वह भी उत्तम सन्तान की उत्पत्ति हेतु। हिन्दू विवाह के तीन उद्देश्यों मे महत्त्व की दृष्टि से इसे निम्न अर्थात् तृतीय स्थान दिया गया है। इस सम्बन्ध मे डा० कापडिया का यह कथन उल्लेखनीय है, "यद्यपि काम अथवा यौन-सम्बन्ध विवाह का एक कार्य (उद्देश्य) अवश्य है किन्तु इसे तीसरा स्थान दिया गया है, जिससे स्पष्ट है कि यह विवाह का अत्यन्त ही कम वाछनीय उद्देश्य है। विवाह मे यौन-सम्बन्ध की निम्नतर भूमिका पर बल देने के लिए ही कहा जाता है कि शूद्र का विवाह केवल यौन-सम्बन्ध के लिए ही होता है।··· ·········शूद्र पत्नी को यौन सम्बन्ध के साथ इस प्रकार जोडना विवाह में रति का उचित स्थान देने का एक तरीका है।"[10]

इन तीनो उद्देश्यों के अतिरिक्त हिन्दू विवाह सस्था कुछ अन्य उद्देश्यों की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने एवं चार पुरुषार्थों की प्राप्ति की दृष्टि से हिन्दू विवाह एक आवश्यक सस्कार है। तीन प्रकार के ऋणों से उऋण होने के लिए विवाह

---

10. Ibid, p. 167.

आवश्यक है। पितृ-ऋण से मुक्त होने हेतु पुत्र सन्तान को जन्म देना अनिवार्य है जिससे वह पितरो को तर्पण और पिण्डदान दे सके। वैवाहिक बन्धन मे बध कर ही व्यक्ति इस ऋण से उऋण हो सकता है। इस प्रकार विवाह के द्वारा व्यक्ति मृत व्यक्तियो के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन करने मे सफल होते है। इसी प्रकार अन्य ऋणो से छुटकारा पाने के लिए भी विवाह आवश्यक है। स्त्री-पुरुष के व्यक्तित्व के समुचित विकास के लिए विवाह अनिवार्य है। शतपथ ब्राह्मण मे कहा है कि पत्नी निश्चय से पति का आधा है, अत. जब तक पुरुष पत्नी प्राप्त नही करता, सन्तान उत्पन्न नही करता, तब तक वह पूर्ण नही होता, किन्तु जब वह पत्नी प्राप्त करता है, सन्तति को जन्म देता है तो वह पूर्ण बन जाता है। स्त्री के अभाव मे पुरुष का और पुरुष के अभाव मे स्त्री का जीवन अपूर्ण रहता है—दोनो एक-दूसरे के पूरक हैं। विवाह स्त्री-पुरुष के मानसिक जीवन को सन्तुलित बनाता है और उनकी पशु-प्रवृत्तियो को नियन्त्रित करने मे योग देता है। विवाह सम्बन्धी विविध विधि-विधानो से पति-पत्नी को उनके अधिकार एव कर्त्तव्य और जीवन की वास्तविकताओ से परिचित कराने का प्रयास किया जाता है। इन सबका स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि पारिवारिक सगठन बना रहता है और व्यक्ति परिस्थितियो के साथ अनुकूलन कर पाता है। विवाह-सस्था व्यक्ति को अपने परिवार और समाज के प्रति दायित्वो का निर्वाह करने की प्रेरणा प्रदान करती है और उसमे त्याग की भावना को जाग्रत करती है। परिवार के प्रति भी व्यक्ति का कुछ कर्त्तव्य होता है। बूढ़े माता-पिता की सेवा का उत्तरदायित्व, समाज सन्तान को ही सौपता है और इसको निभाने के लिए विवाह आवश्यक है। इसके अलावा परिवार की परम्पराओ, प्रथाओ तथा धार्मिक मान्यताओ की निरन्तरता हेतु भी विवाह आवश्यक है। व्यक्ति का अपने समाज के प्रति भी कुछ दायित्व है और विवाह करके ही वह इस दायित्व को भली-भाँति निभा सकता है। विवाह करके सन्तान को जन्म देने से ही समाज की निरतरता बनी रह सकती है।

मुरडॉक (Murdock) नामक विद्वान ने विश्व के २५० समाजो मे विवाह के उद्देश्यो का तुलनात्मक अध्ययन करके बताया है कि यौन-सम्बन्धी आनन्द, आर्थिक सहयोग एव बालको का पालन-पोषण, विवाह के मुख्य उद्देश्य है। हिन्दू शास्त्रकारो ने सन्तानोत्पत्ति एव यौन सम्बन्धी आनन्द को तो विवाह के उद्देश्यो मे सम्मिलित किया है, परन्तु पति-पत्नी के आर्थिक सहयोग को कोई स्थान नहीं दिया, हालांकि 'अर्थ' को एक पुरुषार्थ के रूप मे अवश्य स्वीकार किया गया है।

वर्तमान मे विवाह के धार्मिक उद्देश्य की महत्ता प्राय समाप्त होती जा रही है। यौन-इच्छाओ की पूर्ति और सन्तानोत्पत्ति ही आज विवाह के मुख्य उद्देश्य रह गए हैं। वश की निरन्तरता, परिवार की सम्पत्ति-रक्षा तथा वृद्धावस्था मे सहायता की आशा विवाह के प्रमुख लक्ष्यो के रूप मे आज भी महत्वपूर्ण हैं। सामाजिक एव आर्थिक सुरक्षा के दृष्टिकोण से स्त्रियो के लिए विवाह आवश्यक है। नीची जातियो मे विवाह के उद्देश्यों के रूप मे यौन-इच्छाओ की पूर्ति और आर्थिक सहयोग का महत्व पाया जाता है। वर्तमान में विवाह के उद्देश्य आदर्शों से बहुत कुछ भिन्न होते जा रहे है।

हिन्दू विवाह के स्वरूप
(Forms of Hindu Marriage)

यहाँ हिन्दू विवाह के 'स्वरूप' शब्द का प्रयोग वैवाहिक सम्बन्ध में बंधने की पद्धति को व्यक्त करने की दृष्टि से किया गया है। मनु और अनेक अन्य स्मृतिकारों ने हिन्दू विवाह के आठ और वशिष्ठ ने छः प्रकार बताये हैं। इस प्रकार के विवाहों में से प्रथम चार—ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्राजापत्य को श्रेष्ठ एवं धर्मानुसार और शेष चार—असुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच को निकृष्ट एवं अधर्मानुसार माना गया है। हिन्दू-शास्त्रकार स्त्री के सम्मान और शील-रक्षा को विशेष महत्त्व देते रहे हैं, वे उसके जीवन को नष्ट होने से बचाने की दिशा में विशेष प्रयत्नशील रहे हैं। यही कारण है कि उन्होंने 'पैशाच' जैसे विवाह को अत्यन्त अधम मानते हुए भी, विशेष परिस्थितियों मे मान्यता प्रदान की है। मनु के अनुसार, प्रथम श्रेणी के विवाहों से उत्पन्न सन्तान यशस्वी, शीलवान्, सम्पत्तिवान् तथा अध्ययनशील होती है और द्वितीय श्रेणी के विवाहों से उत्पन्न सन्तान दुराचारी, धर्म-विरोधी एवं मिथ्यावादी होती है। यहाँ हिन्दू विवाह के इन्हीं आठ स्वरूपों का वर्णन किया जा रहा है :

१. ब्राह्म (Brahma) :

विवाह के आठ प्रकारों में इसे सर्वश्रेष्ठ माना गया है। लड़की का पिता योग्य, वेद, पारंगत और सुचरित्र व्यक्ति को अपने यहां आमन्त्रित कर वस्त्र और आभूषणों से सुसज्जित अपनी लड़की दान के रूप में उसे देता है। ऐसे विवाह में योग्य एव सुसंस्कृत व्यक्ति का पता लगाना माता-पिता का अनिवार्य उत्तरदायित्व माना गया है, कन्यादान के लिए सुयोग्य पात्र का होना आवश्यक समझा गया है।

२. दैव (Daiva) :

ऐसे विवाह में पिता वस्त्रालंकारों से सुसज्जित अपनी कन्या को दान के रूप मे उस व्यक्ति को देता है जो यज्ञ-कार्य को पुरोहित के रूप मे सफलतापूर्वक सम्पन्न करता था। सद्कर्म मे लगे पुरोहित को दान के रूप में लड़की देना ही दैव विवाह है। कुछ स्मृतिकारों ने दैव-विवाह की इस आधार पर आलोचना की है कि ऐसे विवाहों मे वर-वधू की आयु में काफी भिन्नता पाई जाने की सम्भावना रहती है। वर्तमान समय में दैव विवाहों का प्रचलन कहीं नहीं पाया जाता। ए. एस. अल्तेकर ने उचित ही लिखा है, "दैव विवाह वैदिक यज्ञों के साथ-साथ लुप्त हो गए।"[11]

३. आर्ष (Arsha) :

ऐसे विवाह मे धार्मिक कृत्य पूर्ण करने हेतु एक गाय और एक बैल अथवा इनके दो जोड़े वर से प्राप्त करने के पश्चात् पिता अपनी लड़की उसे, दान के रूप मे देता है। गाय और बैल की यह भेंट उस व्यक्ति के प्रति आदर-भाव एवं कृतज्ञता व्यक्त करने का प्रतीक-मात्र है जिसने गृहस्थ-धर्म से सम्बन्धित दायित्वों को पूर्ण करने के लिए अपनी कन्या दी है। वास्तव के आर्ष का सम्बन्ध ऋषि शब्द से है। जब कोई ऋषि किसी लड़की के पिता को गाय और बैल भेंट के रूप मे देता था तो यह समझ लिया जाता था कि अब उसने विवाह करने का निर्णय ले लिया है। ऋषियों से सम्बन्धित होने के कारण

11. "Daiva marriages disappeared with vedic sacrifices." A. S. Altekar, "The Position of Women in Hindu Civilization," p. 45.

ही ऐसे विवाहो को 'आर्ष' कहा गया है। अल्तेकर का विचार है कि लडकी के पिता को गाय और बैल भेंट-स्वरूप देने की प्रथा कन्या मूल्य-प्रथा का ही अवशेष है। आजकल इस प्रकार के विवाह सम्पन्न नही होते।

४. प्राजापत्य (Prajapatya) :

इस प्रकार के विवाह मे, ब्राह्म विवाह के समान ही लडकी का पिता कन्या-दान के रूप मे अपनी लडकी देता है। इतना अन्तर अवश्य है कि लडकी का पिता वर-वधू को सम्बोधित कर आदेश देता है—"तुम दोनो मिलकर आजीवन धर्म का आचरण करो।" वास्तव मे प्राजापत्य और ब्राह्म विवाह मे कोई अन्तर नही है। प्राजापत्य मे धर्मानुसार आचरण करने की बात लडकी का पिता स्पष्टतः व्यक्त अवश्य कर देता है। डा० अल्तेकर ने बताया है कि विवाह के आठ प्रकारो की सख्या को पूर्ण करने हेतु ही इस पद्धति को पृथक रूप दे दिया गया है। वशिष्ठ और आपस्तम्ब ने प्राजापत्य विवाह का कही भी उल्लेख नही किया।

उपर्युक्त चार प्रकार के विवाहो की मुख्य विशेषता यह है कि इनमे पिता अपनी लडकी, योग्य वर को दान के रूप मे देता है, जबकि आगे बताये हुए विवाह के चार अन्य प्रकारो मे वर, कन्या का मूल्य चुका कर उसका अपहरण, उसके साथ कुकृत्य अथवा उससे प्रेम करके वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करता है।

५. असुर (Asura) :

मनुस्मृति में लिखा है कि जब कन्या अथवा उसके पिता को कुछ धन-राशि देकर कन्या के साथ विवाह किया जाए तब ऐसा विवाह असुर विवाह कहा जाता है। ऐसे विवाह मे कन्या का मूल्य चुकाया जाता है। वधू-मूल्य देकर सम्पन्न किये जाने वाले सभी विवाह असुर विवाह की श्रेणी मे ही आते हैं। सम्भवत इस प्रकार के विवाहो के प्रचलन का मुख्य कारण यह था कि विवाह मे बिना कुछ लिए लडकी देना परिवार के लिए अपमानजनक समझा जाता था, क्योकि विवाह के पश्चात् लडकी की उपयोगिता से माता-पिता को वंचित होना पडता, इसलिए क्षति-पूर्ति के रूप मे कुछ राशि मिलना आवश्यक माना जाता था। विशेष रूप से निम्न जातियो मे ऐसे विवाहो का प्रचलन रहा है और आज भी है। उच्च जातियो मे ऐसे विवाहो को घृणा अथवा हीनता की दृष्टि से देखा जाता है।

६ गान्धर्व (Gandharva) .

गान्धर्व विवाह का तात्पर्य वर अथवा वधू का स्वय अपने लिए चुनाव करना है। स्वयवर द्वारा विवाह की प्रथा का प्रचलन इस देश मे प्राचीन-काल से ही रहा है। इसके अन्तर्गत स्वय किसी राजकुमारी द्वारा अपने पति का चुनाव किया जाता था। ऐसे विवाह सदैव अपनी पसन्द के हो, यह आवश्यक नही था क्योकि कई बार किसी कौशलपूर्ण कार्य मे सफलता प्राप्त करना विवाह सम्पन्न होने के लिए आवश्यक था। मनुस्मृति मे कहा है कि जब काम के वश मे होकर कन्या एव वर, विवाह से पूर्व ही यौन-सम्बन्ध स्थापित कर लें, तो ऐसे विवाह को गान्धर्व विवाह कहा जाता है।[12] शरीर-संयोग होने मात्र से

---

१२. मनुस्मृति, ३। ३२।

विवाह पूर्ण नही मान लिया जाता, उचित विधियो का पालन करने के पश्चात् ही ऐसा विवाह सम्पन्न माना जाता है। 'सत्यार्थ प्रकाश' मे अनियम एवं असमय किसी कारणवश वर-कन्या मे इच्छापूर्वक परस्पर सयोग होना 'गान्धर्व विवाह' माना गया है। ऐसे विवाहो के लिए माता-पिता की इच्छा अथवा स्वीकृति का कोई प्रश्न नही उठता। दुष्यन्त और शकुन्तला का विवाह गान्धर्व विवाह की श्रेणी मे ही आता है। साधारणतः ब्राह्मण लेखक ऐसे विवाहो को अच्छा नही मानते थे। बौधायन एवं वात्स्यायन ने निकृष्ट कोटि के विवाहो मे ऐसे विवाह को सबसे उत्तम माना है। आधुनिक समय मे ऐसे विवाहों को प्रेम-विवाह कहते है।

७ राक्षस (Rakshasa) :

शक्ति द्वारा कन्या का अपहरण करके उसके साथ विवाह करना राक्षस विवाह है। मनुस्मृति के अनुसार 'युद्ध हरणेन राक्षस' अर्थात युद्ध म कन्या का हरण करके उसके साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करना ही राक्षस विवाह है। इस प्रकार के विवाहो का प्रचलन उस समय अधिक था जब युद्धो का काफी महत्त्व था और स्त्रियो को युद्ध का पुरस्कार समझा जाता था। महाभारत-काल मे ऐसे विवाह सम्भवत. अधिक होत थ। श्रीकृष्ण-रुक्मिणी एवं अर्जुन सुभद्रा के विवाह इसी विवाह पद्धति के अन्तगत आत है। ऐसे विवाह मे वर-पक्ष के लोग कन्या-पक्ष वालो का मार-पीट कर, उनका घर तोड़कर, छीन-झपट कर अथवा कपट से रोती-बिलखती हुई कन्या को उसके घर से ले जात और फिर उसके साथ विवाह कर लिया जाता। ऐसे विवाह क्षत्रियो म विशेष रूप से प्रचलित रहे है, इस कारण इन्हे क्षात्र विवाह भी कहा जाता है। वर्तमान म ऐसे विवाहों का प्रचलन समाप्तप्राय हो चुका है।

८. पैशाच (Paisacha) .

जब सोई हुई, नशे मे उन्मत्त अथवा मानसिक रूप से असन्तुलित लड़की को चुपचाप भ्रष्ट कर, उसका शील भग कर, और फिर उसके साथ विवाह सम्बन्ध स्थापित कर लिया जाए ता ऐसे विवाह का पैशाच विवाह कहते है। बलपूर्वक कुकृत्य कर लेने के बाद भी विवाह से सम्बन्धित विधियो को पूरा कर लने पर ऐसे विवाहो को मान्यता दे दी जाती थी। इसका मुख्य कारण लड़कियो के कौमार्य भग के बाद समाज के बहिष्कार से उनको बचाना था, उनके सम्मान को बनाए रखना था। ऐसे विवाहों को अत्यन्त निकृष्ट या अधम माना गया है। वशिष्ठ तथा आपस्तम्ब ने तो ऐसे विवाहो को मान्यता प्रदान नहीं की है। लड़की का दोष नही होने के कारण कई धर्म-शास्त्रकारो ने अत्यन्त अधम समझते हुए भी ऐसे विवाहो का मान्यता दी है।

'सत्याथ प्रकाश' मे उपर्युक्त आठ प्रकार के विवाहो मे से ब्राह्म विवाह को सर्वश्रेष्ठ, दैव और प्राजापत्य को मध्यम, आर्ष, असुर और गान्धर्व को निम्न कोटि का, राक्षस को अधम तथा पैशाच को महाभ्रष्ट माना है। वर्तमान मे हिन्दुओ मे अधिकतर ब्राह्म और असुर विवाह होते है, कहीं-कहीं गान्धर्व और पैशाच विवाह पाये जाते हैं, परन्तु दैव, आर्ष, प्राजापत्य और राक्षस विवाह समाप्त हो चुके हैं। डा० मजुमदार के अनुसार, "हिन्दू समाज अब केवल दो स्वरूपों को मान्यता देता है—ब्राह्म तथा असुर, उच्च जातियो मे पहले प्रकार का और निम्न जातियों मे दूसरे प्रकार का प्रचलन है, यद्यपि उच्च जातियों

मे असुर विवाह प्रथा पूर्णत नष्ट नही हुई है।"[13] वर्तमान समय मे शिक्षित लोगो में कुछ मात्रा मे गान्धर्व विवाह, जिन्हे आजकल 'प्रेम विवाह' (Love Marriage) कहते है, होने लगे हैं।

हिन्दू विवाह : एक धार्मिक संस्कार
(Hindu Marriage A Religious Sacrament)

हिन्दू विवाह के उद्देश्यो एव विविध स्वरूपो से स्पष्ट है कि यह एक धार्मिक संस्कार है, एक समझौता-मात्र नहीं। संस्कार शब्द के अर्थ को स्पष्ट करते हुए तथा विवाह संस्कार की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए डा आर एन. सक्सेना ने लिखा है, "हिन्दू धर्म-शास्त्रो के अनुसार संस्कार शब्द का तात्पर्य ऐसे धार्मिक अनुष्ठान से है जिसके द्वारा मानव जीवन की क्षमताओ का उद्घाटन होता है, जो मानव को सामाजिक जीवन के योग्य बनाने वाले आन्तरिक परिवर्तनों का प्रतीक होता है और जिसके द्वारा संस्कार-दीक्षित व्यक्ति को स्तर-विशेष प्राप्त होता है। गर्भाधान से लेकर मृत्यु और उसके उपरान्त तक अनेक प्रकार के संस्कार माने गए हैं, पर कुल संस्कारो की संख्या और स्वरूप के विषय मे स्मृतिकार एकमत नहीं हैं। हाँ, यह अवश्य है कि विवाह को सभी ने एक आवश्यक संस्कार माना है जिसके बिना मनुष्य का धार्मिक, सामाजिक और आध्यात्मिक उत्कर्ष असम्भव है।"[14] हिन्दू विवाह मे प्रारम्भ से लेकर अन्त तक अनेक प्रकार के धार्मिक विधि-विधानो, अनुष्ठानो एव आदर्शों की प्रधानता पाई जाती है। हिन्दू विवाह के उद्देश्यो से जीवन मे धार्मिकता का महत्त्व प्रकट होता है। हिन्दुओ मे विवाह को एक पवित्र और अटूट बन्धन माना जाता है जिसे इच्छानुसार कभी भी तोड़ना अनुचित और पाप समझा जाता है। हिन्दू विवाह व्यक्ति के जीवन को परिष्कृत करता, उसे आध्यात्मिकता की ओर बढ़ने के लिए अवसर प्रदान करता एव धार्मिक मान्यताओ के अनुसार कर्तव्य-पथ पर बढ़ने के लिए प्रोत्साहित करता है। हिन्दू विवाह की निम्नलिखित विशेषताओं के आधार पर यह स्पष्टत कहा जा सकता है कि यह एक धार्मिक संस्कार है

१ विवाह का प्रमुख आधार-धर्म (Religion as Main Basis of Marriage) :

हिन्दू विवाह के उद्देश्यो पर विचार करने से स्पष्ट होता है कि यहाँ विवाह का मुख्य आधार धर्म है। प्रत्येक हिन्दू के लिए अपनी पत्नी सहित पच महायज्ञ करना आवश्यक कर्तव्य बताया गया है। हिन्दू धर्मशास्त्रो के अनुसार बिना पत्नी के कोई भी धार्मिक कार्य नहीं किया जा सकता। यहाँ विवाह मुख्य रूप मे कर्तव्यो की पूर्ति के लिए किया जाता है। डा० कापडिया ने उचित ही लिखा है, "यह स्पष्ट है कि जब हिन्दू विचारको ने धर्म को विवाह का प्रथम तथा सर्वोच्च उद्देश्य तथा सन्तानोत्पादन को इसका दूसरा श्रेष्ठ उद्देश्य माना, तो स्वाभाविक रूप से विवाह पर धर्म का आधिपत्य हो गया। विवाह की इच्छा रति या सन्तानोत्पत्ति के लिए इतनी अधिक नहीं की जाती थी जितनी अपने धार्मिक कर्त्तव्यों के पालनार्थ एक साथी प्राप्त करने के लिए।"[15] विवाह का दूसरा उद्देश्य सन्तानोत्पत्ति माना गया है। मोक्ष प्राप्ति के लिए परिवार मे पुत्र का होना आवश्यक

---

13 D N Majumdar, Races and Cultures of India p 173

१४. डा० आर० एन० सक्सेना, "भारतीय समाज तथा सामाजिक संस्थाएं, पृष्ठ २२-२३

15 K M Kapadia, op cit, p 167

समझा जाता था। मनुसंहिता एवं महाभारत में पुत्र शब्द की व्युत्पत्ति पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि जो अपने पिता को पुत् यानी नरक में जाने से बचाये, वही पुत्र है। पुत्र की इसी महत्ता के कारण परिवार में पुत्र का स्थान इतना ऊँचा हो गया कि सन्तानोत्पत्ति, परिवार तथा समुदाय के हित में अनिवार्य समझी जाने लगी। विवाह के तृतीय उद्देश्य—रति को अधिक महत्त्व नहीं दिया गया है। इस विवरण से स्पष्ट है कि विविध धार्मिक क्रियाओं के सम्पादन की दृष्टि से विवाह एक आवश्यक संस्कार है।

२. विवाह की अविच्छेद्य प्रकृति (Irrevocable Nature of Marriage) :

हिन्दू विवाह एक ईश्वर-इच्छित पवित्र बन्धन के रूप में माना जाता है जो कभी भी तोड़ा नहीं जा सकता। हिन्दू विवाह में बंधने वाले पति-पत्नी मृत्यु-पर्यन्त एक-दूसरे से बंधे रहते हैं। विवाह हिन्दुओं में जन्म-जन्मान्तर का सम्बन्ध माना गया है और ऐसा विश्वास किया जाता है कि जन्म-जन्मान्तर के साथी फिर से मिल जाते हैं। विवाह की इस अविच्छेद्य प्रकृति के कारण ही पति-पत्नी एक-दूसरे से अनुकूलन का प्रयत्न करते हैं न कि अलग होने का। यहाँ व्यक्ति को सामञ्जस्य द्वारा विवाह सफल बनाने के लिए प्रेरित किया गया है। दम्पत्ति जीवन में त्याग को महत्त्व देते हुए एक-दूसरे के अनुसार अपने आपको बनाने का प्रयत्न करते हैं। इसी कारण सम्भवत: प्राचीन भारतीय परिवार में दाम्पत्य जीवन में संघर्ष की सम्भावना नहीं पाई जाती। विवाह की अविच्छेद्य प्रकृत्ति का स्पष्ट ज्ञान 'पतिव्रत्ता' एवं 'सती' की धारणाओं से होता है। इससे ज्ञात होता है कि विवाह एक पवित्र धार्मिक गठबन्धन है जिसे समाप्त करना पति-पत्नी की इच्छा-मात्र पर निर्भर नहीं करता।

३. ऋणों से उऋण होने हेतु विवाह आवश्यक (Marriage-Essential for Getting Rid of Rinas) :

धर्मशास्त्रों में विवाह को स्वर्ग का द्वार माना गया है। गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के लिए विवाह आवश्यक है और बिना गृहस्थाश्रम में प्रवेश किये ऋणों से उऋण होना सम्भव नहीं है। व्यक्ति पर जन्म से अनेक ऋण रहते हैं और विवाह करके ही वह पंच महायज्ञों द्वारा विविध ऋणों से छुटकारा पा सकता है। विवाह द्वारा पत्नी प्राप्त किए बिना व्यक्ति, वानप्रस्थ एवं सन्यास आश्रम के दायित्व भी पूर्ण नहीं कर सकता। धार्मिक साहित्य में अनेक ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि विवाह किये बिना तपस्वियों एवं ऋषियों तक को स्वर्ग प्राप्त नहीं हो सकता।

४. विवाह के लिए आवश्यक धार्मिक अनुष्ठान एवं संस्कार (Necessary Rituals and Ceremonies for Marriage) :

पी. वी. काणे ने हिन्दू विवाह सम्पन्न होने के लिए ३९ प्रमुख अनुष्ठानों एवं संस्कारों का उल्लेख किया है।[16] इन धार्मिक कृत्यों को पूर्ण किये बिना हिन्दू विवाह सम्पन्न नहीं माना जाता। ये सब कृत्य धार्मिक विश्वासों से परिपूर्ण हैं और इनसे स्पष्ट पता चलता है कि वैवाहिक जीवन में धर्म को प्रधानता दी गई है। यहाँ विवाह से सम्बन्धित कुछ प्रमुख संस्कारों का वर्णन किया जा रहा है ताकि विवाह की धार्मिक प्रकृति को ठीक से समझा जा सके।

---

16. P. V. Kane, "History of Dharmashastra", Vol. II, pp. 531-36.

वाग्दान —इस अनुष्ठान में वर-पक्ष की ओर से रखा गया विवाह प्रस्ताव कन्या-पक्ष द्वारा स्वीकार किया जाता है। वैदिक मन्त्रों एवं गृह्य-सूत्रों में वर पक्ष के द्वारा विवाह का प्रस्ताव रखने एवं कन्या-पक्ष द्वारा उसे स्वीकार करने की व्यवस्था पाई जाती है, परन्तु आजकल यह स्वीकृति वर-पक्ष द्वारा प्रदान की जाती है।

कन्यादान —पिता अपनी पुत्री को धार्मिक भाव से पति को समर्पित करता है और पति इसी भाव से उसे स्वीकार करता है। पति अपनी पत्नी से कहता है कि "तू वृद्धावस्था मेरे साथ प्राप्त कर, मेरे द्वारा दिए हुए वस्त्र धारण कर, कामी पुरुषों से अपनी रक्षा कर तथा तू सौ वर्ष की आयु वाली हो एवं धन और सन्तान वाली हो।" तत्पश्चात् दोनों कहते हैं कि हम प्रसन्नतापूर्वक गृहस्थाश्रम में एकत्र रहने के लिए एक-दूसरे को ग्रहण करते हैं और हम दोनों के हृदय जल के समान शान्त और मिले हुए रहेंगे। यहाँ पिता अपनी कन्या को दान के रूप में देता हुआ वर से यह आश्वासन मांगता है कि वह धर्म, अर्थ, और काम की पूर्ति में कभी भी अपनी पत्नी का त्याग नहीं करेगा। यहाँ इस अनुष्ठान के द्वारा यह आदर्श प्रस्तुत किया गया है कि पत्नी आजीवन अपने पति की संगिनी बनी रहेगी।

विवाह होम —पवित्र अग्नि की साक्षी में विवाह बन्धन सम्पन्न होता है। वर और वधू अग्नि में अनेक आहुतियाँ देते हैं। इस समय यह प्रार्थना की जाती है कि अग्नि कन्या की रक्षा करे, उसकी सन्तान को परमात्मा काफी आयु दे, वह जीवित रहने वाली सन्तान की माता हो और पुत्र-सम्बन्धी आनन्द प्राप्त करे। अग्नि को देवता मानकर उसमें आहुतियाँ देकर एक समृद्ध और आदर्श गृहस्थ जीवन की कामना की जाती है।

पाणिग्रहण —पाणिग्रहण का तात्पर्य है—दूसरे के हाथ को ग्रहण करना। इसमें वर वधू के हाथ को पकड कर छः मन्त्रों का उच्चारण करता है। ये मन्त्र प्रतिज्ञा के रूप में हैं। वह वधू से कहता है कि "मैं तेरा हाथ पकड कर सुख की इच्छा करता हूं, वृद्धावस्था तक तू मेरे साथ रहना, तेरा पोषण करना मेरा धर्म है और मेरे द्वारा सन्तान को जन्म देते हुए तू सौ वर्ष की दीर्घायु प्राप्त करना।" इन मन्त्रों में यह भी बताया गया है कि हम दोनों एक दूसरे के हाथ बिक चुके हैं और हम कभी एक दूसरे को अप्रिय नहीं करेंगे। इन पवित्र वेद-मन्त्रों से जहाँ गृहस्थाश्रम के दायित्वों का बोध होता है, वहाँ यह भी स्पष्ट होता है कि विवाह एक धार्मिक संस्कार है।

अग्नि-परिणयन —इसमें वर और वधू अग्नि की परिक्रमा करते हैं और अग्नि को साक्षी करके वर कहता है कि "मैं सामवेद के समान प्रशंसित हूं और तू ऋग्वेद के समान प्रशंसित है, तू पृथ्वी के समान है और मैं सूर्य के समान हूं, हम दोनों प्रसन्नतापूर्वक विवाह करें, साथ मिलकर उत्तम प्रजा उत्पन्न करें, हमारे बहुत से पुत्र हों, हम और हमारे पुत्र सौ वर्ष तक देखते-सुनते रहें और सौ वर्ष तक जीवित रहें।"

अश्मारोहण —इसके अन्तर्गत कन्या का भाई कन्या का पैर उठाकर पत्थर की शिला पर रखवाता है। इस अवसर पर वर वधू से कहता है कि हे देवी—तू इस पत्थर पर चढ और इस पत्थर के समान ही धर्म-कार्यों में दृढ बनी रह। यहाँ वधू से सब स्थितियों का दृढतापूर्वक मुकाबला करने के लिए कहा गया है।

लाजाहोम —इसमें वर और वधू पूर्व की ओर मुंह करके खडे हो जाते हैं, फिर वधू अपने भाई से खीलें (भुने हुए चावल) लेकर अग्नि कुण्ड में डालते हुए तीन मन्त्रों का

उच्चारण करती है। कन्या ईश्वर की आज्ञा-पालन के लिए पिता-कुल छोड़कर पति-कुल मे जाने के लिए तैयार है। वह देवताओ से प्रार्थना करती है कि उसका पति दीर्घजीवी हो और उसके पितृ-कुल एव पति-कुल के लोग धन धान्य से पूर्ण हो। वह देवताओ से प्रार्थना करती हुई इच्छा व्यक्त करती है कि पति के साथ उसका प्रेम बढता रहे।

सप्तपदी —ग्रन्थि-बन्धन किये हुए वर-वधू का उत्तर दिशा की ओर सात पैर चलना ही सप्तपदी है। प्रत्येक पैर साथ-साथ बढाते हुये मन्त्रोच्चारण किया जाता है। इन सात मन्त्रों मे वर, वधू की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति का दायित्व स्वय ग्रहण करता है और अन्न प्राप्ति, शारीरिक एव मानसिक बल, धन, सुख सन्तान, प्राकृतिक सहायता और सखाभाव की कामना करता है। यहाँ यह कामना भी की जाती है कि उन दोनो के मन एक-दूसरे के अनुकूल बने रहे।

इन सब धार्मिक विधियो को सम्पन्न करने के पश्चात् ही हिन्दू विवाह पूर्ण माना जाता है। इन विधियों पर आधारित हिन्दू विवाह निश्चित रूप से एक पवित्र धार्मिक सस्कार है जिसका उद्देश्य लोगों को कर्त्तव्य-पालन के अवसर प्रदान करना है।

५ पतिव्रता का आदर्श (Ideal of Pativrata)

हिन्दू विवाह के द्वारा पत्नी आदर्श पतिव्रता के रूप मे कार्य करती है। पति की सेवा और उसकी प्रत्येक आज्ञा का पालन करना वह अपने जीवन का प्रथम कर्त्तव्य समझती है। वह अपने पति को परमेश्वर के रूप मे मानती हुई उसकी सुख-सुविधाओ का ध्यान रखती है और उसके लिए हर प्रकार का त्याग करना अपना परम धर्म समझती है। पतिव्रता का यह आदर्श विवाह की धार्मिक प्रकृति को व्यक्त करता है।

६ पत्नी के सम्बोधक शब्द

पत्नी के सम्बोधक शब्द से भी यही ज्ञात होता है कि विवाह रति अर्थात् काम-इच्छाओ की पूर्ति के लिए नही बल्कि धार्मिक कृत्यो को पूर्ण करने के लिए किया गया है। पत्नी के लिए 'धर्म पत्नी' एव 'सहधर्मचारिणी' शब्दो का प्रयोग किया गया है। इन शब्दो का तात्पर्य धार्मिक कार्यों में सहयोग देने वाली पत्नी से है। धर्मशास्त्रो मे बताया गया है कि धार्मिक कृत्यो के पूर्ण सम्पादन के लिए गृह-पत्नी गृह-स्वामी की पूरक है।

इन तथ्यो से हिन्दू विवाह की धार्मिक प्रकृति स्वत ही स्पष्ट है, अत यह कहा जा सकता है कि यह एक धार्मिक सस्कार है। इसे एक सामाजिक समझौता नहीं माना जा सकता। इतना अवश्य है कि आधुनिक कानून के रचयिताओ ने कुछ अशो मे इसे एक समझौता माना है, परन्तु न्यायालयों ने इसे एक सस्कार के रूप मे भी स्वीकृति दी है। हिन्दू कानून से सम्बन्धित ग्रन्थो मे बताया है कि सभी हिन्दुओं के लिये, चाहे वे किसी भी जाति के क्यो न हों, विवाह एक आवश्यक सस्कार या धार्मिक कृत्य है।[17] हिन्दू विवाह अधिनियम, १९५५ द्वारा यद्यपि स्त्री-पुरुषों को विवाह-विच्छेद का अधिकार प्राप्त हो चुका है तथापि विवाह को मात्र समझौता नहीं मानकर एक सस्कार के रूप में माना जाता है। इस अधिनियम द्वारा हिन्दू विवाह को अप्रत्यक्ष रूप से एक सस्कार के रूप मे स्वीकार किया गया

---

17 Maine's Treatise on Hindu Law and Usages, (XI-ed) p 135

गई। परिणाम यह हुआ कि लोग अपनी ही जाति, उपजाति अथवा उपजाति के भी किसी छोटे-से खण्ड मे विवाह करने लगे। धीरे-धीरे कर्म के स्थान पर जन्म पर अधिक बल दिया जाने लगा। पहले कर्म के आधार पर व्यक्ति की श्रेष्ठता आकी जाती थी। परन्तु बाद मे कर्म का स्थान जन्म ने ले लिया और जन्म अर्थात् रक्त की शुद्धता बनाए रखने के लिए अन्तर्विवाह पर अधिक जोर दिया गया। जैन और बौद्ध धर्म के विकास ने भी लोगो को अ तर्विवाह की नीति अपनाने के लिए प्रेरित किया। इन धर्मों के प्रसार ने ब्राह्मणों की शक्ति को ठेस पहुचाई, उनकी शक्ति पहले से काफी कम हो गई, परन्तु ज्यो ही ये धर्म क्षीण होने लगे ब्राह्मणो ने अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा को पुन प्राप्त करने का प्रयत्न किया। इस प्रयत्न मे उन्होने जाति से सम्बधित नियम और अधिक कठोर बना दिए और अ तर्विवाह की नीति का दृढता से पालन किया। मुसलमानो का आक्रमण हिन्दू समाज और धर्म के लिए घातक सिद्ध हुआ। मुसलमानो ने हिन्दुओ का केवल धर्म-परिवर्तन करने और उनकी सस्कृति को चोट पहुचान का प्रयास ही नही किया बल्कि हिन्दू लडकियो के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न भी किया। परिणाम यह हुआ कि इस परिस्थिति से बचने के लिए जातीय प्रतिबन्ध और विशेषत वैवाहिक प्रतिबन्ध अधिक कठोर होते गए। धीरे-धीरे बाल विवाहो का प्रचलन भी बढता जा रहा था। बहुत से स्मृतिकारो ने बाल-विवाहो के पक्ष म अपने विचार व्यक्त किए। कम आयु मे लडके-लडकियो का विवाह कर देना माता-पिता का धार्मिक कर्तव्य बताया गया। बाल-विवाह मे जीवन-साथी के चुनाव म लडके-लडकियो की इच्छा का प्रश्न ही नही उठता। ऐसे विवाह माता-पिता के द्वारा निश्चित किए जाने लगे और वे जाति नियमो के विरुद्ध किसी अन्य जाति मे अपनी सन्तानो का विवाह करने के बारे मे सोच भी नही सकते थे। उपजातियों के क्षेत्रीय केन्द्रीकरण ने भी अन्तर्विवाह की नीति को बढावा दिया। लोग पृथक्-पृथक् भौगोलिक क्षेत्रो मे निवास करते थे। आवागमन और सचार के साधनो के अभाव मे पारस्परिक सम्पर्क सम्भव नहीं था, ऐसी दशा मे उनमें वैवाहिक सम्बन्धो का होना असम्भव था। कालान्तर मे इस प्रथा ने धार्मिक रूप धारण कर लिया और लाग अपने-अपने क्षेत्र और समूह मे ही विवाह करने लग। अपने व्यावसायिक ज्ञान की सुरक्षा के उद्देश्य से भी लोगो ने अपने ही जातीय अथवा उपजातीय समूह मे विवाह करना उचित समझा। अपने व्यावसायिक ज्ञान अथवा रहस्यो को गुप्त रखने की इच्छा ने जाति-अन्तर्विवाह को प्रोत्साहित किया। इन कारणो के अतिरिक्त अपने जातीय समूह के प्रति प्रेम तथा जातीय एकता एव दृढता को बनाए रखने की बलवती इच्छा ने भी जाति-अन्तर्विवाह की ओर बढने के लिए लोगो को प्रेरित किया है।

जाति-अन्तर्विवाह के सिद्धान्त का हिन्दू समाज मे कठोरता से पालन हो रहा है। अपनी जाति के बाहर विवाह करने वालो को अभी तक जाति से बहिष्कृत किया जाता रहा है। जाति अन्तर्विवाह ने सामाजिक प्रगति मे बाधा पहुचाई है और सामाजिक सम्पर्क के दायरे को अति सकीर्ण बनाए रखा है। वर्तमान मे शिक्षा एव पाश्चात्य सभ्यता के प्रसार, औद्योगीकरण एव नगरीकरण की तीव्र प्रक्रिया, आवागमन और सचार साधनो के विकास तथा एकाकी परिवारो की स्थापना के परिणामस्वरूप अन्तर्विवाह के प्रतिबन्ध कमजोर पडते जा रहे हैं और लोगो का अन्तर्जातीय विवाहो की ओर झुकाव बढता जा रहा है। पिछले कुछ वर्षों मे अन्तर्जातीय विवाहो की वैधानिक अडचनो को अनेक अधिनियमो द्वारा

दूर किया जा चुका है, परन्तु व्यवहार रूप मे ये अधिनियम जाति-अन्तर्विवाह की प्रथा को बहुत कम प्रभावित कर पाए हैं। वर्तमान परिस्थितियो को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि निकट भविष्य मे जाति-अन्तर्विवाह प्रथा के समाप्त होने की सम्भावना बहुत कम है।

२. बहिर्विवाह (Exogamy) :

बहिर्विवाह एक ऐसा नियम है जिसके अनुसार व्यक्ति को अपने समूह के बाहर वैवाहिक सबंध स्थापित करना पड़ता है, उसे अपने समूह विशेष मे विवाह करने की आज्ञा नही दी जाती। ये समूह अलग-अलग व्यक्तियो के लिए अलग-अलग हो सकते हैं। हिन्दुओं मे बहिर्विवाह के नियम के अनुसार व्यक्ति को अपनी ही जाति के कुछ विशेष समूहो जिनमे गोत्र, प्रवर और पिण्ड आते है, के लोगो के साथ विवाह सम्बन्ध स्थापित करने की आज्ञा नही दी जाती। भारतवर्ष की जन-जातियो मे टोटम बहिर्विवाह का नियम पाया जाता है अर्थात् जिन लोगो का टोटम एक है, वे आपस मे विवाह नही कर सकते। इससे स्पष्ट है कि अपने समूह से बाहर विवाह करने का नियम ही बहिर्विवाह के नाम से पुकारा जाता है। इस नियम के अन्तर्गत कही-कही अपने क्षेत्र विशेष मे विवाह करने पर भी प्रतिबन्ध पाए जाते हैं। भारत मे बहिर्विवाह के निम्नलिखित प्रकार प्रचलित है: गोत्र बहिर्विवाह, सप्रवर बहिर्विवाह, ग्राम या खेडा बहिर्विवाह, और टोटम बहिर्विवाह।

कोई भी हिन्दू अपने गोत्र, पिण्ड और प्रवर मे विवाह नही कर सकता, परन्तु इन नियमो की उत्पत्ति तथा वास्तविक धारणाओ के विषय मे निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। प्रभु ने लिखा है, "अपने उत्पत्ति के समय से लेकर प्रत्येक युग मे बहिर्विवाह के नियमो से सम्बन्धित इन तीन शब्दो, 'गोत्र', 'प्रवर', और 'पिण्ड' के वास्तविक अर्थों और अवधारणाओं मे इतना अधिक परिवर्तन, सकलन और रूपान्तरण हुआ है कि इनके मौलिक अर्थों के सम्बन्ध मे निश्चित रूप से कुछ भी कहना असम्भव-सा हो गया है।"[23] फिर भी बहिर्विवाह के विभिन्न स्वरूपो के सम्बन्ध मे जानकारी प्राप्त कर लेना यहा आवश्यक है।

(१) गोत्र बहिर्विवाह (Gotra Exogamy) :

गोत्र बहिर्विवाह का तात्पर्य है, अपने गोत्र के बाहर विवाह करना। हिन्दू समाज मे सगोत्र विवाह वर्जित हैं अर्थात् व्यक्ति को अपने ही गोत्र के लोगो के साथ वैवाहिक सम्बन्ध करने की आज्ञा नही है। डा० अल्तेकर के अनुसार, "ईसा के ६०० वर्ष पूर्व सगोत्र विवाह पर निषेध नही था।"[24] पुराणो मे भी इस प्रकार के विवाह पर कोई प्रतिबन्ध नही पाया जाता। सगोत्र विवाह निषेध को समझने के लिए यह आवश्यक है कि 'गोत्र' शब्द का अर्थ भली-भांति समझ लिया जाए। साधारणतः गोत्र का अर्थ उन व्यक्तियो के समूह से लगाया जाता है, जिनकी उत्पत्ति एक ही ऋषि-पूर्वज से हुई हो। "सत्यापाढ़ हिरण्यकेशी श्रोतसूत्र" के अनुसार विश्वामित्र, जमदग्नि, भारद्वाज, गौतम, अत्रि, वशिष्ठ, कश्यप और अगस्त्य नामक आठ ऋषियो की सन्तानो को गोत्र नाम से पुकारा गया। धीरे-धीरे जन-

23. P. H. Prabhu, op. cit., p. 154-55.
24. A. S. Altekar, op. cit., p. 73.

सख्या के बढने से गोत्रो की सख्या बढती गई। परन्तु गोत्र का यह अर्थ पूर्णत स्पष्ट नही है। श्री करन्दीकर (Karandikar) ने लिखा है, "ऋग्वेद-काल मे 'गोत्र' शब्द यद्यपि परिवार के अर्थ मे प्रयुक्त नही हुआ, तथापि इसमे समूह की धारणा धीरे-धीरे जुडती रही। छान्दोग्य उपनिषद् मे तो यह निश्चय ही परिवार के अर्थ मे आया है।"[25]

'गोत्र' शब्द के मौलिक अर्थ के सम्बन्ध मे निश्चयपूर्वक कुछ कहना बहुत कठिन है। ऋग्वेद मे प्रयुक्त गोत्र शब्द के तीन-चार सम्भावित अर्थ लगाए गए हैं, जैसे—गोशाला, गाय का समूह, किला, पर्वत आदि। इन अर्थों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि एक घेरे या स्थान पर रहने वाले लोगो को एक गोत्र का सदस्य माना जाता होगा। गोत्र (गो+त्र) का शाब्दिक अर्थ गायो के पालने वाले समूह से या गायो के बाधने के स्थान (गोशाला या बाडा) से है। इस अर्थ की दृष्टि से जिन लोगो की गायें एक ही स्थान पर बधती थी, उनमे नैतिक सम्बन्ध स्थापित हो जाता था तथा उनमें आपस मे विवाह नही होता था। इसके अतिरिक्त यह भी सम्भव है कि वे आपस मे रक्त-सबधी हो, अपने को एक ही सामान्य पूर्वज की सन्तान मानते हो और इस कारण उन सबकी गायें एक ही स्थान पर बधती हो। इस प्रकार अनेक गोत्रो का निर्माण हुआ और एक गोत्र के लोग नैतिक अथवा रक्त-सम्बन्ध के कारण एक-दूसरे को अपना भाई-बहन या निकट के रिश्तेदार मानने लगे। परिणाम यह हुआ कि ऐसे लोगो के बीच वैवाहिक सबध वर्जित हो गए। विज्ञानेश्वर ने गोत्र का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा है कि वश परम्परा मे जो नाम प्रसिद्ध होता है, उसी को गोत्र कहते हैं। ये लोग आपस मे विवाह-सम्बन्ध स्थापित नही कर सकते, इसी को गोत्र बहिर्विवाह का नियम कहा जाता है।

गोत्र बहिर्विवाह अर्थात् अपने गोत्र मे विवाह नही करने की प्रथा कब और कैसे प्रचलित हुई, इसके विषय मे निश्चित रूप से कुछ भी नही कहा जा सकता। श्री कापडिया ने 'हिन्दू किनशिप' नामक पुस्तक मे अनेक प्रमाणो के आधार पर स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि वैदिक-काल मे सगोत्र विवाह निषिद्ध नही थे। यह इस बात से प्रमाणित होता है कि इस काल में स्वयवर के अतिरिक्त गान्धर्व विवाह भी होते थे तथा ऐसे विवाहो मे गोत्र सम्बन्धी निषेधो का होना सम्भव नहीं था। धर्मशास्त्रो मे यह भी कहा गया कि द्विजो (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) को कलियुग मे सगोत्र विवाह से बचना चाहिए, इससे यह स्पष्ट है कि उस समय सगोत्र विवाह पर प्रतिबन्ध नही पाए जाते थे। इसके अतिरिक्त आर्य लोग ईरान से भारत मे आए और ईरान मे गोत्र बहिर्विवाह का नियम नही पाया जाता। इससे प्रमाणित होता है कि प्रारम्भ मे जब आर्य भारत मे आकर बसे, उनमे सगोत्र विवाह सम्बन्धी प्रतिबन्ध नही पाए जाते थे। तथ्यो से ज्ञात होता है कि वैदिक काल से ईसा के ६०० वर्ष पूर्व तक भारत मे सगोत्र विवाह सम्बन्धी निषेध नही पाए जाते थे। कापडिया ने लिखा है, "मनु ने सगोत्र विवाह को गम्भीर अथवा लघु पाप नही माना।"[26] सम्भवत. मनु के समकालीन स्मृतिकारो द्वारा सगोत्र विवाहो को अनुचित बताया गया। सबसे पहले गृह्यसूत्र साहित्य मे बताया गया कि कोई भी मनुष्य अपने गोत्र

25 S V Karandikar, "Hindu Exogamy," 1929, p 34 Quoted by K M Kapadia, op cit, pp 115—16

26 'Manu did not likewise regard sagotra marriage as constituting a sin, serious or minor" K M Kapadia, op cit, p 127

वाली कन्या से विवाह नही करेगा। बौधायन धर्म-सूत्र मे तो यहा तक कहा गया है कि यदि कोई अज्ञानवश भी सगोत्र लडकी से विवाह कर ले, तो ऐसी दशा म उसका पालन माता के समान किया जाना चाहिए। सामान्यत ऐसे प्रतिबन्धो के लगाए जाने का मुख्य कारण रक्त सम्बन्धियो के बीच यौन-सम्बन्धो की आशका को दूर करना ही था।

विज्ञानेश्वर ने कहा है कि वास्तविक गोत्र केवल ब्राह्मणो के ही होते हैं। क्षत्रिय तथा वैश्यो के गोत्र उनके पुरोहितो के गोत्रो पर ही आधारित होते हैं और शूद्रो के कोई गोत्र नही होते, परन्तु आज वास्तविकता यह है कि सभी जातियो के अपने-अपने गोत्र पाए जाते हैं और एक गोत्र के लोग आपस मे वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित नही करते। आज सगोत्र विवाह के प्रतिबन्ध कानून द्वारा समाप्त किए जा चुके हैं। हिन्दू विवाह अधिनियम, १९५५ के द्वारा अन्तर्विवाह मे जाति के प्रतिबन्ध को और बहिर्विवाह मे गोत्र के प्रतिबन्ध को हटा दिया गया है परन्तु कानूनी कठिनाइयो के दूर होने पर भी वर्तमान मे सगोत्र विवाहो के उदाहरण बहुत कम मिलते हैं, अब भी अधिकतर हिन्दू अपने गोत्र के बाहर ही विवाह करना उचित समझते हैं।

२ सप्रवर बहिर्विवाह (Sapravar Exogamy).

गोत्र से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित एक अन्य अवधारणा–'प्रवर' पाई जाती है। 'वैदिक इन्डेक्स' मे प्रवर का अर्थ 'आह्वान करना' है।[27] श्री कापडिया के अनुसार, 'प्रवर सस्कार अथवा ज्ञान के उस सम्प्रदाय की ओर सकेत करता है जिससे एक व्यक्ति सम्बन्धित होता है।"[28] 'प्रवर' कुछ व्यक्तियों का एक ऐसा समूह है जो अपने आपको एक-दूसरे से आध्यात्मिक दृष्टि से सम्बन्धित मानता है न कि रक्त-सम्बन्ध की दृष्टि से। प्राचीन काल मे यज्ञ के लिए अग्नि प्रज्वलित करते समय पुरोहित अपने श्रेष्ठ ऋषि-पूर्वजो का नामोच्चारण करता था। यजमान (यज्ञ करवाने वाला) भी अपने पुरोहित के इन्ही ऋषि-पूर्वजो से अपने को सम्बन्धित मानता था और जिन जिन लोगो के इस प्रकार के सामान्य ऋषि-पूर्वज थे, वे अपने आपको एक-दूसरे से आध्यात्मिक रूप से सम्बन्धित मानने लगे। ऐसे व्यक्तियो का समूह 'प्रवर' कहलाने लगा और एक ही प्रवर के लोगो को आपस मे वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने की आज्ञा नही दी गई। इस प्रकार सगोत्र विवाहो के निषेधो के साथ साथ सप्रवर विवाह के निषेध भी पाए जाने लगे। श्री प्रभु ने कहा है कि इण्डो आर्यन लागो मे अग्नि पूजा अथवा हवन का प्रचलन था। हवन के लिए अग्नि प्रज्वलित करते समय पुरोहित अपने प्रसिद्ध ऋषि-पूर्वजों का नामोच्चारण करता था। इस प्रकार, प्रवर के अन्तर्गत व्यक्तियों के उन पूर्वजो (ऋषियो) का समावेश होता है जिन्होने पूर्वकाल मे अग्नि का आह्वान किया था। धीरे-धीरे प्रवर की धारणा का सामाजिक महत्त्व स्पष्ट हुआ और इसको घरेलू और सामाजिक सस्कारो से सम्बद्ध कर दिया गया। इन सस्कारों म विवाह सबसे महत्त्वपूर्ण है और कुछ विद्वानो ने यह नियम बना दिया कि कोई भी व्यक्ति उस स्त्री से विवाह नही करेगा जो उसी के प्रवर के किन्ही पूर्वजो से सम्बद्ध हो।[29] स्पष्ट है कि प्रवर के अन्तर्गत वे व्यक्ति आते हैं जो सामान्य ऋषि-पूर्वजो

---

27 Vedic Index, II, p 39

28 'Pravara indicates a school of ritual or learning to which a person belonged" K M Kapadia op cit, p 128

29 P H Prabhu, op, cit., p 156

से अपना संस्कारात्मक अथवा आध्यात्मिक सम्बन्ध मानते हैं और इस सम्बन्ध के कारण आपस मे वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित नही करते ।

गोत्र के समान ही प्रवर की धारणा सर्वप्रथम ब्राह्मणों मे ही पाई जाती थी। ब्राह्मण ही पुरोहित के रूप मे यज्ञ करते समय अपने प्रमुख ऋषियो के नामों का उच्चारण करते थे और यज्ञ करने वाले यजमानो ने भी अपने पुरोहितो के ऋषि-पूर्वजों अर्थात् उनके प्रवरों को अपना लिया। ऐसे सब लोग जिनके प्रवर एक ही थे, आपस मे विवाह नही करते थे। पी० वी० काणे ने लिखा है, "सगोत्र किसी व्यक्ति के अन्तिम पूर्वज से अथवा अन्तिम पूर्वजो मे से कोई एक है जिसके नाम से उसका परिवार कई पीढियो से प्रसिद्ध रहा है, जबकि प्रवर के चलाने वाले वे प्रसिद्ध ऋषि अथवा ऋषिगण हैं जो प्राचीन-काल मे हुए हैं।"[30] इस प्रकार क्षत्रियो और वैश्यो ने ब्राह्मणो के प्रवरो को अपना लिया। शूद्रो के कोई प्रवर नही होते।

विद्वानो की मान्यता है कि सप्रवर विवाहो पर धर्म-सूत्र काल या मनु के समय मे कोई कठोर प्रतिबन्ध नहीं थे। काणे का कथन है कि सप्रवर विवाह पर निषेध तीसरी शताब्दी से प्रारम्भ हुए और नवी शताब्दी के बाद तो ऐसे विवाह को अक्षम्य अपराध समझा जाने लगा। वर्तमान मे यज्ञो के प्रचलन और महत्त्व के बहुत कम हो जाने से प्रवर धारणा का अस्तित्व भी समाप्त-सा हो गया है। आज हिन्दू समाज मे गोत्र-बहिर्विवाह के नियम का प्रचलन तो पाया जाता है परन्तु प्रवर बहिर्विवाह सम्बन्धी निषेधो मे साधारणत कोई विश्वास नही करता। सन् १९४९ के 'हिन्दू विवाह निर्योग्यता निवारण अधिनियम' और १९५५ के 'हिन्दू विवाह अधिनियम' के द्वारा सगोत्र और सप्रवर विवाहो पर लगे प्रतिबन्धो को समाप्त किया जा चुका है।

(३) सपिण्ड बहिर्विवाह (Sapinda Exogamy):

जहां सगोत्र एव सप्रवर बहिर्विवाह के प्रतिबन्ध पितृपक्ष के सम्बन्धियो को आपस मे विवाह करने की आज्ञा नही देते, वहा सपिण्ड बहिर्विवाह के निषेध, मनु के अनुसार, मातृ-पक्ष की लडकियो के साथ भी वैवाहिक सम्बन्धो की आज्ञा नही देते। सपिण्ड का अर्थ है समान पिण्ड या देह वाला। वे सब व्यक्ति जिनमे एक ही सामान्य स्त्री-पुरुष का रक्त हो, सपिण्ड कहलाते हैं। हिन्दू-धर्मशास्त्रो के अनुसार सपिण्ड विवाह वर्जित है। याज्ञवल्क्य स्मृति के टीकाकार विज्ञानेश्वर ने कहा है कि सपिण्ड का अर्थ है—एक ही पिण्ड या देह रखने वालों मे एक ही शरीर के अवयव होने के कारण सपिण्डता का सम्बन्ध होता है। पिता और पुत्र सपिण्ड हैं क्योकि पिता के शरीर के अवयव पुत्र मे आते हैं। इसी प्रकार दादा के शरीर के अवयव पिता द्वारा पोते मे आने से वे सपिण्ड हैं, माता के शरीर का अंश पुत्र मे आने से पुत्र की माता के साथ सपिण्डता होती है। इस तरह जहा-जहा सपिण्ड शब्द का प्रयोग हो, वहा एक शरीर के अवयवो का सम्बन्ध मानकर चलना चाहिए। इस अर्थ के आधार पर स्पष्ट है कि सपिण्ड का सम्बन्ध मातृपक्ष की लडकियो के साथ-साथ पितृपक्ष की लडकियो से भी है। सपिण्ड बहिर्विवाह निषेध के अनुसार, उन लोगो मे वैवाहिक सम्बन्ध नही हो सकता जो एक-दूसरे के सपिण्ड हो, लेकिन किन-किन लोगो को

---

30 P. V. Kane, "History of Dharmashastra," Section 2, p 496.

एक दूसरे का सपिण्ड माना जाए, कितनी पीढियो तक के लोगो को सपिण्डता के आधार पर एक-दूसरे से विवाह करने का निषेध किया जाए, इस सम्बन्ध मे काफी अस्पष्टता थी। इसको दूर करने की दृष्टि से 'मिताक्षरा' और 'दायभाग' के टीकाकारो ने 'सपिण्ड' की अपने-अपने ढग से व्याख्या की है।

मिताक्षरा व्यवस्था के प्रवर्तक विज्ञानेश्वर के अनुसार पिण्ड का अर्थ रक्त की निकटता से या समान रक्त-कणो से है अर्थात् वे व्यक्ति एक-दूसरे के सपिण्ड हैं जिनमे एक ही पूर्वज का रक्त पाया जाता है। एक ही वशानुसक्रमण, एक ही शरीर या निकट रक्त-सम्बन्ध के आधार पर समान शरीर अवयव रखने वाले व्यक्ति सपिण्ड होते हैं और वे आपस मे विवाह नही कर सकते। याज्ञवल्क्य के अनुसार सपिण्डता का यह सम्बन्ध पिता की ओर सात पीढियो तक तथा माता की ओर पाच पीढियो तक माना जाता है और इसके अन्तर्गत आने वाले व्यक्तियो मे आपस में वैवाहिक सबध स्थापित नही हो सकता।[31] दायभाग हिन्दू उत्तराधिकार की व्यवस्था के अनुसार, मृतक का पिण्ड तर्पण करने वाले व्यक्ति को उसकी सम्पत्ति उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त करने का अधिकार होता है। मृतक की सम्पत्ति के उत्तराधिकारी ही उसे पिण्डदान करते है क्योकि वे एक-दूसरे के सपिण्ड होते हैं। दायभाग के प्रवर्तक जीमूतवाहन के अनुसार पिण्ड का अर्थ चावल या जौ के आटे के उन गोलों से है जो श्राद्ध के समय पितृरवो को अर्पित किए जाते हैं। इस विचारधारा के अनुसार, वे समस्त व्यक्ति, जो एक ही पूर्वज को चावल या जौ के गोले अर्पित करने के अधिकारी हैं, एक-दूसरे के सपिण्ड हैं और इसलिए उनकी सन्तानो मे आपस मे विवाह नही हो सकता।

इस प्रकार स्पष्ट है कि सपिण्ड के अन्तर्गत वे लोग आते हैं जिनमे निकट रक्त-सम्बन्ध पाया जाता है। किस पीढी तक के रक्त-सबधी सपिण्ड कहलायेंगे, यह स्थान एव काल की प्रचलित प्रथाओ तथा कानूनों पर आधारित होगा। सूत्रकार वशिष्ठ के अनुसार, पिता की ओर सातवी तथा माता की ओर पाचवी पीढी और गौतम के अनुसार, पिता की ओर आठवी एव माता की ओर से छठी पीढी तक के सदस्यो के बीच वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित नही किया जा सकता।

सपिण्ड बहिर्विवाह के नियम का पालन हिन्दू समाज मे सार्वभौम रूप से नहीं हुआ है। महाभारत काल मे इस विषय में कोई कठोर नियम नहीं थे। कुमारिल भट्ट ने बताया है कि श्रीकृष्ण ने अपने मामा की लडकी रुक्मणी तथा अर्जुन ने अपने मामा की लडकी सुभद्रा से विवाह किया था। श्रीकृष्ण ने सत्यभामा से भी विवाह किया था जो उनके पिता की ओर से पाचवी पीढी मे थी। के० एम० कापडिया ने लिखा है, "पाचवीं छठी और सम्भवत चौथी पीढी मे भी विवाह की यह परम्परा यादव कुल मे थी तथा भारतीय आर्यों के इतिहास मे इसे आदर की दृष्टि से देखा जाता था, यह बात महत्त्वपूर्ण है। वशिष्ठ तथा गौतम के आदेश होने पर भी, यह काफी सम्भव है कि पाचवी पीढी मे विवाह अनुचित नही माना जाता था।"[32] देवण भट्ट तथा माधवाचार्य ने मामा की लडकी से विवाह का समर्थन किया था। कर्नाटक तथा मैसूर के ब्राह्मणों मे बहन की लडकी तथा दक्षिण भारत मे मामा की लडकी से विवाह करने की प्रथा आज भी प्रचलित है। ऐसे

---

31 Maine's Treatise on Hindu Law and Usages (1950), pp 146–47

32 K M Kapadia, op, cit, p 126

विवाहो को ममेरे, फुफेरे भाई बहनों के विवाह कहते हैं, लेकिन महाभारत काल के बाद सपिण्ड विवाह केवल अपवाद के रूप मे ही रह गए और अधिकतर हिन्दू सपिण्ड बहिर्विवाह के नियम का आज भी पालन करते हैं। यहां तक कि 'हिन्दू विवाह अधिनियम, १९५५' ने भी सपिण्ड बहिर्विवाह के नियम को मान्यता प्रदान की है। इस अधिनियम में हिन्दुओ मे वैध विवाह को एक आवश्यक शर्त के रूप मे कहा गया है कि विवाह करने वाले दोनो पक्षो मे से कोई भी एक दूसरे का सपिण्ड न हो (पिता से ऊपर की ओर के पांच पीढियो के और माता से ऊपर की ओर के तीन पीढियो के सम्बन्धी)। साथ ही यह भी कथन है कि यदि उनके समूह की प्रथा सपिण्ड-विवाह की आज्ञा प्रदान करती है, तो ऐसा विवाह भी वैध माना जाएगा।

४ ग्राम या खेडा बहिर्विवाह

हिन्दू समाज मे बहिर्विवाह के इन तीन स्वरूपो के अतिरिक्त उत्तरी भारत मे कही-कही ग्राम या खेडा बहिर्विवाह का निषेध भी पाया जाता है। इसके अनुसार, व्यक्ति का विवाह उसी के ग्राम मे न होकर अन्य किसी भी ग्राम मे हो सकता है। गाव मे जनसख्या सीमित होती है, वहा एक जाति के लोग साधारणत एक ही कौटुम्बिक समूह से सम्बन्धित होते हैं। यदि वहां जातीय समूह इससे कुछ विस्तृत है तो अधिकतर उसमे समान गोत्र के लोग ही पाए जाते हैं। परिणाम यह होता है कि निकट के रिश्तेदारो मे तथा सपिण्डो मे वैवाहिक सम्बन्ध की सम्भावना को समाप्त करने के लिए कुछ लोग गाव के बाहर विवाह करना आवश्यक समझते हैं। कही-कही जनजातियों मे बहिर्विवाह के ऐसे नियम को खेडा बहिर्विवाह भी कहते हैं।

५ टोटम बहिर्विवाह :

भारतीय जनजातियो मे टोटम बहिर्विवाह के नियम का प्रचलन भी पाया जाता है। एक सामान्य टोटम (जो अक्सर पशु-पक्षी, पेड-पौधा आदि होता है) मे विश्वास करने वाले और उससे अपने आपको सम्बन्धित मानने वाले लोग आपस मे वैवाहिक सम्बन्ध नही कर सकते। अपने टोटम के अतिरिक्त अन्य टोटम के लोगो के साथ ही वे विवाह कर सकते हैं।

बहिर्विवाह के उद्देश्य (Aims of Exogamy)

बहिर्विवाह सम्बन्धी उपर्युक्त निषेधो का प्रमुख उद्देश्य भाई और बहन, माता और पुत्र एव पिता और पुत्री के बीच यौन सम्बन्ध का रोकना है। ये प्रतिषिद्ध यौन-सम्बन्धी निषेध या निषिद्ध निकटाभिगमन (Incest Taboo) कहलाते है। इस सम्बन्ध मे श्री काणे ने लिखा है, "निषेध दो कारणो से हैं प्रथम, अगर निकट सम्बन्धी विवाह करते हैं तो उनके दोष उनकी सन्तान को अधिक मात्रा मे प्राप्त हो जायेंगे और द्वितीय, निकट सम्बन्धियो मे विवाह होने से उनमे प्रेम व्यवहार पनपने का भय रहेगा, फलत नैतिक पतन की सम्भावना रहेगी।"[33] करीब-करीब सभी समाजो मे निकट रिश्तेदारों को परस्पर विवाह करने की आज्ञा नही दी जाती। इसका मुख्य कारण यह है कि रक्त के आधार पर सम्बन्धित स्त्री-पुरुषो के विवाह बन्धन में बधने की आज्ञा देने से उनकी सन्तान को उनके बुरे या अवाछनीय लक्षणो की दुगुनी खुराक मिल जाएगी और उनम कई शारीरिक

---

33 P V Kane, Gotra and Pravara in Vedic Literature, p 283

अथवा मानसिक दोष आ जाएंगे । कोई भी समाज निकट रक्त-सम्बन्धियों को आपस में विवाह की आज्ञा देकर इस प्रकार का खतरा नहीं लेना चाहता ।

बहिर्विवाह के लाभ (Merits of Exogamy) .

बहिर्विवाह का नियम अनेक दृष्टिकोणों से लाभप्रद रहा है : (१) प्राणिशास्त्रीय दृष्टि से इस नियम के पालन से स्वस्थ, बुद्धिमान और उत्तम सन्तान के जन्म की सम्भावना अधिक रहती है । इसका कारण यह है कि निकट रक्त-सम्बन्धियों में विवाह नहीं होने से सन्तान में दोष नहीं आ पाएंगे और प्रत्येक पीढ़ी को नवीन वाहकाणु प्राप्त होते रहेंगे जो उत्तम सन्तान की दृष्टि से लाभप्रद है । (२) बहिर्विवाह नियम के कारण विभिन्न समूहों के लोगों को एक-दूसरे के सम्पर्क में आने का अवसर मिलता है, उनमें सांस्कृतिक दूरी कम और एकता में वृद्धि होती है । (३) निकट-सम्बन्धियों को एक-दूसरे के साथ विवाह-सम्बन्ध की आज्ञा नहीं देने से समूह में शुद्ध वातावरण बना रहता है । इसके विपरीत यदि ऐसे विवाहों की आज्ञा प्रदान कर दी जाए, तो पारिवारिक क्षेत्र में ईर्ष्या-द्वेष, अवांछनीय प्रेम और अनाचार की स्थिति उत्पन्न होने की सम्भावना रहेगी । (४) बहिर्विवाह के कारण एक पीढ़ी को अपने दोषों से मुक्त होने का अवसर प्राप्त हो जाता है । पी० वी० काणे ने लिखा है, "बहिर्विवाह के द्वारा एक पीढ़ी को अपने दोष दूर करने का अवसर मिल जाता है, क्योंकि इसके द्वारा रक्त के संयोग हमेशा नवीन रूप ग्रहण करते रहते हैं ।"[34] समनर तथा केलर ने भी लिखा है, "अन्तर्विवाह रूढ़िवादी है जबकि बहिर्विवाह प्रगतिवादी ।"[35] स्पष्ट है कि बहिर्विवाह समाज के लिये उपयोगी है ।

बहिर्विवाह से हानियाँ (Demerits of Exogamy) :

बहिर्विवाह सम्बन्धी निषेधों के कारण सामाजिक दृष्टि से कुछ हानियां भी होती हैं जो ये हैं :—(१) इन निषेधों के कारण जीवन-साथी चुनने में कठिनाई उपस्थित होती है क्योंकि वर-वधू के चुनाव का क्षेत्र संकुचित हो जाता है । अनेक योग्य लड़के-लड़कियों को छोड़ना पड़ता है क्योंकि हिन्दुओं में पिता की सात और माता की पांच पीढ़ियों तक में विवाह वर्जित है । ब्लन्ट (Blunt) ने यू० पी० की जनगणना रिपोर्ट में बताया है कि उच्च हिन्दू-जातियों में पिता की सात तथा माता की पांच पीढ़ियाँ छोड़ने से करीब २१२१ सम्भाव्य सम्बन्धियों से विवाह वर्जित होने से तथा गोत्र से बाहर और जाति के भीतर विवाह करने के कारण जीवन-साथी के चुनाव में काफी कठिनाईयों का सामना करना पड़ता है । (२) जीवन-साथी के चुनाव-क्षेत्र के संकुचित होने से योग्य लड़कों की कमी रहती है और ऐसी दशा में लड़के वाले कन्या पक्ष से अधिक दहेज की मांग करते हैं । बहिर्विवाह सम्बन्धी इतने अधिक निषेधों के पाए जाने के कारण ही हिन्दू समाज की उच्च जातियों में दहेज जैसी भयंकर समस्या पाई जाती है । (३) बहिर्विवाह सम्बन्धी नियमों के कारण जहाँ दहेज प्रथा को प्रोत्साहन मिलता है, वहां साथ ही बहुत-से गरीब माता-पिता को अपनी लड़कियों का विवाह वृद्धों के साथ करना पड़ता है, फलस्वरूप बेमेल विवाह बढ़ते हैं जिनसे विधवा-समस्या उत्पन्न होती है । इस प्रकार ये निषेध अनेक सामाजिक कुरीतियों के लिए उत्तरदायी हैं ।

वर-वधू के चुनाव में कुछ विचारणीय बातें

अन्तर्विवाह तथा बहिर्विवाह सम्बन्धी उपर्युक्त निषेधों के अलावा धर्म-शास्त्रकारों ने

34 Ibid pp 283-84.

35. "Endogamy is conservative while exogamy is progressive" Sumner and Keller, "The Science of Society", Vol III.

विवाह के लिए वर और वधू मे कुछ अन्य योग्यताओ को भी आवश्यक बताया है। मनु ने कहा है कि निम्नलिखित परिवारो की, चाहे वे कितने ही उच्च अथवा धनी क्यो न हो, विवाह के लिए लडकी नही ली जानी चाहिए :—

(१) वह परिवार जो धर्म की अवहेलना करता हो, अर्थात् जो शास्त्रो के अनुसार अपने वैयक्तिक और सामाजिक दायित्वो को नही निभाता हो,
(२) वह परिवार जिसमे वेदों का अध्ययन नही किया जाता हो,
(३) वह परिवार जिसमे पुरुष-सन्तान का जन्म न होता हो,
(४) वह परिवार जिसके सदस्यो के शरीर पर गहरे बाल हो, या जो अनेक शारीरिक दोषो या बीमारियो से ग्रसित हों।[36]

तीसरे और चौथे प्रकार के परिवार मे वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित नहीं करने का मुख्य कारण प्राणिशास्त्रीय अथवा वशानुसक्रमणीय है। स्मृतिकारो ने यह भी कहा है कि उस लडकी के साथ भी विवाह नही करना चाहिए जिसके कोई अतिरिक्त अग हो, लाल बाल हो अथवा बाल बिलकुल न हो या शरीर पर बहुत ज्यादा बाल हो अथवा जिसके नेत्र लाल हो। स्मृतिकारो ने मुख्य जोर इस बात पर दिया है कि शारीरिक दृष्टि से दोषरहित और अच्छे परिवार की लडकी के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया जाना चाहिए।

विवाह के लिए वर का चुनाव करते समय भी कई बातो का ध्यान रखना आवश्यक बताया गया है। वर मे भी वधू के समान उपर्युक्त योग्यताए तो होनी ही चाहिए, साथ ही पुरुषत्व या पौरुष भी अनिवार्य रूप से होना चाहिए। नारद ने कहा है कि वर ऐसा होना चाहिए जो शारीरिक दृष्टि से बलवान हो, जिसके सब अग पुष्ट हो और जिसके पौरुष की परीक्षा की जा चुकी हो। वात्स्यायन का कथन है कि वर का चुनाव करते समय इस बात को ध्यान मे रखना चाहिए कि उसका शरीर दोष-रहित हो और उसने अपना अध्ययन-कार्य पूर्ण कर लिया हो। उनकी यह भी मान्यता है कि समान सामाजिक प्रस्थिति वाले लोगो के बीच ही वैवाहिक सम्बन्ध होना चाहिए जिससे वर-वधू सुखी और आनन्ददायक वैवाहिक जीवन व्यतीत कर सकें। वास्तव मे सामाजिक दृष्टि से समान लोगो मे ही उचित प्रेम पनप सकता है जो सुखी वैवाहिक जीवन का एक मुख्य आधार है। ऐसे विवाह से दोनो के परिवारो को आनन्द प्राप्त हो सकता है। वात्स्यायन ने वर-वधू के अनेक गुणो के अतिरिक्त इस बात पर विशेष रूप से बल दिया है कि दोनों का मुख्यत एक दूसरे की ओर झुकाव होना चाहिए, उनमे पारस्परिक आकर्षण होना चाहिए। स्पष्ट है कि हिन्दू-धर्मशास्त्रकार जीवन-साथी के चयन मे अनेक सावधानिया बरतने पर जोर देते है जिससे पति-पत्नी का वैवाहिक जीवन सुखमय बन सके, विवाह सूत्र के आधार पर सम्बन्धो मे बंधने वाले दोनो परिवारो मे पारस्परिक प्रेम और सहयोग पनप सके और समाज को उत्तम सन्तान के रूप मे नवीन सदस्य प्राप्त हो सकें।

अनुलोम और प्रतिलोम विवाह
(Anuloma & Pratiloma Marriages)

यद्यपि हिन्दू समाज मे अन्तर्विवाह को मान्यता दी जाती रही है तथापि अनुलोम और

---

36 Quoted by P H Prabhu, op cited, p, 159,

प्रतिलोम के नियम द्वारा अपने वर्ण, जाति अथवा उपजाति के बाहर स्थापित किये जाने वाले वैवाहिक सम्बन्धो को भी स्वीकृति प्रदान की जाती रही है। विवाह के इन दो प्रकारो के विषय मे नीचे लिखा जा रहा है।

१ अनुलोम विवाह (Anuloma Marriage–Hypergamy)

जब निम्न वर्ण, जाति, उपजाति अथवा कुल की लडकी का विवाह उसी के समान अथवा उससे उच्च वर्ण, जाति, उपजाति या कुल मे किया जाए, तो ऐसे विवाह को अनुलोम विवाह कहते हैं। ऐसे विवाह मे एक पुरुष अपने स्वय के वर्ण अथवा जाति या अपने से नीचे वाले वर्ण अथवा जाति की लडकी के साथ विवाह कर सकता है, परन्तु स्वय अपनी लडकी का विवाह अपने से नीची जाति या वर्ण वाले व्यक्ति के साथ नही कर सकता। इस प्रकार के विवाह मे साधारणत. स्त्री की तुलना मे पुरुष का वर्ण अथवा जाति उच्च होती है। जब एक ब्राह्मण लडके का विवाह क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र लडकी से होता है, तो इसे अनुलोम विवाह कहते हैं। मनु ने अनुलोम विवाहो को मान्यता अवश्य प्रदान की है, परन्तु अपने वर्ण की लडकी से विवाह करना ही उत्तम बताया है। याज्ञवल्क्य ने कहा है कि ब्राह्मण चार विवाह कर सकता है—एक विवाह अपने वर्ण की लडकी से और एक-एक शेष तीन वर्णों की लडकियो से। क्षत्रिय तीन विवाह कर सकता है—एक अपने वर्ण की लडकी से और एक-एक वैश्य और शूद्र वर्ण की लडकियो से, वैश्य दो विवाह कर सकता है—एक अपने वर्ण की से और एक शूद्र वर्ण की लडकी से तथा शूद्र केवल एक विवाह अपने ही वर्ण की लडकी से कर सकता है।[37]

कुछ विद्वानो की यह मान्यता रही है कि द्विजो को शूद्रो के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित नही करना चाहिए। महाभारत मे लिखा है कि ब्राह्मण तीन वर्ण की कन्या से, क्षत्रिय दो वर्ण की कन्या तथा वैश्य अपने ही वर्ण की कन्या से विवाह करें, उनसे जो सन्तति होती है वह हितकारी होती है।[38] मनु ने कहा है कि सर्वप्रथम एक द्विज को अपने ही वर्ण की लडकी से विवाह करना चाहिए, लेकिन जो और अधिक विवाह करने के इच्छुक हो, वे नीचे के वर्णों की लडकियों से विवाह कर सकते हैं। जो द्विज शूद्र लडकी से विवाह करता है, उसके परिवार का स्तर गिर जाता है और उसकी सन्तान को शूद्र की स्थिति प्राप्त होती है। मनुस्मृति मे कहा गया है कि ब्राह्मण अपने वर्ण के अतिरिक्त अपने से निम्न तीनो वर्णों, क्षत्रिय अपने अतिरिक्त अन्य दो वर्णों, वैश्य अपने अतिरिक्त अपने से निम्न वर्ण (अर्थात् शूद्र की लड़की) की कन्या से भी विवाह कर सकता है।[39] लेकिन मनुस्मृति मे पाणिग्रहण सस्कार की आज्ञा केवल सवर्ण विवाह के लिए ही प्रदान की गई है। उच्च वर्ण के व्यक्ति की शूद्रा स्त्री से उत्पन्न सन्तान को मनु ने 'पार्शव' (एक जीवित शव) कहा है। उनके अनुसार, "एक ब्राह्मण, एक क्षत्रिय और एक वैश्य की शूद्र पत्नी से उत्पन्न पुत्र को उत्तराधिकार मे कुछ भी हिस्सा नही मिलता है। उसका पिता उसे जो कुछ भी दे दे, वही उसकी सम्पत्ति होती है।"[40]

---

३७ याज्ञवल्क्य स्मृति, ५७।

३८ महाभारत अनुशासन पर्व, ४४।

३९. मनुस्मृति, ३। १३।

40 Quoted by K M Kapadia, op cit, p 102.

यद्यपि प्राचीन-काल मे भारत में अन्तर-वर्ण विवाह होते थे तथापि सवर्ण विवाह श्रेष्ठ माने जाते थे और शूद्र वर्ण की स्त्री के साथ विवाह निकृष्ट माना जाता था। वैदिक काल मे अनुलोम विवाह का क्षेत्र काफी व्यापक था। इस काल में अनुलोम नियम के अन्तर्गत व्यक्ति का विवाह अपने ही वर्ण अथवा अपने से निम्न वर्ण की लड़की के साथ होता था। रिजले के अनुसार प्रारम्भ मे अनुलोम विवाहो (अन्तर-वर्ण) का प्रचलन इण्डो-आर्यन प्रजाति मे स्त्रियो की कमी पूरा करने के लिए हुआ और जैसे ही उच्च वर्णों को अपनी आवश्यकतानुसार लड़कियां प्राप्त हो गई, उन्होंने ऐसे विवाहो पर प्रतिबन्ध लगाना प्रारम्भ कर दिया। जैन और बौद्ध धर्म के ह्रास के पश्चात् चारों वर्ण हजारो जातियो और उपजातियो मे बट गए। धार्मिक पवित्रता और रक्त-शुद्धता को महत्व दिया जाने लगा और इसी आधार पर विभिन्न जातियो और उपजातियों को एक-दूसरे से ऊँचा अथवा नीचा माना जाने लगा। यहाँ जीवन-साथी के चुनाव का क्षेत्र पहले की तुलना में सीमित हो गया। अब अनुलोम विवाह ने कुलीन विवाह का रूप ग्रहण कर लिया। एक ही जाति की विभिन्न उपजातियो मे ऊंच-नीच का स्तरण पनपने लगा। माता-पिता अपनी लड़की का विवाह अपनी अथवा अपने से उच्च उपजाति या उच्च सामाजिक स्थिति वाले कुल मे करने लगे। सजातीय कुलीन विवाहो की उत्पत्ति का मुख्य कारण एक ही जाति मे विभिन्न सामाजिक स्थिति वाले समूहो का पाया जाना है। सामाजिक स्थिति के अन्तर के अनेक कारण हो सकते हैं, जैसे प्रजातीय श्रेष्ठता, राजनीतिक प्रभुता, राजवंश से सपर्क और क्षेत्रीय वरेण्यता (Territorial Supremacy) आदि। डा० कापडिया का यह कथन उपयुक्त है कि अनुलोम प्रतिबन्धित अन्तर्विवाह है।[41] अनुलोम विवाह का नियम कई बार किसी जाति को अनेक ऐसे उप-समूहों मे विभाजित कर देता है जो अन्त विवाह की इकाई होते हुए भी आपस मे विवाह नही कर पाते। उदाहरण के रूप मे, मान लीजिए कि एक जाति मे पाँच उप-समूह या उपजातियाँ अ, ब, स, द, य पाई जाती हैं जिनमे सामाजिक स्थिति की दृष्टि से उतार चढाव की प्रणाली है। स्तरण की इस प्रणाली मे अ समूह की स्थिति श्रेष्ठ है और ब, स, द, य समूहो की स्थिति तुलनात्मक दृष्टि से क्रमश निम्न है। अन्तर्विवाह के नियम के अनुसार ये सारे समूह एक ही जाति से सम्बन्धित होने के कारण आपस मे विवाह कर सकते हैं, परन्तु अनुलोम के सिद्धान्त के कारण ये सब समान रूप से आपस मे वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकते।

डा० राधाकृष्णन के अनुसार भारत मे अनुलोम विवाहो का प्रचलन सम्भवत दसवीं शताब्दी तक रहा।[42] इसके पश्चात् ऐसे विवाह समाप्तप्राय हो गए। बगाल मे अवश्य कुलीन विवाह अभी तक होते रहे हैं। वहाँ रारही (Rarhi) ब्राह्मणो मे चार समूह पाये जाते हैं-कुलीन, सिद्ध-श्रोत्रिय, साध्य-श्रोत्रिय तथा काष्ठ-श्रोत्रिय। डा० कापडिया ने कहा है कि साध्य-श्रोत्रिय काष्ठ श्रोत्रिय अन्तर्विवाही समूह हैं। कुलीन पहले तीन समूहो मे और सिद्ध श्रोत्रिय दूसरे और तीसरे समूह मे विवाह करते हैं। जातीय-स्तरण (Caste Hierarchy) की दृष्टि से इन सामाजिक समूहो के प्रतिष्ठित हो जाने से बहुपत्नीत्व की प्रथा बगाल के कुलीन ब्राह्मणों मे न केवल स्थिर हो गई बल्कि उसने इतना भद्दा विस्तार ग्रहण किया कि कइयो को तो उसके वर्णन पर कठिनता से ही विश्वास होता है। बाबू अभयचन्द्र ने कहा

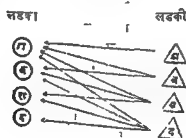
---

41 "Hypergamy is arrested endogamy", Ibid, p 113
42 S Radha Krishnan, "Religion and Society," p 173

है, "मैं दो कुलीनो को जानता हू जिनमे से एक ने करीब साठ और दूसरे ने सौ से अधिक पत्नियो से विवाह किया।"........एक अन्य बगाली बाबू गिरिन्द्रनाथ दत्त ने बताया है—'पूर्वी बगाल मे यह अब भी प्रबल रूप मे प्रचलित है, वहाँ अनेक पत्नियाँ रखने की घृणित प्रथा अब भी विद्यमान है।"[43] इस प्रकार से कुलीनवाद अपने वीभत्स रूप मे पाया जाता है और माता-पिता के सामने लडकियो के विवाह की गम्भीर समस्या रहती है। वर्तमान मे अनुलोम-नियम केवल एक सिद्धान्त के रूप मे है। आज करीब-करीब सभी लोग अपनी-अपनी उपजाति मे ही विवाह करते हैं।

अनुलोम विवाह के प्रभाव हानिया (Effects of Anuloma . Demerits)

अनुलोम विवाहो के अनेक सामाजिक दुष्परिणाम हुए हैं जिनमे से ये मुख्य हैं (१) ऐसे विवाहो से स्त्री की स्थिति गिरी है। ऐसे विवाहो म लडकियो का कोई महत्त्व नही रहता तथा उनके साथ विवाह करना उच्च कुल या समूह या उप-जाति के लडको की कृपा पर निर्भर करता है। लडके वाले लडकी को महत्त्व न देकर दहेज को महत्त्व देते हैं और परिणामस्वरूप लडकी के परिवार वालो का आर्थिक दृष्टि से शोषण होता है। (२) अनुलोम विवाह-प्रथा के कारण प्रत्येक व्यक्ति साधारणत अपनी लडकी का विवाह ऊचे-से ऊचे कुल मे करना चाहता है और इसका परिणाम यह होता है कि ऊचे कुलो मे लडको की माग बढ जाती है। ऐसे लडको के लिए उनके माता-पिता भारी दहेज की माग करते है और इस प्रकार वर-मूल्य प्रथा को प्रोत्साहन मिलता है। यहा इस स्थिति को एक चित्र द्वारा स्पष्ट किया जा रहा है :



(१) इस चित्र मे एक जाति के चार उप-समूहो—अ, ब, स, द को दिखाया गया है। इन उप-समूहो की सामाजिक स्थिति क्रमश नीची होती गई है। अनुलोम-नियम के अनुसार प्रत्येक उप-समूह मे लडकी के परिवार वाले अपने उप-समूह अथवा अपने से उच्च उप समूह मे अपनी लडकी का विवाह करना चाहते हैं। ऐसी दशा मे अ समूह के लडको की माग ज्यादा रहती है और इस कारण इस समूह मे वर-मूल्य प्रथा का प्रचलन बढता है। (२) ऊचे कुलों या समूहो मे लडको की कमी और उनसे विवाह करने योग्य लडकियो की अधिकता के कारण बहु-पत्नी विवाह प्रथा प्रचलित होती है। बगाल मे बहु पत्नी विवाह

43 K M Kapadia, op cit, p 105

का एक मुख्य कारण अनुलोम-नियम रहा है। जहा तक सम्पूर्ण भारत का प्रश्न है—यह कहा जा सकता है कि यहा बहु-पत्नी विवाह प्रथा का कारण सदैव अनुलोम विवाह नही है। यह बात स्पष्ट करते हुए कापडिया ने लिखा है, "भारतवर्ष मे अनुलोम विवाह सदैव बहु-पत्नी विवाह से सम्बन्धित नही रहा है।"[44] (३) अनुलोम विवाहो के कारण ऊँचे कुल या समूहो मे लडको की कमी होने तथा वर-मूल्य प्रथा की अधिकता के कारण प्रत्येक माता-पिता अपनी लडकी का विवाह शीघ्र से शीघ्र करने का प्रयत्न करते हैं और इस कारण बाल-विवाह अधिक प्रचलित होते हैं। (४) अपने से उच्च कुल अथवा समूह मे अपनी लडकी का विवाह करने के इच्छुक माता-पिता जब दहेज की भारी रकम नही जुटा पाते तो उन्हे विवश होकर उच्च कुल के वृद्ध व्यक्ति के साथ भी अपनी लडकी का विवाह करना पडता है, फलत बेमेल विवाह बढते हैं। (५) बाल-विवाह, बहु-पत्नी विवाह और बेमेल विवाह का परिणाम यह होता है कि विधवाओं की सख्या बढती जाती है। (६) दिए गए चित्र से स्पष्ट है कि अनुलोम विवाह लिगो के अनुपात में असमानता के लिए उत्तरदायी है। उच्च कुलों या समूहो के लडको के लिए लडकियों की अधिकता रहती है और निम्न कुलो अथवा समूहो के लिए लडकियो की कमी। परिणाम यह होता है कि उच्च समूह मे कुछ लडकियाँ और निम्न समूह मे कुछ लडके अविवाहित रह जाते हैं। निम्न कुल या समूह के लोग भी अपने से उच्च स्थिति वाले कुल या समूह के लडके के साथ अपनी लडकी का विवाह करना चाहते हैं। ऐसी दशा मे निम्न कुलो या समूहो मे कन्या-मूल्य का प्रचलन होता है। (७) साथ ही उच्च कुलों मे लडको की कमी के कारण लडकियो का विवाह काफी समय तक नहीं हो पाता और कुछ लडकियो को अविवाहित तक रहना पडता है। ऐसी दशा मे उनके चारित्रिक पतन की भी सम्भावना रहती है। (८) ऐसे विवाहो ने समाज मे रूढिवादिता को प्रोत्साहन तथा व्यक्तिगत, पारिवारिक और सामाजिक जीवन मे अनेक समस्याओ को जन्म दिया है। इस प्रकार के विवाहो ने जीवन-साथी के चुनाव मे अनेक कठिनाइयाँ पैदा की हैं।

(२) प्रतिलोम विवाह (Pratiloma Marriage-Hypogamy)

प्रतिलोम विवाह का तात्पर्य है—उच्च कुल, जाति अथवा वर्ण की लड की का निम्न कुल, जाति या वर्ण के लडके से विवाह। डा० कापडिया ने लिखा है, "एक निम्न वर्ण के व्यक्ति का उच्च वर्ण की स्त्री के साथ विवाह प्रतिलोम विवाह कहलाता था और इसकी घोर निन्दा होती थी।"[45] ऐसे विवाह मे लडकी का कुल, जाति या वर्ण लडके से उच्च होता है। ब्राह्मण लडकी का क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र लडके से विवाह प्रतिलोम विवाह [redacted] अन्तर्गत आता है। ऐसे विवाहो के बाद स्त्री की स्थिति निम्न हो जाती है और पुरुष की स्थिति मे कोई अन्तर नही आता। हिन्दू धर्मशास्त्रो मे ऐसे विवाह अवैध माने गए हैं और स्मृतिकारो ने इनकी घोर निन्दा की है। विशेष रूप से ब्राह्मण लडकी के शूद्र पुरुष के साथ विवाह को अति निकृष्ट बताया गया है। हिन्दू समाज मे कुछ मात्रा में प्रतिलोम विवाह सदैव प्रचलित रहे हैं, परन्तु ऐसे विवाहो को अनुचित समझा जाता और इनसे उत्पन्न सन्तान को चाण्डाल की श्रेणी मे रखा

---

44 "Hypergamy in India has not always been associated with polygyny" Ibid, p 113.
45 Ibid, p 107

जाता था। हिन्दू समाज मे १९४९ के 'हिन्दू विवाह वैधता अधिनियम' के बनने से अनुलोम और प्रतिलोम, दोनो ही विवाहो को वैध मान लिया गया है।

विवाह के भेद (Types of Marriage)

हिन्दू विवाह के जिन स्वरूपो का इस अध्याय मे पहले वर्णन किया जा चुका है, वे जीवन-साथी प्राप्त करने की रीति अथवा पद्धति पर आधारित हैं। यहा पति-पत्नी की संख्या के आधार पर विवाह के सार्वभौमिक प्रकारो का हिन्दू विवाह के सन्दर्भ मे वर्णन किया जा रहा है। ये प्रकार निम्नलिखित हैं

१ एक-विवाह (Monogamy),

२ बहु-विवाह (Polygamy),

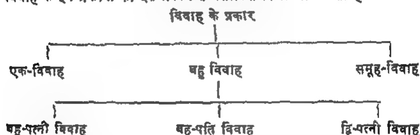
(क) बहु-पत्नी विवाह (Polygyny),

(ख) बहु-पति विवाह (Polyandry),

(ग) द्वि पत्नी विवाह (Bigamy),

३ समूह विवाह (Group Marriage)।

विवाह के इन प्रकारो को इस प्रकार से रेखांकित किया जा सकता है



१ एक-विवाह (Monogamy)

एक विवाह उस विवाह को कहते हैं जिसमे एक स्त्री का विवाह एक समय मे एक ही पुरुष के साथ किया जाए। श्री वुकेनोविच (Vukenovic) ने कहा है कि उस विवाह को एक विवाह कहना चाहिए जिसमे न केवल एक पुरुष की एक पत्नी या एक स्त्री का एक ही पति हो बल्कि दोनो मे से किसी की मृत्यु हो जाने पर भी दूसरा पक्ष अन्य विवाह न करे, परन्तु यह एक आदर्श नीति है। साधारणत स्त्री पर तो पति की मृत्यु के बाद पुन विवाह न करने का नियन्त्रण लगा दिया जाता है, परन्तु पुरुष स्वय दूसरा विवाह कर लेता है। वास्तव मे एक पति या पत्नी के जीवित रहते हुए दूसरा विवाह नही करना ही एक विवाह कहलाता है।

विवाह की यही प्रथा सबसे श्रेष्ठ मानी जाती है। इसका कारण यह है कि विश्व मे स्त्री पुरुषों का अनुपात करीब करीब समान है। यदि एक विवाह के स्थान पर बहु-पति विवाह या बहु-पत्नी विवाह की आज्ञा दी जाए तो परिणाम यह होगा कि अनेक स्त्रियां अथवा पुरुषो के अविवाहित रह जाने की सम्भावना रहेगी। दूसरा कारण यह है कि यदि एक विवाह के स्थान पर बहु-पति या बहु-पत्नी विवाह हो, तो उनसे उत्पन्न सन्तान की सुरक्षा एव लालन-पालन की व्यवस्था ठीक प्रकार से नहीं हो सकेगी। ये दोनों कारण ही विश्व के अधिकांश भागों मे एक विवाह प्रथा के प्रचलन के लिए उत्तरदायी हैं। वर्तमान समय मे एक विवाह ही विवाह का आदर्श रूप समझा जाता है।

हिन्दू समाज मे एक विवाह का आदर्श ही प्रस्तुत किया गया है। ऋग्वेद मे एक विवाह को ही श्रेष्ठ माना है। स्वय वैदिक देवता एक विवाही ही रहे हैं। दम्पत्ति शब्द का प्रयोग भी घर के दो सयुक्त स्वामियो अर्थात् एक पत्नी और एक पति को ही व्यक्त करता है, इसमे तीसरे व्यक्ति का कोई स्थान नही है। धर्मशास्त्रो मे यही बताया गया है कि पुरुष को पत्नीव्रत का पालन करना चाहिए और एक पत्नी के जीवित रहते हुए दूसरी स्त्री से विवाह अथवा अनैतिक सम्बन्ध स्थापित नही करने चाहिए। विभिन्न धार्मिक सस्कार पूरए करने के लिए भी एक ही पत्नी को आवश्यक माना गया है। पत्नी के लिए पातिव्रत्य धर्म का पालन और अपने सतीत्व की रक्षा करना आवश्यक बताया गया है। मनु ने मन, वचन और देह (शरीर) से कभी भी पर-पुरुष के साथ व्यभिचार नही करने वाली स्त्री को साध्वी और स्वर्ग की अधिकारिणी माना है। धर्मग्रन्थो मे अनेक उदाहरणो के द्वारा स्त्री के लिए विशेष रूप से एक विवाह का आदर्श प्रस्तुत किया गया है।

हिन्दू विवाह के प्रमुख उद्देश्य के रूप मे 'धर्म' को महत्त्व दिया गया है। धार्मिक क्रियाओ के सम्पादन और परिवार की निरन्तरता के लिए पुत्र-प्राप्ति अत्यन्त आवश्यक मानी गई है। ऐसी दशा मे पुत्र नही होने की स्थिति मे पुरुष को दूसरी पत्नी प्राप्त करने की छूट दी गई है, तो स्त्री को 'नियोग' द्वारा पुत्र-सन्तान प्राप्त करने की आज्ञा दी गई है। मनु ने कहा है कि यदि पत्नी स आठ वर्ष की अवधि मे कोई सन्तान पैदा नही हो तो पुरुष को दूसरा विवाह कर लेना चाहिए। नियोग प्रथा के अनुसार स्त्री को पति [redacted] नपुसक या भयकर रोग से पीडित होने की अवस्था म अपने देवर, किसी अन्य सम्बन्धी, सगोत्र, सपिण्ड अथवा उत्तम वरण के व्यक्ति के साथ यौनिक सम्बन्ध स्थापित कर पुत्र-सन्तान उत्पन्न करने की आज्ञा प्राप्त थी। इसी प्रकार सन्तान हीन विधवा को भी नियाग द्वारा पुत्र-सतान प्राप्त करने की आज्ञा थी। बोधायन धर्म सूत्र मे विधवा को तो नियोग का अधिकार दिया ही है साथ ही यह भी बताया है कि पति के जीवित होते हुए भी उसके नपुंसक या व्याधि-पीडित हाने पर *पत्नी अपने पति, गुरु आदि की आज्ञा से, उनके द्वारा नियत व्यक्ति से* नियोग द्वारा सन्तान उत्पन्न कर सकती है।

कौटिल्य ने *किसी सम्बन्धी अथवा सगात्र पुरुष को और विष्णु न सपिण्ड अर्थात् सातवी* पीढी तक के सम्बन्धी या उत्तम वर्ण वाले व्यक्ति को नियोग द्वारा सन्तान उत्पन्न करन का अधिकार दिया है। केवल पुत्र सन्तान की प्राप्ति के लिए ही इस प्रथा का प्रचलन हुआ था। किसी प्रकार की काम वासना की पूर्ति के लिए इस प्रथा का दुरुपयोग न हो, इसलिए शास्त्रकारो ने नियोग द्वारा सन्तान उत्पत्ति के सम्बन्ध मे कठोर नियम बनाए। मनु न कहा है कि "नियोग के उद्देश्य के पूर्ण हान के पश्चात् पुरुष और स्त्री को एक-दूसरे के प्रति एक पिता और एक पुत्र-वधू के समान व्यवहार करना पडता था। इसके विपरीत आचरण करने वाले गुरु-पत्नीगामी या पुत्र वधूगामी होने के अपराधी समझे जात थे।"[46] जब नियोग सम्बन्धी कठोर नियमो क उपरान्त भी अनैतिकता का प्रसार होने लगा, तो कलियुग मे इस प्रथा को निषिद्ध *माना गया। हिन्दू समाज मे* अपवाद के रूप मे ही *नियोग की आज्ञा दी* गई और साधारण परिस्थितियो म एक विवाह के आदर्श को ही प्रस्तुत किया गया है।

---

46 Quoted by P H Prabhu, op cit, p 197

२ बहु-विवाह (Polygamy)

जब एक पुरुष या स्त्री का एक से अधिक स्त्रियों या पुरुषों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित हो तो ऐसे विवाह को बहु-विवाह कहा जाता है। बहु-विवाह के ये रूप हैं —बहु-पत्नी विवाह, बहु-पति विवाह और द्वि-पत्नी विवाह।

(क) बहु-पत्नी विवाह (Polygyny) —बहु-पत्नी विवाह बहु-विवाह का एक रूप है। बहु-पत्नी विवाह उस विवाह को कहते हैं जिसमें एक पुरुष का एक से अधिक स्त्रियों के साथ विवाह होता है। ऐसे विवाह मे एक पुरुष के एक ही समय मे एक से अधिक पत्नियां होती हैं। भारतवर्ष मे बहु-पत्नी विवाह वैदिक काल से ही चले आ रहे हैं। यद्यपि यहाँ मुख्यत एक विवाह को ही प्रधानता दी जाती है तथापि बहु-पत्नी विवाह भी प्राचीन काल से प्रचलित रहे हैं। श्री दफ्तरी ने लिखा है, "इन विशेषताओ मे एक तथा अत्यन्त महत्वपूर्ण यह है कि यद्यपि साधारणत एक-विवाह का प्रचलन था तथापि मनुष्य एक ही समय मे एक से अधिक स्त्रियों के साथ विवाह कर सकता था।"[47] श्री कापडिया का कथन भी ऐसा ही है, "भारतवर्ष मे यह प्रतिमान वैदिक युग से वर्तमान समय तक प्रचलित रहा है।"[48]

याज्ञवल्क्य ने बताया है कि ब्राह्मण प्रत्येक वर्ण की एक-एक स्त्री से अर्थात् कुल चार स्त्रियों से, क्षत्रिय तीन से, वैश्य दो से और शूद्र एक से विवाह कर सकता है। कहा जाता है कि स्वय मनु के दस पत्नियाँ थीं और याज्ञवल्क्य के दो। यह प्रथा साधारण लोगो मे अधिक प्रचलित नहीं थी। मुख्य रूप से धनी, जमींदार एव राजा लोग ही एक से अधिक स्त्रियों के साथ विवाह किया करते थे। डा० ए० एस० अल्तेकर ने लिखा है कि "बहु-पत्नी विवाह धनी, शासक एव अभिजात वर्ग के लोगों मे सामान्य थे।"[49]

यद्यपि सैद्धान्तिक दृष्टि से बहु-पत्नी विवाह को शास्त्रो ने मान्यता प्रदान की है तथापि एक से अधिक स्त्रियों के साथ विवाह करने के सम्बन्ध मे अनेक प्रतिबन्ध थे, जैसे—बोधायन धर्म-सूत्र मे कहा गया है कि एक स्त्री के बाँझ होने पर दस वर्ष की अवधि के पश्चात दूसरी स्त्री से विवाह किया जा सकता है। मनु ने यह अवधि आठ वर्ष बताई है और यह भी लिखा है कि जिस स्त्री की सन्तान मर जाती है, उसके पति को ग्यारहवें वर्ष में दूसरा विवाह करना चाहिए। महाभारत मे कहा गया है कि "जो व्यक्ति अपनी पुत्र-सम्पन्न एव धर्म-परायण स्त्री के होते हुए भी दूसरा विवाह करता है, उसका पाप कभी भी नहीं धुल सकता।"[50] नारद का कथन है कि दूसरा विवाह करने वाले की गवाही अदालत को स्वीकार नहीं करनी चाहिए। आपस्तम्ब धर्मसूत्र मे उल्लेख है कि प्रथम पत्नी से पुत्र की प्राप्ति हो गई हो तो दूसरा विवाह नही किया जाना चाहिए। प्रभु नामक विद्वान ने लिखा है, "यद्यपि बहु-पत्नी विवाह सैद्धान्तिक रूप से मान्य था तथापि उसे प्राय एक अपवाद के रूप मे ही देखा जाता था।"[51] इस सम्बन्ध मे डा० आर० एन० सक्सेना का कथन है, "उत्तर वैदिक काल मे धर्मशास्त्र लेखको ने सिद्धान्तत

---

47 K M Daftari, The Social Institutions in Ancient India, p 158

48 'In India the pattern has persisted ri ht from the Vedi times to the present "
K M Kapadia, op cit, p 97

49 A. S Altekar, op cit, p 104

५०. महाभारत XII, ५–१३

बहुपत्नीत्व को स्वीकृत किया, लेकिन वे हमेशा इसे अपवाद ही मानते रहे। आपस्तम्ब, मनु और कौटिल्य ने बहुपत्नीत्व के सिद्धान्त को मानते हुए भी एक विवाह के आदर्श को ही सर्वोपरि रखा। अतएव बहुपत्नीत्व को उत्तर वैदिक काल की साधारण प्रथा नही माना जा सकता, यद्यपि वैदिक साहित्य मे इस प्रथा का उल्लेख है और अनेक वैदिक विभूतियो ने एक से अधिक स्त्रियो से विवाह किये।"[52]

बड़े भाई की मृत्यु हो जाने पर उसकी पत्नी से विवाह करने की प्रथा ने हिन्दू समाज मे बहुपत्नीत्व को प्रोत्साहन दिया। निम्न जातियो मे इस प्रथा का प्रचलन आज भी पाया जाता है जो बहुपत्नीत्व के लिए उत्तरदायी है। एक स्त्री के सन्तानहीन होने की स्थिति मे दूसरी स्त्री से विवाह की आज्ञा दी गई है। अनुलोम विवाहो ने भी बहु-पत्नी विवाह प्रथा के प्रचलन मे योग दिया है। बगाल मे कुलीनता को अधिक महत्त्व दिया जाता था और इसी कारण वहाँ बहु-पत्नी विवाह की प्रथा प्रचलित हुई। दक्षिण भारत मे मलाबार तट पर रहने वाले नम्बूद्री ब्राह्मणो म भी इसी प्रकार बहु पत्नी विवाह प्रथा का प्रचलन हुआ। उन लोगो मे अपनी जाति मे विवाह करने का अधिकार केवल बड़े भाई का ही माना जाता और अन्य छोटे भाइयो को अपने से निम्न अर्थात् नायर और क्षत्रिय कन्याओ से विवाह करना पड़ता। ऐसी परिस्थिति मे नम्बूद्री ब्राह्मणो मे विवाह योग्य लड़को की कमी और लड़कियो की अधिकता के कारण बहु-पत्नी विवाह प्रथा प्रचलित हुई। एक विवाह के सामान्य आदर्श और बहु-पत्नी विवाह पर अनेक प्रतिबन्ध होते हुए भी स्मृति युग के पश्चात् बहु-पत्नी विवाह की सख्या हिन्दू समाज मे बढती गई।

बहु-पत्नी विवाह के कारण (Causes of Polygyny)

(१) **पुत्र प्राप्ति के उद्देश्य से**—हिन्दू विवाह का मुख्य आधार धार्मिक कृत्यो की पूर्ति रहा है और इन धार्मिक कृत्यो की पूर्ति के लिए पुत्र होना आवश्यक है। पुत्र ही माता-पिता की मृत्यु के पश्चात् उनका पिण्डदान और तर्पण द्वारा उद्धार करता है। मनु तथा याज्ञवल्क्य आदि स्मृतिकारो ने पहली पत्नी स पुत्र उत्पन्न नही होने पर दूसरे विवाह की आज्ञा दी है।

(२) **आर्थिक आवश्यकता**—पहाड़ी जातियो मे आर्थिक कठिनाइयो के कारण बहु-पत्नी विवाह प्रचलित हैं। हिमालय की पर्वतमालाओ मे निवास करने वाली पहाड़ी जातियो को आर्थिक आवश्यकता के कारण बहु-पत्नी विवाह प्रथा को अपनाना पड़ता है। उनके खेत छोटे-छोटे तथा अलग-अलग स्थानो पर होते हैं। एक किसान स्वय सभी टुकड़ो पर खेती नही कर सकता और नौकरो की सहायता से खेती करवाना आर्थिक दृष्टि स न तो लाभप्रद है और न ही विश्वास योग्य। उन्हे अपने खेतो की देखभाल तथा सम्पत्ति-सुरक्षा के लिए पत्नी से अच्छा अन्य कोई व्यक्ति नही मिल सकता। वे पत्नियाँ अलग-अलग स्थानो पर रहती हुई किसान की खेती तथा पशुओ की ठीक से देखभाल करती है।

(३) **पत्नियां सामाजिक प्रतिष्ठा की प्रतीक**—मध्यकालीन युग मे अधिक पत्निया रखना सामाजिक प्रतिष्ठा और बड़प्पन का चिह्न था। जिस व्यक्ति के जितनी अधिक

51. P H Prabhu, op cit, p 195
५२. डा० आर० एन० सक्सेना, पूर्वोक्त, पृष्ठ ११-

पत्नियां होती, समाज मे उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा भी उतनी ही अधिक होती। इसी कारण उस काल मे धनी, जमीदार तथा राजा-महाराजा लोग एक से अधिक स्त्रियो के साथ विवाह करते थे।

(४) कुलीन विवाह —कुलीन विवाह के कारण भी बहु-पत्नी विवाह प्रचलित हुए। लडकी का विवाह अपने से ऊंचे कुल मे करने की इच्छा के कारण उच्च परिवारो मे विवाह योग्य लडको की सख्या कम रहती और उन परिवारो मे अपनी लडकियो का विवाह करने वाले लोगो की सख्या अधिक। इस कारण ऊंचे कुल के लडको का विवाह कई कन्याओ के साथ कर दिया जाता। बगाल मे, कुलीन ब्राह्मण कई कन्याओ से विवाह कर लेता था। इस प्रकार कुलीन विवाह प्रचलन ने बहु-पत्नी विवाह को काफी प्रोत्साहन दिया।

(५) स्त्रियो का पुरुषो से अधिक होना :—जिस समूह मे पति होने योग्य पुरुषो की सख्या कम और पत्नी होने योग्य स्त्रियो की सख्या अधिक होती है, उस समूह मे बहु-पत्नी प्रथा अपने-आप चल पडती है।

इन कारणो के अतिरिक्त वैस्टरमार्क ने 'हिस्ट्री आफ ह्यूमन मैरिज' मे बहु-पत्नी विवाह के इन अन्य कारणो का उल्लेख किया है:

(१) जगली जातियो के लोगो का यह विश्वास है कि गर्भावस्था मे तथा जब तक बच्चा दूध पीता है, तब तक पति को पत्नी के पास नही जाना चाहिए। इस अवधि के बाधित ब्रह्मचर्य (Forced Continence) के कारण उनमे दूसरी स्त्री से विवाह किया जाता है। (२) जगली जातियो मे स्त्रिया, पुरुषो की अपेक्षा जल्दी वृद्ध होती हैं, उनका यौवन जल्दी ढलता है। इस कारण पुरुष एक पत्नी के वृद्ध हो जाने पर दूसरी स्त्री से विवाह करता है। (३) विविधता की इच्छा के कारण भी उन लोगो मे बहु-पत्नी विवाह पाये जाते हैं। मोरक्को के एक मुसलमान से जब यह प्रश्न किया गया कि तुम एक स्त्री से सन्तुष्ट क्यो नही रहते हो तो उसने यही उत्तर दिया कि सदैव मछली खाकर ही नही रहा जा सकता। (४) जगली तथा बर्बर दशा मे अधिक सन्तान होना आवश्यक रहता है क्योंकि ऐसी स्थिति मे जीवनयापन बडा कठिन होता है। परिवार मे जितने अधिक सदस्य होंगे, कृषि-उत्पादन उतना ही अधिक होगा। वहा लडाई-झगडे तथा खून आदि भी होते रहते हैं। ऐसी दशा मे जिस परिवार मे सदस्य अधिक होगे, वे अपनी रक्षा सुगमता पूर्वक कर सकेंगे। जगली जातियो मे इसके अलावा बाल-मृत्युओ की सख्या अधिक होने से उत्पादन दर बहुत कम होती है। इस कारण सन्तान प्राप्त करने के उद्देश्य से उनमे बहु पत्नी विवाह-प्रथा पाई जाती है।

बहु-पत्नी विवाह प्रथा के कारण कामी पुरुषो को अपने परिवार के दायरे मे ही अपनी यौन-इच्छाओ को पूर्ण करने का अवसर मिल जाता है और परिणामतः यौन-व्यभिचार नही पनप पाता। बहु-पत्नी विवाह प्रथा स्त्री की दयनीय दशा के लिए उत्तरदायी रही है। ऐसे विवाहो ने उनकी स्थिति गिराई है। एक से अधिक पत्नियो के होने पर पारिवारिक वातावरण के कलुषित होने की सम्भावना रहती है, वहा यदा-कदा ईर्ष्या-द्वेष, मन-मुटाव तथा लडाई-झगडे पाये जाते हैं। अधिक पत्नियां और अधिक सन्तान कई बार परिवार पर आर्थिक बोझ बन जाती हैं और ऐसी दशा मे रहन-सहन का स्तर गिर जाता है और बालको का पालन-पोषण ठीक प्रकार से नही हो पाता।

वर्तमान मे हिन्दू समाज मे बहु-पत्नी विवाह प्रथा कानून द्वारा अवैध घोषित की जा चुकी है। १९५५ मे पारित हिन्दू विवाह अधिनियम के द्वारा यह स्पष्ट कर दिया गया है कि एक वैध हिन्दू विवाह के लिए यह आवश्यक है कि विवाह के समय किसी का भी जीवन-साथी अर्थात् पति या पत्नी जीवित न हो। इस अधिनियम द्वारा एक विवाह का आदर्श ही प्रस्तुत किया गया है। आज भी बदलती हुई परिस्थितियो मे साधारणत: लोग बहु-पत्नी विवाह उचित नही समझते।

(ख) बहु-पति विवाह (Polyandry) :—बहु-विवाह का एक अन्य रूप बहु-पति विवाह है। बहु-पति विवाह का तात्पर्य एक समय मे एक स्त्री के एक से अधिक पतियो का होना है। डा कापडिया ने बहु-पति विवाह का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है, "बहुपति विवाह एक प्रकार का सम्बन्ध है जिसमे एक स्त्री के एक समय मे एक से अधिक पति होते हैं, या जिसमे सब भाई एक पत्नी या पत्नियों का सम्मिलित रूप से उपभोग करते हैं।"[53] माईकेल (Mitchell) ने कहा है कि "एक स्त्री का एक पति के जीवित होते हुए अन्य पुरुषो से भी *विवाह करना या एक समय पर ही दो या दो से अधिक पुरुषो से विवाह* करना बहु-पति विवाह है।"[54] स्पष्ट है कि बहु-पति विवाह उस विवाह को कहते हैं जिसमे एक स्त्री एक से अधिक पुरुषो के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करती है। कई बार एक स्त्री से विवाह करने वाले ये पुरुष एक-दूसरे के भाई होते हैं और कभी-कभी विवाह करने वाले इन पुरुषों मे आपस में कोई सम्बन्ध नहीं पाया जाता। मातृसत्तात्मक व्यवस्था वाले समाजो मे स्त्री स्वय अपने पतियों का चुनाव करती है और निश्चित अवधि के लिए प्रत्येक पति के पास बारी-बारी से रहती है।

भारतवर्ष मे यद्यपि बहु-पति विवाह प्रथा पायी जाती है, परन्तु बहुत ही सीमित मात्रा मे। डा० अल्तेकर के अनुसार, "हिन्दू समाज वास्तव मे बहु-पति विवाह प्रथा से अपरिचित रहा है।"[55] वैदिक साहित्य मे यह स्पष्ट किया गया है कि किस प्रकार बहु-पत्नी विवाह कानूनी दृष्टि से मान्य है और बहु-पति विवाह अमान्य। स्मृतियो मे विवाह सम्बन्धी नियमो पर विचार किया गया है और उनमे कही भी बहु-पति विवाह की सम्भावना नही बताई गई है। हिन्दू-धर्मशास्त्रो मे स्त्री का परम कर्त्तव्य यह बताया गया है कि *वह एक पुरुष अर्थात् अपने पति के प्रति ही एकनिष्ठ रहकर* अपने पतिव्रत धर्म को निभाए। महाभारत और कुछ पुराणों मे बहु-पति विवाह के थोडे-से उदाहरण अवश्य मिलते हैं, लेकिन वे वास्तव मे अपवाद के रूप मे ही हैं। ऐसे उदारणों मे द्रौपदी का पाँच पाण्डव-भाइयो के साथ विवाह आता है। डा कापडिया ने लिखा है कि "द्रौपदी के प्रसिद्ध उदाहरण से, जिसके पाँच पाण्डव पति थे तथा वैदिक पौराणिक कथाओ मे बहु-पतित्व के कुछ अस्पष्ट सकेतो से यह मान लिया जाता है कि यह किसी समय ब्राह्मण सस्कृति का लक्षण था। यह निष्कर्ष भ्रान्ति-मूलक है। द्रौपदी का उदाहरण इसका स्पष्ट

---

53. "Polyandry is a form of union in which a woman has more than one husband at a time, or in which brothers share a wife or wives in common." K. M. Kapadia, op cit, p. 52.

54 G. D Mitchell, "Dictionary of Sociology," p 134,

55 A. S. Altekar, op cit., p 112.

प्रमाण प्रतीत नहीं होता है जबकि साधारणतः ऐसा मान लेते हैं।"[56] महाभारत काल मे भी बहु-पति विवाह का प्रचलन नही था और न ही ऐसे विवाह को अच्छा माना जाता था। कुन्ती को जब यह पता लगा कि जो कुछ प्राप्त हुआ उसे भाइयो द्वारा समान रूप से आपस मे बाँटने के उसके कथन का परिणाम बहु-पति विवाह है, तो उसे बडा कष्ट हुआ। माता कुन्ती की इस भूल को उस काल में प्रचलित बहु-पति विवाह के प्रमाण के रूप मे मानना तर्क-सगत नही है। द्रौपदी के पिता राजा द्रुपद ने इस विवाह का विरोध किया, इसे अधार्मिक और वेद-विरुद्ध बताया। यहा इस ओर भी ध्यान देना आवश्यक है कि द्रौपदी का विवाह वास्तव मे अर्जुन के साथ ही हुआ था जिसने धनुर्विद्या मे अपनी योग्यता के आधार पर उसे प्राप्त किया था। यह सम्भव है कि महाभारत मे द्रौपदी, पाचों पाण्डवों में पाए जाने वाले असाधारण घनिष्ठ प्रेमपूर्ण सबध पर बल देने की दृष्टि से, सभी भाइयो की सामान्य पत्नी के रूप में स्वीकार की गई हो। डा० अल्तेकर का कथन है कि "वैदिक काल मे भी आर्यो मे बहु-पति विवाह का प्रचलन नही था। कश्मीर और तिब्बत की अनार्य-जनजातियो मे कुछ मात्रा मे अब भी बहु-पति विवाह पाए जाते हैं और यह सम्भव है कि पाण्डवो ने इस प्रथा को इन्ही मे से किसी राज्य से ग्रहण किया हो।"[57] इस विवरण से स्पष्ट है कि द्रौपदी का पाच पाण्डवो के साथ विवाह महाभारत-काल की एक असाधारण घटना थी, जिसे सामान्य प्रथा के प्रमाण-स्वरूप स्वीकार नही किया जा सकता।

द्राविड सास्कृतिक समूहो मे मालाबाही लोगो में बहु-पति विवाह प्रथा का प्रचलन रहा है। डा० आर० एन० सक्सेना का कथन है कि "दक्षिण मे कुछ प्राग्-द्राविड़ सास्कृतिक समूहो मे भी बहुपतित्व की प्रथा रही है। इस प्रकार हिन्दुओ और अहिन्दुओ (विशेषतः आदिवासियो) मे यह प्रथा मिलती रही है। उत्तर के खस राजपूतो, मालाबार के नायरों और कुर्ग-निवासियो मे बहु-पतित्व की प्रथा पाई जाती रही है और ये सास्कृतिक समूह हिन्दू सामाजिक परिधि मे आते हैं।"[58] बहु-पति विवाह प्रथा उत्तरी भारत के देहरादून जिले के जौनसार-बावर परगना, टिहरी राज्य के खाई तथा जौनपुर परगनों मे पाई जाती है। इन क्षेत्रो मे जब सबसे बडा भाई विवाह करता है तो इस प्रथा के अनुसार उसकी पत्नी उसके सभी छोटे भाइयो की भी पत्नी हो जाती है। जौनसार-बावर-निवासी खस-राजपूतो में बहुपतित्व द्रौपदी-प्रथा के रूप मे पाया जाता है। वहा एक ही मा से उत्पन्न सगे भाई एक या एक से अधिक स्त्रियो से सम्मिलित रूप से विवाह करते है और वह स्त्री या स्त्रिया उन भाइयो की सामान्य पत्नी/पत्नियों के रूप मे रहती हैं, परन्तु इस प्रकार के विवाह मे स्त्रियो पर आधिपत्य सबसे बडे भाई का ही रहता है। द्रौपदी-विवाह की परम्परा के अनुसार यदि कोई छोटा भाई अपनी इच्छानुसार किसी स्त्री से विवाह करना चाहे तो ऐसी दशा मे उसका बडा भाई उस लडकी से विवाह कर लेता है और फिर उसे अपने छोटे भाई को सौंप देता है। खस लोगों मे बहु-पति विवाह-प्रथा के अन्तर्गत् स्त्री सम्पत्ति के रूप मे मानी जाती है। जौनसार-बावर क्षेत्र मे प्रचलित

56. K. M. Kapadia, op. cit., p, 58.
57. A. S. Altekar, op. cit., p. 114,
५८. डा० आर० एन० सक्सेना, पूर्वोक्त, पृष्ठ ३१।

बहुपतित्व के सम्बन्ध मे डा० मजूमदार ने कहा है कि "इस प्रदेश का सांस्कृतिक आधार मातृसत्तात्मकता है जिसके प्रमाण स्त्रियो को मायके मे मिलने वाली स्वतत्रता से मिलते है। मातृसत्तात्मक सगठन पर आर्यों के पितृसत्तात्मक सगठन के सघात ने इस प्रदेश की अन्य परिस्थितियो के अन्तर्गत यहा की बहुपतित्व प्रथा को जन्म दिया ।"[59] डा० आर० एन० सक्सेना ने लिखा है कि "यह मत प्रतिपादित किया जा सकता है कि हिन्दूकुश की तलहटी से होती हुई मध्य एशिया से जो आर्य-शाखाए भारतवर्ष में आई और हिमालय की घाटियो मे बस गई उनमे बहुपतित्व, विशेषतः द्रौपदी प्रथा पाया जाता था जिसे इस क्षेत्र की विशेष परिस्थितियो के अन्तर्गत पनपने का अवसर मिला ।"[60] बहु-पति विवाह प्रथा के अवशेष नीलगिरी के टोडा तथा नायरो मे, मलाबार के इरावन एव कम्पाला लोगो मे पाये जाते हैं। सभ्यता के विकास के साथ-साथ लोगो का झुकाव एक विवाह की ओर होता जा रहा है। हिन्दू समाज मे बहु-पति विवाह प्रथा को हेय दृष्टि से देखा जाता है और वर्तमान समय मे तो कानून भी एक ही विवाह की आज्ञा देता है। बहु पति विवाह प्रथा को जन्म देने वाले अनेक कारक रहे हैं जिनमे से मुख्य ये हैं —

(१) पुरुषो की अपेक्षा स्त्रियो की सख्या का कम होना (Less number of women than men)

वेस्टरमार्क ने इस प्रथा के पाये जाने का मुख्य कारण पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियो की सख्या का कम होना बताया है। प्रत्येक पुरुष मे यौन-इच्छा पाई जाती है। स्त्रियों के कम होने के कारण एक स्त्री के साथ एक से अधिक पुरुष यौन-सम्बन्ध स्थापित करते हैं। नीलगिरी के टोडा जनजाति मे इस विवाह प्रथा के पाये जाने का यही मुख्य कारण है। वहा बालिक-वध की भयकर प्रथा प्रचलित थी। धीरे धीरे वहाँ स्त्रियों की सख्या कम होने लगी और ऐसी परिस्थिति मे वहा एक स्त्री के एक से अधिक पति होने लगे। कई स्थानो पर स्त्री-पुरुषो की सख्या मे भारी अन्तर होने के कारण ही यह प्रथा प्रचलित हुई।

(२) दरिद्रता (Poverty)

समनर, कनिघम और डा० आर० एन० सक्सेना ने दरिद्रता या गरीबी को बहु-पति विवाह का मूल कारण माना है। समनर ने तिब्बत के उदाहरण से स्पष्ट किया है कि वहाँ पैदावार के बहुत कम होने से एक व्यक्ति के लिए परिवार का भरण-पोषण करना सम्भव नही होता। बहुत अधिक गरीबी के कारण एक व्यक्ति परिवार का खर्च नही चला पाता, इसलिए बहुत से पुरुष मिलकर एक पत्नी रखते हैं। कनिघम ने लद्दाख मे इस प्रथा के पाए जाने का कारण स्पष्ट करते हुए लिखा हैं, यह उस देश के लिए आवश्यक प्रतीत होती है, जिसमे कृषि योग्य भूमि की मात्रा मर्यादित हो, जहा विस्तृत चरागाह न हो, और जहा किसी प्रकार की सम्पत्ति सुगमता से न मिलती हो। अपने निवासियो के लिए पर्याप्त भोजन उत्पन्न न करने वाले देश के लिए यह व्यवस्था उचित है। देहरादून

---

५९. डी० एन० मजूमदार फार्च्यून्स ऑफ प्रिमिटिव ट्राइब्स।

६०. आर० एन० सक्सेना, उपरिवत्, पृष्ठ ३७ (लेखक द्वारा रचित 'सोशल इकानमी ऑफ ए पालियान्ड्रस पीपुल')।

जिले के जौनसार-बावर प्रदेश मे इस विवाह प्रथा के पाए जाने का मुख्य कारण डा० आर० एन० सक्सेना ने शुष्क प्रदेश तथा जीवन संघर्ष की कठोरता बताया है। जिन देशो में प्रकृति का दोहन बहुत कठिन होता है, वहा अकेले व्यक्ति के लिए यह सम्भव नही होता कि वह पूरे परिवार के लिए जीविका उपार्जन करे और स्त्री भी इस बात के लिए उत्सुक रहती है कि उसका पालन करने वाले अनेक व्यक्ति हो। इस प्रथा द्वारा जौनसारी स्त्री की देखभाल और पोषण करने वाले कई भाई होते हैं, वे सब उसे अपनी सामान्य पत्नी बनाकर रखते हैं।

(३) जनसख्या को मर्यादित रखने की इच्छा (Desire to keep population limited)

कई बार जनसख्या के अधिक बढ जाने और लोगों की आर्थिक स्थिति की गिरावट के कारण बहु पति विवाह की प्रथा चल पडती है। इस प्रथा से बच्चे कम उत्पन्न होते है और जनसख्या मर्यादित रहती हैं।

बहु-पति विवाह के प्रकार (Types of Polyandry)

बहु पति विवाह प्रथा के दो मुख्य प्रकार हैं

(१) भ्रातृक बहु-पति विवाह (Fraternal Polyandry)

भारत के अनेक भागो मे यह प्रथा प्रचलित है। इस प्रथा के अनुसार एक स्त्री के जितने भी पति होते हैं वे आपस मे भाई होते हैं। सबसे बडा भाई एक स्त्री से विवाह करता है और उसके सभी छोटे भाईयों का उस पर पत्नी के रूप मे अधिकार होता है। यह प्रथा उत्तर भारत में लद्दाख, देहरादून जिले के जौनसार-बावर प्रदेश, टिहरी राज्य के खाई और जौनसार परगनो मे पाई जाती है। पंजाब के पहाडी हिस्सो, कांगडा जिले के स्पीती और लाहौल परगनो मे भी यही प्रथा प्रचलित है। दक्षिण भारत में मलाबार के नायरो मे भी यही विवाह प्रथा पाई जाती है।

(२) अभ्रातृक बहु पति विवाह (Non-Fraternal Polyandry)

इस प्रथा के अनुसार एक स्त्री के जितने पति होते हैं, वे आपस मे भाई नही होते। एक स्त्री का कई पुरुषो के साथ विवाह हो जाता है और स्त्री बारी-बारी मे समान अवधि तक प्रत्येक पति के घर रहती है। अभ्रातृक बहु-पति विवाह प्रथा भारत में नीलगिरी के टोडा लोगों मे पाई जाती है।

अब १९५५ के हिन्दू विवाह अधिनियम के अनुसार कोई भी हिन्दू पहली पत्नी अथवा पति के जीवित होते हुए दूसरा विवाह नहीं कर सकता है। डा० सक्सेना के अनुसार, "भारत मे बहु-पतित्व का एक मुख्य उपयोगी पहलू रहा है। सम्मिलित परिवार भारत की विशेषता रही है और विभिन्न परिस्थितियों मे बहुपतित्व सयुक्त परिवार को स्थायित्व प्रदान करने में सहायक रहा है। यही कारण है कि सम्मिलित परिवार के परिवर्तन के साथ-साथ बहुपतित्व विघटित हो रहा है।"[61]

(३) द्वि-पत्नी विवाह (Bigamy)

---

६१ आर० एन० सक्सेना, उपरिवत्, पृष्ठ ४०

जब एक पुरुष एकसाथ दो पत्निया रखता है तो ऐसे विवाह को द्वि-पत्नी विवाह या युग्म विवाह कहते हैं। साधारणत पहली पत्नी के अस्वस्थ रहने की स्थिति में दूसरे विवाह की आज्ञा प्रदान की जाती है। ओरेगन जनजाति तथा एस्किमो लोगों मे भी द्वि-पत्नी विवाह का प्रचलन पाया जाता है। हिन्दू धर्मशास्त्रो मे पहली पत्नी से सन्तान नही होने की दशा मे दूसरे विवाह को उचित माना गया है। वर्तमान समय मे कानून द्वारा ऐसे विवाहो को अमान्य घोषित किया जा चुका है।

३. समूह विवाह (Group Marriage) :

जब लडकों के एक समूह का विवाह लडकियों के किसी समूह से होता है और सब परस्पर एक-दूसरे के पति-पत्नी होते हैं तो ऐसे विवाह को समूह विवाह कहते हैं। इसमें किसी भी पुरुष का किसी भी स्त्री विशेष के साथ सम्बन्ध नहीं पाया जाता। सभी स्त्रियाँ सभी पुरुषो की सामूहिक पत्निया होती हैं। वेस्टरमार्क का कथन है कि समूह विवाह तिब्बत, भारत तथा लका के बहुपतित्व प्रथा वाले लोगों मे पाया जाता है। यह विवाह प्रथा बहु-विवाह का ही एक रूप प्रतीत होती है। समूह विवाह किन्ही वन्य जातियो मे भी पहले पाए जाते थे। वर्तमान मे ऐसे विवाहो को असभ्य एव अशोभनीय माना जाता है। ससार मे किसी भी समाज मे विवाह का यह प्रकार अधिक प्रचलित नहीं है। डा० आर० एन० सक्सेना ने कहा है कि 'बहुपतित्व की प्रथा का परिणाम यह हुआ है कि वर्तमान समय मे यदि परिवार की आर्थिक स्थिति ठीक है तो छोटे भाइयो के लिए स्त्रियो का अलग प्रबन्ध किया जा सकता है। ऐसी स्थिति मे जहा किसी भाई का किसी स्त्री पर विशेषाधिकार नहीं है वहा बहुपतित्व ने समूह विवाह का रूप ले लिया है और जहा वर्तमान सुधार-आन्दोलन के प्रभाव के कारण प्रत्येक भाई की एक अलग स्त्री होती है वहा एक विवाह अस्तित्व मे आ रहा है।"[62]

प्रश्न

१. "हिन्दू विवाह एक धार्मिक सस्कार है।" इस कथन की व्याख्या कीजिए।
२ हिन्दू विवाह के प्रमुख स्वरूपो का वर्णन कीजिए।
३ हिन्दू विवाह के उद्देश्यों पर प्रकाश डालिये।
४. हिन्दू समाज मे विवाह को नियन्त्रित करने वाले विभिन्न प्रतिबन्धो का उल्लेख कीजिए।
५. बहिर्विवाह तथा अन्तर्विवाह का अन्तर बताइये। हिन्दू बहिर्विवाह के प्रमुख आधार क्या हैं ?
६. हिन्दू विवाह के आदर्शों का वर्णन कीजिए तथा इसके प्रमुख स्वीकृत प्रकारों पर प्रकाश डालिए।
७. हिन्दू विवाह के महत्त्व की एक सस्कार के रूप मे विवेचना कीजिए।

---

६२. डा० आर० एन० सक्सेना, उपरिवत्, पृष्ठ ३१।

८. हिन्दू विवाह के प्रमुख लक्षणों की व्याख्या कीजिए। इसे आप सस्कार किस प्रकार कहेगे ?

९. हिन्दुओ मे विवाह के सामाजिक एव धार्मिक महत्त्व की व्याख्या कीजिए।

१० 'आधुनिक हिन्दू विवाह एक सामाजिक समझौता है, न कि एक पवित्र बन्धन।" आलोचनात्मक ढग से स्पष्टीकरण कीजिए।

११ हिन्दू विवाह के क्या उद्देश्य हैं ? वर्तमान सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तनों ने इन्हें कितना प्रभावित किया है ?

१२ 'अनुलोम और प्रतिलोम' पर सक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

१३ गोत्र और प्रवर का भेद बताइए।

१४ हिन्दुओ मे बहु-पत्नी विवाह अथवा बहु-पति विवाह पर एक आलोचनात्मक निबन्ध लिखिए।



अध्याय 10

हिन्दू विवाह से सम्बन्धित समस्यायें

(PROBLEMS CONNECTED WITH HINDU MARRIAGE)

हिन्दू विवाह एक पवित्र धार्मिक संस्कार है। श्री कापडिया के अनुसार, "हिन्दू विवाह एक संस्कार है। इसको पवित्र माना जाता है, क्योंकि पवित्र मन्त्रों सहित धार्मिक कृत्यों के करने पर ही इसे पूर्ण समझा जाता है।"[1] यही बात व्यक्त करते हुए अंग्रेज विद्वान मेन ने लिखा है, "समस्त हिन्दुओं के लिए, चाहे वे किसी भी जाति के क्यों न हों, विवाह एक आवश्यक संस्कार या धार्मिक कृत्य है।"[2] स्पष्ट है, कि हिन्दू विवाह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण सामाजिक संस्था है। इसका धर्म और जाति के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध पाया जाता है। विवाह सामाजिक व्यवस्था का महत्वपूर्ण आधार है क्योंकि इसके माध्यम से ही परिवार की सृष्टि होती है और परिवार समाज की प्राथमिक एवं मौलिक इकाई है। परिवार और समाज की आधारशिला विवाह संस्था है, जो प्राचीन-काल में परम पुनीत मानी जाती थी। उस समय विवाह से सम्बन्धित कोई समस्या उपस्थित नहीं थी, परन्तु आज समय बदल चुका है, अनेक आर्थिक और राजनैतिक परिवर्तन हो चुके हैं। बदली हुई परिस्थितियों का लोगों के दृष्टिकोणों पर भी व्यापक प्रभाव पड़ा है। जिस गति से हिन्दू समाज के विविध पक्षों में परिवर्तन हुए हैं, उस गति से हिन्दू विवाह संस्था में नहीं हुए। आज भी हिन्दू विवाह संस्था अनेक रूढ़िगत धारणाओं, प्रथाओं एवं परम्पराओं से जकड़ी हुई है। के० एम० पनिकर ने लिखा है, "हिन्दू जीवन जंगली पेड़-पौधों के समान अव्यवस्थित ढंग से बढ़ता गया। प्रत्येक प्रकार की रूढ़ि को, चाहे वह कितनी ही विषाक्त क्यों न थी, ग्रहण कर लिया गया और धर्म के आवरण में उसे स्वीकृति प्रदान कर दी गई।...... राजकीय और धार्मिक सत्ता के अभाव में रूढ़ियों ने बड़े स्वाभाविक ढंग से धर्माचार्यों का स्थान ग्रहण कर लिया और बनावटी पवित्र ग्रन्थों के माध्यम से अहंकारवश अपने को ईश्वरीय अध्यादेशों के रूप में व्यक्त किया।"[3] इस परिस्थिति का परिणाम यह हुआ कि हिन्दू समाज से सम्बन्धित अनेक समस्यायें उत्पन्न हो गई जो हिन्दू जीवन और समाज को अपने कुप्रभाव से कलुषित करती जा रही हैं। वर्तमान में हिन्दू विवाह से सम्बन्धित प्रमुख

---

1 "Hindu Marriage is a sacrament. It is considered sacred because it is said to be complete only on the performance of the sacred rites accompanied by the sacred formulae." K. M. Kapadia, op. cit., p. 168.

2 "Marriage is one of the necessary samskaras or religious rites for all Hindus, whatever the caste." Maine, Treatise on Hindu Law and Usages.

3 K. M. Pannikar, op. cit., pp. 40-41.

समस्यायें य हैं —(१) दहेज प्रथा, (२) बाल विवाह, (३) विधवा विवाह, (४) विवाह-विच्छेद एव (५) अन्तर्जातीय विवाह पर प्रतिबन्ध । यहाँ हम प्रथम तीन समस्याओं पर विचार करेंगे, अन्तिम दो समस्याओ की विवेचना अगले अध्याय मे की जाएगी ।

दहेज-प्रथा
(Dowry System)

हिन्दू विवाह से सम्बन्धित समस्याओ मे दहेज-प्रथा एक अत्यन्त गम्भीर समस्या है । इस प्रथा के कारण अधिकाश हिन्दू माता पिता के लिए लडकियों का विवाह एक अभिशाप बन गया है । इस समस्या का समाजशास्त्रीय अध्ययन अत्यन्त आवश्यक हैं । साधारणत दहेज उस धन अथवा सम्पत्ति को कहते हैं जो विवाह के समय कन्या-पक्ष द्वारा वर पक्ष को दी जाती है । ब्राह्म विवाह (जो हिन्दुओ के विवाह प्रकारो मे सर्वश्रेष्ठ माना जाता है,) मे लडकी का पिता उसके विवाह के अवसर पर जो वस्त्र, आभूषणत या अन्य वस्तुयें वर-पक्ष को देता है, दहेज के रूप मे मानी जाती हैं । फेयरचाइल्ड (Fair Chi'd) ने लिखा है कि दहेज वह धन या सम्पत्ति है जो विवाह के अवसर पर लडकी के माता पिता या अन्य निकट सम्बन्धियो द्वारा दी जाती है । मेक्स रेडिन (Max Radin) का कथन है' "साधारणत दहेज वह सम्पत्ति है जो एक पुरुष विवाह के समय अपनी पत्नी या उसके परिवार से प्राप्त करता है ।"[4]

कानूनी दृष्टिकोण से दहेज उस सम्पत्ति या मूल्यवान वस्तुओ को मानते हैं जिसे विवाह की एक शर्त के रूप मे विवाह के पूर्व, विवाह के समय अथवा विवाह के बाद मे एक पक्ष द्वारा दूसरे पक्ष को देना आवश्यक होता है । दहेज निरोधक बिल के प्रस्तुत होने पर लोक-सभा ने १९६० मे दहेज की परिभाषा इस प्रकार से की "दहेज का अर्थ कोई ऐसी सम्पत्ति या मूल्यवान निधि है, जिसे (१) विवाह करने वाले दोनों पक्षो मे से एक पक्ष ने दूसरे पक्ष को, अथवा (२) विवाह मे भाग लेने वाले दोनों पक्षो मे से किसी एक पक्ष के माता-पिता या किसी अन्य व्यक्ति ने किसी दूसरे पक्ष अथवा उसके किसी व्यक्ति को विवाह के समय, विवाह से पहले या विवाह के बाद विवाह की आवश्यक शर्त के रूप मे दी हो अथवा देना स्वीकार किया हो ।" दहेज की इस परिभाषा की व्याख्या करते हुए लोकसभा म यह भी मजूर किया गया कि "विवाह मे उपहार या भेंट के रूप मे दी जाने वाली वस्तुओ को तब तक दहेज नही माना जाएगा जब तक कि ये वस्तुयें विवाह की अनिवार्य शर्त के रूप में नही हो ।" लोकसभा द्वारा दी गई दहेज की इस परिभाषा के अन्तर्गत 'वर-मूल्य और कन्या-मूल्य' दोनो ही प्रथायें आ जाती हैं । चार्ल्स विनिक ने दहेज का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है, "वे बहुमूल्य वस्तुयें जो किसी भी पक्ष के सम्बन्धी विवाह के लिए प्रदान करें ।"[5] इस परिभाषा के अनुसार भी दहेज के अन्तर्गत वर-मूल्य और कन्या-मूल्य प्रथा दोनो ही आ जाती हैं, लेकिन साधारणत लोग दहेज के इस अर्थ को स्वीकार नही करते, कन्या-पक्ष

---

4. "Ordinariey dowry is the property which a man receives when he marries either from his wife or from her family " Max Radin, Encyclopaedia of Social Sciences 'Dowry Vol V, p 230

5 "Valuables that the relatives of either party to a marriage contribute to the marriage " Charles Winick, "Dictionary of Anthropology," p 174

की ओर से जो धन या सम्पत्ति वर-पक्ष को दी जाती है उसे सामान्यत: दहेज और वर-पक्ष की ओर से कन्या-पक्ष को जो धन दिया जाता है उसे कन्या-मूल्य कहते हैं। यहां यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि दहेज-प्रथा और वर-मूल्य प्रथा को कुछ लोगों ने भिन्न माना है। उनका मत है कि सामान्य रीति-रिवाजों के अनुसार लड़की का पिता अपनी इच्छा से जो कुछ वर-पक्ष को देता है, वह दहेज है और इसके अतिरिक्त वर-पक्ष की माग के अनुसार जो कुछ दिया जाता है वह वर-मूल्य है। वास्तव मे देखा जाए तो दहेज प्रथा और वर-मूल्य प्रथा मे केवल अंशो का अन्तर है। वर्तमान समय में दहेज प्रथा के एक गम्भीर सामाजिक समस्या के रूप मे पाए जाने का कारण यही है कि वर-पक्ष के लोग विवाह हेतु बहुत अधिक धन या सम्पत्ति की माग करते हैं। अत हम यह कह सकते हैं कि दहेज वह धन या सम्पत्ति है जो लडकी का पिता उसके विवाह के समय रीति-रिवाजो के अनुसार या वर पक्ष की माग के अनुसार देता है। साधारणत दहेज शब्द का यही अर्थ अधिकतर प्रचलित है। वर्तमान मे दहेज का प्रचलन अधिकाशत वर-मूल्य के रूप मे या विवाह की आवश्यक शर्त के रूप मे पाया जाता है। दहेज-प्रथा की समस्या का सम्बन्ध कन्या-पक्ष से ही है। लडकी एव उसके माता-पिता के लिए आज दहेज एक गम्भीर समस्या के रूप मे है जिसका निराकरण अत्यन्त आवश्यक है।

प्राचीन समाजो मे दहेज-प्रथा नही पाई जाती थी। प्रारम्भिक समय मे हिन्दुओं मे भी दहेज-प्रथा का प्रचलन नही था। केवल धनी परिवारो एव राजघरानों मे ही विवाह के अवसर पर कुछ वस्तुयें भेंट के रूप मे वर को दी जाती थीं। द्रौपदी, सुभद्रा और उत्तरा के विवाह मे हाथी, घोड़े तथा जवाहरात भेंट के रूप मे दिए गए थे। 'रघुवंश' मे विदर्भ के राजा का वर्णन आता है जिसने अपनी बहन इन्दुमति को विवाह के पश्चात् अपने पति के साथ रवाना होते समय बहुत-कुछ मूल्यवान वस्तुयें भेंट के रूप मे प्रदान की। विवाह के अवसर पर पवित्र स्नेह के कारण स्वेच्छा से दी गई इन वस्तुओं को दहेज नहीं कहा जा सकता। स्मृतियो मे दहेज-प्रथा का उल्लेख कही भी नही मिलता। वास्तव मे दहेज-प्रथा का प्रचलन मध्यकाल मे हुआ और विशेष रूप से राजपूताना के धनी और राजपूत परिवारो मे। इन घरानो में तेरहवी-चौदहवी शताब्दी से दहेज एक समस्या का रूप ग्रहण करता जा रहा था, परन्तु साधारण परिवारो मे दहेज की रकम बहुत कम होती थी और इसे कन्या-पक्ष वाले स्नेह-वश देते थे। यह विवाह की एक आवश्यक शर्त नही थी। १९वी शताब्दी के मध्य तक यही स्थिति रही। दहेज की रकम पिछले ७०-७५ वर्षो से बहुत अधिक बढ गई है और आज इस प्रथा का प्रचलन सारे देश मे हो चुका है। आज ऐसे लडको को माता-पिता अपनी लडकियो के वर के रूप मे चुनना चाहते हैं जो उच्च शिक्षा प्राप्त हों, किसी अच्छी नौकरियो में लगे हो अथवा जिन्होंने किसी व्यवसाय मे विशेष योग्यता प्राप्त की हो। ऐसी दशा मे स्वाभाविक रूप से ऐसे लडको की विवाह के बाजार मे माग बढ जाती है और परिणामस्वरूप वर-पक्ष वाले अधिक दहेज की माग करते हैं। वर्तमान मे शिक्षा और सामाजिक चेतना के बढने पर भी दहेज की प्रथा आश्चर्यजनक रूप से बढती ही जा रही है। यह एक सक्रामक रोग के रूप मे वीभत्स रूप धारण करती जा रही है। आज अधिकाशत दहेज की रकम का निर्धारण विवाह की अनिवार्य शर्त-सा बन गया है। सिद्धात रूप मे दहेज का विरोध करने वाले भी अवसर आने पर इसको अधिकाधिक मात्रा मे प्राप्त करना चाहते हैं। डा० अल्तेकर ने लिखा है, "हिन्दू समाज के लिए यह उचित समय है

कि वह दहेज की दूषित प्रथा को जिसने अनेक अबोध कन्याओ को आत्म हत्या के लिए प्रेरित किया है समाप्त कर दे। [6]

दहेज प्रथा के कारण (Causes of Dowry System)

भारत मे अनेक ऐसे कारण या तत्त्व रहे हैं जिन्होने दहेज प्रथा के विकास मे और इसको बनाए रखने म योग दिया है। ये निम्नलिखित हैं

१ अन्तवर्ण विवाहो पर रोक—अन्तवर्ण विवाहो के समाप्त होने और प्रत्येक वर्ण मे अनेक जातियो एव उपजातियो के बन जाने से जीवन साथी के चुनाव का क्षेत्र बहुत सीमित हो गया तथा लडकियो के लिए योग्य वर चुनने की समस्या गम्भीर हो गई। इस कारण वर-पक्ष वाले अधिक दहज की माग करने लगे और यह प्रथा बढती ही गई।

२ कुलीन विवाह प्रथा—हिन्दुओ में कुलीनता की धारणा पाई जाती है जिसने कुलीन विवाहो को प्रोत्साहित किया है। इस प्रथा के अनुसार, प्रत्येक हिन्दू अपनी लडकी का विवाह अपने से उच्च कुल में करना चाहता है। इस कारण उच्च या कुलीन परिवारो मे लडको की कमी रहती है और एसी दशा म वर-पक्ष वाले अधिक स अधिक दहज की माग करते हैं। कन्या-पक्ष को योग्य वर प्राप्त करने के लिए विवश होकर अधिक दहज देना पडता है।

३ बाल विवाह—बाल विवाहो के प्रचलन से लडके लडकिया को अपने जीवन-साथी चुनन का अवसर नही था फलत वर पक्ष वाल इस स्थिति का लाभ उठाने लगे और अधिक दहेज की माग करने लगे।

४ हिन्दू लडकियों क लिए विवाह एक अनिवाय सस्कार—हिन्दू लडकियो के लिए विवाह एक अनिवाय धार्मिक सस्कार समझा गया है। विवाह की इसी अनिवायता से लाभ उठाकर वर-पक्ष वाले अधिक से अधिक दहेज की माग करते है जो लडकी वालो को बाध्य होकर देना पडता है। कभी-कभी अपनी कुरूप विकलांग या किसी अन्य शारीरिक अथवा मानसिक दोष वाली लडकी के विवाह के लिए मुआवज के रूप मे भी दहज की भारी रकम दने के लिए कन्या-पक्ष को विवश होना पडता है।

५ उच्च शिक्षा एव व्यक्तिगत प्रतिष्ठा के कारण—वतमान समय म उच्च शिक्षा एव व्यक्तिगत प्रतिष्ठा का महत्त्व बहुत बढ गया है। उच्च शिक्षा प्राप्त और किसी अच्छे व्यवसाय या नौकरी म लगे हुए लडक की सामाजिक और आर्थिक स्थिति ऊची उठ जाती है। इस कारण ऐस लडको का मूल्य विवाह के बाजार म बढ जाता है और उनक लिए अधिक दहज की माग की जाती है।

६ धन का महत्व—आधुनिक समाजा मे धन का महत्त्व बहुत बढ गया है। धन के आधार पर ही व्यक्ति की सामाजिक प्रतिष्ठा निश्चित होती है। धनी लोग अधिक दहज देकर अपनी लडकियो के लिए अच्छे से अच्छे वरो को चुन लेते हैं। प्रत्येक पिता अपनी लडकी क लिए योग्य वर चुनना चाहता है और योग्य वरों का प्रतिस्पर्द्धा के कारण मूल्य बढ जाता । इसलिए कन्या-पक्ष को विवश होकर अपनी सामर्थ्य से अधिक दहज देना पडता है।

---

6 A S Altekar op c t p 71

७ महंगी शिक्षा : लडको को उच्च शिक्षा दिलाने के लिए माता-पिता को काफी रुपया खर्च करना पडता है। कई बार तो उन्हे इस कार्य हेतु कर्ज भी लेना पडता है। इस कर्ज को चुकाने के लिए अथवा अपने द्वारा लडके की शिक्षा पर खर्च की गई भारी रकम के मुआवजे के रूप मे लोग अधिक दहेज की मांग करते हैं।

८. प्रदर्शन एव झूठी प्रतिष्ठा की इच्छा—आजकल लोगो मे दिखावे या प्रदर्शन की प्रवृत्ति बढती जा रही हैं। अपनी जाति या उपजाति मे तथा अपने सम्बन्धियों, मित्रो एव साथियो की दृष्टि मे अपनी सामाजिक स्थिति को ऊंचा दिखाने की इच्छा या झूठी प्रतिष्ठा के नाम पर लोग अधिक दहेज लेने और देने मे अपनी शान समझते हैं। परिणाम यह होता है कि कुछ लोगों का यह व्यवहार अन्य लोगो के लिए दहेज के रूप मे एक समस्या बन जाती है।

६ गतिशीलता में वृद्धि—वर्तमान समय मे यातायात के साधनो मे काफी वृद्धि हुई है तथा नगरीकरण और औद्योगीकरण बढा है। इनके परिणामस्वरूप व्यावसायिक गतिशीलता मे वृद्धि हुई है। एक ही जाति या उपजाति के लोग व्यवसाय हेतु देश के विभिन्न भागो मे फैल गए हैं, नौकरी करने के लिए लोग सैंकडो, हजारो मील दूर चले गए हैं। ऐसी दशा मे अपनी जाति या उपजाति के योग्य वर ढूढ लेना कठिन हो गया है और इस परिस्थिति ने दहेज-प्रथा को प्रोत्साहित किया है।

१० दहेज सामाजिक प्रथा के रूप मे—धीरे-धीरे दहेज का प्रचलन समाज मे एक शक्तिशाली प्रथा के रूप मे हो गया और लोग तदनुसार व्यवहार करने लगे। आज लडकी के माता-पिता को बाध्य होकर अपनी सामर्थ्य से अधिक दहेज देना पडता है अन्यथा उन्हें योग्य वर नही मिल पाते हैं। वर्तमान समय मे दहेज एक चक्र-सा बन गया है जिसका कही अन्त नही है। जो लोग अपनी लडकी के विवाह के समय दहेज का विरोध करते हैं, वे ही अपने लडके के विवाह के समय खूब दहेज की माग करते हैं। अपनी लडकियो एव बहनो के लिए जब दहेज देना पडता है तो अपने लडको एव भाइयो के लिए लोग दहेज लेते भी हैं। इस प्रकार, दहेज का एक प्रथा के रूप मे प्रचलन बना रहता है।

दहेज-प्रथा के दुष्परिणाम (Evil Effects of Dowry System)

दहेज-प्रथा ने समाज का बहुत अधिक अहित किया है। इसी प्रथा के कारण बहुत-से हिन्दुओ का जीवन नरक बन गया है। इस प्रथा के दुष्परिणाम निम्नलिखित हैं।

१ बालिका वध : दहेज-प्रथा के कारण इस देश मे यदाकदा शिशु-हत्याए (बालिका-वध) भी होती थी। दहेज से बचने के लिए कुछ माता-पिता लडकी के जन्मते ही उसे मार डालते थे। राजस्थान मे बालिका-वध का प्रचलन विशेष रूप से था जिसे कानून द्वारा रोका गया। डा० कैलाशनाथ शर्मा ने लिखा है कि "मध्यकाल मे जब राजस्थान मे वर-मूल्य प्रथा का पूर्ण प्रचार था तब वहीं के लोगो मे शिशु-वध की प्रथा प्रारम्भ हुई। लोग वर-मूल्य प्रथा की परेशानियो से बचने के लिए अपनी नवजात कन्याओ की हत्या कर डालते थे।"[7] आजकल शिशु-हत्या की प्रथा समाप्तप्राय: हो चुकी है।

---

७ डा० कैलाशनाथ शर्मा, "भारतीय समाज और संस्कृति" पृष्ठ ३७६.

२ पारिवारिक विघटन दहेज प्रथा मुख्य रूप से पारिवारिक विघटन की स्थिति उत्पन्न कर देती है। जो वधू अपने साथ अधिक दहेज नहीं लाती, उसके साथ ससुराल मे दुर्व्यवहार किया जाता है, उसकी सास तथा ननदें उसे ताने देती रहती हैं और उसे अपमानित जीवन व्यतीत करना पडता है। कम दहेज लाने वाली वधू को कई बार बहुत अधिक कष्ट दिया जाता है। ऐसी स्थिति मे परिवार का वातावरण दूषित तथा पारिवारिक सघर्ष की स्थिति पैदा हो जाती है। कई बार ऐसी परिस्थिति मे दो परिवारों मे तनाव तथा शत्रुता तक की नौबत आ जाती है। परिणाम यह होता है कि पति-पत्नी सुखी वैवाहिक जीवन नही बिता पाते हैं।

३ आत्महत्या दहेज के कारण अनेक आत्महत्याएँ होती हैं। जिन लडकियो को अधिक दहेज नही मिलता, उन्हे ससुराल मे अपमानजनक जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य होना पडता है। उन्हें बहुत-से कष्ट सहने पडते हैं और अ त मे जब वे तग आ जाती हैं तो उन्हे विवश होकर आत्महत्या करनी पडती है। कभी-कभी जब माता-पिता काफी प्रयत्नों के उपरान्त भी योग्य वर का पता नही लगा पाते तो उन्हें चिन्ता से मुक्त करने के लिए भी लडकियाँ आत्महत्या कर लेती हैं।

४ ऋणग्रस्तता अधिकाश माता पिता अपनी लडकी के लिए दहेज की भारी रकम नही जुटा पाते। ऐसी दशा मे दहेज के लिए उन्हें ऋण लेना पडता है या अपनी सम्पत्ति को बेचना पडता है, फलत बहुत-से परिवार ऋणी बन जाते हैं जो ब्याज पर ब्याज चुकाते रहते हैं।

५ निम्न जीवन स्तर एक मध्यम वर्ग के व्यक्ति को भी आजकल लडकी के विवाह मे कम से कम पन्द्रह बीस हजार रुपये तक खर्च करने पडते हैं। जो कुछ वह बचाता है उस तो विवाह मे खर्च करना ही पडता है और साथ ही बहुत-सा रुपया ऋण के रूप मे भी लेना पडता है। विवाह म सब कुछ खर्च कर डालने के कारण व्यक्तियो का जीवन-स्तर बहुत निम्न हो जाता है।

६ बहु-पत्नी विवाह दहेज बहु-पत्नी विवाह का एक प्रमुख कारण है। आर्थिक लाभ के लिए एक व्यक्ति दूसरा तथा तीसरा विवाह करने का प्रयत्न करता है। श्री कापडिया ने लिखा है, 'क्योकि प्रत्येक विवाह से पर्याप्त धन प्राप्त होता है, इसलिए स्वाभाविक रूप से एक मनुष्य केवल आर्थिक लाभ के लिए दूसरा और तीसरा विवाह करने की इच्छा करता है।'[8] वतमान समय में हिन्दू विवाह अधिनियम, १९५५ के अनुसार बहु-पत्नी विवाह समाप्त कर दिये गये हैं।

७ बेमेल विवाह अधिक दहेज न दे सकने के कारण बहुत-से गरीब माता पिता को अपनी बेटी का विवाह किसी अपग, अयोग्य, अनमेल अथवा बूढे व्यक्ति के साथ कर देना पडता है क्योकि वे दहेज की भारी रकम इकट्ठी नहीं कर पाते। बेचारी लडकी भी पिता की विवशता के कारण इस स्थिति को स्वीकार कर लेती है। परिणाम यह होता है कि या तो वह शीघ्र ही विधवा हो जाती है या जन्म भर दु खी जीवन व्यतीत करती है।

---

8 "As every marriage brings a substantial sum one would be naturally tempted to contact a second and a third marriage just for its economic utility" K M Kapadia, op cit, p 103

८ विवाह समाप्त हो जाते हैं कई बार वैवाहिक सम्बन्ध निश्चित हो जाने के पश्चात् भी दहेज की कमी के कारण विवाह टूट जाता है। कई वर-पक्ष वाले तो इतने निर्दय होते हैं कि बरात तक को बिना विवाह किये लौटा ले जाते हैं। समाचार-पत्रो म इस प्रकार की घटनाए समय-समय पर पढने को मिलती हैं।

९. अपराध को प्रोत्साहन दहेज हेतु भारी रकम जुटाने के लिए बहुत-से माता-पिता अपराध तक करने को बाध्य होते हैं। उन्हें घूस लेनी पडती या किसी अनुचित साधन से धन एकत्र करना पडता है। इस तरह दहेज-प्रथा लोगो को अपराध की ओर प्रवृत्त करती है।

१० अनैतिकता दहेज न दे सकने के कारण बहुत-सी लडकियो का विवाह काफी आयु तक नही हो पाता। ऐसी दशा मे कभी-कभी वे अपनी यौन-इच्छाओ के वशीभूत हो अनैतिक कार्यों की ओर प्रवृत्त हो जाती है तथा उनके चरित्र मे गिरावट आती है।

११. मानसिक बीमारियां दहेज की कुप्रथा के कारण बहुत-सी लडकियो के माता-पिता को चिन्ता मे डूबा हुआ देखकर लडकियाँ भी चिन्तित होने लगती हैं। चिन्ता के कारण माता पिता तथा लडकियो को कई प्रकार के मानसिक रोग आ घेरते है। विशेष रूप से उन लडकियो को मानसिक रोग अधिक होते हैं जिनका विवाह अधिक आयु तक नही हो पाता है।

१२ स्त्रियो की निम्न स्थिति के लिए उत्तरदायी साधारणत दहेज-प्रथा के कारण लडकी के जन्म को परिवार के लिए भावी विपत्ति समझा जाने लगा है। लडकी के विवाह में आर्थिक बोझ की कल्पना ही परिवार वालो को चिन्तित कर देती है। यह परिस्थिति समाज म स्त्रियो की निम्न स्थिति का एक मुख्य कारण है।

कुछ लोगो ने दहेज के पक्ष मे कुछ तर्क प्रस्तुत किये है, जो ये हैं —

प्रथम, नवीन दम्पत्ति को विवाह क अवसर पर वे सब वस्तुए दहेज म मिल जाती है जो उनकी घर-गृहस्थी को जमाने मे आवश्यक होती हैं। द्वितीय, दहेज की अधिक माँग के कारण लोग शीघ्र ही अपनी लडकियो का विवाह नही कर पाते, फलस्वरूप विवाह-आयु बढ जाती है। तृतीय, दहेज के कारण जब लडकियो का विवाह काफी आयु तक नही हो पाता तो माता पिता उनको शिक्षा दिलाते रहते है। इस प्रकार, दहेज प्रथा स्त्री शिक्षा को बढाने म सहायक प्रतीत होती है।

वास्तव मे देखा जाए तो दहेज के पक्ष के ये तर्क खोखले है। आज के इस आधुनिक वैज्ञानिक युग मे जब शिक्षा का सब ओर प्रसार हो रहा है तो स्त्री शिक्षा के फैलाव को भी रोका नही जा सकता चाहे दहेज-प्रथा हो या न हो। विवाह की आयु बढने क भी अनेक कारण हैं न कि दहेज मात्र। जहाँ तक घर गृहस्थी को जमाने म दहेज से लाभ का प्रश्न है, वहाँ हमे इसको जुटाने मे लडकी के माता-पिता के कष्ट की कल्पना भी करनी चाहिए। दहेज प्रथा के दुष्परिणामो को देखते हुए दहेज के ये तथाकथित लाभ गौण हैं।

दहेज प्रथा को समाप्त करने हेतु सुझाव
(Suggestions to End the Dowry System)

आज स्थिति यह है कि लोग दहेज लेकर खा रहे हैं और दहेज समाज को खा रहा है,

उसकी कर्मशक्ति को खा रहा है। इस कुप्रथा को समाप्त करने हेतु निम्नलिखित सुझाव प्रस्तुत किये जा सकते हैं —

१ स्त्री शिक्षा—समय बदला, परिस्थितियाँ बदली, परन्तु हिन्दू समाज आज भी उन्ही कुरीतियो को ढो रहा है जो सौ, दो-सौ साल पहले थी। बढते मूल्यो के समान ये कुरीतियाँ पहले से भी अधिक बढ गई हैं। ठीक यही बात दहेज के सम्बन्ध मे है। इसे मिटाने के लिए आवश्यक है कि भारतीय नारी से अशिक्षा और कुसस्कारो को समाप्त किया जाए। इस कुप्रथा को समाप्त करने के लिए उचित स्त्री-शिक्षा बढाने की आवश्यकता है। यदि लडकियाँ भी शिक्षा पूरी होने पर लडको के समान नौकरी या कोई व्यवसाय करने लगें तो उन्हे पुरुष की दया का भिखारी बनने के लिए बाध्य नही होना पडेगा और ऐसी स्थिति मे लडके वालो का दहेज मागने का साहस अवश्य घट सकेगा। साथ ही ऐसा होने पर स्त्रियो के लिए, विवाह की अनिवार्यता भी समाप्त हो जाएगी। यहाँ हमे यह भी ध्यान रखना होगा कि भूख का इलाज खाना छोड देना नही है, उसी तरह नारी का अविवाहित रहना दहेज की समस्या का हल नही है। पतिहीन नारियों की सामाजिक स्थिति तो दहेज प्रथा को शक्ति प्रदान करेगी। इतना अवश्य है कि दहेज के विरुद्ध आवाज बुलन्द करने हेतु आवश्यकता पडने पर नारी को अविवाहित जीवन व्यतीत करने तक के लिए अपने को प्रस्तुत करना होगा। शिक्षित स्त्रियो को दहेज-प्रथा के विरुद्ध आन्दोलन का नेतृत्व करना होगा जिससे लोगो के विचारो एव सामाजिक मूल्यो मे परिवर्तन हो।

२ जीवन साथी का चुनाव स्वयं लडके-लडकियों द्वारा—जीवन-साथी के चुनाव मे लडके-लडकियो को महत्त्वपूर्ण भूमिका निभानी होगी। जहाँ माता-पिता के द्वारा विवाह-सम्बन्ध निश्चित किये जाते हैं वहाँ साधारणत सौदेबाजी होती है, दहेज की रकम का पहले से निर्धारण होता है और यदि यह अधिकार स्वय विवाह करने वाले अपने हाथ मे ले लें तो स्थिति मे परिवर्तन अवश्य आएगा। ऐसा तभी सम्भव है जब लडके-लडकियों को शिक्षा की समुचित सुविधाएं प्राप्त हों, उन्हे नौकरी या व्यवसाय मे लगने, साथ-साथ काम करने और एक-दूसरे के निकट आने के अवसर मिलें। ऐसा होने पर वे स्वय अपने लिए जीवन-साथी का चुनाव कर सकेंगे और ऐसे चुनाव मे 'दहेज' बाधा उपस्थित नहीं कर सकेगा।

३. *प्रेम-विवाह—दहेज प्रथा इसलिए जिन्दा है कि युवक-युवतियाँ पारस्परिक प्रेम को* विवाह मे परिणत करने मे डरते हैं। वे प्रेम तो करते हैं, परन्तु प्रेम-विवाह से लोक-लज्जा के कारण घबराते हैं। जब युवा वर्ग के लोग, समाज के ठेकेदारो एव मठाधीशो की बिना चिन्ता किए अपनी पसन्द के अनुसार विवाह करेंगे तभी दहेज-प्रथा समाप्त हो पाएगी। वास्तव मे दहेज-प्रथा को मिटाने मे प्रेम-विवाह काफी सीमा तक सहायक हो सकते हैं। इस सम्बन्ध मे युवको को आगे आना होगा, उन्हें अपने दृष्टिकोणों मे परिवर्तन करना होगा और यह दृढ निश्चय करना होगा कि उन्हें सुन्दर, सुशील एव सुसस्कृत जीवन-सगिनी चाहिए न कि दहेज। आज आवश्यकता इस बात की है कि प्रेम-विवाह को समाज मे सामान्य रूप से स्वीकार कर लिया जाए।

४ अन्तर्जातीय विवाह—जाति बिरादरी के एक सीमित क्षेत्र मे बँधे रहकर रिश्ते ढूंढते रहने के कारण दहेज का प्रचलन बढता ही जा रहा है। दहेज-प्रथा को समाप्त करने के लिए अन्तर्जातीय विवाहो को प्रोत्साहित करना आवश्यक है। शिक्षित वर्ग के

लोगो को इस दिशा मे पहल करनी होगी, उन्हे अन्तर्जातीय विवाहो का सूत्रपात करना होगा। वास्तव मे अन्तर्जातीय विवाहो के प्रचार द्वारा दहेज-प्रथा को समाप्त किया जा सकता है क्योकि ऐसे विवाहो से एक जाति के लडको की कमी दूसरी जातियो से पूर्ण हो सकती है। अन्तर्जातीय विवाहो के बढने से जीवन-साथी के चुनाव का क्षेत्र बहुत विस्तृत हो जाएगा तथा योग्य वरो के मिलने मे कोई कठिनाई उपस्थित नही होगी, परिणामस्वरूप दहेज-प्रथा स्वत ही समाप्त हो जाएगी।

५ लडकों को स्वावलबी बनाने का प्रयत्न—पढे-लिखे लडको को नौकरी नही मिलने से दहेज-प्रथा का प्रोत्साहन अधिक मिलता है। पूर्ण रोजगार की अनिवार्य व्यवस्था इस कुप्रथा को समाप्त करने मे अवश्य सहायक हो सकेगी। आजकल विवाह में परिवारो को अधिक महत्त्व न देकर लडको की योग्यता तथा सामाजिक प्रतिष्ठा पर विशेष ध्यान दिया जाता है। यदि लडको को उचित शिक्षा और उपयुक्त पद प्राप्त करने के अवसर दिये गए तो योग्य लडको को कमी दूर हो जाएगी और दहेज-प्रथा के समाप्त होने में सहायता मिलेगी। वर्तमान मे सरकार द्वारा नौकरियो के अवसर बढाने का प्रयत्न अवश्य किया जा रहा है। नौकरियो के अतिरिक्त व्यावसायिक क्षेत्र मे शिक्षितो के लिए जीविकोपार्जन की सुविधा बढाने की आवश्यकता है, कुटीर उद्योग-धन्धो को प्रोत्साहित करना लाभदायक है।

६ दहेज के विरुद्ध जनमत तैयार करके—केवल शिक्षा के प्रसार से ही इस कुप्रथा को समाप्त नही किया जा सकता। जब तक लोगो के हृदय परिवर्तित नही होते और नवयुवको मे नवीन मूल्यो का निर्माण नही होता, तब तक दहेज-प्रथा से छुटकारा नही मिल सकता है। यह परिस्थिति प्रचार के द्वारा स्वस्थ जनमत तैयार करके ही उत्पन्न की जा सकती है। समाज मे एक नवीन जागरण की आवश्यकता है ताकि चेतना प्राप्त कर लडके-लडकियाँ स्वय के विवाह मे दहेज का विरोध कर सकें, समाज के सम्मुख एक आदर्श उपस्थित कर सकें और इस कुप्रथा की समाप्ति मे योग दे सकें।

■ दहेज के विरुद्ध कानून—दहेज-प्रथा को समाप्त करने की दृष्टि से कठोर कानून बनाना चाहिए। कुछ लोगो का विचार है कि कानून से किसी भी सामाजिक समस्या को नही सुलझाया जा सकता, परतु उनका ऐसा विचार उचित नही है। यदि कानून की रचना निर्दोष हो और सरकार उसे कठोरतापूर्वक लागू करने का प्रयत्न करे तो हमे शीघ्र ही कानून की उपयोगिता का पता चलेगा। साथ ही यह अत्यन्त आवश्यक है कि जनता को ऐसे कानून के सम्बन्ध मे पूर्ण जानकारी दी जाए।

अनेक समाज-सुधारको एव महिला सगठनो ने सरकार से दहेज-प्रथा के विरुद्ध कानून बनाने की माग की है। इस माग को ध्यान मे रखते हुए सन् १९५९ मे लोकसभा मे 'दहेज' निरोधक विधेयक प्रस्तुत किया गया। ९ मई, १९६१ को लोकसभा और राज्य-सभा की सयुक्त बैठक मे यह विधेयक पास हो गया और १ जुलाई सन् १९६१ मे लागू हो गया। इस अधिनियम मे दहेज लेने और देने पर प्रतिबन्ध लगाया गया है। इस अधिनियम मे दहेज लेने और देने पर प्रतिबन्ध लगाया गया है, परन्तु साथ ही यह भी बताया गया है कि विवाह के अवसर पर दिए जाने वाले उपहार दहेज नहीं माने जायेंगे। विवाह तय करते समय जो कुछ उपहार-वस्तुएँ, धन आदि विवाह की आवश्यक शर्त के रूप मे मांगे जाएंगे, चाहे वे वर-पक्ष द्वारा मांगे जाएँ अथवा कन्या-पक्ष द्वारा, वे सब

दहेज के अन्तर्गत आयेंगे और ऐसा कोई भी समझौता गैर-कानूनी एवं दण्डनीय होगा। यदि इस कानून के विरुद्ध कोई दहेज दिया गया तो वह पत्नी की सम्पत्ति मानी जाएगी। इस अधिनियम की धारा ३ मे बताया गया है कि यदि कोई व्यक्ति दहेज देता या लेता है अथवा इसके देन-लेन मे सहायता करता है तो उसे ६ महीने की कारावास एवं ५ हजार रुपये तक का दण्ड दिया जा सकता है। इस अधिनियम की धारा ४ मे कहा गया है कि यदि वर या कन्या के माता-पिता या सरक्षक से कोई भी व्यक्ति प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से दहेज मांगेगा तो वह भी उपर्युक्त प्रकार से दण्डित होगा। धारा ■ के अन्तर्गत कहा गया है कि अदालत इस अधिनियम के अन्तर्गत होने वाले अपराधो पर तभी विचार करेगी जब (१) इस बारे मे लिखित शिकायत पेश हो, (२) शिकायत किसी प्रथम श्रेणी के मजिस्ट्रेट की अदालत मे की जाए, तथा (३) शिकायत दहेज के लेने अथवा देने के एक वर्ष के भीतर ही की जाए। इस अधिनियम के पारित होते समय कानून-मन्त्री श्री ए० के० सेन ने जो आशा व्यक्त की थी वह पूर्ण होती हुई प्रतीत नही हो रही है। उन्होने उस समय "दहेज निरोधक अधिनियम" के सम्बन्ध मे कहा था कि यह कानून-पुस्तक का एक बेकार का पृष्ठ बनने की बजाय मानव आचरण का एक मानदण्ड प्रमाणित होगा। वास्तव मे इस अधिनियम को पारित करने वाले व्यक्तियो के उद्देश्य निश्चित-रूपेण प्रशसनीय है, परन्तु इसमे कुछ ऐसी कमियाँ रह गई है जिनकी वजह से यह दहेज प्रथा को रोकने मे असफल रहा है।

(१) इसमे सबसे बड़ी कमी तो यह है कि यह सिद्ध करना असम्भव-सा है कि कौन-सी वस्तुएँ स्नेह-वश उपहार के रूप मे दी जा रही है और कौन-सी विवाह की एक शर्त के रूप मे दहेज के अन्तर्गत। दहेज के देन-लेन के लिए दण्ड की व्यवस्था है न कि उपहारो के लिए। परिणाम यह होगा कि विवाह के अवसर पर जो कुछ माँगा और दिया जाएगा, वह सब, लोग उपहार ही मानेंगे और उसे 'विवाह की एक शर्त' के रूप मे प्रमाणित नही किया जा सकेगा। ऐसी दशा मे दहेज-प्रथा को नही रोका जा सकेगा।

(२) इस अधिनियम की एक कमी यह है कि दहेज देने और लेने वाले के विरुद्ध अदालती कार्रवाई तब ही सम्भव है जब कोई पक्ष इसके विरुद्ध अदालत मे शिकायत करे, अदालत ऐसे अपराधो का सज्ञान (Cognizance) बिना किसी शिकायत के स्वय नही करेगी। प्रश्न यह है कि ऐसी शिकायत कौन करे और क्यो करे? दहेज लेने और देने वाले शिकायत करने से रहे, न वर-पक्ष वाले और न ही कन्या-पक्ष वाले अपने हित मे ऐसी शिकायत कर सकते हैं। अन्य पास-पड़ोस वाले व्यक्ति ऐसी शिकायत करके आफत क्यों मोल लें? वे बिना बात अदालतो के चक्कर क्यो लगाते फिरें, लोगो से क्यो दुश्मनी मोल लें? और फिर उन्हे भी तो अपने लड़के-लड़कियो के विवाह मे दहेज लेना और देना है।

"बाल-विवाह निरोधक अधिनियम, १९२९' के समान यह 'दहेज निरोधक अधिनियम, १९६१' भी अपने उद्देश्यो मे असफल रहा है। आज अधिकतर लोग तो इस अधिनियम से अपरिचित हैं। इस अधिनियम मे ऐसी कमियाँ हैं कि यह दहेज-प्रथा को समाप्त नही कर सकता। आवश्यकता इस बात की है कि इस अधिनियम की कमियो का दूर किया जाए। इसे कठोरतापूर्वक लागू किया जाए और इसके विरुद्ध कार्य करने वालो को कड़ी सजा दी जाए।

८ युवा-आन्दोलन—दहेज प्रथा को समाप्त करने के लिए युवको को दहेज के विरुद्ध विद्रोह करना होगा, सत्याग्रह करना होगा, आन्दोलन चलाना होगा। चन्द चांदी के टुकडो पर अपनी सन्तानो को बेचने वाले दौलत के पुजारी नही जानते कि विवाह क्या होता है। अनेक लडके वाले तो विवाह को बाजारी सौदा समझते हैं। कुछ इसे केवल समझौता-मात्र मानते हैं। युवा वर्ग को इन दौलत के पुजारियो को नींद से जगाने की आवश्यकता है। दहेज के कीटाणु आज प्रत्येक लडके के मा बाप से चिपके हुए हैं। उन्हे इस बीमारी से छुटकारा दिलाने के लिए अविवाहित युवक युवतियो को दहेज न लेने-देने का चट्टानी सकल्प करना होगा। प्रत्येक को दृढता के साथ यह सकल्प करना होगा कि—मैं न दहेज लू गा, न स्वय इसे मातू गा और अन्य विवाहो मे भी मैं इसका सदैव विरोध करू गा। इस प्रथा का अन्त उसी समय होगा जब नौजवान जागेगा। इस समस्या के निराकरण के लिए त्यागी, बलिदानी एव उत्साही युवा-वर्ग को आगे बढना होगा। युवतियो को भी दहेज मांगने वाले परिवारो का बहिष्कार करना होगा। युवा वर्ग को यह सोचने की आवश्यकता है कि क्या कन्या-पक्ष से मिलने वाले धन से किसी का जीवन-निर्वाह हुआ है अथवा हो सकता है?

स्वय युवक-युवतियो मे भी सामाजिक चेतना की आवश्यकता है। आज के युवको को अपने भौतिकवादी दृष्टिकोण मे थोडा परिवर्तन लाने की जरूरत है। बहुत से मध्यम वर्ग के लडके ऊपर से दहेज का विरोध करते हैं, परन्तु मन ही मन चाहते हैं कि शादी मे उन्हे रेडियो, टेपरिकार्डर, कूलर, रेफ्रीजरेटर, स्कूटर, कार आदि मिले। युवको को धन और सुविधाओ की अपनी इस भूख पर नियत्रण करने की आवश्यकता है। जब तक युवक इस दुविधापूर्ण मन स्थिति मे रहेगे, तब तक दहेज के विरुद्ध सशक्त कदम नही उठा सकेंगे। यदि सारे अविवाहित युवक युवतियाँ यह व्रत ले लें कि जहाँ दहेज मांगा, लिया या दिया जाता है, उस परिवार मे वे किसी भी स्थिति मे विवाह नही करेंगे, तो निश्चय ही यह प्रथा समाप्त हो सकती है।

एक पुरानी कहावत प्रचलित है, "पर उपदेश कुशल बहुतेरे" अर्थात् दूसरो को उपदेश देने मे कुशल लोग बहुत से मिल जायेंगे, परन्तु दहेज प्रथा को समाप्त करने के लिए दूसरो को उपदेश देने के बजाय स्वय को जलकर मशाल बनना होगा, दूसरो को प्रकाश देना होगा। दूसरो के सम्मुख न तो दहेज लेने और न ही देने का उदाहरण प्रस्तुत करना होगा। यदि यह कहा जाए कि इस दिशा मे सुधार की नहीं, बल्कि स्वय के योगदान की, दृढ निश्चय की आवश्यकता है तो अधिक उपयुक्त होगा। स्नातक कक्षाओ के एक सर्वेक्षण मे दहेज प्रथा को समाप्त करने हेतु छात्रों ने जो सुझाव दिए, वे इस प्रकार हैं, प्रश्न आता है कि 'दहेज' के कोढ से छुटकारा कैसे मिले? १४ प्रतिशत को लगा कि बिना सामाजिक क्रान्ति के यह होगा नही। १० प्रतिशत इसे विशुद्ध कानूनी समस्या मानते हैं। सरकार कानून को सख्त करे। उसका पालन भी कठोरता से किया जाए तो समस्या निर्मूल हो सकती है। १२ प्रतिशत छात्रो ने बिना किसी हिचकिचाहट के प्रेम-विवाह के प्रचलन का प्रस्ताव रखा है। १४ प्रतिशत किसी नैतिक आन्दोलन मे समाधान पाने की आशा रखते हैं। २ प्रतिशत छात्रो ने स्त्री शिक्षा के प्रसार के साथ इसके स्वयमेव समाप्त हो जाने की प्रत्याशा की है, किन्तु सर्वाधिक सख्या है उन छात्रो की जिन्होंने बिना किसी सहारे के इस कुप्रथा को समाप्त करने का सकल्प स्वय लिया है। इस प्रकार के छात्र हैं ४८

प्रतिशत । इन्हें लगा है कि कहीं से कुछ होने वाला नहीं है । जब तक युवा वर्ग स्वयं इसे मिटाने को कमर न कसेगा कानून लंगड़ा रहेगा समाज-सुधारक व्यर्थ सिर मारेंगे और स्त्री शिक्षा तो दहेज की राशि बढ़ाती ही चली जाएगी । दहेज प्रथा के लिए दोष किसे दिया जाए ? इस प्रथा का विरोध करने वाले लोग भी अपने लड़के के विवाह में हाथ फैलाते हैं । माता, पिता नेता समाज सुधारक और युवकों तक की यही स्थिति है । मुख्य दोष युवकों का ही है और आखिर उन्हें ही इस दिशा में प्रयास करना होगा ।

जातीय-पंचायतों या जातीय संगठनों को स्थानीय स्तर पर नियम बनाकर दहेज की अधिकतम राशि निर्धारित करनी चाहिए । सगाई अथवा तिलक के अवसर पर दिये जाने वाले धन की सीमा निश्चित करनी चाहिए । ऐसे नियमों की अवहेलना करने का साहस साधारणतः जातीय सदस्यों का नहीं होगा । जो लोग इन नियमों के विरुद्ध कार्य करें उनका सामाजिक बहिष्कार किया जाना चाहिए । साथ ही यह भी अनिवार्य कर दिया जाना चाहिए कि दहेज का गुप्त रूप में ही दिया अथवा लिया जाए ताकि लोगों में आपसी प्रतिस्पर्धा कम हो ।

दहेज प्रथा के कारण समाज में अनेक नवीन समस्याएँ उत्पन्न होती जा रही हैं और समाजरूपी शरीर में रोग फैलाती जा रही हैं । आदर्श हिन्दू विवाह दहेज के कारण बाजार की वस्तु बन गया है । अब समाज के हित में इस कुप्रथा को समाप्त करना अत्यन्त आवश्यक है । दहेज प्रथा से छुटकारा प्राप्त करने का एक सशक्त साधन काले धन (Black Money) की समाप्ति हो सकता है । इसी काले धन की अधिकता के कारण धनी लोग खूब खुलकर दहेज लेते और देते हैं । धनी लोगों का दौलत का यह प्रदर्शन मध्य श्रेणी के अनेक माता पिता के लिये लड़की के विवाह को समस्या बना देता है । दहेज प्रथा को समाप्त करने के लिये यह आवश्यक है कि दहेज-लोलुप व्यक्तियों का सामाजिक बहिष्कार किया जाय । अब इतना परिवर्तन तो अवश्य आ रहा है कि अब लोग खुलकर दहेज मांगने में लज्जा का अनुभव करने लगे हैं । अब बिना लेन देन के सादगीपूर्ण विवाहों को आदर्श माना जाने लगा है । दहेज रहित सामूहिक विवाहों को प्रोत्साहन देकर भी इस कुप्रथा को नियन्त्रित किया जा सकता है ।

बाल विवाह
(Child Marriage)

बाल विवाह उस विवाह को कहते हैं जिसमें लड़की का विवाह प्रायः रजोदर्शन के पूर्व और लड़के का विवाह किशोरावस्था के पूर्व ही सम्पन्न कर दिया जाता है । इस प्रकार के विवाह में बाल्यावस्था में ही लड़के-लड़कियों को विवाह-बन्धन में बाँध दिया जाता है । भारत के कुछ भागों में अभी भी ऐसे उदाहरण मिल जाते हैं जहाँ अग्नि के चारों ओर सात फेरे लाने में असमर्थ छोटी-सी बालिका को थाली में बैठाकर उसका विवाह कर दिया जाता है । इस देश में ऐसे बालक-बालिकाओं का वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर दिया जाता है जो विवाह का अर्थ तक नहीं समझते । कानूनी दृष्टिकोण से १५ वर्ष से कम आयु की लड़की और १८ वर्ष से कम आयु के लड़के का विवाह बाल विवाह है, लेकिन अब इस आयु को बढ़ा कर क्रमशः १८ वर्ष और २१ वर्ष कर दिया गया है ।

हिन्दू धर्मशास्त्र विवाह के लिए लड़के-लड़कियों की आयु के सम्बन्ध में समान धारणायें प्रस्तुत नहीं करते परन्तु वैदिक और महाकाव्य साहित्य के उदाहरणों से इतना अवश्य स्पष्ट है कि उस समय युवावस्था में ही विवाह होते थे । वेदों में बताया गया है कि ब्रह्मचर्य

व्रत धारण करके युवावस्था प्राप्त करने वाली लड़की को ही वर मिलता है। उस समय साधारणतः लड़कियों का विवाह १५ या १६ वर्ष की आयु में सम्पन्न होता था। महाभारत में १६ वर्ष की लड़की के विवाह का समर्थन किया गया है। गृह्यसूत्र साहित्य में कहा गया है कि विवाह के समय लड़की को 'नग्निक' होना चाहिए। डाक्टर घोष ने लिखा है कि मातृदत्त ने इस शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए बताया है कि नग्निका उस कन्या को कहते हैं जो अपने पति के द्वारा एकान्त में नग्न की जाने योग्य हो अर्थात् जिसके साथ यौनिक-सम्बन्ध स्थापित किया जा सके। डा० घोष का विचार है कि प्राचीन काल में इस प्रकार नग्निका का अर्थ यौवनावस्था को प्राप्त लड़की से था। कुछ लोगों ने नग्निका शब्द का अर्थ नंगी लड़की से लगाया है और इस आधार पर बाल-विवाह को प्रोत्साहित किया है, *लेकिन नग्निका शब्द का यह अर्थ विश्वसनीय नहीं है।* महाभारत में १६ वर्ष की नग्निका के विवाह का उल्लेख मिलता है। रुक्मणी और कृष्ण, सावित्री और सत्यवान, सुभद्रा और अर्जुन, दुष्यन्त और शकुन्तला आदि के विवाह युवावस्था में ही सम्पन्न हुए थे। ये विवाह लड़कियों की स्वतन्त्र इच्छा और चुनाव पर आधारित थे। गृह्यसूत्र में विवाह के पश्चात् तीन दिन ब्रह्मचर्य का पालन कर चौथे दिन सम्भोग करने का आदेश दिया गया है। विवाह के बाद चौथे दिन की इस घटना को काफी लम्बे समय तक 'चतुर्थी-कर्म' कहा जाता रहा। इससे यही सिद्ध होता है कि इस काल में युवा लड़कियों का विवाह होता था न कि बालिकाओं का।

ईसा के ४०० वर्ष पूर्व से, कम आयु में लड़कियों के विवाह का समर्थन किया जाने लगा। धर्म सूत्रकारों ने (ईसा के ४०० वर्ष पूर्व से ईसा के १०० वर्ष पश्चात् तक) कहा है कि लड़कियों के यौवनारम्भ के बाद उनके विवाह सम्पन्न करने में देर नहीं की जानी चाहिए। आधुनिक वैज्ञानिकों के अनुसार, "यौवनारम्भ (Puberty) की यह आयु लड़कियों के लिए करीब १२ वर्ष से १६ वर्ष के बीच और लड़कों के लिए १४ वर्ष से १८ वर्ष के बीच की है।"[9] वशिष्ठ और बोधायन का कथन है कि लड़कियों के विवाह निश्चित करने में कठिनाई हो तो इन्हें युवावस्था प्राप्त करने के तीन वर्ष पश्चात् तक भी अविवाहित रखा जा सकता है। इसी प्रकार के विचार मनु और कौटिल्य के भी हैं। मनु ने यहाँ तक भी कहा है कि "यदि लड़की के लिए योग्य पति प्राप्त नहीं किया जा सके, तो उसे जीवन भर अविवाहित रखा जा सकता है।"[10] इस काल में धीरे-धीरे विवाह की आयु घटती जा रही थी और लड़कियों के यौवनारम्भ के समय ही उनके विवाह की ओर लोगों का झुकाव बढ़ता जा रहा था। मौर्य काल में लड़कियों के विवाह प्रायः १४-१५ वर्ष की आयु में सम्पन्न किए जाते थे। ईसा के १०० वर्ष पश्चात् यौवनारम्भ के पूर्व ही लड़कियों के विवाह को उचित माना जाने लगा।

ईसा के ५०० वर्ष बाद से १००० वर्ष के काल में स्मृतिकारों ने यौवनारम्भ के पूर्व ही ही विवाह सम्पन्न किए जाने पर जोर दिया। इन लोगों ने यहाँ तक कहा कि १० वर्ष की

9 Goodsell, W, "History of Marriage and the Family". pp 63-64, Quoted by P. H Prabhu, Hindu Social Organisation, p 182

१०. "काममामरणात्तिष्ठेद् गृहे कन्यर्तुमत्यपि ।
न चैवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित्" ॥—मनु, IX, 89

आयु में ही लडकी की युवावस्था प्रारम्भ हो जाती है, इसलिए इसी अवस्था मे उसका विवाह कर दिया जाना चाहिए। इस समय आठ वर्ष की कन्या को 'गोरी', नौ वर्ष की को 'रोहिणी', दस वर्ष की को 'कन्या' और उसके बाद उसे 'रजस्वला' कहा गया है। स्मृतिकारो ने यह भी कहा कि गोरी विवाह के लिए श्रेष्ठ है, और जो पिता १० वर्ष की आयु प्राप्त होने के पश्चात् भी अपनी लडकी का विवाह नही करता वह प्रति मास उसका रुधिर पीने का दोषी होता है। युवावस्था के पूर्व विवाह सम्पन्न करने का प्रचलन सर्वप्रथम ब्राह्मणो मे हुआ। क्षत्रियो ने इस प्रथा को काफी लम्बे समय तक नही अपनाया। ईसा के ३०० वर्ष पश्चात् से १२०० वर्ष की अवधि मे लिखे गए सस्कृत नाटको से ज्ञात होता है कि उस समय नायिकाओं का विवाह युवावस्था मे ही होता था, लेकिन ऐसा विशेष रूप से क्षत्रियो मे ही था।

डा० अल्तेकर ने कहा है कि बहुत कम आयु मे सम्पन्न होने वाले विवाह, काफी समय तक सामान्य प्रथा के रूप में प्रसिद्ध नहीं हो सके। उन्होने लिखा है कि अलबरूनी से ज्ञात होता है कि ईसा के बाद ११वीं शताब्दी मे एक ब्राह्मण वधू की विवाह की सामान्य आयु १२ वर्ष थी। समाज के निम्न वर्गों मे माता-पिता, जहां 'कन्या मूल्य' की प्रथा का काफी मात्रा मे प्रचलन था, स्वय के स्वार्थपूर्ण उद्देश्यो की पूर्ति के लिए ५-६ वर्ष की आयु मे लडकियो के विवाह सम्पन्न किए जाने की आशा का लाभ उठाने मे प्रथम थे। बाद मे उनके उदाहरण का अनुकरण अन्य वर्गों के द्वारा किया गया और बहुत ही कम आयु मे विवाह करने की प्रथा अधिकाधिक सामान्य होती गई।[11] अनेक कारणों से मध्यकाल मे बाल-विवाहो का प्रचलन बढता ही गया। अंग्रेजी राज्य की स्थापना के समय लडकियो के विवाह की आयु सामान्य रूप से ८-९ वर्ष थी। १९३१ की जनगणना मे पाया गया कि ७२ प्रतिशत से अधिक लडकियो का विवाह १५ वर्ष से कम आयु मे ही सम्पन्न हो चुका था। १९६१ की जनगणना के अनुसार "भारत में नगरीय और ग्रामीण क्षेत्रो मे लडको के विवाह की औसत आयु क्रमश २३ ८ और २१ है जबकि लडकियो की क्रमश १७ ८ और १५ ४ है।"[12] लेकिन गाँवो मे आज भी ९-१० वर्ष की आयु म लडकियो के विवाह होते हैं और कहीं कहीं तो ३-४ वर्ष की लडकियो के ही विवाह कर दिए जात हैं। नगरो मे निम्न जातियो मे ऐसे विवाहो के उदाहरण मिल जाते हैं।

बाल-विवाह के कारण (Causes of Child Marriage)

१ धर्मशास्त्रों द्वारा स्वीकृति—इस देश मे बाल विवाह प्रचलित होने का मुख्य कारण हिन्दू धर्मशास्त्र ही हैं। इन्होंने बाल्यावस्था मे विवाह करने की अनुमति प्रदान की है। स्मृतिकारो ने कम आयु की कन्या के विवाह का पक्ष लिया है। याज्ञवल्क्य मे बताया है कि कन्या के मासिक धर्म मे आने के पूर्व हो उसका विवाह कर देना चाहिए।

२ उपजाति अन्तर्विवाह—हिन्दू समाज अनेक छोटी-छोटी उपजातियो मे विभक्त है और हिन्दुओ में उपजाति अन्तर्विवाह होते हैं। इस कारण जीवन-साथी के चुनाव का क्षेत्र बहुत सीमित हो जाता है और योग्य वरों का मिलना कठिन रहता है। इसलिए माता पिता

11 A S Altekar, op cit, p 59
12 Census of India, 1961, Vol I, Part, I, Part II-c (i), pp 37-89 quoted by S N Agarwala, "India's Propulation Problems," 1972, p 82.

उसकी मृत्यु हो जाती है। भारतवर्ष में प्रतिवर्ष लाखों माताओं की मृत्यु होती है जो वास्तव में एक बहुत बड़ी राष्ट्रीय हानि है। (७) अधिक जनसंख्या—बाल-विवाह के कारण सन्तान अल्पायु में ही होना प्रारम्भ हो जाती है और देश की जनसंख्या बढ़ती बढ़ती है। भारत में वर्तमान समय में जनसंख्या की अत्यन्त गम्भीर समस्या है। (८) योग्य जीवन-साथी के चुनाव में कठिनाई—ऐसे विवाह माता-पिता द्वारा कम आयु में ही कर दिए जाते हैं। विवाह जैसे महत्त्वपूर्ण विषय पर बालक-बालिका को सोचने का अवसर ही नहीं दिया जाता, ऐसी दशा में उनके लिए चुनाव का प्रश्न ही नहीं उठता। साथ ही ऐसे विवाह के समय लड़के तथा लड़की के भावी जीवन के विषय में भी कुछ नहीं कहा जा सकता। एक छोटे बालक को देखकर यह अनुमान नहीं लगाया जा सकता कि वह आगे जाकर एक वैज्ञानिक बनेगा या चोर। इस प्रकार उनका जीवन 'संयोग' पर छोड़ दिया जाता है। (९) स्त्री-पुरुष में असमान अनुपात—सर एडवर्ड ब्लंट ने कहा है कि भारतवर्ष में लड़कियों की कमी का प्रमुख कारण बाल-विवाह है। अल्पायु में विवाह के कारण शीघ्र सन्तान उत्पन्न होने से स्त्रियों का स्वास्थ्य गिर जाता है और कम आयु में ही बहुत-सी माताओं की मृत्यु हो जाती है।

बाल-विवाह के विरुद्ध आन्दोलन (Movement Against Child Marriage)

बाल-विवाह के विरुद्ध हिन्दू सुधारकों ने १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ में आन्दोलन किया। राजा राममोहन राय तथा ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने बाल-विवाह रोकने के भरसक प्रयत्न किए। सर्वप्रथम १८६० ई० में ऐसे विवाह रोकने के लिए अधिनियम पास हुआ, जिसके अनुसार, लड़कियों के विवाह की निम्नतम आयु १० वर्ष रखी गई। १८९१ ई० में एक अन्य अधिनियम पास हुआ जिसके द्वारा विवाह की निम्नतम आयु १२ वर्ष कर दी गई। बाल-विवाह रोकने के लिए १९२९ ई० में हरविलास शारदा के प्रयत्नों से एक महत्त्वपूर्ण कानून 'बाल विवाह निरोधक अधिनियम' (Child Marriage Restraint Act, 1929) पास हुआ। यह अधिनियम 'शारदा कानून' के नाम से भी प्रसिद्ध है। इस अधिनियम के अनुसार, विवाह के समय लड़के की आयु कम से कम १८ वर्ष और लड़की की आयु १५ वर्ष होनी चाहिए। हिन्दू विवाह अधिनियम, १९५५ द्वारा भी विवाह के लिए यही आयु-समूह स्वीकार किया गया है। इस अधिनियम में मई, १९७६ में संशोधन किया गया जिसके अनुसार विवाह के लिए लड़के की कम से कम आयु अब २१ वर्ष और लड़की के लिए १८ वर्ष कर दी गई है। १९२९ ई० में बाल-विवाह निरोधक अधिनियम के पारित हो जाने पर भी देश में बाल-विवाह बन्द नहीं हुए और कानूनी प्रतिकार विफल रहे।

कानूनी प्रतिकारों की विफलता के कारण
(Causes of the Failure of Remedies)

अनेक कानूनों के उपरान्त भी भारतवर्ष में बाल-विवाह पूर्ववत् ही प्रचलित रहे जिसके निम्नलिखित कारण हैं—

(१) विवाह हो जाने पर उसे त्याज्य या अवैध नहीं माना जा सकता—उपर्युक्त कानून की रचना दोषपूर्ण है। उसकी सबसे बड़ी कमी यह है कि एक बार किसी भी प्रकार विवाह हो जाने पर उसे त्याज्य या अवैध घोषित नहीं किया जा सकता। इस कारण लोग इस कानून की अवहेलना करने से नहीं डरते और यही सोचते हैं कि विवाह हो जाने पर थोड़ा-

बहुत दण्ड भुगत लेंगे। (२) इस अधिनियम से सम्बन्धित कोई अधिकार पुलिस के पास नहीं—बाल-विवाह को ज्ञातव्य अपराध नहीं माना गया है। पुलिस ऐसे विवाह का अपने-आप चालान नहीं कर सकती। ऐसी दशा में पड़ौसियों तथा अन्य व्यक्तियों को क्या पड़ी कि वे अपना समय नष्ट करके अदालत से बाल-विवाह करने वालों के विरुद्ध प्रार्थना-पत्र दें और उनसे शत्रुता मोल लें? (३) बहुत कम दण्ड—१८ वर्ष से २१ वर्ष तक की आयु वाले पुरुष को १५ वर्ष से कम आयु की लड़की से विवाह करने पर १५ दिन का कारावास या एक हजार रुपए तक का जुर्माना या दोनों हो सकते हैं। २१ वर्ष से अधिक आयु वाले पुरुष को ३ मास का कारावास तथा जुर्माने का दण्ड दिया जा सकता है। यह दण्ड बहुत कम है तथा वर-पक्ष के लिए एक हजार रुपया कोई बड़ी रकम नहीं है। (४) दण्ड देने की उचित व्यवस्था का अभाव—इस अधिनियम के अनुसार बाल-विवाह करने वाले के लिए जो कुछ दण्ड रखा गया है, उसका भी उचित रीति से प्रयोग नहीं किया जाता। इस अधिनियम को तोड़ने वालों को अक्सर किसी प्रकार की भी सजा नहीं मिलती और वे बिना सजा के ही छूट जाते हैं। इस कारण बाल विवाह करने वालों को इस अधिनियम की कुछ भी चिन्ता नहीं रहती। (५) विवाह के एक वर्ष बाद कोई कार्यवाही सम्भव नहीं—बाल विवाह निरोधक अधिनियम की एक दुर्बलता यह है कि विवाह के एक वर्ष पश्चात् अदालत इस सम्बन्ध में किसी भी शिकायत पर ध्यान नहीं देती। इस कमी के होने से कानून का प्रभाव बहुत घट गया है। (६) गाँव में संगठित व्यवस्था का अभाव—बाल-विवाह विशेष रूप से गाँवों में प्रचलित हैं, परन्तु वहाँ इन्हें रोकने के लिए सरकार द्वारा किसी प्रकार की संगठित व्यवस्था नहीं है। यही कारण है कि अधिकांश ग्रामवासी इस अधिनियम के विषय में कुछ भी नहीं जानते। (७) अशिक्षा—भारतीय ग्रामों में शिक्षा का अभाव पाया जाता है और कोई भी कानून शिक्षा के अभाव में सफल नहीं हो सकता। शिक्षा के अभाव में ग्रामीण जनता बाल-विवाह की हानियों का ठीक से अनुभव नहीं कर सकी है और आज तक भी उसमें काफी मात्रा में बाल विवाह प्रचलित हैं। (८) प्रचार की कमी—प्रचार के अभाव में कोई भी कानून पूर्णतः सफल नहीं हो सकता। बाल विवाह से सम्बन्धित कानूनों के प्रचार का पूर्ण प्रयत्न न तो सरकार द्वारा हुआ और न ही समाज-सुधारकों द्वारा। (९) धार्मिक विश्वास बाल-विवाह के पक्ष में—प्राचीन स्मृतिकारों ने धार्मिक ग्रन्थों में बाल-विवाह का समर्थन किया है। लोगों की यह दृढ़ धारणा रही है कि लड़की का विवाह रजोदर्शन के पूर्व कर देना चाहिए। भारतवर्ष जैसे धर्म-प्रधान देश में लोग कानून की अवहेलना तो कर सकते हैं, परन्तु धार्मिक मान्यताओं के विरुद्ध कार्य नहीं कर सकते। इसी कारण बाल-विवाह से सम्बन्धित कानूनों की आज तक अवहेलना होती रही है। स्पष्ट है कि अनेक दोषों के कारण यह अधिनियम बाल-विवाह रोकने में असमर्थ रहा है।

वर्तमान में अनेक सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों के फलस्वरूप बाल-विवाह के प्रतिकूल वातावरण बनता जा रहा है। शिक्षित लोगों में ऐसे विवाह समाप्तप्राय हो चुके हैं और अशिक्षित लोगों में भी कम होते जा रहे हैं। आजकल आधुनिक शिक्षा और पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव से लोग, बाल-विवाहों को उचित नहीं समझते। व्यक्तिगत गुण और धन का महत्त्व बढ़ा है। स्त्री शिक्षा पहले से बढ़ी है। स्त्रियों में जागरूकता आई है, अब वे आत्मनिर्भर होना चाहती हैं, कम आयु में विवाह करना और शीघ्र ही सन्तानोत्पत्ति

करना अब वे ठीक नही समझती । औद्योगीकरण, नगरीकरण, सयुक्त परिवारो के विघटन, व्यक्तिवादी भावना तथा अन्तर्जातीय विवाहो के प्रसार ने बाल-विवाहो की सख्या घटाने मे निश्चित रूप से योग दिया है । वर्तमान भारत जिन परिवर्तनो के मध्य से गुजर रहा है, जो नवीन परिस्थितियां देश मे बनती जा रही हैं, उनको देखते हुए यह कहा जा सकता है है कि बाल-विवाह कुछ ही वर्षों मे समाप्त हो जाएंगे'।

विलम्ब विवाह (Late Marriage)—बहुत-से विद्वान बाल-विवाह का विरोध करते समय देर से विवाह करने का पक्ष लेते हैं। उनका कहना है कि लडको का विवाह २५ से ३० वर्ष की तथा लड़कियो का विवाह २० से २५ वर्ष की आयु मे होना चाहिए । विलम्ब विवाह के कारण लडके-लडकियों को जीवन-साथी के चुनाव का उचित अवसर प्राप्त हो जाता है । देर से विवाह होने के कारण उनके व्यक्तित्व का पूर्ण विकास हो पाता है । इसके अतिरिक्त दम्पत्ति की स्वास्थ्य-रक्षा सम्भव हो जाती है । समाज मे दुर्बल सन्तान तथा बाल विधवाओ की समस्या उपस्थित नहीं होती है और अन्तर्जातीय विवाहों को भी प्रोत्साहन मिलता है ।

विलम्ब विवाह के कुछ दुष्परिणाम भी हैं जिनमें से प्रमुख निम्नलिखित हैं–(१) देर से विवाह होने के कारण लडके-लडकियो की आदतें, विचारधायें तथा प्रवृत्तियां पूर्णत परिपक्व हो जाती हैं जिनमे परिवर्तन होना सम्भव नही होता । इस कारण वे एक-दूसरे की इच्छानुसार अपने-आपको परिवर्तित नहीं कर पाते हैं, अत उनके जीवन मे सामजस्य स्थापित होने की सम्भावना कम रहती है और ऐसी दशा मे सुखी वैवाहिक-जीवन कठिन हो जाता है । (२) अधिक आयु मे विवाह होने से समाज मे अनैतिकता की वृद्धि होती है । तरुण होते ही लडके-लडकियो मे काम-भावना जाग्रत हो उठती है, परन्तु विलम्ब-विवाह के कारण इस समय वैध और उचित साधनो से उनकी यौन-इच्छाओ की पूर्ति नही हो पाती । ऐसी दशा मे उनमे से कुछ नीति विरुद्ध, अवैध और अनुचित साधनो से अपनी काम-वासना की तृप्ति करते हैं, फलत समाज मे अनैतिकता और व्यभिचार की वृद्धि होती है ।

उपर्युक्त दुष्परिणामो के अतिरिक्त विलम्ब-विवाह के कारण कई युवक युवतियो को अपनी यौन-प्रवृत्तियो को काफी समय तक दबाना पडता है जिससे कभी कभी उनका बौद्धिक विकास कठिन हो जाता है । साथ ही स्त्रियो मे यौन प्रवृत्तियों मे शिथिलता भी आ जाती है । कई बार देर से विवाह होने से लडके-लडकियां पारिवारिक उत्तरदायित्वों को निभाने में लापरवाही करने और विवाह को भार समझने लगते हैं ।

अत विवाह न तो अल्पायु मे ही होने चाहिएं और न ही अधिक देर से बल्कि बीच की आयु मे ही होने चाहिएं । यौवनारम्भ के पश्चात् ही विवाह किये जाने चाहिएं और लडकियों का विवाह १६-२० वर्ष की आयु तक सम्पन्न कर देना चाहिए । ऐसे विवाह पति-पत्नी के स्वास्थ्य एव सुखी वैवाहिक जीवन के लिए अत्यन्त लाभप्रद हैं। वैवाहिक जीवन की सुख-शाति के लिए यह आवश्यक है कि दोनो ही एक दूसरे से अनुकूलन का प्रयत्न करें, छोटी-छोटी बातों पर ध्यान न दें, आपसी तनाव की स्थिति पैदा न होने दें और प्रेमपूर्ण सम्बन्ध बनाए रखें । यह सब-कुछ मन की वृत्ति पर निर्भर करता है ।

यद्यपि कई कारणो से देश मे बाल विवाह कम अवश्य होते जा रहे हैं तथापि ग्रामों में और विशेषत निम्न जातियो मे ऐसे विवाह अब भी प्रचलित हैं । बाल-विवाह रोकने के

के अनेक प्रयत्न किए गए, बाल विवाह निरोधक अधिनियम भी १९२९ में पारित हुआ, परंतु अब भी ऐसे विवाह होते हैं। देश में बाल-विवाहों के प्रचलन को समाप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि कानून में सुधार किया जाए और उसे कठोरता से लागू किया जाए। शिक्षा की समुचित व्यवस्था की जाए, अन्तर्जातीय विवाहों को प्रोत्साहित एवं दहेज प्रथा को समाप्त किया जाए। मूल धर्म ग्रन्थों के आधार पर लोगों को यह विश्वास दिलाना भी आवश्यक है कि प्राचीन काल में बाल-विवाह का प्रचलन नहीं था। बाल-विवाह के विरुद्ध प्रचार द्वारा स्वस्थ जनमत तैयार करना अत्यन्त लाभप्रद है। विवाह का सरलीकरण भी आवश्यक है, इसे कम खर्चीला बनाया जाना चाहिए। प्रायः देखा जाता है कि निम्न जातियों में बहुत-से माता-पिता अपनी लड़कियों के अलग अलग समय पर विवाह में अधिक खर्च से बचने के लिए ही उनका विवाह एक-साथ कर देते हैं चाहे उनकी आयु कम ही क्यों न हो। स्थानीय आधार पर नियम बनाकर जातीय-संगठनों को ऐसा प्रयास करना चाहिए कि लोग कम-से-कम खर्च में विवाह सम्पन्न कर सकें जिससे माता पिता को आर्थिक कठिनाइयों का सामना न करना पड़े और वे कम आयु में अपनी लड़कियों का विवाह करने की ओर प्रवृत्त न हों।

विधवा विवाह
(Widow Remarriage)

हिन्दू विवाह से सम्बन्धित एक अन्य समस्या विधवा-पुनर्विवाह की है। विधवा उस स्त्री को कहते हैं जिसके पति की मृत्यु हो चुकी हो तथा पति की मृत्यु के उपरान्त जो पति-रहित रहती हो। ऐसी विधवा का विधि संस्कारों से दूसरा विवाह विधवा-पुनर्विवाह कहलाता है। हिन्दू समाज में पुरुष को यह अधिकार है कि पहली पत्नी की मृत्यु के पश्चात् वह दूसरा विवाह कर ले और दूसरी पत्नी की मृत्यु के बाद तीसरा, चौथा आदि। लेकिन स्त्री को पति की मृत्यु के पश्चात् पुनर्विवाह के अधिकार से वंचित रखा गया है, जीवन-पर्यन्त उसे वैधव्य जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य किया गया है। पुरुष ने धर्म के नाम पर विधवा को सती होने का आदेश दिया और स्वयं इच्छानुसार एक के बाद दूसरी और तीसरी स्त्री से विवाह करता रहा। यह स्त्री के प्रति पुरुष का अमानवीय व्यवहार है।

वैदिक काल में विधवा विवाह पर कोई प्रतिबन्ध नहीं था। ऋग्वेद में पति की चिता के निकट बैठी हुई विधवा से कहा गया है कि जिसके पास तुम बैठी हो, वह अब निर्जीव है। जिस व्यक्ति ने पति के रूप में तुम्हारा हाथ पकड़ा, तुमसे प्रेम किया, उसके प्रति तुम्हारा पत्नीत्व पूर्ण हो चुका है। अथर्ववेद में विधवा से कहा गया है कि उसके पास जाओ जो तुम्हारा हाथ पकड़ता है तथा प्रेम करता है। तुम अब उसके साथ पति-पत्नी के सम्बन्ध में प्रविष्ट हो चुकी हो। इसके अलावा वैदिक-काल में मृत पति के भाई के साथ विधवा का विवाह तो सामान्य-सी बात थी। डा० कापडिया ने अनेक प्रमाणों के आधार पर यह मत व्यक्त किया है।[13] मृत पति के परिवार के बाहर अन्य किसी व्यक्ति से भी विधवा पुनर्विवाह कर सकती थी और ऐसे विवाह होते भी थे। डा० अल्तेकर ने कहा है, "वैदिक साहित्य में विधवाओं के नियमित पुनर्विवाह के उदाहरण थोड़े ही हैं, क्योंकि इस समय पुनर्विवाह

---

13 K M Kapadia, op cit, pp 58-59

की बजाय 'नियोग' अधिक प्रचलित था।"[14] वैदिक-काल मे विधवा विवाह प्रचलित अवश्य थे। धर्मसूत्रो (ईसा के ४०० वर्ष पूर्व से १०० वर्ष पश्चात् तक का काल) ने तो स्त्रियों को उनके पति की मृत्यु के अनुमान मात्र के आधार पर पुनर्विवाह की आज्ञा दी है। वशिष्ठ ने कहा है कि यदि ब्राह्मण स्त्री, जिसके जीवित सन्तान तक है, का पति यात्रा से पाँच साल तक नहीं लौटता है तो वह पुनर्विवाह कर सकती है। इतना अवश्य कहा गया है कि उसे किसी निकट के सम्बन्धी से और जहाँ तक सम्भव हो, परिवार के ही किसी व्यक्ति के साथ विवाह करना चाहिए। क्षत्रिय और वैश्य स्त्री के पति की क्रमशः दो और तीन वर्ष तक कोई सूचना न मिलने पर, उन्हें भी पुनर्विवाह की आज्ञा दी गई है। कौटिल्य और नारद ने भी विधवाओ के पुनर्विवाह के लिए इसी प्रकार के नियम बनाए।

धीरे-धीरे विधवा-विवाह का प्रचलन कम होने लगा। ईसा के ३०० वर्ष पूर्व से २०० वर्ष पश्चात् के काल मे विधवा-पुनर्विवाह को उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाने लगा, उसके पुत्र को उत्तराधिकार की योजना मे निम्न समझा गया। ईसा के २०० वर्ष पश्चात् से विधवा-विवाह का विरोध किया जाने लगा। विष्णु तथा मनु ने कहा है कि पति की मृत्यु के पश्चात् विधवा को पुनर्विवाह का विचार भी मन में न लाना चाहिए। सर्वप्रथम केवल ब्राह्मण जाति मे ही विधवा-पुनर्विवाह बुरा समझा गया, अन्य जातियो में ऐसे विवाह होते थे। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने अपने बडे भाई की मृत्यु के पश्चात् उसकी विधवा स्त्री से विवाह किया था। इस काल मे बाल विधवाओ को पुनर्विवाह की आज्ञा प्राप्त थी। वशिष्ठ तथा बोधायन आदि धर्मशास्त्रकारो ने बाल-विधवाओं को पुनर्विवाह का अधिकार प्रदान कर सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण का परिचय दिया। वशिष्ठ ने कहा है कि यदि केवल विवाह सस्कार ही सम्पन्न हुआ हो और सहवास के पूर्व ही पति की मृत्यु हो गई हो तो ऐसी बाल विधवा का पुनर्विवाह कर दिया जाना चाहिए।"[15]

ईसा के ६०० वर्ष पश्चात् से स्मृतिकारो ने विधवा-विवाह को अत्यन्त निन्दनीय माना तथा इसका घोर विरोध किया। ईसा के १००० वर्ष पश्चात् तो स्थिति इस सीमा तक पहुंच गई कि बाल-विधवाओ तक को पुनर्विवाह की आज्ञा नहीं दी गई। डा० अल्तेकर की मान्यता है कि ईसा के करीब ११०० वर्ष पश्चात् से तो विधवा पुनर्विवाह पूर्णत ही समाप्त प्राय हो गए। यहाँ तक कि बाल-विधवाओ का भी पुनर्विवाह नही हो सकता था। यह प्रतिबन्ध हिन्दू समाज के उच्च वर्गों मे ही लागू था। निम्न वर्गों में—जिनमे हिन्दू समाज के ८० प्रतिशत तक लोग आ जाते हैं, विधवा-पुनर्विवाह प्रचलित रहे।[16] मुस्लिम-काल मे रक्त-शुद्धता बनाए रखने तथा मुसलमानो के हिन्दू विधवाओ के साथ विवाह सम्बन्ध रोकने के उद्देश्य से विधवाओ के पुनर्विवाह पर कठोर प्रतिबन्ध लगा दिए गए। ये प्रतिबन्ध केवल कुछ उच्च जातियो में ही पाए जाते थे, निम्न जातियो मे नही। पिछली शताब्दी मे कुछ

---

14 "References to regular marriages of windows in Vedic Literature are few, probably because Niyoga was then more popular than remarriage" A. S Altekar, op. cit, p. 151

१५. पाणिग्राहे मृते बाला केवलं मन्त्र सस्कृत।
सा चेदक्षतयोनि स्यात्पुन सस्कारमर्हति ॥ वशिष्ठ:, XVII ७७,

16 A S Altekar, op cit, p 156

निम्न जातियो ने अपनी प्रतिष्ठा बढाने के दृष्टिकोण से इस प्रतिबन्ध को अपने पर लागू करने का प्रयास अवश्य किया, परन्तु अब ऐसी स्थिति नही पाई जाती ।

हिन्दू समाज मे विधवाओ की स्थिति अत्यन्त दयनीय रही है । उन्हे जीवित रहते हुए भी मृतक-समान जीवन व्यतीत करना पडा है । यद्यपि उन्हें समाज ने जीवित रहने का अधिकार तो दिया है, लेकिन जीने के साधन प्रदान नहीं किए । मलाबारी ने लिखा है कि यदि विलियम बैन्टिंग को यह ज्ञात होता कि हिन्दू विधवाओ की, जीवित रहने पर क्या दशा होगी, तो वह कानून द्वारा कदापि सती प्रथा अवैध घोषित नही करता । विधवा होने के कारण उन्हे जीवन के सब प्रकार के सुखो से वचित कर दिया जाता है । जो अबोध बाल विधवाएं विवाह तथा वैधव्य का अर्थ भी नहीं समझतीं, उन्हे भी जीवन-भर वैधव्य जीवन बिताने के लिए बाध्य किया जाता है । यह अबोध बालिकाओ के प्रति हिन्दू समाज का कितना अन्याय है, इसकी आसानी से कल्पना की जा सकती है । विधवाए अपशकुन समझी जाती हैं, शुभ कार्यों के अवसर पर उन्हे देखना बुरा माना जाता है । सब प्रकार के अधिकारो से उन्हे वचित रखा जाता है । वे परिवार के परिश्रम-साध्य कार्यो मे लगी रहती हैं । उनका जीवन अत्यन्त दयनीय होता है । उन्हें काली अथवा सफेद मैली-सी साडी पहननी होती है, वे शरीर पर कोई शृगार नही कर सकती । कही-कही तो उनके बाल तक कटवा दिए जाते हैं । सन् १९३७ के पूर्व तक तो विधवा को अपने पति की सम्पत्ति मे हिस्सा तक प्राप्त करने का अधिकार नहीं था । स्पष्ट है कि विधवाओ को अत्यन्त कष्टपूर्ण जीवन बिताना पडता है । कुछ शिक्षित परिवारो मे विधवाओ की इस स्थिति मे अवश्य सुधार हो रहा है, परन्तु अधिकाश की स्थिति निश्चित रूप से दयनीय है ।

विधवा विवाह निषेध के कारण हिन्दू समाज में सती प्रथा प्रचलित हुई और इस समस्या की ओर प्रसिद्ध समाज-सुधारक राजा राममोहन राय का ध्यान गया । उनके प्रयत्नो के परिणामस्वरूप ब्रिटिश सरकार ने १८२९ ई० मे रेगूलेशन नम्बर १७ बना कर सती प्रथा को समाप्त कर दिया । सती प्रथा को तो समाप्त कर दिया गया, परन्तु विधवाओ को पुनर्विवाह की आज्ञा नही दी गई । विधवाओ की अत्यन्त दयनीय दशा से व्याकुल होकर इस समस्या के निराकरण के लिए ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने आन्दोलन प्रारम्भ किया और अनेक प्रयत्नो के फलस्वरूप सन् १८५६ ई० मे 'हिन्दू विधवा विवाह अधिनियम' (Hindu Widow Remarriage Act) पारित हुआ । इस अधिनियम द्वारा उन विधवाओ को, जिन्हें विवाह का अधिकार प्राप्त नही था, कानून के आधार पर विवाह करने की आज्ञा प्रदानकी गयी, परतु अज्ञानता, रूढ़िवादिता, अन्ध-विश्वास एव धार्मिक प्रतिबन्धो के कारण व्यावहारिक रूप मे विधवाओ को इस अधिनियम से कोई लाभ प्राप्त नही हुआ । इतना अवश्य है कि पिछले सत्तर-अस्सी वर्षों के आर्य समाज तथा अन्य सगठनो के प्रयत्नो से और पाश्चात्य शिक्षा और नवीन सामाजिक मूल्यो के प्रसार से विधवा पुनर्विवाहो के प्रति लोगो के रुख मे परिवर्तन आ रहा है । अब विधवा विवाह को पहले के समान बुरा नही समझा जाता । परन्तु विधवा पुनर्विवाह करने वाले लोगो की सख्या आज भी बहुत सीमित है ।

विधवा विवाह निषेध के प्रचलन की मात्रा
(Extent of the Practice of Prohibition of Widow-remarriage)

सभी हिन्दुओं मे विधवा-विवाह निषेध का प्रचलन नही है। हिन्दू समाज के उच्च वर्ग तथा कुछ मध्यम वर्ग के लोगो मे विधवा-विवाह का प्रचलन नही है। निम्न जातियो मे विधवा पुनर्विवाह को घृणा की दृष्टि से नही देखा जाता तथा उनमे ऐसे विवाह सदैव प्रचलित रहे हैं। क्रूक ने पिछली शताब्दी के अन्त मे उत्तर-प्रदेश की सामाजिक परिस्थिति का विश्लेषण करते हुए स्पष्ट किया है कि केवल २४ प्रतिशत जातिया विधवा-विवाह का निषेध करती हैं, शेष ७६ प्रतिशत जातियो मे विधवा-विवाह प्रचलित हैं। स्पष्ट है कि कुछ उच्च जातियों को छोडकर अन्य सभी जातियो मे ऐसे विवाह होते हैं। मेन ने बताया है कि दक्षिण भारत की अधिकांश निम्न जातियो मे विधवा-विवाह का प्रचलन है। गूजर, अहीर, कुरमी और गडरिया आदि जातियों मे विधवा-विवाह होते हैं। उत्तरी बिहार के कायस्थो, ब्राह्मणो, राजपूतो और बनियो के अलावा सभी जातियो मे इस प्रकार के विवाह प्रचलित हैं। असम तथा दार्जिलिंग की केवल कुछ उच्च जातियो के अतिरिक्त सभी जातियों में विधवा-विवाह होते हैं। इन बातो से स्पष्ट है कि हिन्दू समाज मे विधवा-विवाह के निषेध का नियम सब लोगो मे समान रूप से प्रचलित नही है। इस नियम का प्रचलन मुख्य रूप से उच्च जातियो तक ही सीमित है, परन्तु जिन उच्च जातियो म विधवा-विवाह के निषेध का प्रचलन है, उनमे विधवाओं की स्थिति अत्यन्त दयनीय है। एस० एन० अग्रवाल के अनुसार, "ग्रामीण देहली मे निम्न जातियो मे विधवा पुनर्विवाह की दर ६२ प्रतिशत और पश्चिमी भारत मे ४१ प्रतिशत पाई जाती है। ब्राह्मण, बनिये और क्षत्रियो मे विधवा पुनर्विवाह का प्रचलन अब भी बहुत कम है। ग्रामीण रोहतक मे ५४ ब्राह्मण विधवाओं मे से केवल ३ ने, १२ बनिया विधवाओं मे से १ ने और १७ क्षत्रिय तथा अरोडा विधवाओं मे से केवल १ ने पुनर्विवाह किए। इसी प्रकार ग्रामीण देहली मे १६ ब्राह्मण विधवाओं मे से किसी ने भी पुनर्विवाह नही किया। जब तक ये जातिया निःसकोच रूप से विधवा-विवाह नही अपनाती तब तक इस ओर अधिक प्रगति होना कठिन मालूम पडता है।"[17] इन आकडो से स्पष्ट है कि उच्च जातियो मे अब भी विधवा-विवाह का प्रचलन बहुत कम है। १६७१ की जनगणना के अनुसार भारत मे विधवाओं की कुल जनसख्या २ करोड़ ३२ लाख २३ हजार ३०० है।

विधवा-विवाह निषेध के कारण
(Causes of Widow-remarriage Prohibition)

भारतवर्ष मे कुछ ऐसे सामाजिक और धार्मिक कारण रहे हैं जिन्होने विधवाओं के पुनर्विवाह पर प्रतिबन्ध लगाने में योग दिया है। ये निम्नलिखित हैं

(१) हिन्दू समाज मे विवाह मे कन्या दान का आदर्श रहा है। पिता अपनी कन्या का दान किसी पुरुष को विधिवत् एक ही बार कर सकता है। मृत्यु के पश्चात् भी दान मे प्राप्त की गई वस्तु पर पति का अधिकार बना रहता है। ऐसी दशा मे कन्या का दान फिर से नहीं किया जा सकता। (२) स्त्रियो के सतीत्व एव पतिव्रत धर्म पर आवश्यकता से अधिक बल देने के कारण भी विधवा-विवाह निषेध का प्रचलन हुआ। पति की मृत्यु के पश्चात् किसी अन्य पुरुष से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर यौन-सम्बन्ध की बात सोचना भी पाप समझा जाने लगा। इसके पीछे यह धारणा प्रचलित रही है कि विवाह

---

17. S N Agrawala, op. cit., p. 100.

जन्म-जन्मान्तर का सम्बन्ध है जिसका निश्चय स्वर्ग मे होता है और मृत्यु के पश्चात् पति-पत्नी पुन स्वर्ग मे मिलते हैं। यह मात्र पाखण्ड है और कुछ नहीं। ऐसी दशा मे पुरुष पहली पत्नी की मृत्यु के बाद पुन विवाह क्यो करता है ? क्या सारे प्रादर्श और प्रतिबन्ध केवल स्त्रियो के लिए ही हैं ? (३) हिन्दू समाज में पवित्रता की धारणा और रक्त-शुद्धता पर भी बल दिया गया है। हिन्दू धर्म पर जैन, बौद्ध तथा मुस्लिम धर्मों के समय-समय पर आक्रमण होते रहे हैं। हिन्दू धर्म की रक्षा हेतु ब्राह्मणो द्वारा पवित्रता की धारणा पर जोर दिया गया और अनेक सामाजिक निषेधों का प्रचलन प्रारम्भ हुआ जिनमे विधवा-विवाह निषेध भी था। बहुत-से मुसलमान हिन्दू स्त्रियों से—यहाँ तक कि विधवाओं से भी विवाह करने के इच्छुक थे। रक्त-शुद्धता के लिए ऐसी स्थिति मे एक ओर बाल विवाहो को प्रोत्साहित किया गया और दूसरी ओर विधवा-विवाह पर कठोर प्रतिबन्ध लगाए गए। (४) भारतवासी भाग्यवादिता में अधिक विश्वास करते रहे हैं। किसी स्त्री का विधवा होना उसके फूटे भाग्य का परिणाम समझा गया, स्वय विधवाएं भी अपने को अभागिन समझने लगी। अन्धविश्वास के कारण ऐसी विधवाओं से साधारणतः कोई पुरुष विवाह करने को भी तैयार नही होता। (५) आर्थिक दृष्टि से स्त्रियो के, परिवार के अन्य सदस्यो पर निर्भर रहने के कारण विधवाओं पर पुनर्विवाह सम्बन्धी कठोर नियन्त्रण रहा है। उन्हें तो स्वय के तथा अपने बालको के भरण-पोषण के लिए भी परिवार के अन्य सदस्यो पर निर्भर रहना पड़ता है। ऐसी दशा मे पुनर्विवाह के सम्बन्ध मे सोचना और परिवार के मुखिया के सम्मुख अपने विचार प्रकट करना उनके लिए प्राय. असम्भव रहा है। परिवार मे आई स्त्री का पति की मृत्यु के बाद पुनर्विवाह कर उसे किसी अन्य परिवार को सौंप देना साधारण परिवारो के लिए कल्पना के बाहर की बात रही है। (६) जाति-व्यवस्था के कठोर नियन्त्रण भी विधवा-विवाह निषेध के लिए उत्तरदायी हैं। जो विधवाएं पुनर्विवाह की सोचती भी हैं उन्ह जाति निष्कासन का भय रहता है। जाति के लोग ऐसे परिवारो मे खाना-पीना बन्द कर देते हैं और फिर इन परिवारो के लड़के-लड़कियों के लिए जातीय समूह मे विवाह सम्बन्ध करने मे कठिनाई आती है। साथ ही, पुनर्विवाह करने वाली स्त्री को सम्मान की दृष्टि से नहीं देखना ऐसे विवाहो के मार्ग मे बाधक है। (७) स्त्रियो की अशिक्षा के कारण भी विधवा-विवाह निषिद्ध रहे हैं। शिक्षा के अभाव मे अज्ञानता, अन्धविश्वास और रूढिवादिता के चगुल में फसी रही है। उनमें सामाजिक चेतना का अभाव रहा है। वे समाज-सुधार आन्दोलनो में आगे नहीं आ सकी हैं। अपनी अशिक्षा एव रूढ़िवादी धार्मिक विश्वासों के कारण ही वे अपने दयनीय वैधव्य जीवन के विरुद्ध आवाज नही उठा पाई हैं।

ये सब कारण विधवा पुनर्विवाह निषेध के प्रचलन के मूल रहे हैं, इन्होने ऐसी परिस्थितियो के निर्माण मे योग दिया जिनमे विधवा-विवाह अनुचित समझा गया। बाल-विवाहो और अनमेल विवाहो ने भी देश मे विधवाओं की सख्या मे वृद्धि की है और समस्या को और भी गम्भीर बनाया है।

विधवा-विवाह निषेध के परिणाम
(Consequences of Prohibition of Widow-remarriage)

विधवा-विवाह निषेध का समाज तथा नैतिकता पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा है तथा इस निषेध के अनेक दुष्परिणाम हुए हैं जो अग्रलिखित हैं -

१ सती प्रथा का प्रचलन—विधवा-विवाह के निषेध के कारण सती प्रथा का प्रचलन सामान्य हो गया। जो विधवाएँ बाधित ब्रह्मचर्य का जीवन बिताना कठिन पाती, वे अपने मृत पति के साथ चिता म जीवित ही मर जाना अधिक उत्तम समझती। पति की मृत्यु के बाद विधवा के रूप म कष्टमय जीवन बिताने की बजाय अपने पति के साथ मर जाना वे ज्यादा अच्छा समझतीं। जब एक बार यह प्रथा चल पड़ी तो इसने धीरे धीरे रूढ़ि का रूप ग्रहण कर लिया और फिर समाज ने बहुत-सी अनिच्छुक विधवाओ का जबरदस्ती पति के साथ चिता मे जलने के लिए झोंक दिया। यह समाज का विधवाओ के साथ कैसा भयकर अत्याचार था।

२. पारिवारिक झगडे—सयुक्त हिन्दू परिवार मे पति ही स्त्री का मुख्य आश्रय होता है। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसे दुःखमय वैधव्यपूर्ण जीवन व्यतीत करना पडता है। पति की मृत्यु के बाद उसे परिवार मे अनेक प्रकार की यातनाएँ सहन करनी पडती हैं। आराम-दायक जीवन तो दूर रहा, उस खाने-पहनने तक को पूरा नहीं दिया जाता और उसे रात-दिन कठिन परिश्रम करना पडता है। उसे सास, ननदें ताने मारती रहती हैं तथा घर म होने वाली सभी अशुभ घटनाओ का सम्बन्ध उसी की उपस्थिति से लगाया जाता है। शुभ कार्य के समय उसकी उपस्थिति को अपशकुन माना जाता है। हिन्दू परिवारों में विधवा माँ के बच्चो को साधारणत व्यक्तित्व के विकास हतु पूर्ण अवसर प्रदान नही किए जाते। ऐसी परिस्थितियो मे विधवा दुःख से व्याकुल हो उठती है और परिवार के सदस्यो म घृणा करने लगती है। अन्त मे परिणाम यह होता है कि पारिवारिक झगडे होने लगते हैं जो सभी दृष्टिकोणो से हानिकारक हैं।

३ अन्य धर्म की स्वीकृति—यह बात पूर्णत सत्य है कि बहुत-सी हिन्दू विधवाओ ने विधवा-विवाह-निषेध के कारण मुस्लिम और ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया तथा वे सदैव के लिए हिन्दू समाज से अलग हो गई। यह सबविदित है कि एक विधवा को हिन्दू समाज म कितना अपमानित और दुःखी जीवन व्यतीत करना पडता है। विधवा होते ही एक स्त्री को यहाँ जीवन के सब प्रकार के सुखो स वचित कर, उस आत्म-सयमपूर्ण जीवन व्यतीत करने के लिए कहा जाता है। वास्तव में यदि देखा जाय तो अभावमय स्थिति मे एक युवती विधवा के लिए सब प्रकार की यौन इच्छाओ का दमन कर आत्म सयम पूर्ण जीवन व्यतीत करना अत्यन्त कठिन है। जब हिन्दू विधवाएँ ऐसा नही कर पातीं तो उन्हे विवश होकर अन्य धर्म स्वीकार करना पडता है। मुसलमान या ईसाई बन कर वे विवाह कर लेती हैं तथा अपने दुःखमय जीवन से छुटकारा पाती हैं।

४ अनैतिकता और व्यभिचार में वृद्धि—विधवा विवाह निषेध के कारण समाज म अनैतिकता और व्यभिचार फैलता है। यह आशा करना कि विधवाएँ यौन इच्छाओ का सदैव के लिए दमन करके आत्म-सयम-पूर्ण जीवन व्यतीत करेंगी, पूर्णत निरर्थक है। काम-वासना-पूर्ति की इच्छा मनुष्य मात्र मे स्वाभाविक है। बडे बडे ऋषि मुनि तक भी काम-वासना का दमन नही कर सके तो फिर विधवाएँ इस स्वाभाविक इच्छा से कैसे मुक्त हो सकती हैं? इसके अलावा यदि विधवाएँ कलक-रहित जीवन व्यतीत भी करना चाहे तो बहुत से दुष्ट व्यक्ति उन्हे ऐसा नही करने देते। वे अनेक प्रलोभन देकर उन्हे अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयत्न करते हैं। साथ ही, जब विधवाओ को वैध साधनो से यौन आवेग

शान्त करने से रोका जाता है तो उनके अवैध सम्बन्ध स्थापित हो जाते हैं और समाज मे व्यभिचार फैलता है।

५ वेश्यावृत्ति में वृद्धि—समाज मे वेश्याओ के बढने का प्रमुख कारण हिन्दुओ मे विधवा पुनर्विवाह का निषेध है। विधवाओ पर किये गए सर्वेक्षणो से ज्ञात होता है कि विधवाओ को पुनर्विवाह का अधिकार नही होने के कारण अनेक को विवशतावश वेश्यावृत्ति अपनानी पडी है। वेश्याओ की नई भर्ती विधवाओ से ही होती है। आर्थिक सकटो और पारिवारिक सघर्षों से तग आकर बहुत-सी विधवाएँ वेश्यावृत्ति ग्रहण कर लेती हैं। इसके अलावा परिवार मे जब विधवाएँ काम-वासना से नही बच पाती और दूषित हो जाती हैं तथा अपने पाप को छिपाने मे असमर्थ रहती हैं तो उन्हे घर से निकाल दिया जाता है। घर से बाहर उनका कोई आश्रय नही होता है और ऐसी स्थिति में अपनी विभिन्न आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए उन्हें वेश्या बनने को विवश होना पडता है।

६ सामाजिक अपराध—विधवाओ के यौन सम्बन्ध स्थापित होने से उनके गर्भ ठहर जाता है और अवैध सन्तान उत्पन्न होती हैं। अपने पाप को छिपाने के लिए उन्ह भ्रूण-हत्याएँ एव शिशु हत्याएँ करनी पडती हैं। इसके अतिरिक्त दुखी वैधव्यपूर्ण जीवन से मुक्त होने के लिए बहुत-सी विधवाएँ आत्महत्या तक कर लेती हैं। बहुत-सी विधवाओ को, जो अन्य पुरुषो से यौन-सम्बन्ध स्थापित होने से गर्भवती हो जाती हैं, समाज के डर से आत्म-हत्या तक करनी पडती है।

विधवा-विवाह निषेध के कारण हिन्दू समाज को बहुत अधिक हानि हुई है। इस निषेध के कारण लाखो विधवाओ को दुखी जीवन व्यतीत करना पडा है तथा समाज और नैतिकता पर भी इसका बुरा प्रभाव पडा है।

विधवा पुनर्विवाह का औचित्य (Justification of Widow Remarriage) :

विधवा पुनर्विवाह मे औचित्य के निम्नलिखित कारण हैं :

१ विधवा विवाह का नैतिक औचित्य (Ethical justification of widow-re-marriage) :

विधवा पुनर्विवाह नैतिक दृष्टि से न्याय सगत है। विधवाओ को अनिच्छापूर्वक अविवाहित रहने के लिए बाध्य करना उचित नही है। बाल विधवाओ को सब प्रकार के सासारिक सुखों का उपभोग करने से वंचित रखना सब दृष्टियो से अनुचित है तथा यह उनके प्रति घोर अन्याय है। विधवा पुनर्विवाह से अनेक नैतिक लाभ हैं तथा बहुत-सी सामाजिक बुराइयो के दूर होने की आशा है। निम्नलिखित कारणो के आधार पर विधवा पुनर्विवाह का नैतिक औचित्य स्वय स्पष्ट हो जाता है—

(i) विधवाओ की हृदयस्पर्शी अवस्था—समाज विधवाओ को विवश करता है कि वे अपनी सभी इच्छाओ, कामनाओ और वासनाओ का त्याग कर नैराश्यपूर्ण जीवन व्यतीत करें। उन्हें अच्छे वस्त्राभूषण पहनने, शृगार करने या अन्य कोई सुहाग चिह्न धारण करने से रोक दिया जाता है। उन्हें परिवार पर बोझ समझा जाता है तथा उनके साथ दुर्व्यवहार किया जाता है। उनका वतमान असहनीय तथा भविष्य अन्धकारमय होता है। ऐसी लाखो निस्सहाय नारियो की अन्तर्वेदना को कोई भी अनुभव नही करता। इन विधवाओ की दशा वास्तव मे अत्यन्त हृदयविदारक है। नैतिक दृष्टि से उनके प्रति यह समाज का घोर अन्याय है।

(ii) यौन-सम्बन्धी दोहरी नैतिकता का मापदण्ड अनुचित—हिन्दू धर्मशास्त्रों ने स्त्री तथा पुरुषो के लिए यौन सम्बन्धी नैतिकता के विभिन्न मापदण्ड प्रस्तावित किये हैं। पुरुष के लिए यह आवश्यक बताया गया है कि उसे पहली पत्नी की मृत्यु के पश्चात् शीघ्र ही दूसरा विवाह कर लेना चाहिए। दूसरी ओर, स्त्री को इस प्रकार के अधिकार से वंचित रखा गया है। मनुस्मृति मे लिखा है कि पूर्व मृत पत्नी की अन्त्येष्टि मे अग्नि देकर गृहस्थाश्रम के हेतु फिर विवाह करे तो फिर अग्निहोत्र ले। स्त्री तथा पुरुष के लिए इस प्रकार के विभिन्न मापदण्ड नैतिक दृष्टि से सर्वथा अनुचित हैं। जहाँ विधुर को विवाह करने की आज्ञा है वहाँ साथ ही विधवाओ को भी पुनर्विवाह करने की आज्ञा होनी चाहिए।

(iii) आत्म-सयम-एक विडम्बना—हिन्दू धर्मशास्त्रो के अनुसार विधवाओ को आत्म-सयम से पूर्ण जीवन बिताना चाहिए। आत्म-सयम का सिद्धान्त केवल एक विडम्बना है, जो दूसरो के लिए सुगमता से प्रस्तावित किया जा सकता है। व्यवहार रूप मे इसका पालन करना अत्यधिक कठिन है। काम इच्छा स्वाभाविक भी है और काम-वासना की पूर्ति प्राणिशास्त्रीय दृष्टि से आवश्यक है। यदि काम-वासना का दमन करने का प्रयत्न किया जाता है तो कई प्रकार के शारीरिक एव मानसिक रोग उत्पन्न हो सकते हैं। इसलिए उचित यही है कि विधवा-पुनर्विवाह को प्रोत्साहित कर, बढती हुई अनैतिकता को रोका जाए।

(iv) व्यभिचार को रोकने के लिए—सती-प्रथा के समाप्त होने के बाद विधवाओ की समस्या और भी गम्भीर हो गई है। विधवा-पुनर्विवाह निषेध के कारण अनुचित यौन-सम्बन्ध बढते हैं। वयस्क विधवाओं के लिए यौन-इच्छाओ का दमन करना अत्यन्त कठिन है। जब वे ऐसा नही कर पातीं तो उन्हें बाध्य होकर अनुचित यौन-सम्बन्ध स्थापित करने पडते हैं। इसके अतिरिक्त समाज के दुश्चरित्र व्यक्ति विधवाओ की दयनीय स्थिति से लाभ उठा कर उन्हे पथ भ्रष्ट करने का पूर्ण प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार, समाज मे व्यभिचार और अनैतिकता को प्रोत्साहन मिलता है।

(v) वेश्यावृत्ति तथा धर्म-परिवर्तन रोकने के लिए—यौन-इच्छाओ का दमन न कर सकने के कारण अनेक विधवाए अनुचित यौन सम्बन्ध स्थापित कर लेती हैं। जब वे अपने पाप को नही छिपा पाती तो परिवार और समाज इनका बहिष्कार कर देता है। ऐसी दशा मे अपनी आजीविका चलाने हेतु इन्हे विवश होकर वेश्यावृत्ति अपनानी पडती है या अन्य धर्म स्वीकार करके नये सिरे से अपना जीवन चलाना पडता है।

(vi) विधवाओं के बालकों की बर्बादी रोकने तथा उनके व्यक्तित्व के विकास के लिए—विधवा माताओ के बालकों का भविष्य बहुत अन्धकारमय होता है। जहा विधवाओ को दुखद जीवन व्यतीत करना पडता है, वहाँ उनके बालको की तरफ कोई ध्यान नही देता है। उन्हे व्यक्तित्व विकास के लिए उचित परिस्थितिया नहीं प्रदान की जाती। राष्ट्र की निधि तथा राष्ट्र के भविष्य इन बालको की बर्बादी रोकने तथा इनके व्यक्तित्व के समुचित विकास के लिए विधवा पुनर्विवाह नैतिक दृष्टि से उचित हैं।

(vii) अपराध रोकने के लिए—विधवा पुनर्विवाह निषेध के कारण अनेक सामाजिक अपराधो को प्रोत्साहन मिलता है। बहुत-सी विधवाओ के अनुचित यौन-सम्बन्धो के कारण गर्भ ठहर जाता है और इसे छिपाने हेतु उन्हें भ्रूण-हत्या या शिशु-हत्या करनी पडती है।

कई बार ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं कि उन्हें आत्म हत्या का भी सहारा लेना पड़ता है। इन सामाजिक अपराधो को रोकने के लिए विधवा पुनर्विवाह अनिवार्य है।

(viii) समाज के एक बड़े अंग की समस्या—विधवाओं की समस्या केवल कुछ ही नारियों की समस्या नही है बल्कि समाज के एक बहुत बड़े अंग, अर्थात् करीब दो करोड़ से अधिक नारियो की समस्या है। उन्हें अनेक प्रकार की निर्योग्यताओ से जकड़े रखना और व्यक्तित्व विकास के अवसर प्रदान नही करना आज के प्रजातन्त्र और समानता के युग में सभी दृष्टियो से अनुचित है। पारिवारिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय उन्नति की दृष्टि से यह आवश्यक है कि समाज के इतने बड़े अंग को पुनर्विवाह का अधिकार देकर उपयोगी बनाया जाए।

२ धार्मिक आधार (Religious Basis).

यदि हम प्राचीन हिन्दू धर्म शास्त्रो का अध्ययन करें तो ज्ञात होगा कि वैदिक काल मे विधवा विवाह का प्रचलन था। पुनर्विवाह करने वाली विधवा को उस समय पुनर्भू कहा जाता था। दफ्तरी के प्रमाणो के आधार पर लिखा है—"दूसरी विशेषताएँ विधवा पुनर्विवाह तथा नियोग हैं।"[18] अल्तेकर ने भी यही मत व्यक्त किया है, नियोग के साथ-साथ विधवा पुनर्विवाह भी वैदिक समाज मे प्रचलित था। कापड़िया ने भी लिखा है,—'विधवा पुनर्विवाह वैदिक काल से ही काफी प्रचलित और सामान्य प्रथा के रूप मे स्वीकृत प्रतीत होता है।"[19] वशिष्ठ, कौटिल्य तथा नारद ने विधवा पुनर्विवाह से सम्बन्धित नियम निर्धारित किये और विधवाओ को विवाह की आज्ञा प्रदान की है, परन्तु मध्य-युग के धर्मशास्त्रो ने विधवा विवाह का विरोध किया। मध्य-युग के धर्मशास्त्रो पर अधिक विश्वास न करके हमें मूल धार्मिक ग्रन्थो का अनुसरण करना चाहिए, अत यह अनिवार्य है कि विधवा पुनर्विवाह को प्रोत्साहन दिया जाए।

३ बहुमत की पुकार (Voice of Majority)

पाश्चात्य शिक्षा, सभ्यता तथा संस्कृति के प्रसार से भारतवर्ष के शिक्षित लोगो के दृष्टिकोणो मे काफी परिवर्तन हो चुका है और अधिकांश व्यक्ति आज विधवा पुनर्विवाह के पक्ष मे हैं। स्वयं विधवाएँ भी पुनर्विवाह के पक्ष म हैं, ऐसा अनेक सर्वेक्षणो स ज्ञात हुआ है। कापड़िया ने एक सर्वेक्षण के आधार पर लिखा है कि साक्षात्कार किए गए विश्व विद्यालय के ५१३ छात्रो मे से ३४५ ने बताया कि जो विधवाएँ तरुण, सन्तानहीन या आर्थिक संकट मे हो, उनका पुनर्विवाह हो जाना चाहिए। उन्होंने लिखा है—"यद्यपि शिक्षित लोगो मे अधिकांश पुनर्विवाह के पक्ष मे हैं, तथापि अल्प संख्या अब भी इसके विरोध मे है।"[20] अत यह आवश्यक है कि हमें जनमत का आदर करते हुए विधवा पुनर्विवाह को प्रोत्साहन देना चाहिए।

---

18 'Other features are the remarriage of widows and the niyoga' K. L. Daftari op cit p 158

19 "Widow remarriage seems to have been fairly well known and accepted as normal from the Vedic period *onwards*," K M Kapadia, op cit, p 61

20 Ibid, p 176

४ मानवता की मांग (Demand of Humanity)

आज मानवता की मांग है कि विधवाओ को वे सब अधिकार प्रदान किये जाएँ जो समाज मे पुरुषो को प्राप्त हैं । मध्य युग के पाषाण हृदय धर्मशास्त्रियों ने विधवा विवाह का निषेध करके शक्ति की साकार प्रतिमा—नारी के प्रति घोर अन्याय किया है । अब समय है कि सदियो से शोषित विधवाओ को मानव के रूप म जीवित रहने का अधिकार दिया जाए । आज जब 'जीवित रहो और जीवित रहने दो' के सिद्धान्त मे विश्वास किया जाता है, तब यह आवश्यक है कि जिस प्रकार हिन्दू समाज के अधिकाश सदस्य अपना जीवन व्यतीत करते हैं, उसी प्रकार का भेद भाव रहित जीवन व्यतीत करने की आज्ञा विधवाओ को भी प्रदान की जाए । विश्व के सभी प्रगतिशील देशो मे सार्वभौमिक मानव अधिकारो की घोषणा की जा चुकी है, फिर लाखो भारतीय विधवाओ को जीवित रहने का भी मौलिक अधिकार क्यो नही दिया जाता ? आज भी विधवा तथा विधुर की सामाजिक स्थिति मे रात दिन का अन्तर क्यो है ? यह अन्तर हिन्दू समाज को कलंकित कर रहा है ।

इन तर्कों के आधार पर, हम यही कह सकते हैं कि दुराचार, अनाचार, भ्रूण हत्या, शिशु हत्या, आत्महत्या तथा अनेकानेक सामाजिक बुराइयो से छुटकारा पाने के लिए विधवा पुर्नविवाह अनिवार्य है तथा ऐसे विवाह नैतिक दृष्टि से पूर्णत उचित हैं ।

विधवा-विवाह के अनुकूल परिस्थितियाँ
(Favourable Conditions for Widow marriage)

अंग्रेजी शासन-काल में भारत मे ऐसी आर्थिक, सामाजिक एव राजनीतिक परिस्थितिया पैदा हुई जिन्होने विधवाओ के प्रति लोगो के दृष्टिकोण म परिवर्तन लाने मे योग दिया । ये परिस्थितियाँ इन कारणो के फलस्वरूप बन पाई —

(१) विधवाओ की समस्याओ के निराकरण के लिए अनेक उत्साही कार्यकर्त्ता आगे आए । राजा राममोहनराय और ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने इस दिशा मे विशेष प्रयास किया । १९वी शताब्दी मे देश में अनेक सुधार आन्दोलन प्रारम्भ हुए । आर्य समाज और ब्रह्मसमाज ने विधवा पुर्नविवाह को प्रोत्साहित करने का प्रयास किया । लोगो को बताया गया कि वैदिक काल मे विधवा विवाह होते थे और धर्म सगत माने जाते थे ।

(२) पाश्चात्य शिक्षा और सास्कृतिक मूल्यो के व्यापक प्रचार ने विधवा पुर्नविवाह के पक्ष मे अनुकूल परिस्थितियाँ बनाने मे विशेष योग दिया है । लोग तार्किक दृष्टिकोण से सोचने लगे हैं, अन्धविश्वास कुछ कम हुए हैं और मानवीय दृष्टिकोण का विकास होता जा रहा है । उन धर्म ग्रन्थो का प्रभाव कम होता जा रहा है जिन्होने विधवा विवाह निषेध के लिए समाज को प्रेरित किया और मूलधर्म ग्रन्थो की ओर लोगो का ध्यान आकृष्ट हो रहा है जिनमे विधवा विवाह की आज्ञा दी गई है ।

(३) राष्ट्रीय आन्दोलन ने भी लोगो मे राष्ट्रीय चेतना और सामाजिक जाग्रति लाने म योग दिया है । अनेक नेताओ ने समय समय पर सामाजिक समस्याओ की ओर लोगो का ध्यान आकृष्ट किया है और ऐसी समस्याओ मे विधवा विवाह निषेध मुख्य है । महात्मा गांधी ने तो युवको को विधवाओ से विवाह करने का स्पष्ट आदेश दिया है । यदि हमे शुद्ध होना है और हिन्दू धर्म की रक्षा करनी है तो हमे थोपे हुए वैधव्य का यह जहर निकाल डालना चाहिए । इस सुधार का प्रारम्भ उन्ही लोगो को करना चाहिए जिनके यहाँ बाल-

विधवाएँ हैं। उन्हें इस बारे में पूर्ण साहस का परिचय देना चाहिए तथा इस बात की सावधानी रखनी चाहिए कि उनके सरक्षण में जो बाल-विधवाएँ हैं, उनका विधि-पूर्वक विवाह हो जाए।

(४) वर्तमान समय में स्त्री-शिक्षा का भी व्यापक प्रसार हुआ है। आज उन्हें पुरुषों के समान सामाजिक, आर्थिक एव राजनीतिक अधिकार प्राप्त है। समय समय पर अपनी निर्योग्यताओं के विरुद्ध स्त्रियों के द्वारा विभिन्न आन्दोलन भी चलाए गए हैं जिन्होंने लोगो के दृष्टिकोण में परिवर्तन लाने और विधवा-विवाह के पक्ष में वातावरण बनाने में योग दिया है।

(५) आज की बदली हुई परिस्थितियों में रूढिवादी धर्म का प्रभाव तेजी से कम होता जा रहा है जिसके फलस्वरूप विधवा-विवाह की धार्मिक अड़चनें दूर होती जा रही है। पत्नी की मृत्यु के पश्चात् जब पुरुष पुन विवाह करना चाहता है, विधुर के रूप में शेष जीवन नही बिताना चाहता तो तार्किक दृष्टि से उसका कोई अधिकार नहीं रह जाता कि वह स्त्री को जीवनपर्यन्त वैधव्य जीवन बिताने के लिए विवश करे।

(६) वर्तमान में सामाजिक गतिशीलता में वृद्धि हुई है। युवक-युवतियो को स्कूलो, कॉलेजो, दफ्तरो, कारखानो और विभिन्न कार्य-स्थलों पर एक-दूसरे के निकट-सम्पर्क मे आने, एक दूसरे को समझने और पारस्परिक समस्याओं में रुचि लेने का अवसर मिला है। शिक्षित महिलाएँ अब आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर होती जा रही हैं और सामाजिक दृष्टि उनमे कुछ चेतना आने लगी है। यह परिस्थिति विधवा-विवाह के लिए अनुकूल है।

अब विधवा विवाह के मार्ग में कोई वैधानिक अड़चनें भी नही पाई जाती। पुनर्विवाह करने वाली विधवाओं को राज्य की ओर से वर्तमान मे कानूनी सुरक्षा भी प्राप्त है।

विधवा विवाह के कानूनी पहलू
(Legal Aspects of Widow Marriage)

कुछ समय पूर्व हिन्दू समाज में सती प्रथा के प्रचलन से विधवाओं की समस्या इस रूप मे उपस्थित नही थी। सती प्रथा अवश्य समाप्त हो गई, परन्तु विधवाओं को पुनर्विवाह की आज्ञा नही दी गई। हिन्दू समाज ने उन्हें अपमानित जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य किया। विधवाओं की दयनीय दशा से पसीज कर उनकी स्थिति सुधारने के लिए ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने आन्दोलन आरम्भ किया। आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज तथा अनेक अन्य सामाजिक सगठनों तथा सर जे० पी० ग्राण्ट के प्रयत्नो के फलस्वरूप ब्रिटिश सरकार ने सन् १८५६ मे विधवा पुनर्विवाह सम्बन्धी निम्नलिखित अधिनियम पारित किया

हिन्दू विधवा-पुनर्विवाह अधिनियम, १८५६
(Hindu Widow Remarriage Act, 1856)

इस अधिनियम से विधवाओं के पुनर्विवाह सम्बन्धी कानूनी अड़चनें दूर हो गई हैं। इस अधिनियम की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं —

(१) विधवा अपनी इच्छा से पुनर्विवाह कर सकती है। ऐसा विवाह कानून द्वारा मान्य

समझा जाएगा तथा ऐसे विवाह से उत्पन्न सतान वैध मानी जाएगी ।

(२) पुनर्विवाह करने वाली विधवा यदि नाबालिग है और यदि पहले पति से उसका यौन सम्बन्ध स्थापित नहीं हुआ है, तो पिता, दादा, बड़े भाई या निकट के किसी पुरुष रिश्तेदार की स्वीकृति आवश्यक है ।

(३) यदि विधवा बालिग है और यदि पहले विवाह मे यौन-सम्बन्ध स्थापित हो चुका है तो उसके पुनर्विवाह के लिए केवल उसकी स्वीकृति ही काफी है ।

(४) पुनर्विवाह करने वाली विधवा का अपने मृत पति की सम्पत्ति पर कोई अधिकार नही रहेगा ।

(५) पुनर्विवाह करने वाली विधवा को यदि पति के वसीयतनामे या पति के परिवार के सदस्यो के समझौते क अनुसार, पति की सम्पत्ति पर पूर्ण अधिकार मिल गया हो तो उस पुनर्विवाह के बाद भी उसके अधिकारो स वचित नही किया जा सकता ।

(६) जिस नए परिवार मे विधवा पुनर्विवाह करेगी, उसमे उसको वे सभी अधिकार प्राप्त होगे, जो एक कुमारी के रूप म विवाह करने पर उसे प्राप्त होते ।

(७) यदि पुनर्विवाह करने वाली विधवा के मृत पति के सन्तान है तो उन्हें मृत पति के किसी सम्बन्धी के सरक्षण म रखा जाएगा । सरक्षण का निश्चय उस स्थान का सिविल कोर्ट करेगा ।

स्त्री शिक्षा के अभाव तथा धार्मिक रूढ़िवादिता के कारण विधवाओ को इस अधिनियम से कोई लाभ प्राप्त नही हुआ । इसके अलावा यह अधिनियम भी दोषपूर्ण है क्योकि विधवा के पुनर्विवाह से मृत पति की सम्पत्ति म उसके सब अधिकार समाप्त हो जाते हैं ।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि विधवा पुनर्विवाह के पक्ष मे लोगो के दृष्टिकोण मे परिवर्तन अवश्य आया है । विधवा को आज पुनर्विवाह हेतु कानून का आश्रय भी प्राप्त है, परन्तु क्या हिन्दू समाज म विधवा विवाह प्रचलित हो पाए हैं ? क्या विधवाओ से पुनर्विवाह करने को आज के युवक तैयार हैं ? ग्रामीण क्षेत्रो मे विधवा पुनर्विवाह के सम्बन्ध मे ए एन अग्रवाल ने बताया है कि यह कहा जा सकता है कि यद्यपि भारत के ग्रामीण क्षेत्रो मे २५ से ३८ प्रतिशत तक विधवाओ के पुनर्विवाह होते है तथापि इसका यह तात्पर्य नही लगाना चाहिए कि भूतकाल की विधवा विवाह निषेध की रूढि टूट चुकी है और काफी मात्रा मे विधवाओं के पुनर्विवाह होने लगे है । वास्तविकता यह है *कि ग्रामीण क्षेत्रो मे उच्च जातियों मे अब भी विधवा पुनर्विवाह बहुत कम* होते हैं ।[21]

नगरीय क्षेत्रा म विधवा पुनर्विवाह के कुछ उदाहरण सामने आने लगे हैं, परन्तु इनकी सख्या अति न्यून है । विधवा पुनर्विवाह के मार्ग मे सबसे बड़ी बाधा पहले पति से उत्पन्न सन्तान के भविष्य की है । जिस विधवा के पहले विवाह स सन्तान है, उसके साथ

---

21 A N Agarwala, op cit, p 101

विवाह करने को कोई पुरुष साधारणत तैयार नही होना चाहता क्योकि ऐसी दशा मे स्त्री के पहले पति की और स्वय की सन्तानो के भरण-पोषण का दायित्व उस पर आ पडता है। साथ ही नवीन परिवार मे विधवा के पहले विवाह से उत्पन्न बच्चो का भविष्य अन्धकारमय भी हो ही सकता है, उनके साथ पक्षपात किया जा सकता है। अपनी सन्तान की चिन्ता कई बार विधवाओं को पुनर्विवाह करने मे रोकती है। इसके अतिरिक्त साधारणत किसी विधवा से विवाह करके पुरुष परिवार, जाति और समुदाय मे निन्दा का पात्र नही बनना चाहता। ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जहा शिक्षित और प्रगतिशील समझे जाने वाले परिवार, सामाजिक निन्दा के भय से अपनी युवा विधवा आत्मनिर्भर लडकियो तक का पुनर्विवाह करने का साहस नही कर पाते।

वर्तमान परिस्थितियो को देखते हुए इतना अवश्य कहा जा सकता है कि जैसे-जैसे स्त्री-शिक्षा का प्रसार होगा, स्त्रियो की आर्थिक आत्म निर्भरता बढेगी और जातीय-बन्धन शिथिल होगे, वैसे-वैसे विधवा पुनर्विवाहों की सख्या भी बढेगी। औद्योगीकरण और नगरीकरण की प्रक्रियाओ का विधवा पुनर्विवाह को प्रोत्साहित करने मे अवश्य योग रहेगा। विधवा पुनर्विवाह के लिए युवको को आगे आना होगा। विधवाओ को स्वय पुरानी रूढ़ियो को तोडना होगा। माता-पिता को अपनी विधवा लडकियो के पुन विवाह का साहस बटोरना होगा और समाज को विधवाओ के प्रति सहानुभूति पूर्ण दृष्टिकोण अपनाना होगा। यदि समाज-सुधार का दावा करने वाले जातीय-सगठन आगे आएं, विधवा-विवाह को प्रोत्साहित करें और विधुरो को विशेष रूप से विधवाओ के साथ ही विवाह करने के लिए प्रेरित करें, तो इस दिशा मे काफी कुछ हो सकता है।

प्रश्न

१ भारत की प्रमुख वैवाहिक समस्याओं का विवेचन कीजिये।

२ हिन्दुओ मे बाल-विवाहो की उत्पत्ति के क्या कारण रहे हैं? बाल-विवाह के प्रभावो का वर्णन कीजिए।

३ बाल-विवाह ने हिन्दू जीवन मे जिन समस्याओ को जन्म दिया है, उनका वर्णन कीजिए।

४ बाल विवाह की सामाजिक बुराई को रोकने मे कानूनी प्रतिकारो की विफलता के कारण बताइये।

५. भारत मे बाल-विवाह के गुण-दोष बताइये। विलम्ब विवाह का क्या परिणाम होगा।

६ भारत मे बाल-विवाह की समस्या का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिये। इस समस्या के निराकरण हेतु सुझाव दीजिये।

७. भारत मे दहेज-प्रथा के कारणों, परिणामो और उपचारो के बारे मे एक निबन्ध लिखिए।

८. आपके मत मे दहेज-प्रथा को किन-किन परिस्थितियो ने जन्म दिया है ? उससे क्या हानि-लाभ रहे है ?

९. विधवा-विवाह का नैतिक औचित्य क्या है ? इसके कानूनी और सामाजिक पहलू क्या हैं ?

१०. भारत मे विधवा-विवाह के निषेध का कितना प्रचलन है ? समाज और नैतिकता पर इसके प्रभावो का वर्णन कीजिए ।

११. नवीन सामाजिक विधान हिन्दू विवाह से सबधित समस्याओ को सुलझाने मे कहा तक सफल रहे हैं ?

□ □ □

अध्याय 11

हिन्दुओं में विवाह-विच्छेद एवं विवाह सम्बन्धी आधुनिक प्रवृत्तियाँ

(DIVORCE AMONG HINDUS & RECENT TRENDS IN MARRIAGE)

विवाह विच्छेद का अर्थ वैवाहिक सम्बन्धों का सामाजिक एवं वैधानिक दृष्टि से अन्त है। विवाह विच्छेद के द्वारा पति-पत्नी के वैवाहिक सम्बन्ध समाप्त हो जाते हैं तथा वे दोनों एक-दूसरे से पृथक हो जाते हैं। इस प्रकार के पृथक्करण के लिए राज्य अथवा समाज की स्वीकृति अत्यन्त आवश्यक है। विवाह विच्छेद इस बात को प्रकट करता है कि पति-पत्नी सुखी पारिवारिक जीवन व्यतीत करने में असफल रहे हैं। विवाह विच्छेद को वैवाहिक जीवन का दुखद अन्त कहा जा सकता है। इसका तात्पर्य यह है कि जिन उद्देश्यों और आशाओं को लेकर पति-पत्नी विवाह-सूत्र में बंधे थे, वे अपूर्ण रहे, उन्हें पूरा करने में वे सफल नहीं हो पाए हैं, एक-दूसरे के अनुसार वे अपने आपको नहीं ढाल पाए हैं, उनमें अनुकूलन सम्भव नहीं हो सका है।

विवाह विच्छेद एक कानूनी समस्या मात्र नहीं है। यह एक संवेदनशील व्यक्तिगत अनुभव भी है। इस सम्बन्ध में इलियट और मैरिल ने लिखा है कि विवाह विच्छेद सदैव करीब करीब एक दुःखद घटना के रूप में ही होता है, क्योंकि इसका साधारणतः तात्पर्य है विश्वास की समाप्ति, प्रतिज्ञा को तोड़ना और गम्भीर मोह भंग। कभी-कभी कोई पक्ष किसी अन्य व्यक्ति से विवाह करने के लिए विवाह विच्छेद चाहता है। इससे दूसरे साथी को यह महसूस होता है कि उसे माप लिया गया और पाया गया है कि एक सफल और सहयोगी जीवन-साथी या जीवन-संगिनी की जाँच में वह असफल रहा है/रही है। जब दोनों ही पक्ष विवाह-विच्छेद नहीं चाहते तो ऐसी स्थिति में एक पक्ष दूसरे को रद्द करता है। विवाह विच्छेद की प्रक्रिया, रद्द किये गए व्यक्ति के लिए जिसने अक्सर दूसरे पक्ष का काफी ध्यान रखा हो, एक उद्वेगात्मक क्रान्ति बन जाती है। रद्द किया गया पक्ष अपने को कुचला हुआ और अपमानित भी अनुभव कर सकता है क्योंकि उसके आत्माभिमान को चोट पहुँचती है। किसी भी स्थिति में, विवाह विच्छेद एक वैधानिक समस्या से कुछ अधिक ही है।[1] स्पष्ट है कि विवाह विच्छेद कोई साधारण घटना नहीं है। यह व्यक्ति, परिवार

1 Mabel A. Elliot & Francis E. Merrill, "Social Disorganization," p. 147

और समाज को अनेक रूपों में प्रभावित करता है। इसकी सम्यक् विवेचना यहां अत्यन्त आवश्यक है।

हिन्दू समाज में स्त्री के सम्मुख पतिव्रता का आदर्श प्रस्तुत किया गया है। स्त्री को बताया गया है कि पति चाहे कैसा ही क्यों न हो, उसमें कितने ही दोष क्यों न हो वह देवता-तुल्य है, परमेश्वर के रूप में है। ऐसी स्थिति में विवाह-विच्छेद स्त्री के लिए पाप समझा गया, कलंक माना गया। पुरुष के लिए अपनी पत्नी को छोड़कर दूसरी स्त्री से विवाह कर लेना भी साधारण-सी बात समझी गई, परन्तु स्त्री के इस प्रकार के कार्य को गम्भीर धार्मिक अपराध माना गया। यही कारण है कि सिद्धान्त रूप में कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में विवाह-विच्छेद अधिकार के मान्य होने पर भी व्यवहार रूप में स्त्रियों द्वारा तलाक दिए जाने के उदाहरण प्राचीन भारतीय समाज में बहुत कम दिखाई पड़ते हैं। विश्व के सभी समाजों में, चाहे वे आदिम हों अथवा सभ्य, पति-पत्नी के पारिवारिक जीवन के सामान्य न होने पर, उनके दुःखी वैवाहिक जीवन का अन्त करने की दृष्टि से विवाह-विच्छेद की व्यवस्था पाई जाती है। परन्तु हिन्दू समाज में विवाह-विच्छेद को स्त्री के लिए भयंकर पाप समझा गया है, उसे कलंकित करने वाला माना गया है। परिणाम यह हुआ है कि अनेक परिवार दुःखमय जीवन व्यतीत कर रहे हैं, विघटित अवस्था में हैं, परन्तु फिर भी आदर्शवाद के नाम पर वे चल रहे हैं, विवाह-विच्छेद का आश्रय नहीं लेते हैं। यह स्थिति लोगों के मानसिक स्वास्थ्य की दृष्टि से हानिकारक है, उनकी अशान्ति का मूल कारण है। जब पति-पत्नी का किसी भी प्रकार से एक-दूसरे के साथ रहते हुए सुखी वैवाहिक जीवन व्यतीत करना असम्भव हो, तो ऐसी दशा में लाभप्रद यही है कि वे विवाह-विच्छेद के माध्यम से एक-दूसरे से पृथक् हो जाए और अपनी इच्छानुसार पुनः अपने जीवन को संगठित करें। विवाह-विच्छेद के मामले में स्त्री-पुरुष के लिए समान अधिकारों का होना भी आवश्यक है। जहां पुरुष को अपनी पत्नी का परित्याग कर दूसरी स्त्री से विवाह करने की स्वतन्त्रता है, वहां समानता का नारा देने वाले पुरुषों को स्त्रियों को भी समान रूप से विवाह-विच्छेद का अधिकार देना होगा। यहां इतना अवश्य ध्यान रखना होगा कि जहां कुछ अवस्थाओं में विवाह-विच्छेद लाभप्रद है वहां किसी समाज में विवाह-विच्छेद काफी बढ़ जाने से पारिवारिक स्थिरता को खतरा भी पैदा हो जाता है।

हिन्दुओं में विवाह-विच्छेद
(Divorce among Hindus)

आज हिन्दू समाज के सम्मुख विवाह-विच्छेद की समस्या नवीन प्रतीत होती है, परन्तु यदि हम प्राचीन हिन्दू धर्मशास्त्रों का अध्ययन करें तो ज्ञात होगा कि उस समय भारत में विवाह विच्छेद मान्य थे। ईसा के पूर्व विशिष्ट परिस्थितियों में विवाह विच्छेद की आज्ञा थी। डा० अल्तेकर ने बताया है कि वास्तव में ईसा काल के प्रारम्भ तक प्रथम विवाह की पूर्णता के उपरान्त भी समाज के सभी वर्गों में विवाह-विच्छेद और पुनर्विवाह यदाकदा होते थे।[2] अथर्ववेद में एक स्त्री का उदाहरण मिलता है जिसने अपने प्रथम पति के जीवन काल में ही सम्भवतः दूसरे पुरुष के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया। स्पष्ट है कि

2 A S Altekar, op cit, p 84

पहले पति के साथ विवाह विच्छेद करने के पश्चात् ही उसने पुनर्विवाह किया। ऐसी स्त्री को उस समय पुनर्भू कहा जाता था। श्री के० एल० दफ्तरी ने कहा है कि उस प्राचीन समय में भी विवाह विच्छेद की व्यवस्था पाई जाती थी।[3] नारद वृहस्पति तथा पाराशर स्मृतियों में कुछ विशेष परिस्थितियों में विवाह विच्छेद की आज्ञा प्रदान की गई है। नारद तथा पाराशर ने कहा है कि यदि पति अज्ञात हो, सन्यासी हो गया हो, जाति से निकाल दिया गया हो, नपुंसक अथवा पतित हो, तो स्त्री अन्य पुरुष से विवाह कर सकती है। कौटिल्य ने, पति के अधिक समय तक विदेश में रहने पर अथवा राजद्रोही, दुश्चरित्र, जाति बहिष्कृत या नपुंसक होने पर स्त्री को विवाह विच्छेद की आज्ञा दी है परन्तु यह आज्ञा असुर, गान्धर्व, क्षात्र और पैशाच विवाह करने वालों को ही दी गई है। मनु ने कहा है, 'यदि एक स्त्री मद्यपान करती है, या बुरे चरित्र की है, अपने पति के अनुकूल चलन वाली नहीं है, रोगिणी है या अपव्यय करने वाली है या भयंकर स्वभाव की है, तो उसके रहते हुए भी दूसरा विवाह कर लेना उचित है।'[4]

प्राचीन हिन्दू धर्म ग्रन्थों के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि उस काल में लोग विवाह विच्छेद के पूर्ण विरोधी नहीं थे तथा कुछ विशेष परिस्थितियों में पति-पत्नी को विवाह विच्छेद की अनुमति थी। हिन्दू शास्त्रकार वैवाहिक समस्याओं और जटिलताओं से पूर्ण परिचित थे, इसलिए उन्होंने विवाह विच्छेद की व्यवस्था भी की। उस काल में विवाह विच्छेद से सम्बन्धित केवल नियम ही उपलब्ध नहीं होते बल्कि धम्मपद, मज्झिम निकाय, थेरीगाथा आदि बौद्ध-ग्रन्थों में विवाह-विच्छेद के अनेक उदाहरण भी मिलते हैं जहाँ स्त्री ने अनेक बार विवाह किया। परन्तु ईसा काल के प्रारम्भ से ही हिन्दू समाज में नैतिकता का ऐसा प्रवाह आया कि विवाह विच्छेद धार्मिक दृष्टि से अपवित्र एवं घृणित कार्य समझा जाने लगा तथा अनेक नियन्त्रणों के कारण विवाह विच्छेद समाप्तप्राय हो गए। परन्तु ऐसा मुख्य रूप से द्विज हिन्दुओं (ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य) में ही हुआ और शूद्रों तथा निम्न वर्गों में विवाह विच्छेद सदैव प्रचलित रहे। बौद्ध-ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि समाज के उच्च वर्गों में विवाह-विच्छेद असाधारण थे, बहुत कम होते थे। डा० अल्तेकर ने लिखा है यह स्पष्ट है कि समाज के उच्च वर्गों की स्त्रियाँ, निम्न वर्गों में प्रचलित विवाह विच्छेद की प्रथा का लाभ उठाने की बहुत अनिच्छुक थीं।[5]

ईसा के १००० वर्ष के बाद के ग्रन्थों में विवाह विच्छेद का उल्लेख नहीं मिलता। धीरे धीरे समाज में यह धारणा बनती गई कि कन्या को विवाह में केवल एक बार ही दिया जा सकता है। वैवाहिक जीवन के दुखमय होने पर भी अपने पति को छोड़ कर दूसरे पुरुष के साथ विवाह करना भोगविलासमय या कामुक व्यवहार समझा गया। समाज में इस समय यहाँ तक धारणाएँ प्रचलित हो गई कि चाहे पति कितना ही दुश्चरित्र, नैतिक दृष्टि से पतित और अपनी पत्नी के साथ क्रूर व्यवहार करने वाला हो क्यों न हो, स्त्री को विवाह विच्छेद के द्वारा उससे छुटकारा प्राप्त करने का कोई अधिकार नहीं है। इस समय

---

3 "A kind of dissolution of marriage was also in existence in those ancient days" K. L. Daftari. The Social Institutions in Ancient India, p. 167

४ मनुस्मृति-अध्याय ९, श्लोक ७६, ८०।

5 A. S. Altekar op. cit., p. 80

नैतिकता का दोहरा मापदण्ड प्रचलित हुआ। पुरुष मनमाने ढग से अपनी पत्नी को छोड सकता था, अन्य स्त्री के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर सकता था। परन्तु स्त्री पर सब प्रकार के नियन्त्रण लगा दिए गए, उसे विवाह-विच्छेद और पुनर्विवाह के अधिकार से वचित कर दिया गया। लेकिन ऐसा विशेष रूप से हिन्दू समाज के उच्च वर्णो मे ही हुआ, शूद्रो और अन्य निम्न जातियो मे विवाह-विच्छेद प्रचलित रहे। इस समय तक स्त्री की स्थिति मे काफी गिरावट आ चुकी थी और विवाह से सम्बन्धित अनेक समस्याए उत्पन्न हो चुकी थीं।

विवाह-विच्छेद के विपक्ष मे कुछ तर्क (Some Arguments against Divorce)

हिन्दू समाज मे बहुत-से लोग आज भी यह अनुभव करते हैं कि विवाह-विच्छेद भारतीय समाज के परम्परागत सगठन की दृष्टि से हानिकारक है। ये लोग निम्न आधारो पर विवाह-विच्छेद का विरोध करते हैं—

(१) हिन्दू विवाह एक पवित्र धार्मिक सस्कार है, जन्म-जन्मान्तर का सम्बन्ध है। इसे तोडना अनुचित है, जघन्य अपराध है। स्त्री का कर्त्तव्य पति की सेवा, बच्चो का पालन-पोषण, धार्मिक कार्यों का सम्पादन तथा विभिन्न पारिवारिक दायित्वो की पूर्ति बताया गया है। यदि स्त्री को विवाह-विच्छेद की आज्ञा दी गई तो पारिवारिक जीवन विघटित हो जायेगा, परम्पराए नष्ट हो जाए गी और भारतीय सस्कृति की रक्षा नहीं हो सकेगी।

(२) विवाह-विच्छेद के कारण पारिवारिक जीवन के विघटित होने की प्रक्रिया तीव्र हो जाएगी। पति-पत्नी एक-दूसरे पर अविश्वास करने लगेंगे, तनाव बढ़ेंगे और कई परिवार टूट जाए गे। इस बात की भी सम्भावना है कि स्त्रिया कुछ गलत व्यक्तियो के बहकावे मे आकर अपने पहले पति को छोड दें और दूसरा विवाह कर लें। साथ ही पुरुष किसी अन्य स्त्री की ओर आकृष्ट होने पर अपनी पत्नी पर अत्याचार कर सकता है, उसे विवाह-विच्छेद के लिए बाध्य कर सकता है जिससे उसे भरण-पोषण हेतु खर्च न देना पडे। यह सारी परिस्थिति पारिवारिक दृढता की दृष्टि से घातक है।

(३) आर्थिक आधार पर भी विवाह विच्छेद का विरोध किया जाता है। आज भारत मे शिक्षित स्त्रियो का प्रतिशत बहुत थोडा है और नौकरी अथवा व्यवसाय मे लगी हुई स्त्रियों का प्रतिशत तो और भी कम। अधिकतर स्त्रियाँ आर्थिक दृष्टि से पुरुषों पर ही निर्भर हैं। ऐसी दशा में विवाह-विच्छेद के पश्चात् स्त्रियो के सम्मुख भरण-पोषण की समस्या उपस्थित हो सकती है, उन्हे आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड सकता है। इसलिए उचित यही है कि जब तक स्त्रियाँ आर्थिक दृष्टि से आत्म-निर्भर न हो जाएं अथवा उनके पुनर्विवाह का प्रबन्ध न हो जाये, तब तक उन्हें विवाह-विच्छेद का अधिकार नहीं दिया जाए। विवाह-विच्छेद के पश्चात् आर्थिक कठिनाइयो के बढने पर यह सम्भव है कि कुछ स्त्रियो का बाध्य होकर अनैतिक जीवन अपनाना पड़े। यह परिस्थिति सामाजिक दृष्टि से लाभप्रद नहीं है।

(४) विवाह विच्छेद के विपक्ष मे एक तर्क बालको के पालन-पोषण का दिया जाता है। विवाह विच्छेद का बच्चो पर निश्चित रूप से प्रतिकूल प्रभाव पडेगा। विवाह-विच्छेद

के पश्चात् साधारणत पिता बालको के पालन-पोषण का भार अपने ऊपर नही लेना चाहता और यदि वह यह भार अपने ऊपर ले भी ले तो अन्य स्त्री से विवाह करने पर वह इस दायित्व को ठीक से नही निभा पाएगा और सौतेली मा का बालको के प्रति पक्षपातपूर्ण अथवा अनुचित व्यवहार हो सकता है। यदि बच्चो को माता के पास रखा जाए तो आर्थिक कठिनाइयो के कारण बालको के व्यक्तित्व के समुचित विकास मे बाधा पड सकती है। ऐसे बालक माता-पिता के स्वाभाविक प्रेम से वचित रह सकते हैं। यह सारी परिस्थिति विवाह-विच्छेद के अनुकूल नही है। बालक समाज और राष्ट्र की महान् निधि हैं, उनके प्रति उपेक्षा का भाव अथवा टूटे हुए परिवारो मे उनके व्यक्तित्व का विकास सभी दृष्टिकोणो से अहितकर रहेगा।

इन तर्कों मे कुछ सत्यता अवश्य है, परन्तु विवाह-विच्छेद के नही होने से जो दुष्परिणाम निकल रहे हैं, उनको देखते हुए यह कहा जा सकता है कि यह आवश्यक है। विवाह-विच्छेद अधिकार के न होने से स्त्रियो पर पुरुषो की ओर से अनेक प्रकार के अत्याचार किये जाते रहे हैं, उन्हे परिवार मे रहते हुए दुखी जीवन व्यतीत करने के लिए विवश किया जाता रहा है। यदि यह कहा जाए कि पतिव्रत धर्म के नाम पर हिन्दू समाज मे स्त्रियो का शोषण किया जाता रहा है तो इसमे कोई अतिशयोक्ति नही होगी। विवाह-विच्छेद की व्यवस्था होने से पुरुष स्त्रियों के प्रति अपने कर्त्तव्य-पालन मे अधिक सचेत रहेगे, उनके साथ मनमाना अत्याचारपूर्ण व्यवहार नही कर सकेंगे और उनकी स्वेच्छाचारिता पर कुछ नियन्त्रण रहेगा। परिवार मे पति-पत्नी समानता के आधार पर एक-दूसरे के प्रति सद्-व्यवहार कर सकेंगे, मित्रतापूर्ण घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित कर सकेंगे और पारिवारिक जीवन अधिक सुखी बना सकेंगे। दुखमय वैवाहिक जीवन बिताने की अपेक्षा पति पत्नी का एक-दूसरे से पृथक् होकर नवीन सिरे से अपना वैवाहिक जीवन प्रारम्भ करना पारिवारिक और सामाजिक दृष्टि से अधिक लाभप्रद रहेगा। जहा तक आर्थिक समस्याओ का प्रश्न है, उसके लिए स्त्री शिक्षा का प्रसार किया जाना चाहिए और उन्हे आर्थिक दृष्टि से आत्म-निर्भर बनने के अधिकाधिक अवसर दिये जाने चाहिए। विवाह-विच्छेद के विपक्ष मे बालको के पालन-पोषण की समस्या निश्चित रूप से महत्वपूर्ण है जिस पर गम्भीरता से विचार किया जाना चाहिए। कुछ लोग विदेशो के उदाहरण देते हैं और सुझाव देते हैं कि तलाक-शुदा माता-पिता के बच्चो का पालन-पोषण एव शिक्षा आदि की व्यवस्था स्टेट नर्सरी और बोर्डिंग हाउस मे रखकर की जानी चाहिए। लेकिन लेखक की यह मान्यता है कि बालक के व्यक्तित्व के स्वस्थ एव समुचित विकास के लिए परिवार का स्थान अन्य कोई समिति नही ले सकती। परिवार जैसा स्नेहपूर्ण और सुरक्षात्मक पर्यावरण बालक को शायद ही कही अन्यत्र मिल पाये। इतना अवश्य उचित है कि बालको को विवाह-विच्छेद के पश्चात् माता के सरक्षण मे रखा जाए और पिता उनके पालन पोषण का पूरा खर्च दे।

विवाह-विच्छेद का औचित्य
(Justification of Divorce)

वर्तमान मे परिवर्तित परिस्थितियो मे विवाह-विच्छेद को मान्यता प्रदान करना अनेक दृष्टिकोणो से लाभप्रद है। निम्नलिखित आधारो पर विवाह-विच्छेद का औचित्य स्वय ही स्पष्ट हो जाता है —

(१) आज समानता के युग मे स्त्री-पुरुषो को सभी क्षेत्रो मे समान अधिकार प्राप्त हो

रहे हैं। ऐसी दशा में वैवाहिक क्षेत्र में भी पुरुषों के पास विशेषाधिकार क्यों होने चाहिएँ और स्त्रियों को न्यायोचित अधिकारों से क्यों वंचित रखा जाना चाहिए? पुरुष के समान ही स्त्री को असाधारण परिस्थितियों में अपने पति का परित्याग करने की सुविधा होनी चाहिए।

(२) मध्यकाल में स्त्रियों को सब प्रकार के अधिकारों से वंचित किया गया, उन पर अनेक प्रतिबन्ध लगाए गए, उनकी स्थिति में काफी गिरावट आई। उनकी स्थिति में सुधार लाने हेतु यह आवश्यक है कि उन्हें पुरुषों की कृपा पर ही न छोड़ा जाए। पुरुषों के अत्याचारों से रक्षा और सम्मानपूर्ण जीवन व्यतीत करने हेतु सुविधा प्रदान करने की दृष्टि से यह आवश्यक है कि उन्हें विवाह-विच्छेद का अधिकार मिले। पुरुष व्यावहारिक रूप से यदाकदा अपनी पत्नी का परित्याग और स्वयं एक के बाद दूसरा और तीसरा विवाह करता रहा है। पुरुष की स्वेच्छाचारिता पर अंकुश लगाने के लिए स्त्री को भी विवाह विच्छेद का अधिकार मिलना चाहिए।

(३) सुखी वैवाहिक जीवन के लिए आवश्यक है कि स्त्री-पुरुषों को समान रूप से विवाह-विच्छेद का अधिकार प्राप्त हो। पति के क्रूर, दुश्चरित्र एवं भ्रष्टाचारी होने पर, पत्नी का जीवन दुःखमय बन जाता है, बालकों के व्यक्तित्व का स्वस्थ विकास नहीं हो पाता है। ऐसी स्थिति में पत्नी को अपने पति का परित्याग करने का अधिकार होना ही चाहिए। वर्तमान में संयुक्त परिवारों के स्थान पर केन्द्रीय परिवारों की संख्या बढ़ती जा रही है जिनमें पति-पत्नी और केवल उनके बच्चे ही पाए जाते हैं। संयुक्त परिवार में पति के निर्दयी, पथभ्रष्ट अथवा शराबी, जुआरी होने पर भी पत्नी तथा बालकों के जीवन पर बहुत बुरा प्रभाव नहीं पड़ता था क्योंकि उन्हें परिवार के अन्य सदस्यों का संरक्षण प्राप्त हो जाता था। लेकिन आज के एकाकी परिवारों में पति के दुराचारी या वैवाहिक दायित्व न निभाने पर, पत्नी तथा बच्चों को अन्य कोई सहारा नहीं मिल पाता है। ऐसी दशा में स्त्री को वैवाहिक सम्बन्ध समाप्त करने का अधिकार होना चाहिए।

(४) आज हिन्दू समाज में विवाह से सम्बन्धित अनेक समस्याएँ दिखाई पड़ती हैं, जैसे—बाल विवाह, अनमेल विवाह, दहेज प्रथा तथा विधवा-विवाह निषेध आदि। इन समस्याओं के निराकरण की दृष्टि से आवश्यक है कि वैवाहिक क्षेत्र में स्त्री-पुरुषों को समान अधिकार प्रदान किए जाएँ। हिन्दू विवाह से सम्बन्धित सामाजिक नियम एकांगी हैं जो पुरुष को विशेष अधिकार प्रदान करते हैं। आज ये नियम रूढ़ियों के रूप में परिवर्तित हो चुके हैं और हिन्दू सामाजिक जीवन को दूषित कर रहे हैं। पुरुष मनमाने ढंग से अपनी पत्नी पर अत्याचार कर सकता है, उसे वैवाहिक सुखों से वंचित रख सकता है। वह रखैल (Concubine) रख सकता है और अपनी पत्नी का परित्याग कर सकता है। ऐसी स्थिति में स्त्री को संरक्षण प्रदान करने और बेमेल विवाहों से छुटकारा दिलाने की दृष्टि से यह आवश्यक है कि उन्हें भी विवाह विच्छेद का अधिकार प्रदान किया जाए।

(५) स्त्रियों को वैदिक काल और उसके काफी समय पश्चात् तक विशेष परिस्थितियों में विवाह विच्छेद का अधिकार प्राप्त था। मध्य-युग में इन अधिकारों को नियन्त्रित किया गया, फलतः उनकी दशा दयनीय होती गई। यदि स्त्रियों को विवाह विच्छेद का अधिकार दिया जाता है, तो उससे भारतीय संस्कृति और परम्परा को कोई खतरा नहीं है, बल्कि इससे मौलिक संस्कृति-रक्षण में योग ही मिलेगा और मध्य-युग में प्रविष्ट अनेक बुराइयों से समाज को छुटकारा मिल सकेगा।

(६) आज के गतिशील समाज में सामाजिक जीवन में संतुलन बनाए रखने की दृष्टि

से विवाह-विच्छेद आवश्यक है। अब हिन्दू समाज को यथार्थ के धरातल पर आना चाहिए, वास्तविकताओं को स्वीकार करना चाहिए। आज स्त्रियाँ सभी क्षेत्रों में आगे बढ़ रही हैं, उन्हें सब प्रकार के अधिकार प्राप्त हैं। वे शिक्षा प्राप्त कर आर्थिक दृष्टि से कार्य भी करने लगी हैं, राजनीति में भी आगे आने लगी हैं। ऐसी दशा में सामाजिक क्षेत्र में उन्हें अधिकारों से वंचित रखना, वैवाहिक क्षेत्र में पुरुषों के समान अधिकार न देना न्याय-संगत नहीं होगा। आज की बदलती हुई परिस्थितियों में समाज को इस बात की मान्यता देनी होगी *कि यदि पुरुष स्त्री को छोड़ सकता है तो स्त्री भी पुरुष का परित्याग कर सकती है।* स्पष्ट है कि सामाजिक व्यवस्था में सन्तुलन बनाए रखने की दृष्टि से स्त्रियों को भी पुरुष के समान विवाह-विच्छेद का अधिकार प्राप्त होना ही चाहिए। मानवीय दृष्टिकोण से भी यह अत्यन्त आवश्यक है।

यहाँ हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि केवल कानून बना देने मात्र से सामाजिक समस्याएँ नहीं सुलझ जाती। इनके पीछे समाज और धर्म की स्वीकृति भी होनी चाहिए अन्यथा कानून केवल पुस्तकों की शोभा बन जाते हैं। आज कानून तो स्त्रियों को समान रूप से विवाह विच्छेद का अधिकार प्रदान करता है, परन्तु समाज और धर्म नहीं।

विवाह-विच्छेद के प्रति आधुनिक दृष्टिकोण
(Modern Attitude Towords Divorce)

मध्य युग में हिन्दू समाज में अनेक दोष उत्पन्न हो गए थे। स्त्रियों को विवाह विच्छेद के अधिकार से वंचित कर दिया गया तथा उनकी सामाजिक स्थिति दिन-पर-दिन गिरती गई। विवाह की अविच्छेदता के कारण स्त्रियों पर अनेक अत्याचार किये गए। चाहे पति व्यभिचारी, दुराचारी, लूला-लंगड़ा अथवा अन्धा ही क्यों न हो, पत्नी को उसे परमेश्वर-रूप में मानने के लिए विवश किया गया। चाहे पति कैसा ही क्यों न हो, पत्नी उससे विवाह-विच्छेद नहीं कर सकती थी। १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारत में सामाजिक प्रगति हुई, अनेक समाज-सुधारकों का ध्यान विवाह की अविच्छेदता से उत्पन्न दोषों की ओर गया। उन्होंने स्त्रियों की स्थिति सुधारने के लिए अनेक प्रयत्न किए। इस दिशा में महात्मा गाँधी के प्रयत्न प्रशंसनीय हैं। स्त्रियों ने उनके असहयोग आन्दोलन में सक्रिय भाग लिया तथा राष्ट्रीय जाग्रति के साथ-साथ उनमें अपनी स्थिति सुधारने की भावना का भी विकास हुआ। स्त्री शिक्षा के प्रसार और पाश्चात्य सभ्यता के सम्पर्क के फलस्वरूप स्त्रियों ने पुरुषों के समान अधिकार प्राप्त करने का पूर्ण प्रयास किया। उन्होंने विवाह-विच्छेद की कानूनी व्यवस्था के लिए माँग की। साथ ही अनेक समाज-सुधारकों ने विवाह-विच्छेद सम्बन्धी कानून बनवाने का प्रयत्न किया। सर्वप्रथम १९४२ ई० में बड़ौदा राज्य में और इसके पश्चात् १९४६ ई० में बम्बई राज्य में विवाह विच्छेद से सम्बन्धित अधिनियम पारित किये गए। इन अधिनियमों के आधार पर पति-पत्नी में से कोई भी विवाह विच्छेद की माँग कर सकता था। १९४९ ई० में मद्रास में तथा १९५२ ई० में सौराष्ट्र में भी इसी प्रकार के अधिनियम पारित करके विवाह-विच्छेद की अनुमति प्रदान की गई। १९५५ ई० में भारत सरकार ने हिन्दू विवाह अधिनियम पारित किया जिसके अनुसार स्त्री-पुरुषों को *समान रूप से विवाह-विच्छेद की आज्ञा* प्रदान की गई।

यद्यपि भारतवर्ष में विवाह-विच्छेद सम्बन्धी अधिनियम पारित हो चुका है तथापि हमें यह याद रखना चाहिए कि यहाँ ऐसे अधिकार-प्राप्ति के लिए जो आधुनिक माँग की गई, वह भारतीय दृष्टिकोण के सर्वथा विपरीत है, इसका जन्म पाश्चात्य शिक्षा एवं सभ्यता के

फलस्वरूप हुआ। आज भी अधिकांश हिन्दू विवाह-विच्छेद के पक्ष में नहीं हैं क्योंकि भारतीय समाज में सदियों से इसे कोई महत्त्व नहीं दिया गया। हिन्दुओं के, विवाह विच्छेद के पक्ष में नहीं होने का कारण बताते हुए कापडिया ने उचित ही लिखा है, "विवाह-विच्छेद का सिद्धान्त हिन्दुओं के सामाजिक ढांचे, जिसमें कि वे शताब्दियों से रहते आ रहे हैं, के लिए परकीय (पराया) है।"[6] इसके अतिरिक्त पुरुष यह नहीं चाहते कि उन्हें सदियों से जो अधिकार प्राप्त है, वह समान रूप से स्त्रियों को भी दिया जाए तथा स्त्री-पुरुषों की वैवाहिक स्थिति समान कर दी जाए। साथ ही हिन्दू यह भी सोचते हैं कि विवाह-विच्छेद की व्यवस्था होने से विवाह-संस्था नष्ट हो जाएगी, किन्तु यह मत उचित नहीं है।

समय तीव्र गति से बदलता जा रहा है, हिन्दुओं के दृष्टिकोण में परिवर्तन आ रहा है। बहुत-से हिन्दू सामाजिक प्रगति के लिए स्त्रियों की स्थिति सुधारना चाहते हैं तथा व विवाह-विच्छेद के अधिकार से सहमत हैं। कुछ रूढ़िवादी हिन्दू अन्धविश्वास के कारण विवाह-विच्छेद का विरोध अवश्य करते हैं। इस सम्बन्ध में डाक्टर चन्द्रकला हटे द्वारा किये गए सर्वेक्षण से ज्ञात होता है कि ४६८ स्त्रियों ने विवाह-विच्छेद के अधिनियम के पक्ष में और १६० ने इसके विपक्ष में विचार व्यक्त किये थे। श्री कापडिया द्वारा किये गए एक सर्वेक्षण से पता चलता है कि साक्षात्कार किये गए स्नातकों में से ५० प्रतिशत ने विवाह-विच्छेद के पक्ष में विचार व्यक्त किये, करीब २५ प्रतिशत ने इसे अनुचित समझा तथा १७ प्रतिशत ने इसे हानिकारक माना। कापडिया ने इस सर्वेक्षण के आधार पर कहा है कि अधिकांश स्नातक इस मत के हैं कि किसी उचित कारणवश विवाह-विच्छेद किया जा सकता है।

आज कुछ रूढ़िवादी हिन्दुओं को छोड़कर अन्य सभी यह अनुभव करने लगे हैं कि हिन्दू समाज में विवाह-विच्छेद नितान्त आवश्यक है। यदि किसी कारणवश पति-पत्नी सुखी वैवाहिक जीवन व्यतीत नहीं कर सकते, उनका एकसाथ रहना सम्भव न हो तो उन्हें एक-दूसरे से पृथक् होने का अधिकार अवश्य होना चाहिए। बहुत-से लोगों का यह भय कि विवाह-विच्छेद के अधिकार से हिन्दुओं की विवाह संस्था नष्ट हो जाएगी, निराधार है। भारतीय सांस्कृतिक परम्परा और इस देश में पारित विवाह-विच्छेद सम्बन्धी अधिनियम पर जब हम दृष्टि डालते हैं तो ज्ञात होता है कि यहां पाश्चात्य देशों की भांति विवाह विच्छेद का उतना दुरुपयोग नहीं हुआ है और न ही होने का भय है, लेकिन फिर भी विवाह विच्छेद के सम्बन्ध में कुछ सावधानी आवश्यक है। विवाह-विच्छेद के अधिकार का दुरुपयोग न हो, इसके लिए विवाह विच्छेद के पक्ष में स्वस्थ जनमत का निर्माण करना आवश्यक है। विवाह विच्छेद की स्थिति में स्त्रियों को कानून के द्वारा आर्थिक सुरक्षा प्रदान की जानी चाहिए अन्यथा उन्हें अनैतिक जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य होना पड़ सकता है। जहां तक सम्भव हो, स्त्रियों को आर्थिक दृष्टि से आत्म-निर्भर बनाया जाना चाहिए। तलाक-शुदा परिवारों के बालकों के उचित पालन-पोषण हेतु पूर्ण कानूनी व्यवस्था होनी चाहिए। उन्हें जहां तक सम्भव हो, माता के संरक्षण में रखा जाना चाहिए और पिता को खर्चा देना चाहिए। विवाह-विच्छेद अधिकार का

---

6 "The principle of divorce is alien to the social pattern in which Hindus have been living for centuries." K. M. Kapadia, op. cit., p. 180.

उपयोग करने के पूर्व पति-पत्नी के वैवाहिक जीवन मे सामन्जस्य स्थापित कराने और उन्हें पुन सुखी वैवाहिक जीवन व्यतीत करने के लिए मार्ग-प्रदर्शन करने हेतु 'विवाह और परिवार से सम्बन्धित सलाहकार समितियो' की स्थापना करनी चाहिए ।

हिन्दू विवाह अधिनियम, १९५५
(The Hindu Marriage Act, 1955)

सन् १९५५ मे हिन्दू विवाह अधिनियम पारित किया गया । जम्मू और कश्मीर को छोडकर यह अधिनियम १८ मई, १९५५ को सारे भारतवर्ष मे लागू कर दिया गया । इस अधिनियम मे 'हिन्दुओ' के अन्तर्गत हिन्दुओ के साथ साथ जैन, बौद्ध तथा सिक्ख लोगो को भी सम्मिलित किया गया है । इस अधिनियम के द्वारा हिन्दू विवाह सम्बन्धी सभी कानून समाप्त कर दिये गए है । यह अनुसूचित जातियो पर लागू नही है । इस अधिनियम के अनुसार कुछ विशेष परिस्थितियो मे न्यायिक पृथक्करण की व्यवस्था की गई है और धारा १३ के अधीन स्त्री-पुरुषो को अदालत द्वारा विवाह-विच्छेद की माग करने का अधिकार दिया गया है । हिन्दू विवाह अधिनियम, १९५५ को २७ मई, १९७६ को सशोधित किया गया जिसकी धारा १३ के अन्तर्गत निम्नलिखित आधारो पर विवाह-विच्छेद की माँग की जा सकती है—

(१) प्रार्थी ने दूसरे पक्ष को पिछले दो वर्ष से छोड रखा हो या उसका परित्याग कर दिया हो ।

(२) प्रार्थी के साथ दूसरे पक्ष द्वारा क्रूरतापूर्ण व्यवहार किया गया हो ।

(३) पति-पत्नी मे से किसी ने भी एक-दूसरे के अतिरिक्त किसी अन्य के साथ स्वेच्छा से यौन समागम (Sexual inter-course) किया हो ।

(४) दूसरा पक्ष पागल हो और जिसका इलाज न हो सके ।

(५) दूसरा पक्ष धर्म-परिवर्तन के कारण हिन्दू नही रहा हो।

(६) दूसरा पक्ष असाध्य कुष्ठ रोग या सक्रामक यौन-सम्बन्धी रोग से पीडित हो ।

(७) दूसरे-पक्ष ने ससार त्याग दिया हो और सन्यासी बन गया हो ।

(८) दूसरे पक्ष के जीवित होने की कोई सूचना पिछले सात वर्ष से नही मिली हो ।

(९) दूसरे पक्ष ने न्यायिक-पृथक्करण की राजाज्ञा प्राप्त होने के पश्चात् पिछले एक वर्ष या अधिक समय से इसका पालन नही किया हो और पृथक् रहता हो ।

(१०) दूसरे पक्ष ने वैवाहिक अधिकारो के प्रत्यास्थापन (Restitution of Conjugal Rignts) की राजाज्ञा का पालन एक वर्ष या इससे अधिक अवधि के भीतर नही किया हो ।

उपर्युक्त आधारो के अतिरिक्त स्त्रियो को चार अन्य आधारो पर भी तलाक के लिए प्रार्थना पत्र देने की आज्ञा दी गई है । वे ये हैं—

(१) यदि इस अधिनियम के लागू होने के पहले किसी व्यक्ति ने दूसरी शादी कर ली है तथा उसकी पहली स्त्री जीवित है, तो पत्नी को तलाक देने का अधिकार है ।

(२) यदि विवाह के पश्चात् पति बलात्कार, गुदा मैथुन या पशुता का अपराधी हो तो स्त्री उसे तलाक दे सकती है।

(३) यदि पत्नी द्वारा भरण-पोषण की राशि प्राप्त करने की राजाज्ञा का पालन पति के द्वारा नहीं किया गया हो, तो स्त्री अपने पति को तलाक दे सकती है।

(४) हिन्दू विवाह अधिनियम, १९५५ (संशोधित रूप में १९७६) के द्वारा पत्नी को वयस्कता के विकल्प का अधिकार (Option of Puberty) दिया गया है। इसके अन्तर्गत यदि विवाह के समय लड़की की आयु १५ वर्ष से कम है तो वह १८ वर्ष की आयु प्राप्त करने के पूर्व तक विवाह की समाप्ति के लिये अदालत में प्रार्थना-पत्र दे सकती है।

संशोधित रूप मे हिन्दू विवाह अधिनियम, १९५५ मे धारा १३ (ब) मे एक अत्यन्त महत्वपूर्ण नवीन प्रावधान यह रखा गया है कि अब पति-पत्नी पारस्परिक सहमति (Mutual Consent) के आधार पर विवाह-विच्छेद कर सकते है। यदि वे पिछले एक वर्ष या अधिक समय से पृथक् रहते हो और यह महसूस करते हो कि उनका साथ-साथ रहना सम्भव नहीं है तथा यदि वे पारस्परिक रूप से विवाह को समाप्त करने के लिए सहमत हों तो इस आधार पर विवाह-विच्छेद हो सकता है।

उपर्युक्त अधिनियम के अन्तर्गत अदालत उपरोक्त आधारों मे से किसी भी आधार पर प्रार्थी को न्यायिक पृथक्करण की अथवा विवाह-विच्छेद की राजाज्ञा प्रदान कर सकती है।

हिन्दू विवाह अधिनियम, १९५५ के द्वारा भारतवर्ष मे विवाह-विच्छेद की व्यवस्था अवश्य कर दी गई है, परन्तु इस व्यवस्था के होने से हमे यह नहीं सोचना चाहिए कि अब विवाह-विच्छेद बिलकुल आसान कार्य हो गया है और पति-पत्नी कभी भी एक-दूसरे को तलाक दे सकते हैं। साथ ही यह भी निराधार है कि इस अधिनियम से विवाह संस्था का महत्व कम हो गया है। बहुत से लोग तो यहाँ तक सोचते हैं कि विवाह-विच्छेद सम्बन्धी अधिकार मिलने से विवाह की संस्था नष्ट हो जाएगी और समाज मे अव्यवस्था फैल जाएगी, परन्तु यह केवल उनका भ्रममात्र है। इस अधिनियम द्वारा पुरुषों की स्वेच्छाचारिता पर कुछ प्रतिबन्ध अवश्य लगाए गए हैं, परन्तु साथ ही इससे समाज के बहुत-से विकार दूर भी हो जाएँगे। कापडिया ने उचित ही लिखा है, "साधारणतः तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि यदि कानून को विवाह संस्कार मे हस्तक्षेप करने दिया गया तो विवाह संस्था नष्ट हो जायेगी। यह भय तर्क रहित एवं निराधार है। अगर विवाह-विच्छेद का तात्पर्य विवाह संस्था का विनाश है, तो यह बात स्पष्ट है कि स्त्रियो पर प्रतिबन्ध लगाकर यह विनाश केवल कृत्रिम रूप से रोका गया है। यह सिद्धान्त निराधार है, क्योंकि यह इस सत्य की अवहेलना करता है कि स्वयं कानून, समाज के लोगो की इच्छा के अभाव मे, एक समुदाय के सामाजिक आदर्शों को परिवर्तित नहीं कर सकता।"[7]

---

7 "It is generally argued that if legislation is allowed to interfere with the sacrament of marriage, the institution of marriage will break-down This fear is unreasonable and unfounded If divorce means the collapse of the institution of marriage, it is evident that collapse is only artificially checked by the imposition of restrictions on women The theory is unfounded because it ignores the fact that legislation itself, in the absence of preparedness in the social milieu, cannot

हिन्दू विवाह अधिनियम द्वारा इस देश के स्त्री पुरुषों को विवाह-विच्छेद का अधिकार अवश्य दिया गया है, परन्तु साथ ही इसमें यह प्रयत्न भी किया गया है कि विवाह-विच्छेद के कम से कम अवसर प्रदान किए जाएँ, परन्तु हिन्दू विवाह अधिनियम, १९५५ में मई, १९७६ में जो संशोधन किये गये हैं, उनके अनुसार विवाह विच्छेद की प्रक्रिया को पहले की तुलना में कुछ सरल कर दिया गया है। अब पारस्परिक सहमति के आधार पर भी विवाह-विच्छेद हो सकता है। धारा १४ में कहा गया है कि कोई भी न्यायालय विवाह-विच्छेद का प्रार्थना-पत्र तब तक स्वीकार नहीं करेगा, जब तक कि विवाह की तिथि से प्रार्थना-पत्र देने की तिथि तक एक वर्ष न हो गया हो। पहले यह अवधि तीन वर्ष थी। धारा १५ के अनुसार विवाह-विच्छेद करने वाला व्यक्ति तब तक दूसरा विवाह नहीं कर सकता था जब तक कि विवाह-विच्छेद की आज्ञा या उसके लिए दिए गए प्रार्थना-पत्र को रद्द हुए एक वर्ष व्यतीत न हो गया हो। परन्तु अब विवाह-विच्छेद की राजाज्ञा प्राप्त होने के बाद कभी भी दूसरा विवाह किया जा सकता है, विवाह-विच्छेद के तुरन्त बाद भी।

इस अधिनियम में यह भी व्यवस्था है कि विवाह-विच्छेद करने वाला पति अपनी पत्नी को जीवन निर्वाह के लिए प्रति मास या कुछ निश्चित अवधि के पश्चात्, कुछ धन देगा। यह धन पति, पत्नी को उस समय तक देता रहेगा जब तक कि वह दूसरा विवाह नहीं करती और सच्चरित्र रहती है।

संशोधित रूप में हिन्दू विवाह अधिनियम, १९५५ की विभिन्न धाराओं से स्पष्ट है कि सापेक्ष रूप से अब विवाह-विच्छेद कुछ सरल अवश्य हो गया है। परन्तु हम यह नहीं मान लेना चाहिए कि इस देश में अब तलाक तीव्र गति से होने लगेंगे और विवाह की संस्था का महत्त्व कम हो जायेगा। जब तक हिन्दू समाज के सामाजिक आदर्श विवाह-विच्छेद के पक्ष में परिवर्तित नहीं होते, तब तक हिन्दू विवाह अधिनियम के प्रावधानों का लाभ उठाकर इच्छानुसार कभी भी तलाक दिये जाने का प्रश्न ही नहीं उठता। इस अधिनियम के कारण विवाह का महत्त्व कम नहीं हुआ है, वरन् विवाह से सबंधित अनेक विकार धीरे-धीरे समाज से दूर होते जा रहे हैं। इस अधिनियम के संबंध में डा० कापडिया ने लिखा है, "यह भय कि हिन्दू विवाह अधिनियम, १९५५ विवाह-विच्छेद को आसान बना देता है, तथा परिणामस्वरूप विवाह का कम महत्व देता है, प्रत्यक्ष रूप से अतिशयोक्तिपूर्ण है।"[8] वर्तमान में वास्तविकता यह है कि अब विवाह-विच्छेद के आधार और प्रक्रिया पहले की तुलना में कुछ सरल अवश्य हो गये हैं। परन्तु अभी यह देखना शेष है कि इस अधिनियम का कहाँ तक सदुपयोग या दुरुपयोग होता है।

विवाह-विच्छेद का समर्थन करते समय अधिकतर लोग अपनी अन्तरात्मा की सही आवाज प्रकट नहीं करते। प्रगतिशीलता के नाम पर सर्वेक्षणों में लोग विवाह-विच्छेद के पक्ष में राय अवश्य देते हैं, परन्तु मन से इसे स्वीकार नहीं करते। उनके कहने और करने में अन्तर पाया जाता है। ऐसी दशा में विवाह-विच्छेद पर समाज के हित की दृष्टि से

8 "The apprehension that the legislation makes divorce easy and consequently treats marriage lightly is obviously an exaggerated one" K. M. Kapadia, Ibid, P. 180

भी विचार किया जाना चाहिए। डा० ए० एस० अल्तेकर ने कहा है कि इसमें कोई सन्देह नही कि समाज का सर्वाधिक हित इसी मे है कि विवाह-बन्धन को साधारणतः स्थायी और अविच्छेद माना जाए। यह केवल तभी सम्भव है जब विवाह का आदर्श बहुत ऊंचा हो। पति पत्नी दोनो को आत्म-नियन्त्रित और उत्तरदायित्व के उच्च भाव को अपने मे विकसित करना होगा। उन्हे यह अनुभव करना होगा कि मानव प्रकृति जो कुछ भी है, वह है, स्वभावगत मतभेद दैनिक जीवन मे यदाकदा अवश्य उत्पन्न होंगे। विवाह विच्छेद और दूसरे विवाह द्वारा उनसे छुटकारा भी प्राप्त नही किया जा सकता। पारिवारिक जीवन मे सुख-शान्ति केवल उसी समय सम्भव है जब पति और पत्नी एक-दूसरे से अनुकूलन करने के लिए महान् त्याग करने को तैयार हो। विवाह-विच्छेद बहुत ही अपवाद स्वरूप मामलो मे अन्तिम उपचार (Last Remedy) होना चाहिए।[9] अन्त मे यह कहा जा सकता है कि वैवाहिक जीवन मे अनुकूलन के महत्त्व को स्वीकार किया जाना चाहिए। पारिवारिक जीवन मे समस्याएं अवश्य उत्पन्न होती हैं, वाद-विवाद भी उठ खडे होते हैं, पति-पत्नी मे से कभी किसी के द्वारा एक-दूसरे के प्रति उपेक्षा का भाव भी अपनाया जा सकता है, कोई त्रुटि भी की जा सकती है। ऐसी दशा मे एक-दूसरे की गलतियो और कमियो को बढा-चढा कर देखने की प्रवृत्ति नही होनी चाहिए, बल्कि उदारता और त्याग की प्रवृत्ति होनी चाहिए। जहा पति-पत्नी का साथ रहकर सुखी वैवाहिक जीवन असम्भव हो गया हो, केवल वही विवाह-विच्छेद को अन्तिम उपचार के रूप मे चुनना चाहिए।

अन्तर्जातीय विवाह पर प्रतिबन्ध
(Restrictions on Inter-caste Marriage)

वैदिक काल मे अन्तर-वर्ण विवाह प्रचलित थे। सब द्विजो (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) का एक वैवाहिक समूह था। उनमे आपस मे विवाह हो सकते थे क्योकि द्विजों मे प्रजातीय तथा सास्कृतिक दृष्टिकोण से समानता थी। आठवी शताब्दी तक अन्तर्जातीय विवाह पर कोई प्रतिबन्ध नही थे, परन्तु इसके पश्चात् अनेक कारणों से ये विवाह धीरे-धीरे समाप्त हो गए। डा० घुरिये ने कहा है कि अन्तर्जातीय विवाह पर प्रतिबन्ध का मुख्य कारण रक्त की पवित्रता बनाए रखने की इच्छा, वैदिक सस्कृति को स्थायित्व प्रदान करने का प्रयास तथा ब्राह्मणो की श्रेष्ठता को स्थिर बनाए रखने की भावना ही है।[10] परन्तु वास्तव मे इस प्रतिबन्ध का मुख्य कारण यह है कि ब्राह्मणो की श्रेष्ठता को स्थिर बनाये रखने के दृष्टिकोण से वैदिक काल मे जिस अनुलोम-विवाह की नीति अपनाई गई, उसी ने दसवी शताब्दी मे अन्तर्विवाह का रूप ग्रहण कर लिया। यदि अन्तर्जातीय विवाह पर प्रतिबन्ध का कारण रक्त शुद्धता और वैदिक सस्कृति को स्थिर बनाए रखन का प्रयत्न ही होता तो ब्राह्मणो तथा अन्य उच्च वर्णो के लोगो को शूद्र कन्याओ के साथ विवाह की आज्ञा नही दी जाती। दसवी शताब्दी के पश्चात् अपनी जाति अथवा उपजाति के बाहर विवाह करना अपराध माना जाने लगा, ऐसे विवाहो को घृणा की दृष्टि से देखा जाने लगा।

---

9 A S Altekar, op cit, pp 88 89

10, G S Churye, "Caste, Class and Occupation," pp 174 175

अन्तर्जातीय विवाहो पर अनेक कारणो से नियन्त्रण लगाए गए। देश मे अनेक प्रजाति के लोगो के होने और उनमे सास्कृतिक असमानता पाए जाने से अन्तर्जातीय विवाहो पर प्रतिबन्ध लगने लगे। अपनी उन्नत सामाजिक स्थिति बनाए रखने के लिए उच्च जातियो के लोग अपनी अपनी जाति मे ही विवाह करने लगे और इस प्रकार *अन्तर्विवाह के नियम का पालन किया जाने लगा।* मुसलमानो के आगमन से देश मे जाति-व्यवस्था और भी अधिक दृढ हो गई क्योकि हिन्दू मुसलमानो के धार्मिक और सास्कृतिक प्रभाव से अपने आपको मुक्त रखना चाहते थे। धर्मशास्त्रो ने अपनी जाति मे विवाह करना ही उत्तम एव आवश्यक बताया। इन सब कारणो से जाति-अन्तर्विवाह (Caste Endogamy) का नियम कठोर हो गया और सभी हिन्दू अनिवार्य रूप से अपनी जाति मे ही विवाह करने लगे। धीरे-धीरे प्रत्येक जाति अनेक उपजातियो मे विभक्त हो गई और तब अपनी उपजाति मे ही विवाह करना आवश्यक हो गया। इस प्रकार, अन्तर्जातीय विवाह पर प्रतिबन्ध के कारण आज विवाह का क्षेत्र अत्यधिक सकुचित हो गया है।

अग्रेजी राज्य की स्थापना के पश्चात् देश की परिस्थितियाँ बदली, अनेक सामाजिक परिवर्तन तीव्र गति से होने लगे। परिणाम यह हुआ कि अनेक कारको के सयुक्त प्रभाव के फलस्वरूप, अन्तर्जातीय विवाह मे प्रतिबन्ध शिथिल पडने लगे और कुछ लोग अपनी जाति अथवा उपजाति के बाहर वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने लगे। यहाँ उन कारणो का वर्णन किया जा रहा है जिन्होने अन्तर्जातीय विवाहो को प्रोत्साहन दिया है।

अन्तर्जातीय विवाहो को प्रोत्साहन देने वाले कारक या अन्तर्जातीय विवाह कैसे ? (Factors Promoting Inter-Caste Marriage)

१ पाश्चात्य शिक्षा (Western Education)—पाश्चात्य शिक्षा के कारण देश मे पाश्चात्य सामाजिक मूल्यो का काफी मात्रा मे प्रचार हुआ, परिणामस्वरूप लोग अनेक अन्धविश्वासो से मुक्त हुए और सास्कृतिक समानता उत्पन्न हो सकी। विभिन्न समूह एक-दूसरे के और निकट आए और अन्तर्जातीय विवाहो के लिए उचित वातावरण तैयार हो सका।

२ सह-शिक्षा (Co-education)—सह-शिक्षा बढने से युवक-युवतियो को एक-दूसरे के सम्पर्क मे आने तथा एक-दूसरे को समझने के अधिक अवसर प्राप्त होने लगे हैं। वे जातीय बन्धन को अनुचित समझने लगे है। डा० घुरिये ने उचित ही लिखा है, "मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि सह-शिक्षा, युवक-युवतियो को एक-दूसरे के निकट लाने और उनके यौन-सम्बन्धी नैतिक पतन से उनकी रक्षा करने का सर्वोत्तम साधन है। उनका उत्साह जाति के कृत्रिम बन्धन को तोडने मे निश्चय ही सफल होगा।"[11]

३ छापाखाना तथा यातायात के साधन (Press & Means of Transport)—यातायात-साधनों के बढने से भौगोलिक पृथकता समाप्त हो चुकी है और सामाजिक

---

11 "It appears to me that co-education at all stages of instruction is the best method of bringing together young people of opposite sex, apart from its being the best prophylactic for sex morals The enthusiasm of youth will surely transcend the artificial bounds of caste" G S Ghurye, "Caste and Class in India", 1957, p 236

गतिशीलता काफी बढ गई है। सामाजिक गतिशीलता के बढने से लोग एक-दूसरे के अधिक निकट आने लगे है और सास्कृतिक असमानता समाप्त होती जा रही है। इसके अतिरिक्त छापाखाने न मासिक पत्रिकाओ, समाचार पत्रो एव पुस्तको द्वारा एक-दूसरे का समझने और जातीय भेदभाव दूर करने मे और भी अधिक योग दिया है।

४ औद्योगीकरण और नगरीय सस्कृति (Industrialization & Urban Culture)—औद्योगीकरण के कारण बहुत से उद्योग-धन्धो का विकास हुआ और विशाल नगर बनने लोगो इन नगरो म कई जातियो के लोग साथ-साथ रहने तथा काम करने लगे। जाति के कठोर बन्धनो से मुक्त होकर यहाँ वे स्वच्छन्दता का अनुभव करने लगे। एकसाथ रहने और काम करने से उनम धर्म तथा जाति के प्रति निरपेक्षता का विकास हुआ तथा जातीय भेदभाव समाप्त होने लगा और अन्तर्जातीय विवाहो को प्रोत्साहन मिला।

५ विज्ञान का प्रभाव (Impact of Science)—शिक्षा-प्रसार के साथ-साथ विज्ञान का प्रभाव भी बढता गया। विज्ञान ने धार्मिक विश्वासो के मूल आधार को प्रभावित किया। लोग यह समझने लगे कि कोई भी प्रजाति 'शुद्ध' नही है और जातीय ऊँच-नीच का भेदभाव पूर्णत निरर्थक है। इस ज्ञान के बढने से लोगो को ज्ञात हुआ कि अन्तर्जातीय विवाह किसी प्रकार से भी हानिकारक नही हैं और ऐसे विवाह होने लग।

६. समानता के सिद्धान्त का महत्व (Importance of the Principle of Equality)—प्रजातान्त्रिक विचारो के प्रसार तथा शिक्षा के बढने से समानता की धारणा पनपने लगी। पारस्परिक धार्मिक भेदभाव और जाति के आधार पर ऊँच नीच की भावना धीरे-धीरे समाप्त होने लगी और अन्तर्जातीय विवाहो को प्रोत्साहन मिला।

७ राष्ट्रीय आन्दोलन (National Movement)—महात्मा गाँधी के नेतृत्व मे स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए देश मे महान् राष्ट्रीय आन्दोलन हुआ जिसमे विभिन्न जातियो के लाखो व्यक्तियो ने भाग लिया। आन्दोलन मे भाग लेने, जेल म साथ रहने तथा कार्य करने से उनमे भातृ भाव की जागृति हुई जिसने अन्तर्जातीय विवाहो को प्रोत्साहन दिया।

८ महिला आन्दोलन (Women Movement)—स्त्री शिक्षा बढने से महिलाओ मे काफी जागृति हो चुकी है। उन्होंने पुरुषो के समान राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक अधिकार प्राप्त कर लिए हैं। अपने जीवन-साथी के चुनाव मे वे पहले से अधिक स्वतन्त्र हैं और उन पर लगाए गए प्रतिबन्ध समाप्त होते जा रहे है और उनका झुकाव अन्तर्जातीय विवाह की ओर होता जा रहा है।

९ ब्रह्म समाज और आर्य समाज का प्रभाव (Impact of Brahma Samaj and Arya Samaj)—ब्रह्म समाज तथा आर्य समाज ने जाति पाँति और छुआछूत के भेदभाव को दूर करने का भरसक प्रयत्न किया, वे अपने प्रयत्नो मे बहुत अधिक सफल भी रह। साथ ही इन समाजो ने स्त्रियो की स्थिति को सुधारने मे भी काफी योग दिया। ये दोनो समाज सदैव अन्तर्जातीय विवाह के पक्ष मे रहे है।

१० वर मूल्य प्रथा (Bridegroom Price)—वर-मूल्य प्रथा इतनी बढ चुकी है कि अधिकाश माता पिता दहेज जुटाने मे असमर्थ रहते हैं। अत्यधिक दहेज प्रथा से लडके-लडकियो का विवाह काफी आयु तक नही हो पाता और ऐसी दशा मे उन्हे स्वय अपने विवाह के विषय मे निर्णय करने का अवसर मिल जाता है। वे जातीय बन्धनो की चिन्ता न करते हुए दहेज की कुप्रथा स छुटकारा पाने के लिए अन्तर्जातीय विवाह कर लेते हैं। कभी-कभी दहेज से बचने के लिए माता पिता भी ऐसे विवाह की अनुमति दे देत है।

११ रोमान्स पर आधारित प्रेमविवाह (Love Marriages based on Romance)—वर्तमान युग मे सह-शिक्षा, सामाजिक गतिशीलता, अधिकार और साथ-साथ काम करने की सुविधाओं ने युवक-युवतियों को एक-दूसरे के अधिक निकट ला दिया है और रोमान्स बढता जा रहा है। परिणामस्वरूप, प्रेम विवाह अधिक होने लगे हैं और प्रेम विवाह मे जातीय बन्धन बाधा के रूप मे उपस्थित नही हो पाते। इससे अन्तर्जातीय विवाह को प्रोत्साहन मिल रहा है।

१२ वैधानिक सुविधाएँ (Legal Facilities)—अन्तर्जातीय विवाह को वर्तमान समय में कानून की तरफ से भी काफी प्रोत्साहन मिला है। सन् १८७२ ई० मे 'विशेष विवाह अधिनियम' पास हुआ और सन् १९२३ मे इसमे सशोधन हुआ। इस कानून से हिन्दू, बौद्ध, सिक्ख तथा जैनो मे अन्तर्जातीय विवाह वैध हो गए। सन् १९४९ ई० मे 'हिन्दू विवाह मान्यता अधिनियम" द्वारा उन सब विवाहो को मान्यता प्रदान की गई जो भिन्न धर्म, जातियो या उपजातियो के सदस्यो के बीच होते हैं। अब यह अनिवार्य नहीं है कि विवाह करने वाले एक ही जाति या धर्म के हों। सन् १९५५ ई० मे "हिन्दू विवाह अधिनियम' पारित हुआ जिसके अन्तर्गत अन्तर्जातीय विवाह को मान्यता प्रदान की गई।

अन्तर्जातीय विवाह से लाभ या अन्तर्जातीय विवाह क्यो ?
(Merits of Inter-caste Marriage)

अन्तर्जातीय विवाह की आवश्यकता को व्यक्त करते हुए डा० घुरिये ने लिखा है, "विभिन्न सम्बन्धो को दृढ करने और राष्ट्रीयताओ के पोषण के लिए अन्तर्जातीय विवाह द्वारा रक्त का एकीभाव एक प्रभावशाली साधन है।"[12] डा० घुरिये के इस मत की पुष्टि अन्तर्जातीय विवाह के निम्नलिखित लाभो से होती है—

१ जातिवाद को दूर करने मे सहायक (Helpful in Eradicating Casteism) :

आज समाज मे जातिवाद के अनेक दोष दिखलाई पडते है और उनसे मुक्त होने के लिए जातिवाद की समस्या को सुलझाना अत्यन्त आवश्यक है। जातिवाद की समस्या अन्तर्जातीय विवाह को प्रोत्साहन देकर सुगमतापूर्वक सुलझाई जा सकती है। डा० घुरिये ने जातिवाद को दूर करने के लिए अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा है कि अगर विभिन्न जाति के लडके और लडकियो को अन्तर्जातीय विवाह के द्वारा एक-दूसरे के निकट आने का अवसर दिया जाएगा तो जाति-प्रथा उपेक्षित होगी और जातिवाद के विरोध मे क्रियात्मक आवाज उठने लगेगी क्योंकि वे व्यक्ति जो जाति के बन्धनो को तोड कर विवाह करते हैं, केवल जाति विहीन वातावरण की ही सृष्टि नहीं करेंगे बल्कि एक ऐसी पीढी का पोषण भी करेंगे जो जाति-प्रथा की अधिक कट्टर विरोधी होगी।"[13]

---

12 "Fusion of blood through inter-marriage has been found to be an effective method of cementing alliances and nurturing nationalities," G S Ghurye, op cit, p 321

13 "Thus while caste would be ignored and caste-patriotism actively denounced, the people who marry without reference to caste would not only create a casteless atmosphere for the management of civic affairs but would rear up a generation which would be still more hostile to caste" G S Ghurye op cit, p 236

२. सामाजिक और राष्ट्रीय एकता (Social and National Unity) :

भारतीय समाज भाषा, धर्म, जाति एवं पेशो के आधार पर कई समूहो मे बटा हुआ है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी जाति या अपने समूह के हित की दृष्टि से सोचता है और उसमे साधारणत सामाजिक एकता और राष्ट्रीयता की भावना नही दिखाई पड़ती। विभिन्न समूहों या जातियो मे आज काफी कटुता दिखाई पड़ती है जो सामाजिक और राष्ट्रीय एकता के लिए बाधक है। अन्तर्जातीय विवाहो के प्रचलन से जातीय आधार पर पाई जाने वाली कटुता अपने-आप दूर हो जाएगी। डासन और गेटिस ने उचित ही लिखा है, "एक आन्तरिक एकता, समूह के सदस्यो म अपनेपन की भावना, सामान्य संस्कृति और एक सामान्य जीवन मे भागीदार होने की भावना राष्ट्रीयता के प्रमुख लक्षण हैं।"[14] राष्ट्रीयता के इन सभी लक्षणो का अन्तर्जातीय विवाह के द्वारा विकास होगा और देश मे सामाजिक और राजनैतिक दृष्टि से अधिक दृढता आएगी। यही कारण है कि हमारे राष्ट्रीय नेता अन्तर्जातीय विवाह को प्रोत्साहित करने के प्रयत्न करते रहे हैं।

३ वर-मूल्य प्रथा समाप्त करने मे सहायक (Helpful in Checking Bride-groom's price)

अन्तर्जातीय विवाहों के बढने से वर-मूल्य या दहेज-प्रथा धीरे-धीरे अपने-आप समाप्त हो जाएगी। दहेज प्रथा उन्हीं जातियों मे अधिक प्रचलित हो पाती है जिनमे जीवन साथी चुनने का क्षेत्र सीमित होता है और योग्य वर प्राप्त नही हो पाते। अन्तर्जातीय विवाहो के होने से विवाह का जातीय और उपजातीय सीमा-क्षेत्र काफी विस्तृत हो जाएगा और जीवन-साथी के चुनाव मे अधिक सुविधा होगी।

४. उत्तम वंशानुसंक्रमण (Better Heredity)

अन्तर्विवाह के नियमो से बाधित होकर एक बहुत ही सीमित समूह मे विवाह करने से वंशानुसंक्रमण के गुणों मे कमी आती रहती है और उत्तम सन्तानें कम होती जाती हैं। अन्तर्जातीय विवाह बढने से बाहरी परिवारों से उत्तम वाहकाणु प्राप्त हो सकेंगे और सन्तानें भी अधिक उत्तम होंगी।

५. विधवा-विवाह की समस्या का समाधान (A solution of the Problem of Widow-marriage)

अन्तर्विवाह के बन्धनों के कारण अभी तक समाज मे जीवन साथी के चुनाव का क्षेत्र बहुत सीमित है और इसी कारण दहेज प्रथा भी पाई जाती है। जब कन्याओं के लिए योग्य वरों का मिलना कठिन है, तो विधवाओं के लिए वरों का मिलना तो और भी कठिन है। परन्तु अन्तर्जातीय विवाहों से जातीय प्रतिबन्ध समाप्त हो जाएगे, विधवा-विवाह के मार्ग मे जो बाधाएँ हैं वे मिट जाएँगी और विधवाओं को विवाह करने के अवसर प्राप्त होंगे।

---

14 "Nationalities are characterised by an internal cohesiveness, a sense of belonging together on the part of the members of the group and a feeling of being sharers in a common culture and a common way of life." C. A Dawson and W. E Gettys, "An Introduction to Society", P 315.

(६) जनसंख्या की समस्या का समाधान (A solution of Population Problem) :

वर्तमान समय मे भारत की बढती हुई जनसख्या की समस्या का एक मुख्य कारण बाल-विवाह या कम आयु मे विवाह है। अन्तर्जातीय विवाह होने से ऐसे विवाह कम हो जाएँगे और जनसख्या की समस्या हल हो सकेगी।

अन्तर्जातीय विवाहो के औचित्य के इन कारणो के अतिरिक्त कुछ अन्य सामान्य कारण भी हैं। अन्तर्जातीय विवाहो के होने से वर और वधू के चुनाव का क्षेत्र विस्तृत हो जाएगा। इस चुनाव क्षेत्र के विस्तृत होने से बेमेल विवाहों का अन्त हो जाएगा और अनेक सामाजिक समस्याएँ स्वतः ही समाप्त हो जाएँगी। इसके साथ-साथ लड़कियों के सम्मान की वृद्धि होगी। वर्तमान हिन्दू समाज मे कन्याओ को एक अभिशाप समझा जाता है क्योंकि उनके लिए योग्य वर प्राप्त करने की कठिन समस्या माता-पिता के सामने रहती है। यदि अन्तर्जातीय विवाह होने लगे तो उनको भार नही समझा जाएगा तथा उनके सम्मान की वृद्धि होगी। ऐसे विवाहो से समाज का नैतिक स्तर ऊँचा उठेगा। वर-वधू के चुनाव क्षेत्र के सीमित होने से उच्च जातियो मे वर-मूल्य प्रथा तथा निम्न जातियो मे वधू मूल्य प्रथा पाई जाती है। इन कुप्रथाओ के कारण अनेक स्त्री-पुरुष अविवाहित रह जाते हैं। ये अविवाहित स्त्री-पुरुष अपनी काम वासना की तृप्ति के लिए अवैध यौन-सम्बन्ध स्थापित करते हैं और समाज का नैतिक स्तर गिरता है। इस प्रकार की अनैतिकता को अन्तर्जातीय विवाह के द्वारा दूर करना समाज-हित मे आवश्यक है।

यदि आलोचनात्मक दृष्टि से अन्तर्जातीय विवाहो पर विचार करें तो ज्ञात होगा कि इसकी एक दो बुराइयाँ भी हैं, जैसे—दम्पत्ति का अपने समाज एव जाति से कट जाना और इनसे सम्बन्धित समूह के लोगो द्वारा किसी भी प्रकार की कोई सहायता नही मिलना आदि। किन्तु जहाँ अन्तर्जातीय विवाह करने वाले लोग अपनी सुदृढ आर्थिक स्थिति एव कानून के द्वारा इन बुराइयो का मुकाबला कर सकते हैं वहाँ ऐसे विवाहो के लाभ अनेक हैं जिनका वर्णन किया जा चुका है। इस सम्बन्ध मे श्री जेम्स ब्राइस ने लिखा है कि जहाँ मनुष्य भाषा, धर्म अथवा प्रजाति या व्यवसाय के आधार पर जातीय विभेदो द्वारा विभक्त हैं, वहाँ पारस्परिक अविश्वास और घृणा पनपने के आधार हैं जो उन्हे एक साथ मिलकर काम करने या एक-दूसरे के समान अधिकारो का ध्यान रखना कठिन बना देते है। एकरूपता (Homogeneity) चाहे वर्ग युद्धो को नही टाल सकें, परन्तु प्रत्येक समुदाय को दूसरो को समझने मे मदद करती है और एक राष्ट्र मे एक सामान्य मत के निर्माण मे योग देती है।[15] इस प्रकार, अन्तर्जातीय विवाह न केवल समाज के बल्कि राष्ट्र की एकता एव जन-जीवन मे सामाजिक चेतना प्रज्वलित करने की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण योग देगा।

आज से तीस-पैंतीस वर्ष पहले अन्तर्जातीय विवाह बहुत थोडे होते थे। अपनी जाति के बाहर विवाह करने वालो को वास्तव मे अनेक कठिनाइयो का सामना करना पडता था। वर्तमान समय में ऐसे विवाह करने वाले लोगो की कठिनाइयाँ बहुत ही कम हो गई हैं। स्त्री-पुरुषो मे उच्च शिक्षा के प्रसार से युवापीढी मे अन्तर्जातीय विवाहो के प्रति रुचि

---

15. James Bryce, "Modern Democracies", Vol I, P. 98.

बढ़ती जा रही है, उसका समर्थन ऐसे विवाहों को मिलता जा रहा है। ऐसे विवाहों की संख्या प्रति वर्ष बढ़ती ही जा रही है और इनके विरोधी अपनी रूढ़िवादी आपत्तियों को अधिक समय तक प्रस्तुत नहीं कर सकेंगे। कभी न कभी इन लोगों को भी आगे बढ़कर नवीन परिस्थितियों से अनुकूलन करना ही होगा।

अन्तर्जातीय विवाह अधिकतर मध्यम और उच्च वर्ग के शिक्षित लोगों में पाए जाते हैं। ऐसे विवाहों का आश्रय लेने वाली अधिकांश स्त्रियाँ नौकरी आदि में लगी होती हैं और आर्थिक दृष्टि से वे अन्य पर निर्भर नहीं करतीं। ऐसे विवाह करने वाले लोगों को आज जाति से निष्कासित करना साधारणतः सरल नहीं रहा है क्योंकि ऐसा करने वाले लोगों के विरुद्ध कानून के माध्यम से कठोर कार्रवाई की जा सकती है। डा० सी० टी० कैनन ने दो सौ अन्तर्जातीय विवाह करने वाले युग्मों के अध्ययन के आधार पर बताया है कि ऐसे विवाह करने वाले लोगों के बच्चों का विवाह कोई समस्या नहीं है। उन्होंने लिखा है, "समग्र रूप में, ऐसा प्रतीत होता है कि अन्तर्जातीय विवाह का भविष्य बहुत ही उज्ज्वल है और समय के साथ-साथ ऐसे विवाहों को समाज की अधिकाधिक स्वीकृति प्राप्त होती जाएगी। हमारे देश में बदलती हुई सामाजिक दशाओं को ध्यान में रखे बिना, ऐसे विवाहों का विरोध, केवल अपने साथ समाज में अधिक बाधाएँ ही लाएगा, केवल अन्तर्जातीय विवाह करने वाले वर-वधू ही इन्हें दूर कर सकते हैं।"[16]

इस विवरण से स्पष्ट है कि अन्तर्जातीय विवाह व्यक्तिगत, पारिवारिक तथा सामाजिक समस्याओं को दूर करने में काफी हद तक सहायक सिद्ध हो सकता है। आज आवश्यकता इस बात की है कि ऐसे विवाहों को समाज सुधारकों, नेताओं तथा सभी प्रगतिशील नागरिकों का पूर्ण समर्थन प्राप्त हो। आज युवक-युवतियों को आगे आकर सदियों पुराने खोखले एवं संकीर्ण बन्धनों को तोड़ कर अपनी प्रगतिशीलता का परिचय देना चाहिए। जैसे-जैसे युवक-युवतियों द्वारा स्वयं अपने विवाह के सम्बन्ध में निर्णय लिए जाएँगे, वैसे-वैसे अपनी ही जाति में विवाह करने के प्रतिबन्ध भी समाप्त होते जाएँगे। जो भी अन्तर्जातीय विवाह होते हैं, उनमें अधिकांश स्वयं लड़के-लड़कियों द्वारा ही तय किए जाते हैं। अन्तर्जातीय विवाहों को प्रोत्साहित करने की दृष्टि से युवक-युवतियों को एक दूसरे के सम्पर्क में आने की सुविधाएँ प्रदान की जानी चाहिएँ।

विवाह से सम्बन्धित आधुनिक प्रवृत्तियाँ
(Recent Trends in Marriage)

परिवर्तन सृष्टि का सार्वभौमिक नियम है, परिवर्तन की प्रक्रिया चलती रहती है और संसार की सभी सजीव एवं निर्जीव वस्तुओं को प्रभावित करती रहती है। आज विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में होने वाली प्रगति ने विश्व में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन लाने में योग दिया है। पुरानी परम्पराएँ टूटती जा रही हैं और समाज आधुनिकता की ओर बढ़ रहा है, नवीन परम्पराओं का सृजन हो रहा है। लेकिन जहाँ परिवर्तन आते हैं, वहाँ रुकावटें भी आती हैं, परम्पराओं द्वारा परिवर्तन का विरोध भी किया जाता है। इस सम्बन्ध में श्री पणिक्कर का कहना है "सामाजिक आवश्यकताओं के अनुसार जब कभी भी विधान

16 C T Kannan, "Inter-caste and Inter community Marriages in India", P 217

सुधारने की चेष्टा की गई, वे सस्थाएँ तथा रूढियाँ और दृढ हो चली जिन्हें प्राचीन स्मृति-कारो का आशीर्वाद प्राप्त था। इस प्रकार जो सस्थाएँ स्मृतिकारो की छाप लेकर चली आ रही थी तथा प्राचीन काल से ही फल फूल रही थी उनमे देशाचार या कुलाचार के अनुसार कुछ सशोधन भले ही होते रहे हो उनमे अन्यथा कोई परिवर्तन नही किया जा सका।"[17] परन्तु फिर भी परिवर्तन परिवर्तन ही है, वह कुछ परम्पराओ को तोड देता है और कुछ का रूप बदल देता है। आज हिन्दू विवाह सस्था भी परिवर्तनो के मध्य से गुजर रही है। हिन्दू विवाह के आदर्शों एव विधि निषेधो मे परिवर्तन आ रहे हैं। इतना अवश्य है कि आज विवाह के क्षेत्र मे भी पुरातन और नवीन मे सघर्ष चल रहा है, समाज सक्रमण के स्तर से गुजर रहा है। फिर भी एक के बाद दूसरे परिवर्तन आते ही जा रहे हैं। यहाँ हम हिन्दू विवाह से सम्बन्धित नवीन प्रवृत्तियो पर विचार करेंगे, उनमे होने वाले परिवर्तनो के सम्बन्ध मे जानकारी प्राप्त करने का प्रयास करेंगे।

हिन्दू विवाह प्राचीन काल मे एक पवित्र धार्मिक सस्कार माना जाता है। प्रत्येक हिन्दू के लिए विवाह एक अनिवार्य सस्कार समझा जाता था। धर्मशास्त्रो के अनुसार व्यक्ति के जीवन का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष-प्राप्ति था और इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु उसे वैवाहिक बन्धन मे बन्ध कर गृहस्थाश्रम के कर्त्तव्यो को पूर्ण करना पडता था। ऐसा माना जाता था कि पुत्र द्वारा पिण्ड दान एव तर्पण करने पर ही पिता की मोक्ष प्राप्ति हो सकती है। इन मान्यताओ के कारण प्रत्येक हिन्दू विवाह करना अपना परम कर्त्तव्य समझता था। जरत्कारु जीवन पर्यन्त ब्रह्मचारी रहना चाहते थे, परन्तु पितरो का उद्धार करने हेतु उन्हे भी विवाह करना पडा।

प्राचीन काल से लेकर इस शताब्दी के आरम्भ तक, हिन्दू विवाह प्रथा मे कोई विशेष परिवर्तन नही आया। इस शताब्दी के आरम्भ तक हिन्दू विवाह प्रथा की निम्नलिखित विशेषताएँ थी—

(१) विवाह प्रत्येक हिन्दू के लिए एक अनिवार्य धार्मिक सस्कार समझा जाता था।

(२) अपने ही गोत्र और प्रवर म विवाह करना वर्जित था।

(३) अपनी जाति मे ही विवाह करना आवश्यक था।

(४) विवाह को एक अविच्छेद धार्मिक सम्बन्ध समझा जाता था तथा हिंदू समाज की उच्च जातियो मे विवाह विच्छेद या तलाक नही होते थे।

(५) बहु विवाह प्रचलित थे, एक व्यक्ति, एक पत्नी के होते दूसरी से विवाह कर लेता था।

(६) समाज मे विधवा-विवाह को बुरा समझा जाता था।

हिन्दू विवाह की इन विशेषताओ मे अनक नवीन प्रवृत्तियो के कारण बहुत से परिवर्तन हो रहे हैं और हिन्दू विवाह प्रथा के बहुत कुछ बदल जाने की आशा है। वर्तमान म हिन्दू विवाह मे जो नवीन प्रवृत्तियाँ दिखलाई पड रही हैं, उनका यहाँ सक्षिप्त मे वर्णन किया जा रहा है।

---

17 K. M. Pannikar, Hindu Society at Cross Road, P.

(१) हिन्दू विवाह में वैयक्तिक पक्ष की प्रधानता का बढ़ना—पूर्वकाल में विवाह प्रत्येक हिन्दू के लिए एक अनिवार्य धार्मिक संस्कार समझा जाता था। धार्मिक ग्रन्थों में यह बताया गया है कि जो व्यक्ति विवाह नहीं करता और पुत्र से वंचित रहता है, उसे मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। धार्मिक कार्यों, जैसे—यज्ञ आदि करने के लिए पत्नी का होना आवश्यक समझा जाता था। ऐसी दशा में विवाह अनिवार्य कर्त्तव्य के रूप में माना जाता था। समाज अविवाहित स्त्री-पुरुषों को घृणा की दृष्टि से देखता था। परन्तु अब परिस्थितियाँ पूर्णतः बदल चुकी हैं। पाश्चात्य शिक्षा, सभ्यता एवं संस्कृति से हिन्दू समाज काफी प्रभावित हो चुका है। अब विवाह के धार्मिक पक्ष के बजाय वैयक्तिक पक्ष को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा है। श्री के. टी. मर्चेण्ट द्वारा किये गये अध्ययन से यह बात स्पष्ट है। अधिकतर युवक एवं युवतियों ने इस विषय में विवाह के वैयक्तिक स्वरूप को प्रमुख स्थान दिया तथा इसके बाद अधिकतम संख्या ने इसके धार्मिक स्वरूप का समर्थन किया।[18] आजकल हिन्दू युवक एवं युवतियों में विवाह को एक धार्मिक संस्कार या अविच्छेद बन्धन के स्थान पर वैयक्तिक सम्बन्ध और एक प्रकार का अनुबन्ध (Contract) मानने की प्रवृत्ति बढ़ रही है।

(२) विवाह सम्बन्धी निषेधों में अन्तर—पूर्व काल में अपने ही गोत्र तथा प्रवर में विवाह करना वर्जित था। एक हिन्दू अपने गोत्र और प्रवर वाली कन्या से विवाह नहीं कर सकता था। परन्तु आधुनिक युग में कानून द्वारा इस निषेध का अन्त कर दिया गया है। अब सगोत्र और सप्रवर विवाह हो सकते हैं। हिन्दू विवाह प्रथा की एक विशेषता यह भी थी कि सभी हिन्दुओं को अपनी जाति में ही विवाह करना पड़ता था। अपनी जाति में ही विवाह करने का नियम इतना कठोर था कि जब स्व० विट्ठल भाई पटेल तथा डा० भगवानदास ने अन्तर्जातीय विवाहों को वैध घोषित कराने के लिए केन्द्रीय धारा सभा में प्रस्ताव रखा तो उसका घोर विरोध किया गया और वह प्रस्ताव कानून नहीं बन सका। परन्तु बदलती हुई परिस्थितियों में जातीय बन्धन ढीले पड़ते गए और अन्तर्जातीय विवाहों को कानूनी मान्यता प्रदान की गई। अब एक जाति के व्यक्ति का विवाह दूसरी जाति की कन्या से हो सकता है। श्रीमती रॉस द्वारा किये गये अध्ययन में ४३ प्रतिशत स्त्रियों ने और ७३ प्रतिशत पुरुषों ने अन्तर्जातीय विवाहों का समर्थन किया।[19] शिक्षित युवक-युवतियों के विचार ऐसे विवाह के पक्ष में अवश्य बनते जा रहे हैं परन्तु फिर भी वे अन्तर्जातीय विवाह करते हुए संकोच करते हैं। इसका कारण यह है कि यह प्रथा प्रचलित लोकमत के विरुद्ध है और ऐसा विवाह करने वालों को विरोधों के रूप में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। अतः यह कहा जा सकता है कि अन्तर्जातीय विवाहों की ओर लोगों का झुकाव होते हुए भी ये हिन्दू समाज में अधिक प्रचलित नहीं हो पाये हैं।

(३) विवाह विच्छेद की प्रवृत्ति—इस शताब्दी के आरम्भ में विवाह एक अविच्छेद धार्मिक सम्बन्ध समझा जाता था तथा हिन्दू समाज की उच्च जातियों में विवाह विच्छेद (Divorce) नहीं होते थे। परन्तु वर्तमान युग में विवाह को एक सामाजिक समझौता माना जाता है जिसे पति-पत्नी कुछ विशेष परिस्थियों में समाप्त कर सकते हैं। हिन्दू

---

18 K. T. Merchant, Changing Views on Marriage and Family, pp. 40-56

19 Aileen Ross, The Hindu Family in its Urban Setting, pp. 270-272

विवाह अधिनियम, १९५५ द्वारा विशेष परिस्थितियों मे, स्त्री-पुरुषों को समान रूप से विवाह विच्छेद या तलाक का अधिकार दिया गया है। विवाह-विच्छेदों की संख्या दिन पर दिन बढती जा रही है क्योंकि अब विवाह का धार्मिक आधार कमजोर पड गया है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि अब तलाक सामान्य रूप से होने लगे हैं। आज भी तलाक के विरुद्ध लोगों मे प्रबल भावना है और इसका उपयोग असाधारण परिस्थितियों मे ही उचित माना जाता है।

(४) वैवाहिक अधिकारों में विषमता की समाप्ति—पूर्व काल मे हिन्दू समाज में बहु-विवाह प्रचलित थे। सन्तान प्राप्ति के उद्देश्य से एक पुरुष एक पत्नी के होते दूसरा विवाह कर सकता था। उसे एक से ही नहीं बल्कि कई स्त्रियो से एक साथ विवाह करने का अधिकार था और समाज मे बहु पत्नी प्रथा प्रचलित थी। बहु-पत्नी प्रथा के कारण स्त्रियों की स्थिति काफी गिरी हुई थी। शिक्षित स्त्रियो ने समय-समय पर आन्दोलन किए और यह माँग की कि हिन्दू समाज मे एक विवाह (Monogamy) का नियम स्त्री-पुरुषो पर समान रूप से लागू करना चाहिए। सन् १९५५ मे हिन्दू विवाह अधिनियम पास हुआ, जिसके अनुसार एक पत्नी के जीवित रहते हुए दूसरा विवाह करना अपराध माना गया। तात्पर्य यह है कि अब हिन्दू समाज मे पूर्व काल मे प्रचलित बहु-विवाह प्रथा को समाप्त और स्त्री-पुरुष दोनों के लिए एक विवाह (Monogamy) का नियम समान रूप से लागू कर दिया गया है। साथ ही दोनों विषम परिस्थितियो मे तलाक का अधिकार भी समान रूप से दिया गया है।

(५) विधवा-विवाह की प्रवृत्ति—कुछ समय पूर्व तक हिन्दू समाज मे विधवा-विवाह बुरा समझा जाता था। परन्तु आज शिक्षित वर्ग के लोग यह अनुभव करने लगे हैं कि विधवाओं को पुनर्विवाह के अधिकार से वंचित रखना, उनके प्रति घोर अन्याय है। अब लोगो की धारणा विधवा-विवाह के पक्ष मे बनती जा रही है और ऐसे विवाह होने लगे हैं।

(६) विवाह की आयु का बढ़ना—वर्तमान समय मे बाल विवाह और बेमेल विवाह कम होते जा रहे हैं। विवाह की आयु बढती जा रही है और विलम्ब-विवाह होने लगे हैं। मर्चेण्ट द्वारा किए गए अध्ययन मे युवकों के अनुसार विवाह की आयु लडकों के लिए २२.६ वर्ष और लडकियों के लिए १९.९ वर्ष तथा युवतियों के अनुसार लडकों के लिए २५ वर्ष और लडकियों के लिए १९.७ वर्ष होनी चाहिए।[20] श्रीमती हाटे द्वारा किए गए अध्ययन में सामान्य स्त्रियो के विवाह की औसत आयु २४ वर्ष और शिक्षित स्त्रियो की २६ वर्ष थी।[21] इस अध्ययन से स्पष्ट है कि नगरों के मध्यम और शिक्षित लोगों मे देर से विवाह करने (Late Marriage) की प्रवृत्ति प्रारम्भ हो गई है। इस प्रवृत्ति के कारण वैवाहिक जीवन में अनेक नवीन समस्याओं के उत्पन्न होने की सम्भावना है। डा० योगेश अटल[22] ने बताया है कि विवाह की वय मे वृद्धि हो रही है—पुरुषो मे कम, महिलाओं मे अधिक। पुरुषों मे पिछले ३०-४० वर्षों में यह १८ से २० तक रही है। महिलाओं मे

20 K T Merchant, op cit, p 233

21 C A Hate, The Social Position of Hindu Women, 1946

२२ डा. योगेश अटल 'भारतीय परिवार के २५ वर्ष', साप्ताहिक हिन्दुस्तान, १२ अगस्त, १९७२.

१३-१४ से हटकर अब यह १६ के आस-पास आ रही है । ... वय में वृद्धि के कई परिणाम हुए हैं । कम वय में विवाह कर देने पर माता-पिता ही विवाह सम्बन्धी सब निर्णय लेते थे और वे लडके तथा लडकी को स्वीकार्य होते थे । अब वय अधिक होने से विवाह करने वाले भी अपना प्रौढाधिकार काम में लाते हैं ।

विवाह की आयु के बढने के साथ-साथ विवाह के समय पति-पत्नी की आयु का अन्तर भी पहले से कम होता जा रहा है । श्रीनिवास ने मैसूर की १९०१ की जनगणना रिपोर्ट के आधार पर बताया है कि वहाँ पति-पत्नी की उम्र का अन्तर छ महीने से २० वर्ष तक का था ।[23] रॉस के अध्ययन के अनुसार अविवाहित स्त्री-पुरुषो ने यह उत्सुकता बतलाई कि पति-पत्नी की आयु मे अन्तर कम होना चाहिए ।[24] इस अध्ययन से यह भी ज्ञात होता है कि पुरुषों की बजाय स्त्रियो में यह भावना अधिक बलवती थी कि पति-पत्नी की उम्र में अन्तर कम होना चाहिए तथा दोनों की उम्र करीब-करीब समान होनी चाहिए । यद्यपि अभी तक यह अन्तर बहुत कम नही हुआ है परन्तु इस उम्र के अन्तर के कम होने का एक परिणाम यह होगा कि पत्नी के पति के प्रति परम्परागत आदर एव प्रतिष्ठा के भाव मे कमी आयेगी तथा समान आयु के कारण पति के प्रति मित्रता का भाव अधिक होगा । परन्तु निकट भविष्य में आयु के इस अन्तर के घटने की अधिक सम्भावना सामान्य रूप से नहीं है यद्यपि प्रवृत्ति इस ओर अवश्य है ।

(७) विवाह की अनिवार्यता की समाप्ति—वर्तमान समय मे कुछ युवक-युवतियाँ विवाह को अनावश्यक समझने लगे हैं । मर्चेण्ट द्वारा किए गए अध्ययन मे ८६ २ प्रतिशत युवक-युवतियो ने विवाह को आवश्यक एव अनिवार्य माना जबकि १३ २ ने अनावश्यक ।[25] विवाह को अनावश्यक मानने वाली आधी स्त्रियो ने इसका कारण आर्थिक परिस्थितियों को माना । उनका मत है कि स्त्रियाँ अपनी आजीविका कमाते हुए अब स्वतन्त्रतापूर्वक जीवन-यापन कर सकती हैं, अत ऐसी दशा मे उन्हे विवाह करने की आवश्यकता नही है ।[26] विवाह को कुछ लोग स्वतन्त्रता पर आघात समझते हैं, तो कुछ जनसख्या की वृद्धि को रोकने के लिए इसकी अनिवार्यता पर जोर देते हैं । इस सम्बन्ध मे अपने अध्ययन के आधार पर रॉस ने बतलाया है कि इस समय युवक-युवतियो म विवाह की अनिच्छा पाई जाती है । आपके अध्ययन में पाच युवको ने विभिन्न कारणो से विवाह नही करने की इच्छा व्यक्त की ।[27]

स्त्रियो के आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सन्तुष्ट होने पर सन्तोपजनक वर के प्राप्त नही होने की स्थिति मे वे विवाह नही करना चाहती । आदर्श पति की तलाश मे कई लडकियो को अविवाहित तक रहना पडता है । विवाह को आवश्यक नही समझने वाले युवक-युवतियों की अल्प सख्या भी इस प्रवृत्ति की ओर सकेत अवश्य करती है कि हिन्दू समाज म विवाह को अनिवार्य समझने की सार्वभौम भावना धीरे-धीरे कुछ कमजोर पडती जा रही है । इसका मुख्य कारण स्त्रियो की उच्च शिक्षा एव आर्थिक

---

23 M N Sriniwas Marriage and Family in Mysore, p 63
24 Ross, op cit, p 250
25 Merchant, op cit p 66
26 Ibid, p 72
27 Ross, op cit, p 276

दृष्टि से उनका स्वावलम्बी बनना है। इतना होने के बावजूद भी हिन्दू स्त्री के लिए विवाह अभी तक साधारणतः आवश्यक ही माना जाता है, यद्यपि कुछ उच्च शिक्षा प्राप्त युवक-युवतियाँ विवाह को नापसन्द करने लगे हैं।

(८) जीवन-साथी चुनने की स्वतन्त्रता—कुछ समय पूर्व तक बाल-विवाह प्रथा के व्यापक प्रचलन के कारण अधिकांशतः विवाह माता-पिता द्वारा आयोजित किए जाते थे। इसमे लड़के-लड़कियो द्वारा स्वयं अपने जीवनसाथी के चुनाव का प्रश्न ही नही उठता। इस सम्बन्ध मे हाटे ने बतलाया है कि इसमे वर-वधू को किसी भी प्रकार से अपना जीवनसाथी चुनने की कोई स्वतन्त्रता नही थी। यह विवाह दो व्यक्तियो मे न होकर, दो परिवारों मे होता था। इसमे वर-वधू को विवाह के पहले एक-दूसरे को देखने, अपने जीवनसाथी के चुनाव के सम्बन्ध मे कोई राय प्रकट करने या किसी प्रकार के प्रणय-याचन (Courtship) की कोई छूट नहीं थी।[28]

अब शिक्षित युवक-युवतियाँ स्वय अपने जीवनसाथी का चुनाव करना चाहते हैं। वे चाहते हैं कि विवाह जैसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर निर्णय लेते समय उनकी इच्छा का ध्यान रखा जाय। हाटे के अध्ययन मे ७४ प्रतिशत लड़कियो ने अपना जीवनसाथी स्वय चुनने की इच्छा व्यक्त की।[29] धन के लालच से किए जाने वाले बेमेल विवाहो के दुष्परिणाम से बचने के लिए भी लड़किया जीवनसाथी के चुनाव की स्वतन्त्रता चाहती हैं। मर्चेण्ट के अध्ययन मे ७१'२ प्रतिशत युवक युवतियो ने अपना जीवनसाथी स्वय चुनने की इच्छा प्रकट की, शेष ने बताया कि जीवन-साथी का निश्चय उनके माता-पिता द्वारा होना चाहिए परन्तु विवाह के पूर्व इस मामले मे उनकी स्वीकृति अवश्य ली जानी चाहिए।[30] आजकल युवक-युवतिया स्वय अपने जीवनसाथी का चुनाव करना चाहते हैं और अपने चुनाव पर माता-पिता की स्वीकृति की छाप लगवाना चाहते हैं। जीवनसाथी के चुनाव मे स्वतन्त्रता की प्रवृत्ति धीरे-धीरे प्रत्येक पीढी मे बढ रही है। यह बात रॉस के अध्ययन द्वारा भी स्पष्ट है।[31]

हिन्दू समाज मे अधिकाश विवाह अब भी माता-पिता द्वारा ही आयोजित होते हैं क्योकि कई युवक-युवतियाँ अपने माता-पिता पर पूर्ण विश्वास रखते हैं और वे उनकी इच्छा का विरोध नही करना चाहते। इसके अतिरिक्त भारतवर्ष मे अभी तक युवक-युवतियो को एक-दूसरे के सम्पर्क मे आने, आपस मे परिचय बढाने और मिलने जुलने के अधिक अवसर प्राप्त नही है। इतना अवश्य है कि महाविद्यालयो, विश्वविद्यालयो, शोध-सस्थानो तथा बडे नगरो मे दफ्तरो एव व्यापारिक सस्थानो मे अविवाहित युवक-युवतियो के एक-दूसरे के सम्पर्क मे आने के अवसर बढते जा रहे हैं। फलत युवक-युवतियो मे अपना जीवनसाथी स्वय चुनने की अभिलाषा बलवती होती जा रही है। आजकल अधिकाशत. होता यह है कि लडके द्वारा पसन्द की गई लडकी के लिए माता-पिता अपनी स्वीकृति दे देते है अथवा माता-पिता अपने लडके के लिए लड़की ढूढ लेते हैं और इसके लिए लडके से सहमति प्राप्त कर लेते हैं।

---

28 C A Hate, op. cit, p 39
29 Ibid, p. 39.
30. Merchant, op cit, p 85
31. Aileen Ross, op cit, 252.

(९) **रोमांचक प्रेम और प्रेम विवाह**—वर्तमान समय मे उपन्यासों एव सिनेमा के चित्रो से रोमाचक प्रेम और प्रेम-विवाह (Romantic Love and Love-marriage) की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिल रहा है। चल-चित्रों के मनमोहक दृश्यो को देखकर अनेक युवक-युवतिया प्रेम-विवाह को आदर्श मानने लगते हैं। मर्चेण्ट के अध्ययन मे एक युवक ने बताया कि विवाह का वास्तविक आधार प्रणय तथा रोमाचक प्रेम ही होना चाहिए। लेकिन रॉस के अध्ययन के कुछ उदाहरणो से ज्ञात होता है कि माता पिता को उस समय कोई प्रसन्नता नही होती, जब उनके लडके-लडकिया प्रेम-विवाह करते हैं। ऐसा विवाह करने वालो को माता-पिता का घोर-विरोध और अनेक कठिनाइयो का सामना करना पडता है।[32]

रॉस के अध्ययन से यह भी स्पष्ट है कि हिन्दू समाज मे अधिकतर विवाह माता-पिता द्वारा ही आयोजित होते हैं और विवाह के आधार के रूप मे रोमाचक प्रेम को महत्त्व दिया जाता है। इस देश मे अभी तक प्रेम-विवाहो की सख्या और प्रभाव बहुत ही सीमित है।[33] ऐसे विवाहो के कारण कई बार माता-पिता और सन्तान के सम्बन्ध छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। बहुत से युवक-युवतिया इस खतरे को नही उठाना चाहते। यह कहा जा सकता है कि यद्यपि आधुनिक युवक-युवतियाँ रोमाचक प्रेम और प्रेम-विवाह की ओर आकृष्ट अवश्य है परन्तु अभी तक हिन्दू समाज मे ऐसे विवाहो का प्रचलन बहुत कम हुआ है और इनसे उत्पन्न होने वाली परेशानियो को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि निकट भविष्य मे ऐसे विवाहो के बढने की अधिक सम्भावना नहीं है।

(१०) **विवाह सस्कार मे परिवर्तन**—हिन्दू समाज मे विवाह सस्कार का काफी महत्त्व है और इसे बडी धूमधाम से मनाया जाता है। पूर्व काल मे वैवाहिक विधियाँ बहुत लम्बे समय तक चलती थी और बरातें काफी बडी सख्या मे ले जायी जाती थी। किन्तु वर्तमान मे औद्योगीकरण, नगरीकरण तथा पश्चिमीकरण के प्रभाव के फलस्वरूप हिन्दू विवाह सस्कार मे कई परिवर्तन हो रहे हैं। पहले विवाह कई दिनो तक चलते थे परन्तु आजकल विवाह सस्कार के समय मे काफी कमी हो गई है। अब लोग वैवाहिक विधियो के सक्षिप्त एव सरलीकृत रूप को पसन्द करने लगे हैं। वर्तमान मे विवाह एक दिन अथवा कुछ ही घण्टो मे सम्पन्न होने लगे हैं। पूर्व काल मे विवाह के अवसर पर सभी सम्बन्धियो की उपस्थिति आवश्यक मानी जाती थी और दूर-दूर से सभी रिश्तेदार आते थे। आजकल महगाई, नगरो मे स्थानो की कमी, बच्चो की पढाई और जीवन मे व्यस्तता के कारण विभिन्न परिवारो के सभी सदस्यो के विवाहो मे सम्मिलित होने की प्रवृत्ति कम होती जा रही है। अब इस अवसर पर परिवार के एक या दो सदस्य प्रतिनिधि के रूप मे चले जाते हैं।

विवाहो के खर्चे के सम्बन्ध मे श्रीनिवास ने बतलाया है, "विवाहो मे किया जाने वाला व्यय बहुत अधिक होता है.........इस व्यय को कम करने मे प्रमुख बाधाएँ हैं—प्रदर्शन एव अहकार की भावना, रूढिवादिता एव वर-पक्ष की धनलोलुपता। अपने दिन-प्रतिदिन के जीवन में पाई-पाई की बचत करने वाले कजूस भी विवाह के समय अन्धाधुन्ध खर्च करते

---

32. Ibid, p. 269
33. Ibid, p 216.

हैं।...... अत्यधिक व्यय को कम करने की दृष्टि से अब एक दिन मे विवाह सम्पन्न करने की परिपाटी चल पडी है।"[34] वर्तमान मे हिन्दू समाज मे दहेज की मात्रा और विवाह के अन्य खर्च बढते ही जा रहे हैं, चाहे इस हेतु लोगो को कर्ज ही क्यो न लेना पडे। कुछ समाज-सुधारकों का ध्यान विवाह के खर्चों को कम करने की ओर अवश्य गया है परन्तु इस दिशा मे कोई सफलता नही मिल पायी है। आजकल विवाह के लिए समाचार-पत्रो म विज्ञापन देने का प्रचलन भी बढता जा रहा है, परन्तु इस देश मे विज्ञापनो के माध्यम से होने वाले विवाहो की सख्या अभी बहुत ही कम है। बडे नगरो मे विवाह के प्रबन्ध का सारा भार अब ठेकेदारो को सौंपा जाने लगा है। बडे नगरो मे 'शादी-घर' भी बनते जा रहे हैं जहाँ विवाह का सारा प्रबन्ध किया जाता है।

(११) पत्नी की स्थिति में अन्तर अनुचरी से सहचरी—पूर्व-काल मे परिवार मे पति की स्थिति पत्नी से काफी ऊँची होती थी। इसका कारण यह था कि पत्नी उम्र मे पति से काफी छोटी तथा शिक्षा और अनुभव की दृष्टि से पति से पीछे होती थी। अपनी उच्च स्थिति के कारण पति उसके साथ समानता का व्यवहार नही कर पाता था। रॉस ने बतलाया है कि हिन्दू परिवार मे विवाह के पश्चात् पत्नी का प्रमुख कर्त्तव्य पति की सेवा एव उसकी आज्ञा का पालन करना था। वह पति को देवता मानती, उसकी पूजा करती और उसका आदर्श सीता और सावित्री था।[35] आज की शिक्षित पत्नियाँ आँख मूद कर पति की प्रत्येक आज्ञा का पालन करने को तैयार नही हैं। उनमे समानाधिकार की भावना बलवती होती जा रही है। वे पति के चरणो की दासी और सेविका बनने के बजाय उसकी सहचरी और मित्र (Companion and friend) बनना चाहती हैं। रॉस के अध्ययन से ज्ञात होता है कि न केवल लडकियाँ बल्कि लडके भी पति पत्नी की स्थिति मे एक-दूसरे को साथी और मित्र के रूप मे चाहते हैं। आज के युवक-युवतियो का पातिव्रत्य के पुराने आदर्शों मे विश्वास कम होता जा रहा है। वर्तमान मे पति-पत्नी के आयु सम्बन्धी अन्तर के घटने, स्त्री-शिक्षा के बढने तथा स्त्रियो के विभिन्न क्षेत्रो मे कायरत होने स दोनो के सम्बन्ध स्वामी व सेवक के रूप म नही होकर समानता के स्तर पर मित्र के रूप मे होने लगे हैं। रॉस की मान्यता है कि पति-पत्नी के सम्बन्धो के समानता के आदर्श पर आधारित होने मे अभी काफी समय लगगा।[36] आपके इस निष्कर्ष का आधार श्रीमती जी बी देसाई द्वारा गुजराती महिलाओ के सम्बन्ध म किया गया अध्ययन है। परन्तु स्वय रॉस के अध्ययन से यह बात स्पष्ट है कि धीरे-धीरे परिवार मे स्त्रियो की स्थिति ऊपर उठती जा रही है।[37] आज प्रवृत्ति इस ओर है कि पत्नी सेविका या अनुचरी से मित्र या सहचरी बनती जा रही है।

हिन्दू विवाह का भविष्य—हिन्दू विवाह सस्था को परिवर्तित करने मे आधुनिक शिक्षा, पाश्चात्य सभ्यता एव सस्कृति, विज्ञान एव औद्योगिक प्रगति, औद्योगीकरण एव नगरीकरण, सामाजिक चेतना और राष्ट्रीय जागृति ने काफी योग दिया है। धीरे धीरे हिन्दू समाज के उच्च तथा शिक्षित वग मे विवाह सम्बन्धी धारणाओ तथा प्रथाओ मे महत्त्वपूर्ण

34 Srinivas op cit, pp 60 61.
35 Ross op cit, pp 105, 158
36 Ibid, p 107.
37 Ibid, p 108

परिवर्तन हो रहे हैं। ये परिवर्तन भविष्य मे हिन्दू विवाह के स्वरूप को निश्चित रूप से प्रभावित करेंगे। इन परिवर्तनो का प्रभाव अभी नगरो के शिक्षित लोगो तक ही सीमित है परन्तु शिक्षा के प्रसार और नगरीकरण के बढने से ग्रामीण जीवन पर भी इनका प्रभाव निश्चित रूप से पडेगा। भविष्य मे विवाह को जन्म-जन्मान्तर का अविच्छेद सम्बन्ध नही माना जायेगा, विवाह को अनिवार्य समझने की भावना भी कुछ शिथिल होगी तथा अधिक आयु मे विवाह करने की प्रवृत्ति को बल मिलेगा। जीवन-साथी के चुनाव मे युवक-युवतियों को अधिक स्वतन्त्रता मिलेगी, एक विवाह के नियम का सार्वभौम रूप से पालन होगा तथा रोमांचक प्रेम और प्रेम-विवाह की ओर लोगो का झुकाव अधिक होगा। भविष्य मे विवाह का वैयक्तिक पक्ष अधिक मजबूत होगा तथा विवाह से सम्बन्धित कर्मकाण्डो की जटिलता कम होगी, यद्यपि विवाह के खर्चों मे कमी की सम्भावना नही दिखती है। पति और पत्नी के सम्बन्ध समानता पर अधिक आधारित होंगे तथा पत्नी सेविका के स्थान पर साथी और मित्र के रूप मे भूमिका निभायेगी। पत्नी के आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी बनने की दशा मे असाधारण परिस्थितियो मे दु खी वैवाहिक जीवन से छुटकारा प्राप्त करने हेतु विवाह-विच्छेद के अधिकार का उपयोग भी होगा। तलाकों की संख्या भी कुछ बढेगी परन्तु ये सुखी पारिवारिक जीवन मे बाधक बनने के बजाय सहायक ही होंगे। इस देश मे विवाह-विच्छेद के अधिकार के दुरुपयोग की सम्भावना साधारणत बहुत कम है।

प्रश्न

१. भारत मे विवाह-विच्छेद की समस्या की विवेचना कीजिए।

२ विवाह-विच्छेद पर एक टिप्पणी लिखिए।

३ सन् १९५५ के हिन्दू विवाह अधिनियम मे दिये गये विवाह-विच्छेद के मुख्य प्रावधानो का विवेचन कीजिए।

४ हिन्दू विवाह पर नये सामाजिक विधानो का प्रभाव दर्शाइये।

५ सन् १९५५ के हिन्दू विवाह अधिनियम की विवेचना कीजिए।

६. विवाह विच्छेद की अनुमति के विषय मे आप पक्ष और विपक्ष मे क्या तर्क देंगे ? हिन्दू विवाह अधिनियम, १९५५ मे विवाह-विच्छेद के विषय मे पाये जाने वाले आधारो के विषय मे आप क्या जानते हैं ?

७ पृथक्करण और विवाह-विच्छेद मे अन्तर बताइये। हिन्दू विवाह अधिनियम मे न्यायिक पृथक्करण और विवाह-विच्छेद की व्यवस्थाओं का वर्णन कीजिए।

८ क्या अन्तर्जातीय विवाह जातिवाद तथा जाति-संघर्ष की समस्याओं को सुलझा सकता है ? कारण बताइये।

९ क्या आप अन्तर्जातीय विवाहो के पक्ष मे हैं ? यदि हाँ तो कारण बताइये।

१० 'अन्तर्जातीय विवाह' पर टिप्पणी लिखिए।

११ हिन्दू विवाह मे आधुनिक युग मे क्या-क्या परिवर्तन हो रहे हैं ? प्रत्येक का संक्षेप मे विवेचन कीजिए।

१२ हिन्दू विवाह से सम्बन्धित आधुनिक प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालिए। हिन्दू विवाह का भविष्य क्या है ?

☐ ☐ ☐

अध्याय 12

मुस्लिम विवाह एवं परिवार

(Muslim Marriage and Family)

मुस्लिम विवाह की प्रकृति को स्पष्टतः समझने के लिए आवश्यक है कि इस्लाम के कुछ महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों के बारे में सामान्य जानकारी प्राप्त की जाए। इस्लाम सनातनी अरबी धर्म का ही परिवर्तित रूप है, इसलिए मुस्लिम संस्थाओं एवं सामाजिक व्यवस्थाओं पर सनातनी अरबी व्यवस्थाओं का स्पष्ट प्रभाव दिखलाई पड़ता है। प्राचीन अरब में प्रचलित विवाह और परिवार के स्वरूप ने मुस्लिम विवाह और परिवार को अनेक रूपों में प्रभावित किया है और वह प्रभाव आज तक भी दिखलाई पड़ता है। रॉबर्टसन स्मिथ ने प्राचीन अरब समाज में प्रचलित विवाह के तीन लक्षण बतलाए हैं—

(१) स्त्री अपने पति का चुनाव करने में स्वतन्त्र थी।

(२) वह अपने पति को अपने डेरे या तम्बू में बुलाती, उसके साथ सम्बन्ध रखती और अपनी इच्छानुसार जब चाहे तब उसे बाहर निकाल देती थी।

(३) ऐसे विवाह से उत्पन्न संतति स्त्री के बन्धु-बान्धवों या रिश्तेदारों के संरक्षण में पलती थी।

ऐसे विवाहों का स्थान, जिसको रॉबर्टसन स्मिथ ने 'बीना विवाह' (Beena Marriage) कहा है, बाद में 'बाल' विवाह अथवा आधिपत्य विवाह (Marriage of dominion) ने ले लिया। इसमें स्त्री अपने पति के घर रहने आती और सन्तान पति के गोत्र से सम्बन्धित होती। अपनी इच्छानुसार अपने पति को छोड़ देने की मूल स्वतन्त्रता को स्त्री ने खो दिया। दूसरी ओर, विवाह-विच्छेद पति का ही एकमात्र विशेषाधिकार हो गया, लेकिन विवाह का यह नवीन रूप, विवाह की पुरानी प्रथा को पूर्णतः समाप्त नहीं कर सका, जो मुताह विवाह के रूप में मुहम्मद साहब के समय तक चलती रही।[1] स्पष्ट है कि अरब समाज में विवाह के क्षेत्र में स्त्री काफी स्वतन्त्र थी, लेकिन धीरे-धीरे उसकी यह स्वतन्त्रता छिनती गई, उसके अधिकार सीमित होते गए और विवाह के क्षेत्र में पुरुष का आधिपत्य हो गया। वह एक से अधिक स्त्रियों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने लगा, अथवा बहुपत्नी विवाह का प्रचलन प्रारम्भ हुआ। विवाह-विच्छेद की दृष्टि से भी पुरुष को विशेष अधिकार प्राप्त हो गया और वह स्वेच्छानुसार अपनी पत्नी को तलाक देने लगा। मुहम्मद साहब के समय तक यद्यपि मुताह विवाह होते थे तथापि विवाह का प्रचलित रूप बहुपत्नी विवाह ही था।

---

1. Robertson Smith, quoted by K. M Kapadia, op cit, p 185

अरब समाज मे विवाह और परिवार के क्षेत्र मे स्त्री के अधिकारों के सीमित हो जाने से उसकी स्थिति मे गिरावट आई और उसकी दशा दयनीय होती गई। युद्ध मे प्राप्त स्त्रियो को अरब लोग या तो अपने यहाँ सेविका के रूप मे रखते या उनसे विवाह कर लेते। विवाह का इच्छुक व्यक्ति, स्त्री के पिता अथवा किसी सम्बन्धी को कन्या मूल्य चुका कर या मेहर की राशि अदा करके स्त्री के साथ विवाह कर सकता था। युद्ध मे प्राप्त कर अथवा कन्या मूल्य चुका कर, किसी स्त्री के साथ विवाह कर लेना, स्त्री के प्रति पुरुष का सम्पत्ति (Property) भाव व्यक्त करता है। अर्थात् अरब पुरुष स्त्री को अपनी सम्पत्ति समझने लगा, उसका मूल्य चुका कर उसे अपनी खरीदी हुई वस्तु मानने लगा। डा० कापडिया ने लिखा है, "किसी अतिथि के प्रति आतिथ्य भाव को प्रकट करने के लिए, अपनी पत्नी को उसे प्रदान करने का रिवाज अरब लोगो मे था। श्रेष्ठ सन्तान चाहने वाला अरब अपनी पत्नी को किसी महान पुरुष के साथ रहने को कह देता। पति कुछ समय के लिए अन्यत्र चला जाता और अपनी पत्नी के पास वापस उसी समय लौटता, जब गर्भावस्था काफी विकसित हो जाती। जब कोई अरब यात्रा के लिए बाहर जाता, तो अपनी पत्नी को अपने किसी मित्र को सौंप जाता। अरब अपनी पत्नी को भोगने मे उस व्यक्ति को साझेदार बना लेता जो उसकी भेडो की देख-भाल करता। अरब पुरुष का अपनी पत्नी के सतीत्व (पातिव्रत्य) के सम्बन्ध मे कोई विचार नही था। यह इस तथ्य से स्पष्ट हो जाता है कि वह उसे अपनी सम्पत्ति समझता था जिसको जैसे वह श्रेष्ठ समझता, उस तरीके से उपभोग करने या काम मे लेने के लिए स्वतन्त्र था। स्वामी के रूप मे अपनी सम्पत्ति के उपयोग के लिए वह सर्वश्रेष्ठ निर्णायक था।[2] इस प्रकार स्पष्ट है कि अरब समाज मे स्त्री को सम्पत्ति के रूप मे देखा जाता था और विवाह हेतु उसे खरीदने का भाव पाया जाता था। पुरुष स्वेच्छानुसार उसका उपभोग कर सकता था, किसी अतिथि, महान पुरुष या मित्र को कुछ समय के लिए सौंप सकता था, कभी भी उसका परित्याग कर सकता था उसे तलाक दे सकता था।

मुस्लिम विवाह के परम्परागत स्वरूप पर अरब समाज मे स्त्री के सम्बन्ध मे प्रचलित इन विचारो का प्रभाव निश्चित रूप से रहा है। विवाह और परिवार के क्षेत्र मे मुस्लिम पुरुष की स्थिति स्त्री की तुलना मे उच्च रही है। स्त्री का कर्त्तव्य पति की प्रत्येक आज्ञा का पालन करना और उसकी सेवा करना रहा है। पुरुष का यह अधिकार रहा है कि वह जब चाहे तब अपनी पत्नी से सम्बन्ध विच्छेद कर ले, उसे छोड़ दे, लेकिन अब स्थिति मे परिवर्तन आ रहा है। कुछ सुधार हुए है, कुछ हो रहे हैं, और मुस्लिम समाज मे विवाह का परम्परागत स्वरूप बदल रहा है। स्त्रियो की स्थिति मे भी कुछ उन्नति हो रही है। पुरुषो की स्वेच्छाचारिता पर कुछ नियन्त्रण लगाए जा रहे हैं। अरब समाज म प्रचलित विवाह सस्था और मुस्लिम विवाह के परम्परागत स्वरूप की इस सामान्य पृष्ठभूमि को ध्यान मे रखते हुए यहाँ हम भारतीय मुसलमानो की विवाह सस्था पर विचार करेंगे।

---

2 K M Kapadia op cit, pp 187-188

मुसलिम विवाह का अर्थ
(Meaning of Muslim Marriage)

मुस्लिम विवाह को 'निकाह' भी कहते हैं। मुसलमानो मे विवाह को एक धार्मिक सस्कार नही बल्कि एक सामाजिक समझौता माना जाता है। मुस्लिम कानून के अनुसार, विवाह एक सामाजिक या बिना शर्त का दीवानी समझौता है, जिसका उद्देश्य घर बसाना, सन्तानोत्पत्ति और उन्हें वैधता प्रदान करना है। समझौते के रूप मे मुस्लिम विवाह के लिए एक ओर से प्रस्ताव होना तथा दूसरी ओर से इस प्रस्ताव की स्वतन्त्र स्वीकृति मिलना आवश्यक है। समझौते मे प्रतिफल (Consideration) के रूप मे धन का होना भी आवश्यक है। मुस्लिम विवाह के लिए लडके वाले पक्ष की ओर से माँग के रूप मे निकाह का प्रस्ताव रखा जाता है तथा लडकी दो पुरुष गवाहो की अथवा एक पुरुष और दो स्त्री गवाहो की उपस्थिति मे प्रस्ताव को स्वीकार करती है, लडके वाला पक्ष प्रतिफल के रूप मे कुछ धन, जिसे 'मेहर' कहते हैं, लडकी को देने का वादा करता है। हैदे (Hedey) नामक विद्वान ने मुस्लिम विवाह का अर्थ स्पष्ट करते हुए बतलाया है कि यौन-सम्बन्धो, बच्चो के प्रजनन और वैधता को कानूनी रूप प्रदान करने के उद्देश्य से विवाह एक समझौता है और साथ ही इसका उद्देश्य समाज के हित मे पति पत्नी और उनसे उत्पन्न सन्तति के अधिकारों एव कर्त्तव्यो को निर्धारित कर सामाजिक जीवन को सुव्यवस्थित करना है। मुस्लिम विवाह के इस विवरण से स्पष्ट है कि इसमे समझौते के सभी तत्व पाए जाते है। इस प्रकार मुस्लिम विवाह पर, एक ओर अरब व्यवस्था का स्पष्ट प्रभाव है तथा दूसरी ओर मुस्लिम सुख-विलास सम्बन्धी विचारधारा का। अरब व्यवस्था के अनुसार, मुस्लिम विवाह मे स्त्री की स्वीकृति के रूप म उसकी स्वतन्त्रता को महत्त्व दिया गया है और मेहर का वादा करने या चुकाने पर ही पति को उसके साथ यौन-सम्बन्ध स्थापित करने का अधिकार दिया गया है। मुस्लिम विवाह पर मुस्लिम सुख सम्बन्धी विचारधारा का स्पष्ट प्रभाव दिखलाई पडता है, कुछ देकर पुरुष स्त्री पर अधिकार प्राप्त कर लेता है। यहाँ विवाह के लिए किन्हीं धार्मिक सस्कारो का होना आवश्यक नही है।

मुस्लिम विवाह की शर्तें
(Conditions of Muslim Marriage)

मुस्लिम विवाह के लिए कुछ शर्तों का होना आवश्यक है, जिनम से मुख्य निम्न हैं—

(१) प्रत्येक मुसलमान जो बालिग (१५ वर्ष की अवस्था का) हो चुका हो तथा जो पागल न हो अर्थात् सही दिमाग का हो, निकाह के लिए समझौता कर सकता है। पागल तथा नाबालिग बच्चो के निकाह के लिए उनके सरक्षको (वली) की स्वीकृति आवश्यक है।

विवाह के समय यदि लडके-लडकी मे से कोई भी नाबालिग हो, तो उसे बालिग या वयस्क होने पर विवाह-बन्धन को समाप्त करने का अधिकार रहता है। इसे 'खैरुल बालिग' (Option of Puberty) कहते हैं। लेकिन साधारणत पिता या दादा द्वारा किये गए विवाह, मुसलमानों के परम्परागत नियमो के अनुसार, इस आधार पर समाप्त नहीं किए जा सकते।

(२) विवाह की स्वीकृति दोनो पक्षों की स्वतन्त्र इच्छा से होनी चाहिए न कि धोखे या जबरदस्ती से।

(३) विवाह की स्वीकृति मिलने के अवसर पर दो पुरुष गवाहों अथवा एक पुरुष और दो स्त्री गवाहों का होना आवश्यक है।

(४) विवाह के लिए लडके-लडकी की स्वीकृति काजी के सम्मुख होनी चाहिए।

(५) मुसलमानों में एक स्त्री एक ही पुरुष से विवाह कर सकती है, परन्तु एक पुरुष एकसाथ चार स्त्रियों से विवाह कर सकता है। स्त्री पहले पति के तलाक देने या उसकी मृत्यु के बाद ही दूसरा विवाह कर सकती है।

(६) मुसलमान स्त्री केवल मुसलमान पुरुष के साथ ही विवाह कर सकती है, परन्तु मसलमान पुरुष किताबिया स्त्री से भी विवाह कर सकता है। जो धर्म किसी किताब पर आधारित है, उसके अनुयायियों को किताबिया कहते हैं—जैसे ईसाई। मुसलमान पुरुष को अग्नि-पूजक या मूर्ति-पूजक स्त्री के साथ सामान्य विवाह की आज्ञा नही दी गई है, वह ऐसी स्त्री के साथ अस्थायी विवाह कर सकता है जिसे मुताह के नाम से पुकारते हैं।

(७) विवाह की एक शर्त के रूप में यह भी आवश्यक है कि 'मेहर' की राशि चुका दी गई हो या इसको निश्चित कर लिया गया हो।

(८) विवाह के समय लड़के-लडकी का सामान्य स्थिति में होना आवश्यक है, अर्थात् वे मादक द्रव्य, जैसे शराब आदि के नशे में न हों।

(९) जो स्त्री इद्दत की अवधि (चार मासिक धर्मों के बीच की तीन महिने की अवधि) में हो, उसके साथ विवाह को अनियमित माना गया है।

(१०) अति निकट के सम्बन्धियों में विवाह वर्जित है, अर्थात् निषिद्ध सम्बन्धों की श्रेणी में आने वाले लोगों का आपस में वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित नही हो सकता। उदाहरण के रूप में मुसलमानों में कोई भी माता, दादी, पुत्री, दोहती, सगी बहन, चाची, मामी तथा भाई-बहन की लडकियों से विवाह नही कर सकता। इनसे विवाह निषिद्ध है, परन्तु भाइयों की सन्तानों में आपस में विवाह हो सकते है। मुसलमानों में कोई भी पुरुष चचेरी या सौतेली बहन से विवाह कर सकता है।

(११) मुसलमानों में तीर्थ-यात्रा के समय वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित नही किय जा सकते।

मुस्लिम विवाह में मेहर
(Dower in Muslim Marriage)

मुस्लिम समाज में विवाह के समय लडके की ओर से लडकी को 'मेहर' अर्थात् कुछ धन राशि दी जाती अथवा देने का वायदा किया जाता है। सामाजिक और कानूनी दृष्टि से स्त्री को मेहर प्राप्त करने का अधिकार दिया गया है। मेहर की रकम विवाह के पूर्व-विवाह के समय या उसके पश्चात् निश्चित की जा सकती है। यह एक ऐसा अधिकार चला आ रहा है जिससे पुरुषों की स्वच्छाचारिता तथा तलाक देने के अधिकार पर कुछ नियन्त्रण रहता है।

मेहर का कुछ लक्षणों के आधार पर कन्या मूल्य कहा जा सकता है। मेहर का सम्बन्ध पति के यौन-अधिकार के साथ पाया जाता है। पति के साथ यौन सम्बन्ध स्थापित होने के पश्चात् ही पत्नी को मेहर की पूर्ण राशि प्राप्त करने का अधिकार मिलता है। मेहर नही देने पर पत्नी कानूनी दृष्टि से पति को यौन-सम्बन्धों के लिए इन्कार कर सकती है।

विधवा की अपेक्षा कन्या के लिए मेहर अधिक होता है। मेहर का अधिकार स्वतन्त्र स्त्री को ही होता है, गुलाम स्त्री के मेहर की राशि प्राप्त करने का अधिकार उसके मालिक को होता है। इन लक्षणों से ऐसा प्रतीत होता है कि मेहर का कन्या-मूल्य के साथ सम्बन्ध रहा है। प्राचीन अरब समाज में मेहर कन्या-मूल्य के रूप में था क्योंकि उस समय यह राशि, जिसे 'सदक' कहते थे, कन्या के पिता को प्रदान की जाती थी। इस्लाम में इस स्थिति में सुधार लाया गया और इस्लामी कानून ने कन्या-मूल्य की प्रथा को परिष्कृत कर उसे मेहर का रूप दे दिया। मेहर को कन्या-मूल्य नहीं कहा जा सकता क्योंकि इसे प्राप्त करने का अधिकार लड़की को होता है न कि उसके पिता या अन्य रिश्तेदारों को। इसके अतिरिक्त विवाह के लिए स्वयं लड़की की स्वीकृति आवश्यक होती है। यदि मेहर कन्या-मूल्य मात्र होती तो लड़की की स्वीकृति के स्थान पर उसके पिता की स्वीकृति ली जाती और साथ ही मेहर की रकम पहले से निश्चित की जाती, परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। स्वीकृति लड़की की आवश्यक है और मेहर की रकम का निर्धारण विवाह के बाद में भी हो सकता है। ऐसी दशा में मेहर को कन्या मूल्य नहीं माना जा सकता। मेहर के चार मुख्य प्रकार हैं—

१. निश्चित मेहर (Specified Dower) :

यह वह मेहर है जो दोनों पक्षों द्वारा विवाह के पूर्व या विवाह के समय निश्चित रूप से तय कर ली जाती है। कभी-कभी मेहर की राशि का निर्धारण विवाह के पश्चात् भी होता है। मेहर की राशि कम से पाँच रुपये तक हो सकती है और अधिक से हजारों रुपए तक।

२. उचित मेहर (Proper Dower)

यह वह मेहर है जिसे अदालत निश्चित करती है। जब विवाह के पूर्व या विवाह के समय मेहर निश्चित नहीं किया जाता, तो ऐसी दशा में अदालत लड़के तथा उसके पिता की आर्थिक स्थिति को ध्यान में रखते हुए और साथ में इस बात पर भी विचार करते हुए कि पत्नी की अन्य बहनों को क्या मेहर मिला है, मेहर निश्चित करती है। मेहर निश्चित करने का प्रश्न उस समय उपस्थित होता है, जब या तो पत्नी इसके लिए माँग करे या विवाह विच्छेद की स्थिति आ जाए। इस मेहर की राशि का निर्धारण मुस्लिम कानून 'शरीयत' के अनुसार भी हो सकता है।

३ सत्वर मेहर (Prompt Dower)

यह वह मेहर है जो विवाह के समय या विवाह होते ही तुरन्त दी जाती है। इस मेहर के लिए पत्नी द्वारा जब भी माँग की जाती है, तभी फौरन देनी पड़ती है। इस प्रकार की मेहर का प्रचलन बहुत ही कम पाया जाता है।

४. स्थगित मेहर (Deferred Dower) :

यह वह मेहर है जो विवाह के समाप्त होने पर चुकाई जाती है। विवाह या तो किसी एक पक्ष की मृत्यु होने पर या विच्छेद होने पर समाप्त होता है। दोनों पक्ष यह निश्चित कर सकते हैं कि कितना मेहर सत्वर है और कितना स्थगित। इस प्रकार के मेहर का प्रचलन मुसलमानों में सबसे अधिक है।

मुसलमानों में मेहर के प्रचलन का एक उपयोगी पक्ष पाया जाता है। मेहर होने से पति द्वारा पत्नी को तलाक दिए जाने की सम्भावना कम रहती है क्योंकि ऐसी दशा में

पति को मेहर की राशि चुकानी पडती है। परिणाम यह होता है कि वह विवाह-विच्छेद के अधिकार का महर के कारण मनमाना उपयोग नही कर पाता है। मेहर के कारण एक स अधिक स्त्रियो के साथ विवाह करने का पुरुष का अधिकार कुछ नियन्त्रित हो जाता है। कई पुरुष एक से अधिक स्त्रियो के लिए मेहर जुटाने की स्थिति म नही होते हैं। महर के कारण परिवार मे साधारण स्त्री की स्थिति सुदृढ रह सकी है, किसी भी प्रकार क शोषण की दशा मे स्त्री महर की माग प्रस्तुत कर सकती है। इन्ही सब कारणो से मुस्लिम कानून से मेहर के निर्धारण को मान्यता प्रदान की गई है।

मुस्लिम विवाह के भेद
(Forms of Muslim Marriage)

मुस्लिम विवाह के तीन प्रमुख प्रकार हैं —

प्रथम निकाह, द्वितीय मुताह और तृतीय फासिद विवाह।

(१) निकाह (Permanent Marriage)—निकाह को 'सही विवाह भी कहते हैं। ये साधारणत स्थायी प्रकृति के होते हैं और पति-पत्नी की पारस्परिक सहमति से होते हैं तथा विच्छेद नही होने तक चलत रहते है। ऐसे विवाह मुस्लिम रीति रिवाजो के अनुसार सम्पन्न होते हैं। मुस्लिम लोगो मे विवाह का यह प्रकार सबसे अधिक प्रचलित है। सुन्नियो मे विवाह के इसी प्रकार को मान्यता प्रदान की जाती है।

(२) मुताह (Temporary Marriage)—यह अस्थायी प्रकार का विवाह है और केवल मुस्लिम समाज म ही मान्य है। मुसलमानो म सुन्नियो के अनुसार केवल स्थायी विवाह (निकाह) ही हो सकता है परन्तु शिया लोगो क अनुसार, अस्थायी विवाह भी हो सकता है जिसे मुताह (Mutah) कहते है। एसे विवाह ईरान आदि शिया देशो म पाए जाते हैं। मुताह विवाह के लिए यह आवश्यक है कि सहवास का समय निश्चित हो, अर्थात् यह पहले से तय कर लिया जाता है कि यह विवाह एक दिन, एक मास, एक वष या अवधि विशेष के लिए किया गया है। अवधि के पूण होने पर ऐसा विवाह स्वत ही समाप्त हो जाता है। पति-पत्नी चाहे, तो एस विवाह को स्थायी रूप भी प्रदान कर सकत हैं। एसे विवाहो मे मेहर का निश्चित रूप से उल्लेख किया जाता है। महर के निश्चित होने के उपरान्त भी सहवास के समय के अनिश्चित होने पर ऐसे विवाह अवैध माने जाते हैं। जहा सहवास का समय निश्चित है और महर चाह निश्चित नही भी की गई है तो भी ऐस विवाह वैध मान जात है।

एसे विवाहो से उत्पन्न बच्चो का पिता की सम्पत्ति मे हिस्सा प्राप्त करने का अधिकार होता है। परन्तु पत्नी को न तो पति की सम्पत्ति मे कोई हिस्सा प्राप्त होता है और न ही पति से भरण-पोषण का अधिकार मिलता है। ऐसे विवाह की अवधि क पूण होने के पहले ही यदि पति पत्नी का छोडना चाहे, तो उसे महर की पूरी राशि चुकानी पडती है। यदि पत्नी विवाह की अवधि समाप्ति के पूव ही पति के साथ वैवाहिक सम्बन्ध समाप्त करना चाह, तो उसे महर का कुछ भाग छोडना पडता है।

कानूनी तौर स शिया लोगा को एस विवाह की आज्ञा प्राप्त होने पर भी इनका भारतवष म प्रचलन नहीं पाया जाता। यद्यपि मुहम्मद साहब ने ऐसे विवाहा को अच्छी दृष्टि से नही देखा, तथापि मुताह विवाह उनके समय म और उनके बाद भी प्रचलित

रहे।[3] ऐसे विवाहो का वर्णन कुरान मे पाया जाता है और इसी कारण शिया लोग ऐसे विवाहो को व्यवहार मे लाना अनुचित नही समझते। मुताह विवाह के लोकप्रिय नही होने के सम्बन्ध मे स्मिथ नामक विद्वान ने बतलाया है कि ऐसे विवाह मे स्त्री अपना घर नहीं छोड़ती थी, उसके लोग उस पर अपने अधिकार भी नही छोड़ते थे, और उस विवाह से होने वाली सन्तान भी पति की नही होती थी। ऐसे विवाह ने स्त्री को बहुत अधिक स्वतन्त्रता प्रदान की और इससे उत्पन्न सन्तान के पति के गोत्र के साथ सम्बन्ध को भी मान्यता प्रदान नहीं की।[4]

स्मिथ ने मुताह के लोकप्रिय नही होने के जो कारण बतलाए हैं, उनके अतिरिक्त भी कुछ और कारण हैं, जिनकी वजह से इस्लाम का रुख मुताह विवाह के विरुद्ध रहा है। मुहम्मद साहब ने ऐसे विवाह को वेश्यावृत्ति की बहिन कहा है। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्व काल के अरब समाज मे ऐसे विवाहो का प्रचलन होने से उन्हें मुताह के लिए अपनी स्वीकृति देनी पडी। मुताह के विरोध का मुख्य कारण यह था कि समकालीन इस्लामी समाज के अरब पारिवारिक सगठन मे, पितृसत्तात्मक व्यवस्था का प्रभाव बढता जा रहा था और मुताह मे पारिवारिक जीवन पर मातृसत्तात्मक व्यवस्था का स्पष्ट प्रभाव था। ऐसी दशा मे मुताह और इस्लाम मे विरोध होना स्वाभाविक था। इसके अलावा मुताह स्त्री को यौन-जीवन मे काफी स्वतन्त्रता प्रदान करता है और मुहम्मद साहब इस समय के अरब समाज मे प्रचलित यौन अनैतिकता को कम करना चाहते थे, वे अरब के यौन-आचरण पर पवित्र प्रभाव डालना चाहते थे। ऐसी दशा मे मुताह की निन्दा करना अनिवार्य था। साथ ही मुहम्मद साहब मुस्लिम विवाह को स्थायित्व प्रदान करना चाहते थे, और क्योकि मुताह अस्थायी विवाह था, इस कारण इस्लाम द्वारा इसका विरोध किया जाना आवश्यक ही था। मुताह के प्रति इस्लाम के दृष्टिकोण से ऐसा प्रतीत होता है कि मुहम्मद साहब ने अरब समाज मे सुधार लाने हेतु पूर्ण प्रयत्न तो अवश्य किया, परन्तु वे इस प्रयत्न मे आशिक रूप से ही सफल हुए, वहा के समाज को अपनी इच्छाओ और आदर्शों के अनुसार नही ढाल पाए।

(३) फासिद विवाह (Irregular Marriage)—विवाह के बीच कोई कठिनाई आए अर्थात् किन्ही कारणो से कुछ अनियमितताएँ रह जाएँ और उन्हें दूर किए बिना ही विवाह कर लिया जाए, तो ऐसे विवाह को फासिद विवाह कहते हैं। ऐसे विवाह मे आने वाली कठिनाइयो या अनियमितताओ को दूर करने पर विवाह नियमित माने जाते हैं। यदि कोई मुसलमान पाचवी स्त्री से, किसी मूर्तिपूजक स्त्री से या बिना गवाहो की उपस्थिति के, विवाह कर ले, तो ऐसा विवाह फासिद विवाह कहलाता है। ऐसा विवाह उस समय 'सही विवाह' या नियमित विवाह हो जाता है जब पहली चार पत्नियों मे से किसी को तलाक दे दिया जाए, स्त्री धर्म परिवर्तन करके मुसलमान बन जाए या बाद मे विवाह के लिए गवाही ले ली जाए।

---

3. K. M. Kapadia, Ibid, p. 185.
4. R. Smith, quoted by K. M. Kapadia, Ibid, p. 186

मुसलमानो मे विवाह-विच्छेद
(Divorce Among Muslims)

मुस्लिम विवाह एक समझौता माना गया है न कि धार्मिक सस्कार। इसे जन्म-जन्मातर का सम्बन्ध नही माना गया है। ऐसी दशा मे मुसलमानो मे इस समझौते को समाप्त करने की व्यवस्था भी की गई है, विवाह-विच्छेद को उनमे न्यायसगत माना गया है। मुस्लिम समाज मे, अन्य समाजो की तुलना मे विवाह-विच्छेद की प्रक्रिया अत्यन्त सरल है। प्राचीन अरबी समाज मे 'खोल' की प्रथा पाई जाती थी, जिसके अनुसार लडकी का पिता उसके विवाह मे प्राप्त 'सदक' (वधू-मूल्य) को लौटा कर उसे उसके पति से मुक्त करा सकता था। लेकिन धीरे-धीरे 'सदक' का स्थान 'मेहर' ने ले लिया और ऐसी स्थिति मे सदक को लौटा कर लडकी को पति से स्वतन्त्र करा लेने की प्रथा समाप्त हो गई। अब केवल कुछ विशिष्ट परिस्थितियो मे ही पत्नी मेहर को लौटा कर विवाह-विच्छेद कर सकती थी और वह भी उस स्थिति मे जब पति इसके लिए तैयार हो। इस्लाम और उसके कानून के अनुसार, विवाह-विच्छेद का अधिकार पुरुषो को ही दिया गया है, स्त्रियो को नही। पुरुष बिना अदालत की सहायता के, कभी भी अपनी पत्नी को तलाक दे सकता है। तलाक देने के लिए पति को कोई कारण बतलाने की आवश्यकता नही पडती। वह पत्नी को, उसके द्वारा किसी प्रकार की कोई गलती नही होने पर भी, तलाक दे सकता है। स्त्री को यह अधिकार नही दिया गया है। वह स्वेच्छा से अपने पति की इच्छा के विरुद्ध कभी भी विवाह-विच्छेद नही कर सकती। परम्परागत मुस्लिम नियम स्त्री को विवाह-विच्छेद का अधिकार नही देते। स्त्री उसी अवस्था मे तलाक दे सकती है जब उसका पति इसके लिए राजी हो। जिन परिस्थितियो मे स्त्री को तलाक का अधिकार दिया गया है, वहा भी तलाक का स्रोत पति ही प्रतीत होता है। 'खुला' नामक विवाह-विच्छेद के प्रकार मे स्त्री मेहर की राशि को लौटा कर विच्छेद की माग तो कर सकती हैं, परन्तु वह होगा तभी, जब पति इसके लिए तैयार हो। अत स्पष्ट है कि मुस्लिम परम्परागत नियम पुरुष को विवाह-विच्छेद सम्बन्धी विशेष अधिकार प्रदान करता है। इस क्षेत्र मे इस्लामी कानून का झुकाव स्पष्टत पुरुष के पक्ष म है।

अब मुस्लिम स्त्री भी तलाक दे सकती है, परन्तु अदालत की सहायता से। मुस्लिम विवाह-विच्छेद अधिनियम, १९३९ (Dissolution of Muslim Marriage) के अनुसार, पत्नी भी अदालत के माध्यम से विवाह-विच्छेद कर सकती है। यद्यपि मुस्लिम समाज मे स्त्री-पुरुषो को विवाह-विच्छेद का अधिकार प्राप्त है तथापि इन विवाहो मे स्थिरता दिखलाई पडती है। मुसलमानो मे विवाह विच्छेद अच्छा नही समझा गया है और वैवाहिक जीवन मे सफल नही होने पर इसे अन्तिम साधन के रूप मे बतलाया गया है। मुसलमानो मे दो प्रकार से विवाह-विच्छेद हो सकता है—(१) बिना अदालत की सहायता के अर्थात् परम्परागत या प्रथागत नियमो के अनुसार तथा (२) अदालत की सहायता से अर्थात् कानूनी तरीके से। यहा सर्वप्रथम तलाक के प्रथागत स्वरूप पर विचार किया जा रहा है।

तलाक के प्रथागत स्वरूप
(Customary forms of Divorce)

मुस्लिम समाज मे साधारणत तलाक बिना अदालत की सहायता के होते हैं। पुरुष

को इस दृष्टि से व्यापक अधिकार प्राप्त हैं। तलाक के प्रथागत स्वरूप ये हैं—

(१) तलाक (Talak)—मुस्लिम कानून के अनुसार कोई भी स्वस्थ मस्तिष्क वाला मुसलमान, जो वयस्क है (१५ वर्ष की आयु प्राप्त है), कारण बतलाए बिना भी अपनी पत्नी को तलाक दे सकता है। यह तलाक केवल शब्दो के उच्चारण-मात्र से ही पूर्ण हो जाता है। यदि पति दबाव या नशे की हालत मे या पत्नी की अनुपस्थिति में 'तलाक' का उच्चारण कर देता है, तो भी तलाक वैध माना जाता है। शिया कानून के अनुसार तलाक के लिए दो योग्य गवाहों की उपस्थिति म तलाक का उच्चारण आवश्यक है, परन्तु सुन्नी कानून के अन्तर्गत गवाहो की कोई जरूरत नहीं है। तलाक की घोषणा स्वयं या अपने किसी प्रतिनिधि द्वारा की जा सकती है। तलाक लिखित रूप म भी हो सकता है और अलिखित रूप म भी। अलिखित तलाक के तीन प्रकार हैं—

(अ) तलाके अहसन (Talak Ahasan)—तलाक के इस प्रकार म पति, पत्नी के 'तुहर' (मासिक धर्म) के समय एक बार तलाक की घोषणा कर देता है। इसके बाद 'इद्दत' की अवधि म वह पत्नी के साथ यौन-सम्बन्ध स्थापित नहीं करता और इस अवधि के समाप्त होने पर तलाक हो जाता है। इद्दत तलाक की घोषणा के बाद चार मासिक धर्मों के बीच की अवधि को कहते हैं। यह अवधि प्रायः तीन मास की होती है। इस अवधि मे यदि पति पत्नी के साथ सहवास नहीं करता तो अवधि की समाप्ति पर तलाक हो जाता है। इद्दत की अवधि का प्रमुख लक्ष्य यह ज्ञात करना होता है कि स्त्री गर्भवती तो नहीं है। साथ ही इस अवधि में पति को अपने तलाक सम्बन्धी निर्णय पर पुनः विचार करने का अवसर मिल जाता है। इस अवधि म यदि वह अपने निर्णय को बदलना चाहे तो पत्नी के साथ सहवास कर लेता है और ऐसी दशा म तलाक की घोषणा वापस ले ली जाती है।

(ब) तलाके हसन (Talak Hasan)—तलाक के इस प्रकार म पति को तीन तुहरो के अवसर पर तलाक की घोषणा को दोहराना पड़ता है। इन तीन तुहरो की अवधि के बीच वह स्त्री के साथ सहवास भी नहीं करता। इस अवधि के बाद तलाक पूर्ण हो जाता है।

(स) तलाके उल-बिद्दत (Talak-ul-b.dd t)—यह तलाक का अत्यन्त सरल तरीका है। किसी भी मासिक धर्म के अवसर पर पति, पत्नी या उसके किसी गवाह की अनुपस्थिति म भी, तलाक की एक बार स्पष्ट घोषणा कर देता है और तलाक हो जाता है। कभी कभी एक ही मासिक धर्म के अवसर पर, थोड़े-थोड़े समय के बाद तलाक की तीन बार घोषणा की जाती है और फिर तलाक पूर्ण हो जाता है। तुहर के अवसर पर तलाक की घोषणा का उद्देश्य यही है कि यह ज्ञात हो जाए कि तलाक के अवसर पर स्त्री गर्भवती तो नहीं है।

(२) इला (Ila or Vow of Continence)—जब पति कसम खाकर चार महीने या इससे अधिक समय तक, पत्नी के साथ किसी प्रकार का यौन-सम्बन्ध नहीं रखने की प्रतिज्ञा करता है, तो इसे 'इला' कहते हैं। इस अवधि के पश्चात् विवाह विच्छेद हो जाता है। यदि इस काल म वह पत्नी के साथ यौन-सम्बन्ध कर लेता है तो इला टूट जाता है विवाह विच्छेद नहीं होता है। विवाह विच्छेद की यह रीति अब अधिक प्रचलित नहीं है।

(३) जिहर (Zihar or Illegal Comparison)—जिहर का तात्पर्य है—गैर-कानूनी तुलना के द्वारा विवाह विच्छेद। यदि पति अपनी पत्नी की तुलना किसी ऐसी स्त्री सम्बन्धी से करता है, जिसके साथ विवाह सम्बन्ध वर्जित है, तो पत्नी ऐसी तुलना के लिए पति को प्रायश्चित करने को कहती है। पति यदि प्रायश्चित नही करता, तो पत्नी अदालत मे विवाह-विच्छेद की मांग कर सकती है। अदालत ऐसी दशा मे विवाह-विच्छेद करा देती है।

(४) खुला (Khula or Redemption)—खुला विवाह-विच्छेद का वह प्रकार है, जिसमे पत्नी पति से विवाह-विच्छेद के लिए प्रार्थना करती है और पति के वैवाहिक अधिकारो की समाप्ति के बदले मे प्रतिफल के रूप मे या मेहर को वापस लौटाकर, क्षति-पूर्ति का वादा करती है। यदि पति इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लेता है तो विवाह विच्छेद मान लिया जाता है।

(५) मुबारत (Mubarrat or Mutual Separation)—यह विवाह विच्छेद पति पत्नी की पारस्परिक सहमति (Mutual Consent) के आधार पर होता है। इसमे दोनो ओर से तलाक की इच्छा प्रकट की जाती है। 'खुला' मे पत्नी पति को कुछ धन देती है, परन्तु यहां उसे कुछ भी देने की आवश्यकता नही पडती है। ऐसे विवाह विच्छेद के लिए पत्नी को 'इद्दत' करना होता है और पति को इस अवधि मे उसे अपने घर ही रखना पडता है।

(६) लियान (Lian or False charge of Adultery)—इसमे पति, पत्नी पर व्यभिचार का आरोप लगाता है। पत्नी इस आरोप का खण्डन करती है और अदालत से प्रार्थना करती है कि या तो पति अपने इस आरोप को वापस ले ले या खुदा को हाजिर-नाजिर समझकर घोषणा करे कि यह आरोप सत्य है। यदि पति का आरोप झूठा सिद्ध होता है तो पत्नी को विवाह विच्छेद का अधिकार मिल जाता है और वह अदालत की सहायता से विवाह विच्छेद कर सकती है। यदि पति अपना आरोप वापस ले लेता है तो मुकदमा नही चलता है।

(७) तलाके तफबीज (Talak Thafabeej)—विवाह-विच्छेद के इस प्रकार मे पत्नी द्वारा तलाक की माग की जाती है। यह मांग विवाह के समय पति द्वारा पत्नी को दिए गए अधिकार के आधार पर की जाती है।

न्यायिक तलाक
(Judicial Divorce)

शरीयत अधिनियम (Shariat Act), १९३७ के पहले पत्नी दो आधारों पर विवाह-विच्छेद कर सकती थी। वे आधार ये हैं—

१ पति का नपुंसक होना।

२ पति द्वारा पत्नी पर लगाया गया व्यभिचार का आरोप गलत सिद्ध होना।

शरीयत अधिनियम, १९३७ के अनुसार, इला (Illa) और जिहर (Zihar) के आधार पर भी विवाह-विच्छेद किया जा सकता है।

सन् १९३९ म पारित हुए 'मुस्लिम विवाह-विच्छेद अधिनियम' (Dissolution of Muslim Marriage Act) द्वारा मुस्लिम स्त्रियों की विवाह विच्छेद सम्बन्धी अभी

निर्योग्यताएँ एव असमानताएँ दूर कर दी गई हैं, और उन्हे विवाह-विच्छेद सम्बन्धी अनेक अधिकार प्रदान किये गए हैं। इन अधिकारो के प्राप्त होने से मुस्लिम स्त्रियो की स्थिति मे काफी सुधार हुआ है।

उपर्युक्त विवरण से ऐसा प्रतीत होता है कि मुसलमानो मे तलाक एक सामान्य घटना है और विशेष रूप से पुरुषों के लिए तलाक बहुत सरल है, परन्तु वास्तव मे मुसलमानो मे तलाक बहुत ज्यादा नहीं होते हैं। मुहम्मद साहब तलाक के अधिकार के कम-से-कम प्रयोग के पक्ष में थे। वे विवाह और परिवार को स्थायित्व प्रदान करना चाहते थे तथा तलाक के अधिकार और प्रयोग को सीमित। उन्होने तलाक की आज्ञा उसी स्थिति मे दी है जब दोनो पक्षो को यह भय हो कि वे ईश्वरीय सीमा के भीतर नही रह सकते, एक मुस्लिम जनश्रुति के अनुसार विवाह-विच्छेद कानून-सम्मत तो है, परन्तु ईश्वर उसे पसन्द नहीं करता। तलाक सम्बन्धी अपने निर्णय पर पुन विचार करने और तलाक को नियन्त्रित करने के उद्देश्य से ही 'इद्दत' की अवधि पर इतना जोर दिया गया है। डा० कापडिया ने बतलाया है कि "अपने जीवन के अन्त मे पैगम्बर इतने आगे बढ गए कि उन्होने पचो अथवा न्यायाधीशो के हस्तक्षेप के बिना इसका उपयोग पुरुषो के लिए करीब-करीब निषिद्ध-सा ही कर दिया।"[5] आपने आगे बतलाया है कि बाद के न्याय शास्त्रियों ने विवाह-विच्छेद की आवृत्ति को सीमित करने का प्रयत्न किया। उनके अनुसार, पति द्वारा चाहा गया तलाक वास्तव मे पत्नी की सहमति के बिना निषिद्ध था। अत "हनाफी, मलिकी, शफी और अधिकाश शियाह विवाह विच्छेद की आज्ञा तो देते हैं, परन्तु बिना कारण इसका उपयोग न्यायसम्मत नही मानते।" स्पष्ट है कि, चाहे मुहम्मद साहब के पूर्व अरब समाज मे विवाह-विच्छेद का काफी प्रचलन रहा हो तथापि वे इसके पक्ष मे नही थे। उन्होने तलाक को सीमित कर परिवारो मे स्थिरता लाने का काफी प्रयास किया। इस सम्बन्ध मे भट्टी (Bhatty) ने लिखा है कि इस्लामी कानून का उद्देश्य पुरुष के द्वारा तलाक दिये जाने को सरल से सरल और स्त्री के लिए कठोर-से-कठोर बनाना रहा है।[6] कानून की दृष्टि से तलाक के सम्बन्ध मे स्त्री की स्थिति निराशाजनक अवश्य प्रतीत होती है परन्तु व्यवहार मे वास्तव मे ऐसा नही है। इम्तियाज अहमद ने अपनी पुस्तक मे वर्णित विभिन्न मुस्लिम समुदायों के अध्ययन से प्राप्त प्रमाणो के आधार पर बताया है कि तलाक अधिकतर समूहों मे सामाजिक दृष्टि से अस्वीकृत है और इससे न केवल तलाक करने वाले दोनो पक्षो की बल्कि उनके परिवारो की भी सामाजिक प्रतिष्ठा गिरती है। यही कारण है कि मुसलमानो मे तलाक बहुत कम होते हैं। साथ ही, सामाजिक प्रथा के अन्तर्गत कुछ सगठनात्मक साधनो को स्वीकार किया गया है जिनके माध्यम से स्त्री अपने पति को तलाक के लिए बाध्य कर सकती है।[7] यद्यपि इस्लामी कानून के अनुसार बहु विवाह तथा तलाक की दृष्टि से स्त्री की स्थिति कमजोर है, लेकिन व्यवहार रूप मे इन दोनो ही मामलो मे सामाजिक प्रथा कानून के प्रावधानो से काफी भिन्न है।

---

5 K M Kapadia, Ibid, pp 190-191

6 Imtiaz Ahmad, Family, Kinship and Marriage among Muslims in India (1976) p XXVII

7 Ibid, p XXVII.

मुस्लिम विवाह-विच्छेद अधिनियम, १९३९
(Dissolution of Muslim Marriage Act, 1939)

मुस्लिम समाज मे पुरुषो को विवाह-विच्छेद सम्बन्धी अनेक अधिकार प्राप्त हैं और वे इच्छानुसार, कभी भी अपनी पत्नी को तलाक दे सकते है। परन्तु स्त्रियाँ अपने पति की इच्छा के विरुद्ध कभी भी तलाक नही दे सकती और वे अनेक निर्योग्यताओ से पीडित हैं। इन निर्योग्यताओं को दूर करने के उद्देश्य से सन् १९३७ मे मुस्लिम शरीयत अधिनियम (Muslim Shariat Act) पारित किया गया। इसके अन्तर्गत मुस्लिम स्त्रियो को इला और जिहर के आधार पर विवाह-विच्छेद करने का अधिकार दिया गया है। इसके पारित होने के उपरान्त भी स्त्रियो को पुरुषो के समान विवाह-विच्छेद सम्बन्धी अधिकार प्राप्त नही हुए और अन्त मे १९३९ मे मुस्लिम विवाह-विच्छेद अधिनियम (Dissolution of Muslim Marriage Act, 1939) पारित हुआ। यह अधिनियम मुस्लिम शरीयत अधिनियम, १९३७ में संशोधन करने के उद्देश्य से पारित किया गया था। मुस्लिम विवाह-विच्छेद अधिनियम, १९३९ के अनुसार, स्त्रियो को विवाह-विच्छेद सम्बन्धी पूर्ण अधिकार प्रदान किए गए है। *इस अधिनियम मे ६ धाराएँ है, जिनमे धारा २ अत्यन्त महत्वपूर्ण है।* इसके अनुसार, एक स्त्री जिसका विवाह मुस्लिम कानून के अनुसार हुआ है, निम्नलिखित आधारो पर विवाह-विच्छेद के लिए प्रार्थना पत्र देकर राजाज्ञा प्राप्त कर सकती है—

(१) यदि पति के बारे मे चार वर्ष तक कोई सूचना प्राप्त नही हुई हो।

(२) यदि पति लगातार दो वर्ष तक अपनी पत्नी के भरण-पोषण की व्यवस्था करने मे असफल रहा हो।

(३) यदि पति को सात या अधिक वर्षो के लिए जेल की सजा हो चुकी हो। इस आधार पर तलाक उस समय दिया जा सकता है, जब सात वर्ष की सजा का आखिरी फैसला हो चुका हो।

(४) यदि पति तीन वर्ष से बिना किसी पर्याप्त कारण के अपने वैवाहिक कर्त्तव्यो को पूर्ण नही कर रहा हो।

(५) यदि यह सिद्ध हो जाए कि पति विवाह के समय नपुसक था और यही अवस्था तलाक के समय भी जारी है। लेकिन पति अदालत मे प्रार्थना-पत्र दे सकता है कि उसे एक वर्ष का समय और दिया जाए और यदि वह इस अवधि के पश्चात् अपने ठीक होने का प्रमाण प्रस्तुत कर दे तो तलाक नहीं मिलता है।

(६) यदि पति दो वर्ष से पागल हो या कुष्ठ अथवा सक्रामक यौन-रोग से पीडित हो।

(७) यदि उसका विवाह १५ वर्ष से कम की आयु मे उसके पिता या अन्य सरक्षक द्वारा कर दिया गया हो और इस अवधि मे पति-पत्नी का यौन-सम्बन्ध न हुआ हो तथा लडकी ने १८ वर्ष की आयु के पूर्ण होने के पहले ही ऐसे विवाह के विरुद्ध प्रतिवेदन कर दिया हो।

(८) यदि पति, पत्नी के साथ क्रूरतापूर्ण व्यवहार करे, जैसे—

(अ) उसे प्राय पीटता हो या अन्य प्रकार से क्रूरता का व्यवहार करता हो,

(ब) चरित्रहीन स्त्रियो के साथ सम्पर्क रखता हो,

(स) पत्नी को व्यभिचारपूर्ण जीवन व्यतीत करने को बाध्य करता हो,

(द) उसकी सम्पत्ति को बेचता हो या उसके साम्पत्तिक अधिकारो के प्रयोग मे बाधा डालता हो,

(य) पत्नी के धार्मिक कार्यों मे बाधा डालता हो,

(र) एक से अधिक पत्नियाँ रखकर कुरान के अनुसार सबके साथ समान व्यवहार न करता हो ।

(९) किसी अन्य आधार पर, जो मुस्लिम कानून के अनुसार विवाह-विच्छेद के लिए मान्य हो ।

हिन्दू और मुस्लिम विवाह मे तुलना
(Comparison between Hindu and Muslim Marriage)

हिन्दू विवाह और मुस्लिम विवाह दो भिन्न सस्कृतियो की देन हैं और इसी कारण इन दोनों प्रकार की विवाह-पद्धतियों मे अनेक अन्तर पाए जाते हैं । साथ ही इन विवाह पद्धतियो मे कुछ समानताएँ भी पाई जाती हैं, जो इस प्रकार हैं—

हिन्दू और मुस्लिम विवाह मे समानताएँ
(Similarities between Hindu and Muslim Marriage)

(१) **बहुपत्नी विवाह प्रथा (Polygyny)**—हिन्दू और मुस्लिम विवाहो म पहली समानता यह है कि इन दोनो मे बहुपत्नी विवाह प्रथा का प्रचलन रहा है । दोनो मे एक पुरुष को एक से अधिक स्त्रियो के साथ विवाह करने की आज्ञा रही है । लेकिन हम यहाँ यह नहीं भूलना चाहिए कि हजरत मुहम्मद ने कुरान-शरीफ में एक मुसलमान को चार स्त्रियो तक ही विवाह करने की आज्ञा दी है । हिन्दुओ मे इस प्रकार स्त्रियो की सख्या निश्चित नही की गई । उनमे मुख्य रूप से पुत्र-प्राप्ति के उद्देश्य मे बहुपत्नी विवाह प्रथा का प्रचलन हुआ । आपस्तम्ब धर्म सूत्र म बतलाया गया है कि सन्तान होने पर दूसरा विवाह नही करना चाहिए तथा निर्दोष पत्नी छोडने वालो को छ महीने गधे की खाल ओढ कर प्रायश्चित करना चाहिए । परन्तु बाद मे हिन्दुओ मे पत्नियो की सख्या पर कोई प्रतिबन्ध नही रहा और एक पुरुष कई स्त्रियो से विवाह करने लगा । १९५५ मे 'हिन्दू विवाह अधिनियम' द्वारा हिन्दुओ मे बहुपत्नी विवाह पूर्णत समाप्त कर दिए गए हैं । अब कोई भी हिन्दू एक पत्नी के जीवित रहते हुए दूसरा विवाह नही कर सकता है । मुसलमानों मे अभी भी एक पुरुष को चार स्त्रियो तक से विवाह करने की अनुमति है । आज आवश्यकता इस बात की है कि सविधान के नीति निर्देशक सिद्धान्तो को ध्यान मे रखते हुए प्रत्येक नागरिक के लिए सामान्य सहिता (Common code) हो ।

(२) **बाल विवाह (Child Marriage)**— हिन्दू तथा मुसलमान दोनो में ही बाल-विवाह प्रचलित हैं । आरम्भ मे मुस्लिम कानून के अनुसार बाल-विवाह अवैध थे, परन्तु जब मुसलमान भारत मे आए और अनेक हिन्दू भी मुसलमान बन गए, तो यहाँ मुसलमानो में बाल विवाहो का प्रचलन हुआ । मुस्लिम विवाह कानून के अन्तर्गत, उन लोगो को जिनका विवाह १५ वर्ष की आयु के पूर्व उनके सरक्षको द्वारा कर दिया जाता है, इस विवाह को अस्वीकार करने का अधिकार दिया गया है, जिसे 'ख्याल उल-बुलूग' कहते हैं । १९३९ के 'मुस्लिम विवाह विच्छेद अधिनियम' के अनुसार, जिनका विवाह १५ वर्ष की आयु के पूर्व

हो चुका है, उन्हे १८ वर्ष की आयु के पहले, ऐसे विवाह को मानने से इन्कार कर देने का अधिकार दिया गया है।

हिन्दू और मुस्लिम विवाह मे अन्तर
(Difference between Hindu and Muslim Marriage)

हिन्दू तथा मुस्लिम विवाह पद्धति मे अनेक अन्तर पाए जाते हैं, जो इस प्रकार हैं—

(१) हिन्दू विवाह एक पवित्र धार्मिक सस्कार है और मुस्लिम विवाह एक समझौता है (Hindu Marriage is a religious sacrament and Muslim Marriage is a contract)—हिन्दू विवाह एक धार्मिक सस्कार है जिसका मुख्य उद्देश्य पुत्र-प्राप्ति है। पुत्रो का कार्य अपने पितरो को पिण्ड दान देकर, उनका तर्पण आदि करके उन्हे मोक्ष प्राप्त करने म सहायता प्रदान करना है। दूसरी ओर, मुसलमानो मे विवाह एक सविदा या समझौता (Contract) है, जिसका प्रमुख उद्देश्य यौन सम्बन्ध तथा सन्तानोत्पादन है। हिन्दुओ मे यौन-सम्बन्ध या रति को विवाह का अन्तिम उद्देश्य माना गया है, जबकि मुसलमानो मे यौन-सम्बन्ध को प्रधानता दी गई है।

(२) हिन्दुओ मे दहेज तथा मुसलमानों मे मेहर की प्रथा (Dowry among Hindus and Dower among Muslims)—हिन्दुओ मे पत्नी अपने पिता के घर से दहेज के रूप मे धन लाती है जबकि मुसलमानों म पति, पत्नी को कुछ धन राशि जिसे 'मेहर' कहते है, देता है या देने का वादा करता है। हिन्दुओ म लडकी को दहेज दिया जाता है और मुसलमानो मे पति, पत्नी को मेहर देता है। मुस्लिम समाज म विवाह एक समझौता माना जाता है और इसी कारण समझौते की आवश्यक शर्त के रूप म पति, पत्नी को मेहर देता है। हिन्दू जिस प्रकार दहेज की कुप्रथा से परेशान है, उसी प्रकार मुसलमान मेहर की प्रथा स। हिन्दुओ म दहेज तथा मुसलमानों म मेहर को नियन्त्रित करने के लिए आन्दोलन चल रहे हैं।

(३) विवाह मे निषिद्ध सम्बन्ध (Prohibitions in Hindu and Muslim Marriage)—हिन्दुओं में सपिण्ड और सगोत्र विवाह वर्जित है। सपिण्ड मे पिता की ओर सात तथा माता की ओर पाँच पीढियो के अन्तर्गत आने वाले सम्बन्धियो म परस्पर विवाह नही हो सकते थे, परन्तु आजकल पिता की ओर पाँच तथा माता की ओर तीन पीढियो तक के लोगो मे ही परस्पर विवाह वर्जित हैं। मुसलमानो मे केवल कुछ निकट रक्त-सम्बन्धियो को छोडकर सबके साथ विवाह किया जा सकता है। इन निषिद्ध सम्बन्धो के कारण हिन्दुओ म विवाह का क्षेत्र बहुत सीमित है। मुसलमानो मे यह क्षेत्र इतना सीमित नही है, क्योकि उनमे कुछ अति निकट क रिश्तदारो को छोडकर बाकी सबम परस्पर विवाह हो सकते हैं।

(४) विवाह विच्छेद का अधिकार (Right to Divorce)—प्रचलित व्यवस्था के अनुसार हिन्दू विवाह एक अटूट बन्धन है जिसे केवल मृत्यु के बाद ही तोडा जा सकता है। यहा पति-पत्नी का सम्बन्ध जन्म-जन्मान्तर का माना जाता है, इसलिए हिन्दुओ म तलाक के द्वारा इस सम्बन्ध को समाप्त करने का प्रश्न ही उपस्थित नही होता। दूसरी ओर, मुस्लिम विवाह, पति-पत्नी के बीच एक समझौता ह, जिस कुछ विशष अवस्थाओ मे तोडा जा सकता है। इस्लाम क पुराने कानून के अनुसार, पति का तलाक सम्बन्धी विशष अधिकार प्रदान किए गए थे। वह केवल तीन बार 'तलाक' शब्द का उच्चारण

करके ही अपनी पत्नी को छोड सकता था । सन् १६३९ के 'मुस्लिम विवाह-विच्छेद अधिनियम' के अनुसार, अब पत्नी भी कुछ विशेष अवस्थाओ मे न्यायालय द्वारा पति को तलाक दे सकती है। हिन्दू स्त्री-पुरुषो को भी १९५५ मे पारित हुए 'हिन्दू विवाह अधिनियम'के अन्तर्गत कुछ विशेष परिस्थितियो मे विवाह-विच्छेद का अधिकार दिया गया है।

(५) विधवा-विवाह (Widow Marriage)—हिन्दुओ मे विधवा पुनर्विवाह अधिनियम १८५६ के पारित होने के उपरान्त भी विधवा पुनर्विवाह का प्रचलन नही हो सका है। उनमे यह धारणा प्रचलित है कि जिस लडकी को कन्यादान के रूप मे एक पुरुष को दिया जा चुका है, उसे पति की मृत्यु के पश्चात् अन्य पुरुष को दुबारा दान मे कैसे दिया जा सकता है। साथ ही, यहा विवाह को जन्म-जन्मान्तर का अटूट सम्बन्ध माना गया है। फिर ऐसी दशा मे पति की मृत्यु के पश्चात् विधवा पत्नी पुनर्विवाह कैसे कर सकती है। मुस्लिम समाज मे, विवाह के एक समझौता होने के कारण पति की मृत्यु के पश्चात् विधवा को दूसरा विवाह करने का अधिकार है। वहा विधवा विवाह को अपवित्र या बुरा नही माना जाता। उनमे पति की मृत्यु के बाद कुछ निश्चित समय के पश्चात् ही एक विधवा पुनर्विवाह कर सकती है। इस प्रतीक्षा काल को 'इद्दत' कहते हैं। इद्दत का उद्देश्य यह पता लगाना है कि स्त्री अपने पहले पति से गर्भवती है या नही ताकि यह निश्चित करने मे झगडा न हो कि सन्तान का पिता कौन है। इस इद्दत के प्रतीक्षा काल के पश्चात् विधवा विवाह कर सकती है। आजकल हिन्दू समाज मे अनेक कारणों से विधवा पुनर्विवाह को घृणा की दृष्टि से नही देखा जाता यद्यपि इसका प्रचलन बहुत सीमित मात्रा मे है।

(६) सिया मुसलमानों मे मुताह विवाह (Mutah Marriage among Sia Muslims)—सिया सम्प्रदाय के लोगो मे मुताह नामक अस्थायी विवाह की प्रथा है। इस विवाह मे निश्चित की हुई अवधि तक पति-पत्नी एकसाथ रहते है। इस अवधि के पश्चात् विवाह अपने-आप समाप्त हो जाता है। ऐसे मुताह-विवाह स्त्री-पुरुष दोनो कर सकते है। हिन्दुओ मे इस प्रकार का कोई अस्थायी विवाह प्रचलित नही है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दू और मुस्लिम विवाह पद्धतियो मे समानताएँ कम और असमानताएँ अधिक हैं।

स्त्रियो की स्थिति
(The Position of Women)

मुस्लिम समाज मे स्त्रियो की स्थिति को समझने के लिए यह आवश्यक है कि सातवीं शताब्दी के अरब समाज के रीति-रिवाजों के सम्बन्ध म जानकारी प्राप्त की जाए। अरब मे स्त्री को सम्पत्ति के रूप मे देखा जाता था, लेकिन इस्लाम ने इसका विरोध किया। कुरान मे विधवा स्त्री को सम्पत्ति का कुछ भाग प्राप्त का अधिकार दिया गया है, जिससे प्रकट होता है कि इस्लाम उसे सम्पत्ति के रूप मे नहीं मानता। स्त्री की स्थिति को सुधारने की दृष्टि से इस्लाम की महान देन यही है कि उसने उसे सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार प्रदान किये, कानूनी दृष्टि से स्त्री को सम्पत्ति का अधिकारी माना गया, मेहर को स्त्री की सम्पत्ति स्वीकार किया गया। मुहम्मद साहब ने पुत्र के साथ, पुत्री को भी पिता

की सम्पत्ति का अधिकारी माना, यद्यपि उसका हिस्सा पुत्र के हिस्से की तुलना में कम रखा गया।

इस्लाम में बहुपत्नी-विवाह को सीमित करने का प्रयत्न किया गया। पुराने अरब समाज में पुरुष इच्छानुसार कितनी भी स्त्रियों से विवाह कर सकता था। मुहम्मद साहब ने इस स्थिति में परिवर्तन लाने का प्रयत्न किया और चार से अधिक स्त्रियों के साथ विवाह को गैर-कानूनी बताया। इस्लाम का झुकाव एक विवाह की ओर था। इस्लाम के पूर्व के अरब समाज में बालिका-हत्या (Female Infanticide) की घटनाएँ भी होती थीं। बालिका-हत्या के प्रचलन का एक कारण गरीबी रहा है। उस समय कठिन प्राकृतिक परिस्थितियों में बालिकाओं का भरण-पोषण एक समस्या थी। इसका एक सम्भावित कारण और भी है। उस समय लड़कियों को अपने से निम्न स्थिति वाले किसी अन्य समूह में देना अरब वाले अपमानजनक समझते थे। उस समय आदिम जनजातियाँ एक-दूसरे पर आक्रमण करके शत्रु की स्त्रियों को जीत लेना अपना गौरव समझती थीं। अपने समूह की स्त्रियों का इस प्रकार अन्य समूह में चला जाना अत्यन्त लज्जाजनक था। ऐसी स्थिति से बचने के उद्देश्य से भी अपने समूह की आवश्यकताओं से अधिक कन्याओं को मार दिया जाता था। मुहम्मद साहब ने बालिका-हत्या की घोर निन्दा की और इसे पूर्णतः अनुचित माना।

मुहम्मद साहब स्त्रियों को धार्मिक अधिकार देने के पक्ष में थे। उन्होंने स्त्रियों का अपने पतियों की आज्ञा से, सार्वजनिक स्थानों पर नमाज पढ़ना और मस्जिद में जाना उचित माना। कुरान में कहा गया है कि पुरुष के समान स्त्री भी बहिश्त (स्वर्ग) में जा सकती है। डा० कापड़िया ने लिखा है, 'इस्लाम ने पत्नियों की संख्या चार तक सीमित करके, बालिका-हत्या की निन्दा करके, स्त्रियों को उत्तराधिकार का भाग प्रदान करके, मेहर को वधू को दी गई भेंट घोषित करके तथा विवाह एवं विवाह-विच्छेद सम्बन्धी अरबी कानून को स्त्रियों के अनुकूल बनाकर, स्त्री की स्थिति में सुधार किया है। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि इसने (इस्लाम ने) स्त्री और पुरुषों के बीच समानता को माना।'[8] इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस्लाम ने स्त्रियों की स्थिति में सुधार लाने का प्रयत्न किया। उन्हें अनेक अधिकार भी प्रदान किए, लेकिन मुहम्मद साहब सार्वजनिक जीवन में स्त्रियों को स्वतन्त्रता देने के पक्ष में नहीं थे। वे स्त्रियों का कार्य-क्षेत्र घर ही समझते थे, उन्हें परदे में रखना चाहते थे और बाहर जाने पर बुरका ओढ़ना उनके लिए आवश्यक समझते थे। अमीर अली ने बतलाया है कि स्त्रियों को एकान्त में रखने की पैगम्बर की सलाह ने, उनके अनुयायियों में निश्चय ही अनैतिकता की बाढ़ को और छिपे हुए बहुपत्नित्व के प्रसार को रोकने में बहुत कार्य किया।[9] लेकिन यहाँ हमें इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि अमीर अली ने उस युग की नैतिक शिथिलता को बढ़ा-चढ़ा कर तथा परदे की प्रथा को आदर्श रूप में व्यक्त किया है।

मुहम्मद साहब द्वारा स्त्रियों की स्थिति को सुधारने के जो कुछ प्रयास किये गए, उनके आधार पर कुछ लेखकों ने इस्लाम को समानता और लोकतन्त्र का आदर्श रूप माना

---

8 K. M Kapadia, Ibid, p 199
9 Ameer Ali, quoted by K M Kapadia, Ibid, p 197

और मुहम्मद साहब को स्त्री के अधिकारों का समर्थक। लेकिन यह कथन आंशिक रूप से ही सत्य है। इस सम्बन्ध में डा० कापडिया ने लिखा है, "मुहम्मद साहब ने फिर भी स्त्रियों की स्थिति को सुधारा, यद्यपि इस क्षेत्र में एक सुधारक के रूप में उनकी भूमिका को बहुत बढ़ा चढ़ा कर इस घोषणा के रूप में दिखलाया गया है कि इस्लाम सामाजिक प्रजातन्त्र है। यह सत्य है कि इस्लाम स्त्रियों की स्थिति और पद में परिवर्तन लाया है, लेकिन यह दावा करना बहुत बढ़ा-चढ़ा कर कहना है कि उसने उसकी स्थिति को पुरुष के समान कर दिया।"[10] इस्लामी कानून के अनुसार विवाह विच्छेद के सम्बन्ध में स्त्रियों के अधिकार बहुत सीमित हैं जबकि पुरुषों को विशेष अधिकार प्राप्त हैं। मुस्लिम विवाह में गवाह के रूप में एक पुरुष गवाह के स्थान पर दो स्त्री गवाहों का होना आवश्यक है। जब किसी प्रकार का कोई जुर्माना किया जाता है, तो स्त्री पुरुष की तुलना में आधा जुर्माना देती है। इसी प्रकार, सम्पत्ति में, पुत्री का भाग पुत्र से आधा होता है। इससे स्पष्ट है कि इस्लाम द्वारा स्त्रियों की स्थिति में सुधार की बात कुछ अंशों में ही सत्य है। सर विलियम म्यूर ने लिखा है, "मुहम्मद ने स्त्रियों की जो स्थिति निश्चित की, वह एक निम्न स्तर के प्राणी की है, जो केवल अपने स्वामी की सेवा करने के लिए ही बनी है, जिसे बिना कोई कारण बतलाए और बिना एक घण्टे की पूर्व सूचना दिए अलग किया जा सकता है।"[11]

वर्तमान समय में शिक्षित युवक सुधार के पक्ष में हैं। अनेक परिवर्तनकारी शक्तियाँ मुस्लिम समाज को भी प्रभावित कर रही हैं, परन्तु इसमें परिवर्तन की गति बहुत ही धीमी है। डा० कापडिया ने लिखा है कि मुस्लिम जगत् का शिक्षित अभिजात वर्ग (Elite) इस बात को अनुभव करता है कि इस्लाम के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने आपको नवीन पर्यावरण के अनुकूल बनाए और नवीनीकरण को अपनाए लेकिन इस्लाम और प्रसिद्ध आधुनिकतावादियों के उपदेशों में, उनका विश्वास उन्हें कुरान की ओर पीछे खींच रहा है। अतः युवा पीढ़ी तनाव और बेचैनी के मध्य से गुजर रही है और अब यह देखना शेष है कि यह तनाव दूर कैसे होगा और इस विरोध का समाधान क्या होगा?[12]

मुस्लिम परिवार
(Muslim Family)

मुस्लिम परिवार एक धर्म प्रधान संस्था है जिस पर कुरान का स्पष्ट प्रभाव दिखलाई पड़ता है। कुरान मुस्लिम जीवन-पद्धति को व्यक्त करता है, परिवार के संगठन, सदस्यों के पारस्परिक सम्बन्ध एवं उत्तरदायित्व और उत्तराधिकार सम्बन्धी नियमों पर प्रकाश डालता है। साथ ही मुस्लिम परिवार पर हिन्दू संयुक्त परिवार व्यवस्था का भी प्रभाव पड़ा है। डा० कापडिया ने लिखा है कि भारतीय मुसलमानों का अधिकांश भाग अरब देश अथवा संसार के अन्य किसी भाग के इस्लामी बन्धुओं की अपेक्षा हिन्दुओं से अधिक समानता रखता है। जिन हिन्दुओं ने, इस्लाम को स्वीकार किया उन्होंने इस्लाम को

10 K. M. Kapadia, Ibid p. 196
11 Sir William Muir quoted by K. M. Kapadia, Ibid p. 200
12 K. M. Kapadia, Ibid p. 203

मानते हुए भी अपने मूल धार्मिक विश्वासो और सामाजिक प्रथाओ को नही छोडा। इसका परिणाम यह हुआ कि उनका धार्मिक जीवन हिन्दू प्रथाओ और विश्वासो से भरा पडा है।[13] भारत मे मुस्लिम पारिवारिक प्रतिमान हिन्दुओ मे पाए जाने वाले पारिरिक प्रतिमानो के काफी समान है। रिजवी, अहमद तथा कोंक्लिन (Conklin) ने बतलाया है कि सयुक्त परिवार को समर्थन प्रदान करने वाले प्रतिमान--जो हिन्दू धर्म-ग्रन्थो मे विशेष समर्थन प्राप्त करने के कारण हिन्दुओ की प्रमुख विशेषता है--समान रूप से मुसलमानो मे भी काफी विस्तृत रूप मे पाए जाते हैं।[14] स्पष्ट है कि मुस्लिम विवाह और परिवार पर हिन्दू जीवन पद्धति का प्रभाव रहा हैं।

मुस्लिम परिवार मे साधारणतः एक पति, उसकी पत्नी या पत्निया और बच्चे होते हैं। मुसलमानो मे पितृसत्तात्मक व्यवस्था पाई जाती है। परिवार मे पिता की ही प्रधानता होती है और वश परम्परा पिता के नाम पर ही चलती है। विवाह के पश्चात् पत्नी अपने पति के घर रहती है, परन्तु जिन परिवारो मे पत्नी का कोई भाई नही होता वहा कही-कही पति अपनी पत्नी के परिवार मे घर-जवाई के रूप मे रहता है। कुछ मुस्लिम परिवारो मे, हिन्दुओ के सयुक्त परिवारो के समान, सदस्यो की सख्या बहुत अधिक होती है। जिन परिवारो मे कोई बच्चा नही होता, वहा किसी रिश्तेदार के बच्चे को गोद लेने की प्रथा पाई जाती है जिससे परिवार की निरन्तरता को बनाए रखा जाता है।

मुस्लिम परिवार की विशेषताएँ
(Characteristics of Muslim Family)

मुस्लिम परिवार की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित है--

१ सयुक्त परिवार (Joint Family)

मुस्लिम परिवारो की सरचना सयुक्त प्रकार की है। कुरान मे सयुक्त परिवार को श्रेष्ठ माना गया है और इसी कारण मुस्लिम परिवार मे सदस्यो की सख्या काफी होती है। एक पुरुष चार पत्निया तक रख सकता है, फिर ऐसी दशा मे उत्पन्न सन्तानो की सख्या भी काफी होती है। ग्रामो मे निवास करने वाले लोगो मे सयुक्त परिवार प्रणाली विशेष रूप से पाई जाती है। वहा एक परिवार मे पिता, पुत्र, उसका पुत्र और इनसे सम्बन्धित स्त्रिया तथा कुछ अन्य रिश्तेदार पाए जाते हैं। ऐसे परिवारो मे कोई वृद्ध पुरुष 'मुखिया" के रूप मे कार्य करता है, जो परिवार के सभी सदस्यो के लिए सम्मान का पात्र होता है। सदस्य उसकी आज्ञाओ का आदर के साथ पालन करते हैं। मुस्लिम सयुक्त परिवार के लिए एक सामान्य निवास-स्थान होता है और सब एक ही रसोई मे बना भोजन करते हैं। परिवार का एक सयुक्त कोष होता है, परन्तु ऋणो का भुगतान सदस्यो द्वारा व्यक्तिगत रूप से किया जाता है। वर्तमान समय मे विशेषत. नगरीय क्षेत्रो मे एकाकी परिवारो की ओर मुसलमानो का झुकाव बढता जा रहा है और परिवार मे सदस्यो की सख्या कम होती जा रही है।

---

13. K. M Kapadia, Ibid, p. 47.
14. Imtiaz Ahmad, op. cit, p. XXII.

२ पितृ-सत्तात्मक व्यवस्था (Patriarchal System)

हिन्दू परिवारो के समान ही मुसलिम परिवार भी पितृ-सत्तात्मक हैं। परिवार मे पिता की प्रधानता पाई जाती है। परिवार के मुखिया के रूप म पुरुष सदस्य ही होता है। उसी की आज्ञा के आधार पर विधवाओ, अनाथ बच्चो एव अपग सदस्यो को सरक्षण एव सुरक्षा प्राप्त होती है। मुसलिम परिवार मे विवाह विच्छेद की दृष्टि से भी पुरुष को विशेषाधिकार प्राप्त हैं। ये परिवार पितृ वशीय और पितृ स्थानिक प्रकार के होते हैं। वश का नाम पिता से पुत्र को प्राप्त होता है और विवाह के पश्चात् लडकी अपने पति के घर जाकर निवास करती है।

३ सदस्यों की पारिवारिक स्थिति मे असमानता (Disparity in Family Status of Members)

परिवार मे सभी सदस्यो की स्थिति समान नही होती है। परिवार मे आयु के अनुसार सदस्यो को सम्मान प्राप्त होता है, अधिक आयु के लोगो का अधिक सम्मान और कम आयु के लोगो को कम सम्मान। पिता या मुखिया की स्थिति सर्वश्रेष्ठ होती है, उसके बाद माता का स्थान है। पारिवारिक मामलो मे लडको की राय को लडकियो की तुलना म अधिक महत्त्व दिया जाता है। लडकियो के बजाय लडकों की स्थिति ऊँची मानी जाती है। लडको म सबसे बडे लडके की स्थिति ऊँची होती है।

४ बहु-पत्नी विवाह (Polygynous Marriage)

मुसलिम परिवार की एक विशेषता बहु पत्नीत्व है, अर्थात् एक पुरुष चार स्त्रियो के साथ विवाह कर सकता है। पुरुष पर यह नियन्त्रण अवश्य लगाया गया है कि वह चारो स्त्रियों के साथ समानता का व्यवहार करेगा। मुसलिम परिवार मे, एक पुरुष के एक से अधिक पत्नियो के होने के उपरान्त भी कलह तथा द्वेष कम ही दिखलाई पडता है। ऐसा शायद इसलिए सम्भव है कि मुसलिम स्त्रियाँ इस स्थिति के लिए पहले से तैयार होती हैं। सम्भवत इसी के परिणामस्वरूप इस्लामी कानून के अनुसार मुसलिम समाज म तलाक की व्यवस्था होने पर भी, इसका प्रचलन कम ही पाया जाता है। वर्तमान मे अनेक शिक्षित मुसलमान, विशेषतौर से स्त्रियाँ बहु-पत्नी विवाह वाले परिवारो को अच्छा नही मानती। ऐसी दशा म बहु-पत्नी विवाही परिवारो के स्थान पर एक पत्नी विवाही परिवारो की स्थापना की सम्भावना है।

५ परदा-प्रथा (Purdah System):

मुसलिम परिवारो म परदा प्रथा पाई जाती है। परिवार मे स्त्रियाँ बडे बूढे से, अपने से बडो से कई प्रकार के रिश्तदारों और बाहर के लोगो से परदा करती हैं। घर के दरवाजो पर चिके अथवा परदे लगे रहते हैं। उच्च घरानो की मुसलिम स्त्रियाँ, जब भी घर से बाहर निकलती हैं बुरका ओढती हैं और ताँगे आदि को भी चादर से ढक दिया जाता है। डा० अल्तकर ने बतलाया है कि परदा सुन्दर स्त्रियो को अतिरिक्त सुरक्षा प्रदान करता है, यात्रा क दौरान दुष्टो तथा अत्याचारियो से रक्षा करता है इसलिए हिन्दू स्त्रियों ने भी परदे का स्वागत किया।[15] मुसलिम परिवारो म केवल परदे का ही रिवाज

---

15 A S Altekar, op cit p 175

नही पाया जाता बल्कि स्त्रियो और पुरुषो के रहने के स्थान भी अलग अलग होते हैं। स्त्रियो के रहने के लिए 'जनानखाना' और पुरुषो के लिए 'मर्दानखाना' होता है।

६ परिवार का धार्मिक आधार (Religious Basis of Family)

इस्लाम का मुसलिम परिवार पर गहरा प्रभाव है। परिवार के सभी सदस्य मुहम्मद साहब के उपदेशो को ध्यान म रखते हुए आचरण करते हैं कु रान मे बतलाए हुए माग पर चलना वे अपना परम कर्त्तव्य समझते हैं। कुरान म बतलाया गया है कि जो लोग अल्लाह् के सदेश पर विश्वास नही करत, व दड के भागी ह ते हैं। जो लोग अल्लाह की इच्छा के अनुसार अपने पारिवारिक कर्त्तव्यो को निभाते हैं वे अल्लाह के प्यारे होत है और उन्ह परम आनद मिलता है। इस प्रकार, मुसलमानो के धार्मिक विश्वासो ने पारिवारिक दृढता को बनाए रखने म योग दिया है।

७ परिवार म स्त्रियो की निम्न स्थिति (Low Status of Women in the Family)

यद्यपि मुसलिम स्त्रियो को अनेक अधिकार प्राप्त हैं तथापि परिवार म उनकी स्थिति निम्न ही है। उन्हे साम्पत्तिक अधिकार प्राप्त हैं मेहर पर भी उनका पूर्ण अधिकार है, दहज भी उन्ही की सम्पत्ति मानी जाती है धार्मिक क्षेत्र म भी उन्ह अनेक अधिकार प्राप्त हैं। विवाह क लिए भी उनकी स्वीकृति इस्लाम के अनुसार आवश्यक है। अधिकारो की दृष्टि स हिन्दू स्त्रियो की तुलना मे मुसलिम स्त्रियो की स्थिति काफी सन्तोषप्रद है परन्तु व्यवहार म मुसलिम स्त्रियाँ अपने इन अधिकारो का अशिक्षा अन्धविश्वास, परदा प्रथा तथा सयुक्त परिवार व्यवस्था के कारण उपयोग नही कर पाती। पति की सेविका के रूप म ही उन्ह मुख्य भूमिका निभानी पडती है और उनका कार्य-क्षेत्र जनानखाने तक ही सीमित रहता है। वतमान म उच्च एव शिक्षित परिवारो मे स्त्रियो की स्थिति मे काफी सुधार हो रहा है।

८ परम्पराओ की प्रधानता (Prominence of Traditions)

परिवार के सदस्य अधिकाशत उन्ही व्यवहारो का पालन करते हैं जो उनके पूवज करत आए हैं। इन लोगो मे पारिवारिक परम्पराओ क प्रति विशष आकषण पाया जाता है। अपनी भाषा, रीति रिवाज व्यवहार के तरीको और जीवन-पद्धति को बनाए रखना वे अपना गौरव समझते है। परिवार के माध्यम स मुसलिम-सास्कृतिक निरन्तरता बनी रहती है। पीढी दर-पीढी परिवार का सास्कृतिक प्रतिमान पिता स पुत्र को और पुत्र स उसक पुत्र को क्रमश हस्तान्तरित होता रहता है। इस प्रकार अपनी परम्पराओ को बनाए रखन का मुसलिम परिवार म विशष महत्त्व है।

मुसलिम परिवार के कुछ प्रमुख संस्कार
(Some Important Family Rites of Muslims)

मुसलिम परिवार मे कुछ धार्मिक सस्कार सम्पन्न किए जात हे। इन धार्मिक सस्कारो को समझ बिना मुसलिम परिवार क सम्बन्ध म हमारा ज्ञान अपूर्ण ही रहगा। ७ सस्कार हैं सतवा अकीका चिल्ला बिसमिल्ला, खतना निकाह और मैयत (अन्त्येष्टि)। सतवाँ सस्कार गभवती स्त्री के सातव महीन म मनाया जाता ह। इस अवसर पर मनाए जान वाल उत्सव म नाते रिश्तदार तथा मित्र आदि भाग लत हैं। स्त्रियाँ बच्च के जन्म के सबध

मे अनेक प्रकार के गाने गाती हैं। अकीका सस्कार बच्चे के जन्म की सातवी रात को सम्पन्न किया जाता है। इस सस्कार का सम्बन्ध पुत्र-जन्म से है। इस अवसर पर फकीरो को दान दिया जाता है। मुल्लाजी बच्चे का नाम रखने के लिए बुलाए जाते हैं और वह बच्चे के लिए अल्लाह से दुआ मागते हैं। चिल्ला सस्कार बालक के जन्म के चालीसवे दिन मनाया जाता है। इस दिन माता को स्नान कराके पवित्र किया जाता है और रिश्तदारो द्वारा उसे उपहार दिये जाते हैं। इस अवसर पर नमाज पढी जाती है, भोज दिया जाता है और खैरात बाँटी जाती है। बिसमिल्ला सस्कार का सम्बन्ध लडकों से होता है। यह बालक के विद्यारम्भ से सम्बन्धित उत्सव है। इस अवसर पर मुल्लाजी बालक से बिसमिल्ला शब्द का उच्चारण करवाते और उसे पाटी पर लिखवाते है। खतना सस्कार के सम्पन्न होने के पश्चात् ही बालक को धार्मिक क्रिया-कलापो मे भाग लेने का अधिकार दिया जाता है। यह सस्कार बालक के पाँच से सात वर्ष की आयु के मध्य पूर्ण किया जाता है। इस अवसर पर नाई बालक की मूत्र-नलिका के आगे की खाल काट देता है, उसको कुछ शपथें लेने और कुरान की कुछ आयतें पढने को कहता है। इस अवसर पर भोज का आयोजन किया जाता है और बच्चे को अनेक उपहार दिए जाते है। निकाह सस्कार विवाह से सम्बन्धित है। लडके वाले पक्ष की ओर से विवाह का प्रस्ताव आता है। विवाह के लिए दोनो पक्षो की रजामन्दी होने पर उसकी तारीख निश्चित कर ली जाती है। उस दिन लडके वाले बरात लेकर लडकी वाले के यहाँ पहुँच जाते हैं जहाँ बरात का स्वागत किया जाता है। फिर काजी के सामने दो पुरुष गवाहो अथवा एक पुरुष गवाह और दो स्त्री गवाहो की उपस्थिति मे, लडकी विवाह के लिए अपनी स्वीकृति प्रदान करती है। तत्पश्चात् निकाह की रस्म अदा की जाती है और काजी अपने रजिस्टर मे विवाह दर्ज कर लेता है। मैयत सस्कार व्यक्ति की मृत्यु हो जाने पर सम्पन्न किया जाता है। मृतक को नाई स्नान कराता है, उसे नये वस्त्र पहनाता है और फिर उसे नई खाट पर लिटा कर चादर ओढा दी जाती है। इसके पश्चात् उसे मस्जिद मे ले जाया जाता है जहाँ मौलवी द्वारा जनाजा की नमाज पढी जाती है। फिर मुर्दे को कब्रिस्तान ले जाकर कब्र म दफना दिया जाता है। इसके पश्चात् तीजा, दसवां, चालीसवाँ और बरसी आदि मृत्यु सस्कार सम्पन्न किए जाते है। इन अवसरो पर गरीबो को भोजन खिलाया जाता है और फकीरो को दान दिया जाता है। प्रत्येक मुसलिम परिवार साधारणत उपर्युक्त सभी सस्कारों को सम्पन्न करना अपना प्रमुख दायित्व समझता है।

मुसलिम परिवारो को मुख्यत परम्परावादी परिवार कहा जा सकता है। यद्यपि औद्योगीकरण, नगरीकरण, शिक्षा के प्रसार, पाश्चात्य सभ्यता और सस्कृति तथा व्यक्तिवादी विचारधारा ने मुसलिम परिवारो मे कुछ परिवर्तन लाने म योग दिया है, परन्तु अन्य समाजो की तुलना मे मुसलिम परिवार मे बहुत कम परिवर्तन आए हैं। परिवर्तन की धीमी गति का मुख्य कारण मुसलमानो की अपने धर्म के परम्परागत आदर्शों के प्रति गहरी निष्ठा है। कुरान म वर्णित मान्यताओं को ध्यान में रखते हुए ही य अपना पारिवारिक जीवन व्यतीत करते हैं और उसमे साधारणत किसी प्रकार का कोई परिवर्तन नही चाहते। वर्तमान मे मुसलिम विवाह और परिवार के क्षेत्र में हिन्दू सस्कृति का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। नई पीढी के शिक्षित होने के साथ-साथ इनम काफी परिवर्तन आने की सम्भावनाएँ हैं। आज स्कूल तथा कॉलेजो म पढने वाले मुसलिम छात्रो पर भी आधुनिकता का प्रभाव

बढता जा रहा है जो निकट भविष्य मे उनकी सम्पूर्ण जीवन पद्धति मे परिवर्तन के लिए उत्तरदायी होगा।

मुसलिम समुदायो मे सामाजिक परिवर्तन
(Social Changes in Muslim Communities)

इम्तियाज ग्रहमद द्वारा सम्पादित पुस्तक मे विभिन्न लेखको ने मुसलिम समुदायो की प्रथाम्रो तथा मूल्यो मे हो रहे सामाजिक परिवर्तनों का उल्लेख किया है। उदाहरण के रूप म लेम्बेट (Lambat) ने बतलाया कि सुन्नी सूरती बोहरा स्त्रियों के द्वारा विवाह के समय लोक गीतो के गाये जाने की प्रथा समाप्त हो रही है और इस अवसर पर लडकी के घर कव्वाली के कार्यक्रम का स्थान धार्मिक प्रवचन लेते जा रहे हैं। जेकब्सन (Jacobson) का कहना है कि यद्यपि उच्च प्रस्थिति वाले मुसलमानो म बुरका धीरे धीरे कुछ नकारात्मक अर्थ ग्रहण करता जा रहा है लेकिन कम प्रतिष्ठित सामाजिक ग्रार्थिक समूहो मे इसकी लोकप्रियता बढती जा रही है।[16] पूर्व काल मे परदा प्रथा के समृद्धशाली वर्गों से सम्बन्धित होने के कारण, निम्न तथा मध्यम प्रस्थिति वाले मुसलमानो के द्वारा इसे अपनाने मे उनकी प्रतिष्ठा बढ जाती है। अग्रवाल ने अपने अध्ययन के आधार पर बताया है कि मेवात मे रहने वाली मेवो (Meo) स्त्रियो ने परदा प्रथा अपनाई है और दहेज के पुराने रिवाज, जो उस क्षेत्र के उच्च जातियो के हिन्दुओ मे विशेष रूप से पाया जाता है का स्थान कन्या-मूल्य की प्रथा लेती जा रही है। अग्रवाल के अनुसार यह परिवर्तन इस कारण सरल हो सका है कि मुसलमान अधिक इस्लामीकृत होते जा रहे हैं और वे हिन्दू जातीय सस्तरण की प्रणाली मे अपनी प्रस्थिति के सम्बन्ध मे सापेक्ष रूप से कम चिन्तित है।[17] इन परिवर्तनो के प्रेरक के रूप मे विभिन्न मुसलिम समुदायो के सदस्यो की अपने को मुसलमानो के रूप मे प्रस्तुत करने की इच्छा है। इस प्रकार के परिवर्तनो को इस्लामीकरण (Islamization) के नाम से पुकारा गया है।

मुस्लिम समुदायो में इस्लामीकरण की प्रक्रिया के साथ-साथ आधुनिकीकरण (Modernisation) तथा पश्चिमीकरण (Westernisation) की प्रक्रियाएँ भी चल रही है जिनका कारण विस्तृत सामाजिक शक्तिया हैं। इम्तियाज अहमद ने बतलाया है कि मुस्लिम प्रथाएँ और रीति रिवाज इस्लामीकरण के परिवर्तनकारी प्रभावो क उपरान्त भी अपने अस्तित्व को सफलतापूर्वक बनाये रख सके है और अब भी वे अपने पुराने या मामूली परिवर्तित स्वरूप म अपना निरन्तरता का बनाये हुए है।[18] लम्बट ने बतलाया है कि इसम कोई सन्देह नही कि कुछ प्रथाओ और अनुष्ठानो को इस्लामीकरण और धर्म निरपेक्ष शिक्षा क बढने के साथ साथ छोडा जा रहा है, लेकिन बहुत सी अन्य प्रथाओ ओर रीति रिवाजो का अब भी पालन किया जाता है और उनक भविष्य म भी लोकप्रिय बने रहने की सम्भावना है।[19] अग्रवाल ने भी मेवा लोगो के अपने अध्ययन के आधार पर इसी प्रकार के निष्कर्ष निकाले हैं। साराश के रूप म यह कहा जा सकता है कि इस्लामीकरण ने

---

16 Imtiaz Ahmad op cit p xxix
17 Ibid p xxx
18 Ibid p xxxi
19 Ibid p xxxi

मुसलमानो को अपने को मुस्लिम के रूप मे चित्रित करने को प्रेरित किया है लेकिन फिर भी वे उस सांस्कृतिक-संकुल के अभिन्न अग अब भी बने हुए हैं जिसस वे घिरे हुए हैं।

यहाँ हमे एक बात और ध्यान म रखनी है कि मुस्लिम सामाजिक सस्थाओ, धार्मिक विश्वासो तथा प्रवृत्तियो और मूल्यो के सम्बन्ध मे प्रामाणिक समाजशास्त्रीय तथ्यो के अभाव मे इन्हें इस्लाम म वर्णित आदर्शों के ठीक अनुरूप मान लिया जाता है। वास्तविकता यह है कि मुस्लिम समाज मे भी आदर्श और यथार्थ मे समय के साथ-साथ अन्तर आया है। मुस्लिम समाज मे कुछ लोग आज सुधार के कट्टर पक्षपाती हैं तो कुछ कट्टर विरोधी। दोनो के तर्क मिथ्या धारणाओ पर आधारित हैं। वे यह मानकर चले हैं कि कानून वास्तविक सामाजिक प्रथाओ के पूर्णत अनुरूप हैं और उन्होंने कानूनी औपचारिक सिद्धान्तो तथा वास्तविक सामाजिक प्रथाओ के बीच पाई जाने वाली असगतियो को देखने का प्रयत्न नही किया है।

प्रश्न

१ 'भारतीय मुस्लिम समाज मे विवाह' पर एक सक्षिप्त निबन्ध लिखिये।
२ "मुसलमानो म विवाह एक सविदा (Contract) है।" विवेचन कीजिए।
३ भारत मे मुस्लिम विवाह और तलाक को नियमित करने सम्बन्धी कानूनी प्रावधानो की विवेचना कीजिए।
४ 'मेहर' पर सक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
५, मुस्लिम विवाह मे तलाक कैसे लिया जा सकता है ?
६ भारत मे हिन्दू तथा मुस्लिम विवाहो का तुलनात्मक विवेचन कीजिए।
७ 'मुताह विवाह' पर सक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
८ मुस्लिम विवाह मे हो रहे आधुनिक परिवर्तनों की विवेचना कीजिए।
९ भारत मे मुस्लिम परिवार की मुख्य विशेषताओं का वर्णन कीजिए।



अध्याय 13

जनजातीय विवाह एवं परिवार

(TRIBAL MARRIAGE AND FAMILY)

आज तक ऐसा कोई भी मानव समाज नहीं पाया गया है जिसमे विवाह का कोई न कोई रूप नहीं पाया जाता हो। प्रत्येक समाज मे, चाहे वह आदिम हो अथवा आधुनिक, सरल हो या जटिल, विवाह का एक महत्त्वपूर्ण सस्था के रूप मे अस्तित्व अवश्य पाया जाता रहा है। परिवार की स्थापना, यौन-इच्छाओ की पूर्ति, सन्तानोत्पादन और समाज तथा सस्कृति की निरन्तरता के लिए विवाह मानव द्वारा आविष्कृत एक श्रेष्ठ मौलिक सस्था है। वास्तव मे विवाह, परिवार और सस्कृति आदि काल से ही साथ-साथ चले आ रहे हैं। मानव की मौलिक प्राणिशास्त्रीय आवश्यकताओ मे यौन-इच्छा की पूर्ति महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। विवाह यौन-सम्बन्धो को स्थिरता और परिवार को स्थायित्व प्रदान करता है।

विवाह के अर्थ को स्पष्ट करते हुए हॉबल नामक विद्वान ने कहा है, "विवाह सामाजिक आदर्श-प्रतिमानो (Norms) का एक जाल है जो विवाहित युग्म के एक-दूसरे के साथ, रक्त-सम्बन्धियो के प्रति, अपने बच्चों और समाज के साथ सम्बन्धो को परिभाषित एव नियन्त्रित करता है।"[1] बील्स एव हाइजर ने लिखा है, "विवाह प्रत्येक मानव समाज मे, जिसे हम जानते हैं, एक जटिल सास्कृतिक घटना है जिसमे विशुद्ध प्राणिशास्त्रीय कार्यों का निर्वाह होता है, लेकिन इसके अलावा बच्चो एव गृहस्थ के पालन-पोषण तथा परिवार को सौंपी गई सास्कृतिक और सामाजिक आवश्यकताओ की पूर्ति का उत्तरदायित्व भी होता है।"[2] इन परिभाषाओ के आधार पर कहा जा सकता है कि विवाह समाज द्वारा स्वीकृत एक ऐसा साधन है जो विषम-लिंगियो को एक सूत्र मे बाँधता, उन्हे यौन-सम्बन्ध स्थापित करने की आज्ञा देता, घर बसाने, सन्तानोत्पत्ति और पालन-पोषण को सम्भव बनाता और विवाह-सूत्र मे बधने वाले स्त्री-पुरुषो की स्थिति का निर्धारण करता है।

प्रत्येक जनजातीय समाज में भी विवाह सस्था का अस्तित्व पाया जाता है। जनजातीय लोग भी परिवार की स्थापना एव समूह की दृढता के लिए विवाह को आवश्यक मानते हैं। सामाजिक दृष्टि से स्वीकृत यौन-इच्छाओ की पूर्ति, विश्वसनीय तरीके से बालको के पालन-पोषण की समुचित सामाजिक व्यवस्था एव पीढी-दर-पीढी सस्कृति के हस्तान्तरण की आवश्यकता ऐसे आधारभूत कारण हैं जिन्होने परिवार एव विवाह सस्था की स्थापना मे

1 Hoebel, E A Man in the Primitive World, p. 105.
2, Beals & Hoijer An Introduction to Anthropology, p. 416.

योग दिया है। डॉ० मजूमदार और मदान ने लिखा है कि विवाह व्यक्तिगत स्तर पर प्राणिशास्त्रीय (यौन-सम्बन्धी) और मनोवैज्ञानिक सतुष्टि (बालको सम्बन्धी) को सुनिश्चितता प्रदान करता है, व्यापक सामूहिक स्तर पर, यह दोहरे अस्तित्व को निश्चितता देता है, यानि समूह और उसकी सस्कृति की निरन्तरता को बनाए रखता है।[3] कुछ जनजातियो का आर्थिक सगठन स्त्री-पुरुष के बीच निकट सहयोग और श्रम-विभाजन को आवश्यक बना देता है। स्थायी रूप से यह उसी समय सम्भव है जब विवाह द्वारा स्त्री पुरुष स्थायी सबधो के सूत्र मे वध जाएँ।

जनजातीय समाजो मे विवाह से सम्बन्धित कुछ ऐसी सामान्य विशेषताएँ पाई जाती हैं जो भारत के अ-जनजातीय लोगो की वैवाहिक विशेषताओ से भिन्न हैं और कुछ मात्रा मे पाश्चात्य समाजो के अधिक निकट हैं। जनजातीय लोगो मे विवाह युवावस्था म ही होते हैं। इनमे हिन्दुओ के समान बाल-विवाहो का प्रचलन नही है। कही-कही कुछ जनजातीय लोगो ने पड़ौसी हिन्दुओ की दृष्टि मे अपने को ऊँचा उठाने के लिए उनका अनुकरण किया है तथा बाल-विवाह प्रथा को अपनाया है, जैसे—बैगा, कोरवा, हो, मुण्डा, भील आदि ने। इन लोगो मे विवाह केवल दो विषम-लिंगियो का मिलन मात्र नही है, बल्कि दो परिवारो को दृढता के सूत्र मे बांधने का साधन है। यह सामाजिक दृढता उत्पन्न करने मे सहायता पहुचाता है। जनजातीय लोगो मे विवाह के लिए जीवन साथी का चुनाव माता पिता के द्वारा नही, बल्कि स्वय विवाह सूत्र मे बँधने वाले लडके-लडकियो द्वारा अपनी अपनी पसन्द के आधार पर किया जाता है। अनेक जनजातियो मे ऐसी सस्थाएँ पाई जाती हैं जिनके माध्यम से युवक-युवतियो को एक दूसरे के निकट सम्पर्क मे आने और गुण-दोषो के सम्बन्ध मे जानने का अवसर मिलता है। डॉ० एस० सी० दूबे के अनुसार, मुरिया गोडो मे प्रचलित घोटुल प्रथा जहाँ गाँव के सभी अविवाहित युवक युवतियाँ सध्या समय एकत्र होते हैं, इसलिए प्रचलन मे है कि पारस्परिक सहयोग और आर्थिक सहकार के साथ ही साथ उन्हे अपना वैवाहिक जीवन प्रारम्भ करने के लिए आवश्यक पृष्ठभूमि मिले। बोदो आदि-जाति की अविवाहित किशोरियाँ रात्रि मे मिलकर अन्य गाँवो मे आए युवक अतिथियो का सेलानी डिंगो मे स्वागत करती हैं। इस समाज मे जीवन-साथी चुनने की स्वतन्त्रता है और सेलानी डिंगों इसी चुनाव का एक माध्यम बनता है। इनके अतिरिक्त अधिकाश समाजो मे आर्थिक कारक और धार्मिक मान्यताएँ इस प्रकार के सम्बन्धो को निषिद्ध ठहराती हैं।[4] मुरिया, गोड तथा बोदो के अलावा इसी प्रकार के युवाशयन गृह उराँव लोगो मे जुनकरपा या "धुमकुरिया", मुइया लोगो मे धनगरवस्सा, भोटिया लोगों से 'रगबग' तथा अगामी नागाओ मे किचुकी नाम से प्रसिद्ध हैं। इन युवागृहों मे अविवाहित युवक-युवतियाँ रात्रि के समय साथ साथ रहते, अपने जनजातीय जीवन से सम्बन्धित व्यावहारिक प्रशिक्षण प्राप्त करते, परस्पर परिचित होते और यही साधारणत अपने जीवन-साथी का चुनाव कर लेते हैं।

यद्यपि सभी जनजातियो मे विवाह की सस्था पाई जाती है तथापि जनजातीय लोगो की यौन धारणाओं मे अन्तर पाया जाता है। इस सम्बन्ध मे इनके तथा अ-जनजातीय लोगो के एक-से विचार नही हैं। कुछ जनजातियों मे विवाह पूर्व यौन-सम्बन्धो की इस

---

३ Majumdar and Madan, opp cited, p 79

४ डा० एस० सी० दूबे, मानव और सस्कृति, पृ० १०८।

कारण छूट होती है कि वे इसे विवाहित जीवन के लिए आवश्यक तैयारी समझते हैं; कुछ अन्य एक-दूसरे को शारीरिक योग्यताओं एवं व्यक्तित्व को समझने के उद्देश्य से ऐसी स्वतन्त्रता देते हैं। कई लोगों में इन सम्बन्धों के प्रति उदासीनता पाई जाती है, अत वे ऐसी यौन-गतिविधियों को नियन्त्रित करने के प्रति सजग नहीं हैं। ये जनजातीय लोग विवाह के पूर्व वधू के कौमार्य-भंग को बुरा नहीं समझते। विवाह के पश्चात् जीवन-साथी के अतिरिक्त अन्य के साथ यौन-सम्बन्धों की स्वतन्त्रता साधारणत जनजातियों मे नहीं पाई जाती। देहरादून जिले के जौनसार-बावर क्षेत्र के खासा जनजातीय लोगों मे स्त्रियों को अपने सुसराल मे तो यौन-सम्बन्धों की स्वतन्त्रता नहीं होती, परन्तु अपने मायके (माता पिता का घर) मे इस दृष्टि से वे स्वच्छन्द होती हैं। प्रसिद्ध मानवशास्त्री मॅरडाक ने विश्व के विभिन्न भागों के २५० जनजातियों के अध्ययन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि ६५ प्रतिशत जनजातियों मे विवाह से पूर्व यौन-स्वतन्त्रता की छूट है और केवल ५ प्रतिशत जनजातियों में ही विवाह से पूर्व यौन-सम्बन्धों पर प्रतिबन्ध पाया जाता है।

विवाह सम्बन्धी निषेध
(Prohibitions Regarding Marriage)

प्रत्येक समाज मे जीवन-साथी के चुनाव के सम्बन्ध मे कुछ नियम अथवा निषेध पाए जाते हैं। सभी जनजातीय लोगों मे निकट के रक्त सम्बन्धियों को एक-दूसरे के साथ यौन-सम्बन्ध स्थापित करने एवं विवाह बन्धन मे बधने की आज्ञा नहीं दी जाती। यह प्रतिबन्ध **अगम्यागमन या निषिद्ध निकटाभिगमन (Incest Taboo)** के नाम से जाना जाता है। साधारणत. माता-पिता और सन्तान तथा सगे भाई-बहिनों के बीच यौन-सम्बन्ध सर्वत्र वर्जित हैं। परिवार मे पति-पत्नी के अतिरिक्त अन्य किन्हीं सदस्यों के बीच यह सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकता। परिवार से विस्तृत समूह गोत्र अथवा क्लैन के लोगों को भी आपस मे वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने की आज्ञा नहीं दी जाती। डॉ० मजुमदार और मदान ने यह निष्कर्ष निकाला है कि निकटाभिगमन सम्बन्धी निषेध का कोई प्राणिशास्त्रीय आधार नहीं हो सकता। सहकारी सामाजिक सम्पर्क के क्षेत्र को विस्तृत करने वाला सास्कृतिक कारक बहुत कुछ मात्रा मे निकट सम्बन्धियों के बीच यौन-सम्बन्धों पर प्रतिबन्ध के लिए उत्तरदायी है। समूह से बाहर विवाह करने के नियम के उल्लघन से अलौकिक (Supernatural) दण्ड का भय जनजातीय भारत मे व्यापक है।[5]

जीवन-साथी के चुनाव को नियन्त्रित करने की दृष्टि से भारतीय जनजातियों में बहिर्विवाह (Exogamy), अन्तर्विवाह (Endogamy) तथा विवाह चुनाव मे प्राथमिकता, से सम्बन्धित अनेक नियम पाये जाते हैं। सभी जनजातियों मे अपने गोत्र, अर्थात् अपने क्लैन के बाहर विवाह करने की प्रथा है। एक ही क्लैन के लड़के-लडकियों मे आपस मे वैवाहिक सम्बन्ध वर्जित हैं। अनेक जनजातियों मे क्लैन का आधार "टोटम" है। टोटम पर आधारित एक क्लैन विशेष के सदस्य आपस मे विवाह नहीं कर सकते। हिन्दुओं मे भी गोत्र-बहिर्विवाही का प्रचलन हैं अर्थात् अपने गोत्र के बाहर वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किये जाते हैं। भारत मे बैगा, कादर तथा अण्डमान द्वीप की जनजातियों के अलावा अन्य सभी जन-

---

5 Majumdar and Madan, op cit, p 80.

जातियो के सामाजिक सगठन का एक मूल आधार गोत्र क्लैन है। यहाँ कुकी, लुशाई, आदि कुछ ऐसी जनजातियाँ भी हैं, जिनमे एक ही गोत्र के लोगो मे आपस मे वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। जनजातीय लोगो मे टोटम बहिर्विवाह का रिवाज पाया जाता है। छोटा नागपुर के मुडा तथा कुछ अन्य लोगो मे गाँव-बहिर्विवाह का प्रचलन है।

बहिर्विवाह से सम्बन्धित निषेध के अनेक कारण बताए गए हैं। वेस्टरमार्क के अनुसार जिन लडकियो के साथ व्यक्ति बाल्यावस्था से रहता और उनको बढते हुए देखता है, उनके प्रति किसी प्रकार के आकर्षण का अनुभव नहीं करता है। परिचितो के प्रति अरुचि का भाव बहिर्विवाह का मुख्य कारण है। इस बात को स्वीकार करने मे कठिनाई यह है कि प्रसिद्ध मनोविश्लेषणवादी फ्रायड तथा कुछ अन्य का कहना है कि निकट के रिश्तेदारो मे पारस्परिक यौनाकर्षण पाया जाता है। लेकिन निकटाभिगमन सम्बन्धी निषेध पाए जाने से बहिर्विवाह के नियम द्वारा इस आकर्षण को दबाना आवश्यक होता है। मैलिनोस्की ने ट्रोब्रियाड द्वीप समूह के जनजातीय अध्ययन के आधार पर बताया है कि इन लोगो मे कुछ युवक यह डीग मारते पाए जाते हैं कि उन्होने अपने ही क्लैन की किसी लडकी के साथ यौन-सम्बन्ध स्थापित किया है।[6] स्पष्ट है कि आपने बहिर्विवाही समूहो के लोगो मे भी आपस मे यौन-सम्बन्ध पाए। आपकी मान्यता है कि यदि निकट के स्त्री-पुरुष आपस मे यौन-आकर्षण का अनुभव नहीं करते, तो विभिन्न समाजो मे बहिर्विवाह सम्बन्धी कठोर नियमो की क्या आवश्यकता थी? रिजले ने लिखा है कि मनुष्य मे सम्भवत विविधता की प्रवृत्ति पाई जाती है और इसी कारण मनुष्य ने अपरिचितो तथा अनजान व्यक्तियो के साथ वैवाहिक सम्बन्ध प्रारम्भ किये। आडरे रिचार्ड्स ने भोजन की कमी को बहिर्विवाह का सम्भावित कारण माना है। आपने कहा है कि शिकार और भोजन इकट्ठा करने वाले समाजो मे भोजन के अभाव मे साधारणत स्त्री और बच्चे भार के रूप मे होते हैं। ऐसी दशा मे बालिका-वध की प्रथा का प्रचलन हुआ होगा और परिणामस्वरूप स्त्रियो की कमी हुई। इस कमी को पूरा करने के लिए हरण-विवाह का प्रचलन आरम्भ हुआ और हरण अपनी जनजाति के बाहर ही सम्भव था। ऐसी दशा मे बहिर्विवाह के नियम का प्रचलन हुआ। कुछ लोग यह भी मानते हैं कि अपने ही समूह के भीतर विवाह करने से ज्यादा अच्छी सन्तान नहीं होती, लेकिन इस प्रकार के वैज्ञानिक प्रमाण उपलब्ध नही हैं।

इसके उपरान्त यदि यह मान भी लिया जाए कि अपने समूह के बाहर विवाह करने से उत्तम सन्तान होती है, तो भी सम्भवत जनजातीय लोगो को इस प्रकार का ज्ञान प्राप्त नही था। डॉ॰ इन्द्रदेव ने समूह के भीतर विवाह करने पर प्रतिबन्ध की समाजशास्त्रीय व्याख्या करते हुए कहा है कि इससे समूह के विभिन्न सदस्यों के पदो और कार्यो को सुनिश्चित बनाए रखने मे सहायता मिलती है। उदाहरण के लिए यदि परिवार के अन्तर्गत यौन-सम्बन्धो पर (पति पत्नी को छोडकर) प्रतिबध न हो तो विभिन्न सदस्यो मे यौन सम्बन्धो के लिए ऐसी प्रतियोगिता चलती रहे कि परिवार का सगठन बना नही रह सके। पिता पुत्र और विभिन्न भाइयो मे एक ही स्त्री से सम्बन्ध करने के लिए होड की बराबर सम्भावना रहे। ऐसी दशा मे परिवार सुचारु रूप से कार्य नहीं कर सकता।[7]

---

6 Malinowski, Crime and Custom in a Savage Society, p 81

७ डॉ॰ इन्द्रदेव, पूर्व उद्धृत, पृष्ठ २९।

जीवन-साथी के चुनाव सम्बन्धी नियमो मे अन्तर्विवाह प्रथा का प्रचलन भी मुख्य है। जहा बहिर्विवाह का तात्पर्य अपने समूह के बाहर विवाह करने मे है, वहा अन्तर्विवाह का अर्थ है—अपने ही समूह के भीतर वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करना। हिन्दुओं मे जाति तथा उपजाति अन्तर्विवाह की प्रथा पाई जाती है, तो भारतीय जन-जातियो मे जनजातीय अन्तर्विवाह की। जनजाति एक अन्तर्विवाही समूह है, अर्थात् एक जनजाति के लोग अपने ही जनजातीय समूह मे विवाह करते हैं, उस समूह के बाहर नही। कही-कही एक ही जन-जाति दो भागो में बटी होती है और प्रत्येक भाग एक अन्तर्विवाही समूह होता है, जैसे मैले भील और उजले भील। मैले भील मैले भीलो के साथ ही विवाह करते हैं और उजले भील उजले भीलो के साथ। साधारणतः अन्य जनजाति के जादू-टोने से बचने, अपनी सास्कृतिक परम्पराओं को बनाए रखने, रक्त की शुद्धता की रक्षा करने आदि के लिए जनजातीय लोगो मे अन्तर्विवाह का प्रचलन पाया जाता है। कोरवा जनजाति के अन्तः-विवाही होने का मुख्य कारण पडोस की जनजातियो के जादू-टोने का भय है। कुछ जन-जातीय लोगो ने हिन्दुओ की दृष्टि मे उच्च स्थान प्राप्त करने हेतु निम्न जातियो मे वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करना प्रारम्भ कर दिया है। गोड, भील तथा सन्थाल आदि लोग जनजातीय सीमाओ को पार कर हिन्दुओ के साथ विवाह करने लगे हैं।

जीवन-साथी के चुनाव मे कुछ लोगो को प्राथमिकता देने की प्रथा का प्रचलन भी भारतीय जनजातियो मे पाया जाता है। इनमे ममेरे-फुफेरे भाई-बहनों के बीच विवाह (Cross-Cousin marriage) को अच्छा समझा जाता है। गोड, खरिया, ओरॉव व खासी लोगो मे साधारणत इस प्रकार के विवाह होते हैं। भाई-बहनों की सन्तानो के होने वाले विवाह इसी प्रकार के विवाह के अन्तर्गत आते हैं। ग्रिगसन (Grigson) का कथन है कि गोड लोगो मे ५४ प्रतिशत विवाह इसी श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं और यदि कोई गोड इस प्रकार का विवाह नहो करना चाहता है तो उसे क्षतिपूर्ति करनी पडती है।[8] कन्या-मूल्य से बचने तथा घर की सम्पत्ति को घर मे ही बनाए रखने के उद्देश्य से इस प्रकार के विवाहो का प्रचलन पाया जाता है। मध्यप्रदेश के गोड लोग इस प्रकार के विवाह को "दूध लौटावा" (Return of Milk) कहते है। चुनाव मे प्राथमिकता का एक अन्य प्रकार देवर और साली विवाह (Levirat and Sororate) के रूप मे पाया जाता है। बडे भाई की मृत्यु के पश्चात् यदि उसकी विधवा पत्नी पति के छोटे भाई से विवाह करती है तो इसे कनिष्ठ देवर विवाह (जूनियर लेविरेट) और बडे भाई से करती है तो उसे ज्येष्ठ विवाह (सीनियर लेविरेट) के नाम से पुकारते है। साधारणत जहा पत्नी की मृत्यु पर पुरुष उसकी छोटी बहन से विवाह करता है, वहा उसे साली विवाह या पत्नी भगिनी विवाह (Sororate) कहते हैं। डॉ० एस० सी० दूबे ने बताया है कि सोरोरेट शब्द का अर्थ निश्चित नही है और इस शब्द का प्रयोग तीन अर्थों मे किया गया है (१) एक व्यक्ति का अपनी युवा होने वाली सालियो से विवाह करने का प्राथमिक अधिकार,

---

8 Grigson, quoted by Majumdar and Madan, opp cited P. 82.

(२) पति का अपनी पत्नी से सतुष्ट न होने पर पत्नी की बहन से विवाह का अधिकार, और

(३) प्रथम पत्नी की मृत्यु पर उसकी बहन से विवाह करने का अधिकार।

प्रारम्भ के दो प्रकार बहु-पत्नीक प्रथा का ही परिचय देते हैं।......तीसरे प्रकार के विवाह उन समाजो मे अधिक प्रचलित होते हैं, जहा वधू-मूल्य की प्रथा है। ऐसे समाजो मे मृत पत्नी के पिता का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि या तो वह उस व्यक्ति को दूसरी पत्नी देने का प्रबन्ध करे या वधू मूल्य लौटा दे।[9] लेविरेट और सोरोरेट दोनो के प्रचलन से स्पष्ट है कि जनजातियो मे विवाह को केवल पति-पत्नी का सम्बन्ध न मानकर दो परिवारो का सम्बन्ध माना जाता है।

जनजातियो मे विवाह के प्रकार
(Forms of Marriage in Tribes)

भारतीय जनजातियो मे विवाह के कई प्रकार प्रचलित हैं। अनेक जनजातियो मे एक विवाह प्रथा (Monogamy) का प्रचलन है। इस विवाह प्रथा के अन्तर्गत पुरुष का एक स्त्री के साथ ही वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित होता है। पुरुष अथवा स्त्री एक-दूसरे के जीवनकाल मे किसी अन्य से विवाह नहीं करते हैं। वर्तमान मे सभ्य समाजो मे एक-विवाह, विवाह का सर्व-प्रचलित (आदर्श) प्रतिमान बनता जा रहा है। एक-विवाह प्रथा खासी, सन्थाल तथा कादर आदि जनजातियों मे विशेष रूप से प्रचलित है। सामान्यत अधिकाश भारतीय जनजातियो मे विवाह का यही प्रकार पाया जाता है। बील्स तथा हाइजर ने कहा है कि जो जनजातीय समाज बहुपति विवाही अथवा बहुपत्नी विवाही हैं, उसमे भी एक-विवाह का नियम ही अधिक प्रभावपूर्ण पाया जाता है क्योकि उस समाज के अधिकतर व्यक्तियो की क्षमता या साधनो की मात्रा इतनी नही होती कि एक से अधिक जीवन-साथी भार वहन कर सके।[10] मॅरडाक ने २५० परिवारो के अध्ययन के आधार पर पाया कि विश्व के विभिन्न भागो मे ७८ प्रतिशत परिवार बहुविवाही है। बहुविवाह (Polygamy) के दो प्रकार पाए जाते हैं (१) बहुपत्नी विवाह और (२) बहुपति विवाह। जहा एक पुरुष का विवाह एक से अधिक स्त्रियों के साथ होता है, उसे बहुपत्नी विवाह (Polygyny) कहते हैं। ऐसे विवाह मे एक पुरुष के एकसाथ कई पत्नियां होती हैं। नागा, गोड, बैगा, लुशाई तथा मध्य भारत की अनेक आग्नेय आस्ट्रालायड (Proto-Australoid) जनजातियों म बहुपत्नी विवाह का प्रचलन है। वर्तमान समय मे कन्या-मूल्य के अधिक बढने तथा हिन्दू लोगो के सम्पर्क से अनेक जनजातीय लाग एक विवाही बनते जा रहे है। कुछ भारतीय जनजातियो म बहुपति विवाह प्रथा (Polyandry) का प्रचलन भी है परन्तु बहुत ही सीमित मात्रा मे। इस प्रकार के विवाह मे एक स्त्री के कई पति होते हैं, अर्थात् एक स्त्री एक से अधिक पुरुषो के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करती है। टियान, टोडा, कोटा, खस, कुसुम्ब, कम्मल, लद्दाखी बोटा आदि जनजातियों मे बहुपति विवाह प्रथा का प्रचलन पाया जाता है। कुछ समय पूर्व नय्यर लोग

---

९. डॉ॰ एस॰ सी॰ दुबे, पूर्व उद्धृत, पृष्ठ ११०।
10 Beals and Hoijer, op cit, p 525

भी बहुपति विवाही थे। भारतीय जनजातियों में दो प्रकार के बहुपति विवाह पाए जाते हैं, प्रथम, भ्रातृ बहुपति विवाह (Fraternal Polyandry) विवाह का यह प्रकार है जिसमें अनेक भाई मिलकर एक स्त्री से विवाह कर लेते हैं, जैसे खासा तथा टोडा लोगों में। द्वितीय, अभ्रातृ बहुपति विवाह (Non-Fraternal Polyandry) में एक स्त्री के सभी पति आपस में भाई नहीं होते हैं। पत्नी कुछ समय तक प्रत्येक पति के पास रहती है और जब तक वह किसी एक पति के साथ रहती है, तब तक उसके अन्य पतियों का उस पर अधिकार नहीं रहता। नय्यर लोगों में इस प्रकार के विवाह प्रचलित थे। टोडा जनजाति में भी कुछ लोगों में विवाह का यह प्रकार प्रचलित रहा है। आधुनिक समय में सभ्य समाज से सम्पर्क तथा शिक्षा प्रसार के फलस्वरूप बहुत-सी जनजातियों में बहुपति विवाह का प्रचलन प्रायः समाप्त हो रहा है।

जनजातियों में जीवन-साथी प्राप्त करने के तरीके
(Ways of Acquiring Mates in Tribes)

जनजातीय भारत में जीवन-साथी का चुनाव विविध तरीकों से होता है। एक ही जनजाति में विवाह के चुनाव से सम्बन्धित एक से अधिक तरीके प्रचलित हैं। भारतीय जनजातियों में विवाह को धार्मिक संस्कार न मानकर एक सामाजिक समझौता माना जाता है। हिन्दुओं के सम्पर्क के कारण कुछ जनजातीय लोग विवाह को एक धार्मिक संस्कार के रूप में भी सम्पन्न करने लगे हैं जैसे हो आदि। ये लोग विवाह को केवल दो व्यक्तियों का मिलन न मानकर दो परिवारों का घनिष्ठ सम्बन्ध मानते हैं। भारतीय जनजातियों में जीवन-साथी प्राप्त करने के आठ प्रकार प्रचलित हैं, जो निम्नलिखित हैं—

१ परिवीक्षा-विवाह (Probationary Marriage).

असम की कूकी जनजाति में जीवन-साथी प्राप्त करने का यह तरीका प्रचलित है। यहाँ विवाह के इच्छुक व्यक्ति को कुछ सप्ताह के लिए भावी पत्नी के परिवार में रहने की आज्ञा मिल जाती है। दोनों एक साथ घूम-फिर और एकान्त में रह सकते हैं ताकि वे एक-दूसरे के स्वभाव एवं गुणों से परिचित हो सकें। हॉबल नामक मानवशास्त्री का कथन है कि लड़के-लड़की को कुछ समय तक साथ रहने की छूट देने का मुख्य उद्देश्य लड़के की सन्तानोत्पादन क्षमता का पता लगाना है। यदि इस अवधि में लड़की गर्भवती हो जाती है, तो विवाह अवश्य हो जाता है। यदि वे एक दूसरे को अपने अनुकूल नहीं पाते, तो पृथक् हो जाते हैं। ऐसी दशा में लड़के को लड़की के माता-पिता को कुछ हर्जाना देना पड़ता है।

२ हरण विवाह (Marriage by Capture)

जब कोई पुरुष लड़की के माता पिता की स्वीकृति लिए बिना ही, उसे बलपूर्वक ले जाता और उसके साथ विवाह कर लेता है तो ऐसे विवाह को हरण विवाह कहते हैं। डॉ० योगेश अटल का कथन है कि विवाह की यह पद्धति विशेष रूप से हो, गोंड, खरिया, संथाल, मुण्डा, बिरहोर, भील और नागा जनजाति में प्रचलित है। हो जनजाति ऐसे विवाह को 'ओपरटिपि' और गोंड जनजाति इसे 'पोसीओथुर' कहती है।[11] भील, खरिया, संथाल

---

११ डा० योगेश अटल, आदिवासी भारत, पृ० ७०।

तथा मुण्डा जनजातियो मे वास्तविक हरण होता है, परन्तु गारो तथा गौंड जनजाति मे यह हरण केवल साकेतिक या प्रतीकात्मक होता है। इसमे स्वय लडकी के माता-पिता, किसी युवक से लडकी के हरण के लिए प्राथना करते है। खरिया और बिरहोर जनजाति मे प्रतीकात्मक हरण के रूप मे युवक किसी उत्सव अथवा मेले के अवसर पर इच्छित लडकी के माथे पर अचानक सिन्दूर लगा देता है। सथालो मे भी हरण की यह विधि प्रचलित है, जिसे ये लोग 'इतुत बापला' कहते हैं। ऐसे विवाहो के प्रचलन का मुख्य कारण लडकियो की कमी तथा कन्या मूल्य की अधिकता है। वर्तमान समय मे भारतीय दण्ड-विधान के क्षेत्र के बढने से ऐसे विवाहो की सख्या कम होती जा रही है। सामाजिक प्रगति के कारण भी ऐसे विवाह घटते जा रहे हैं।

३ परीक्षा विवाह (Marriage by Trial) ·

जनजातीय लोगो को जीवन के लिए कठोर सघर्ष करना पडता है और इसी कारण इनमे साहस और शक्ति को विशेष महत्त्व दिया जाता है। विवाह के इच्छुक युवक को अपने पराक्रम का परिचय देना होता है, तब ही वह जीवन-सगिनी प्राप्त कर सकता है। परीक्षा विवाह का एक उदाहरण गुजरात के भीलो मे पाया जाता है। होली के अवसर पर इन लोगो मे एक विशेष उत्सव होता है जिसे 'गोल-गाधेडो' कहते हैं। एक खम्भे अथवा पेड के ऊपरी हिस्से पर गुड और नारियल बाँध दिया जाता है। उसके चारो ओर अविवाहित लडकियाँ घेरा बना कर नृत्य करती हैं। इस घेरे के बाहर एक अन्य घेरे मे विवाह के इच्छुक युवक नृत्य करते है। जब कोई युवक लडकियो के इस घेरे को तोड कर खम्भे या पेड पर चढने का प्रयत्न करता है, तब शक्ति की परीक्षा होती है। लडकियाँ ऐसा प्रयत्न करने वालो को मारती हैं, बाल खींचती हैं, कपडे फाड देती हैं, मास तक नोच लेती हैं तथा झाडुओ से प्रहार करती हैं। जो युवक इन सबका दृढता से मुकाबला करता हुआ खम्भे के ऊपर चढकर गुड खाने और नारियल को तोडने मे सफल हो जाता है, उसे यह अधिकार होता है कि वह घेरे मे नृत्य करने वाली लडकियो मे से किसी को भी अपनी जीवन-सगिनी बनाए। लडकी भी ऐसे शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति को प्राप्त कर गर्व का अनुभव करती है। कुछ जनजातियो मे लोग अपनी लडकी का विवाह ऐसे युवक से करना चाहते है जो शिकार मे निपुणता प्राप्त कर चुका हो।

४ क्रय विवाह (Marriage by Purchase) :

भारतीय जनजातियो मे क्रय-विवाह का प्रचलन है। विवाह के इच्छुक युवक को कन्या के माता-पिता को कुछ धन-राशि देनी होती है और इसीलिए ऐसे विवाह को क्रय विवाह कहा जाता है। इस प्रकार के विवाह का प्रचलन नागा, कूकी, भील, सथाल, हो, ओरॉव तथा खरिया आदि कई जनजातियो मे पाया जाता है। रॉबर्ट लोवी की मान्यता है कि वधू-मूल्य के भुगतान को कन्या का क्रय और विक्रय मानना गलत होगा। यह एक स्त्री की उपयोगिता का प्रतीक मात्र है, और उसके माता-पिता को उसके बदले मे दिया जाने वाला मुआवजा है।[12] इसका यह तात्पर्य नही है कि वधू मूल्य का कोई आर्थिक पहलू नही है। यह दो परिवारो के बीच आर्थिक सम्बन्धो को दृढ़ करने मे योग देता है। हो जनजाति मे

12 Robert H Lowie, "Social Organisation", Chap V.

कन्या-मूल्य की राशि इतनी अधिक पाई जाती है कि बहुत-से पुरुषो को तो बाध्य होकर अविवाहित रहना पडता है, उनके लिए विवाह करना एक कठिन समस्या है। डॉ० मजूमदार और मदान ने कन्या-मूल्य को स्त्रियो की उपयोगिता का प्रतीक माना है। असम के समान ही छोटा नागपुर मे कन्या मूल्य को लाभदायक और विवाह को स्थायित्व प्रदान करने वाला एक उपयोगी कारक समझा गया है। प्रो० मॅरडाक ने बताया है कि विश्व मे करीब ५० प्रतिशत जनजातियो मे क्रय-विवाह प्रचलित हैं।

५ सेवा विवाह (Marriage by Service) :

कन्या-मूल्य की रकम नही चुका पाने वाले युवक को अपने भावी ससुर के घर रहकर निश्चित अवधि तक काम करना और उत्पादन के कार्य मे योग देना होता है। जब वह कन्या-मूल्य की राशि के बराबर श्रम कर चुका होता है, तब उसके साथ लडकी का विवाह कर दिया जाता है। गोंड, बिरहोर, बैगा तथा खस आदि जनजातियो मे विवाह का यह प्रकार प्रचलित है। कन्या-मूल्य के बदले मे श्रम करके जीवन-सगिनी प्राप्त करने के इच्छुक ऐसे व्यक्ति को गोंड लोगो मे 'लामानई' (Lamanai) तथा बैगा लोगो में 'लामसेना' (Lamsena) के नाम से पुकारते हैं। इन व्यक्तियो को अपने भावी ससुर के यहाँ कठोर परिश्रम करना पडता है।

६ विनिमय विवाह (Marriage by Exchange) ·

कन्या-मूल्य से बचने के लिए विनिमय विवाह का आश्रय लिया जाता है। इस प्रकार के विवाह मे एक परिवार के भाई-बहन का विवाह दूसरे किसी परिवार मे बहन-भाई के साथ कर दिया जाता है। जो व्यक्ति किसी परिवार से पत्नी प्राप्त करता हैं, उसे उस परिवार में अपनी बहन को देना पडता है। इसमे पत्नी का भाई (साला) बहन का पति (जीजा) भी होता है, अर्थात् इसमे दुतरफा साले-बहनोई होते हैं। जनजातीय भारत मे इस प्रकार के विवाह सभी क्षेत्रो मे पाए जाते हैं। ऐसे विवाह मे दोनो परिवारो मे से किसी को भी कुछ भी हानि नही होती। इस प्रकार के विवाह में कठिनाई यही आती है कि ऐसे दो परिवारो का मिलना कठिन हो जाता है, जहाँ विवाह योग्य आयु के भाई-बहन हो।

७ सहमति और सहपलायन विवाह (Marriage by Mutual Consent and Elopement) :

भारतीय जनजातियो मे विवाह साधारणत युवावस्था मे ही सम्पन्न किये जाते हैं। अब कुछ जनजातियो मे हिन्दू सम्पर्क के कारण बाल-विवाह होने लगे हैं। साधारणत यहाँ युवक युवती अपनी पारस्परिक सहमति तथा माता-पिता की स्वीकृति के आधार पर ही विवाह करते रहे हैं। जिन जनजातियो मे युवा-गृह पाए जाते है, वहाँ जीवन-साथी चुनाव की काफी स्वतन्त्रता रही है। जहाँ सामाजिक प्रतिबन्धो (अन्तर्विवाह तथा बहिर्विवाह सम्बन्धी निषेध) अथवा पारिवारिक कारणो से किसी विवाह के लिए माता-पिता की स्वीकृति प्राप्त नही होती, वहाँ युवक-युवती चुपचाप गाँव छोडकर कही जगल मे या किसी अन्य बस्ती मे जाकर रहने लग जाते हैं, वे दोनों भागकर किसी अन्य स्थान पर चले जाते हैं। ऐसे विवाह के लिए किसी सस्कार की आवश्यकता नही पडती और न ही कन्या-मूल्य चुकाना पडता है। माता-पिता द्वारा विवाह की स्वीकृति मिलने अथवा सन्तान होने

पर ऐसे युवक युवती अपने घर में पुन लौट आते है। उन्हें थोडा बहुत डाँटा-फटकारा जाता है, तत्पश्चात् उनको पति-पत्नी के रूप मे मान्यता प्रदान कर दी जाती है। भारतीय जनजातियो मे इस प्रकार के विवाह होते रहते है। हो जनजाति मे ऐसे विवाह को "राजी-खुशी" विवाह के नाम से पुकारते हैं। राजस्थान के भीलो मे भी इस प्रकार के विवाह होते हैं।

८ हठ विवाह (Marriage by Intrusion)

जहाँ लडकी किसी युवक से विवाह करना चाहती है और युवक तैयार नहीं होता, वहाँ लडकी युवक के घर म जबरदस्ती घुस जाती है और वही रहने लगती है। उसका अनादर किया जाता है, उसे पीटा तक जाता है और भोजन तक नही दिया जाता है। यदि इन सब कष्टो के बावजूद भी वह वहीं जमी रहती है, तो युवक को बाध्य होकर उससे विवाह करना पडता है। कभी कभी किसी युवक को अधेड अवस्था वाली स्त्री तक से विवाह करना पडता है। विवाह का यह प्रकार, बिरहोर, हो, ओरॉव, कमार, सन्थाल तथा थारू आदि जनजातियो में प्रचलित है। ओरॉव तथा सथालो मे इस पद्धति को "निरबोलोक", कमार लोगो मे "पैठू" तथा हो, बिरहोर आदि जनजातियो मे "अनादर" नाम से पुकारते हैं। थारू जनजाति मे यदि कोई इस प्रकार घर मे घुस कर बैठने वाली लडकी से विवाह नही करना चाहता है, तो उसे उस लडकी को किसी अन्य व्यक्ति से विवाह करने के लिए कुछ धन देना पडता है।

विवाह-विच्छेद (Divorce)

जनजातियो में विवाह को एक धार्मिक सस्कार नहीं समझा जाता तथा इसे समाप्त करना कोई कठिन कार्य नहीं है। करीब-करीब सभी भारतीय जनजातियों मे विवाह विच्छेद की व्यवस्था पाई जाती है। साधारणत व्यभिचार, बाँझपन, दुर्व्यवहार आदि विवाह-विच्छेद के मुख्य आधार माने जाते हैं। मध्यभारत की गोंड और भूमिया जनजातियों मे पुरुष को ही तलाक सम्बन्धी अधिकार प्राप्त हैं। पति मुआवजा प्राप्त करने के पश्चात् ही तलाक की अनुमति देता है। मुरिया गोंड लोगों मे स्त्रियाँ तलाक मे पहल करती हैं और अपनी इच्छानुसार कभी भी पति को छोड सकती हैं। व्यभिचार, बाँझपन तथा झगडालू प्रकृति के आधार पर खासी जनजाति में विवाह विच्छेद हो सकता है, परन्तु इसके लिए पारस्परिक सहमति का होना आवश्यक है। तलाक के इच्छुक पक्ष को कभी-कभी दूसरे पक्ष को मुआवजा देना पडता है। तलाक होने पर सन्तान माता के सरक्षण मे रहती है। खरिया जनजाति मे वैवाहिक विश्वासघात, बाँझपन, आलस्य, स्त्री द्वारा पति के साथ रहने से इन्कार करना तथा चोरी के आधार पर दोनों पक्षों में से कोई भी पक्ष तलाक की माँग कर सकता है। लुशाई, कूकी तथा अन्य जनजातियो मे सरलतापूर्वक विवाह-विच्छेद किया जा सकता है। विवाह-विच्छेद के अधिकार के सम्बन्ध मे स्त्रियों की स्थिति किसी भी रूप मे पुरुषों से निम्न प्रतीत नहीं होती है।

भारतीय जनजातियो मे सर्वत्र विधवा विवाह का प्रचलन पाया जाता है तथा इस पर किसी प्रकार के प्रतिबन्ध लगाए जाने की भी कोई सम्भावना प्रतीत नहीं होती है।

जनजातीय परिवार (Tribal Family)

विश्व के प्रत्येक भाग मे मानव सस्कृति के विकास के सभी स्तरो पर परिवार किसी-न-किसी रूप मे पाया जाता है। यह आदिम और आधुनिक, असभ्य तथा सभ्य दोनो ही

प्रकार के समाजो मे विद्यमान रहा है। मानव की सभी सस्थाओ मे परिवार एक आधार-भूत और सार्वभौमिक सामाजिक सस्था है। परिवार के माध्यम से ही समाज का अस्तित्व और निरन्तरता बनी रहती है। यौन सम्बन्धो की सन्तुष्टि और सन्तानोत्पत्ति परिवार का सर्वव्यापी कार्य है। इसी के द्वारा बालक को भावनात्मक रूप म घनिष्ठतापूर्ण वातावरण प्रदान किया जाता है जो उसके समाजीकरण और व्यक्तित्व के स्वस्थ विकास के लिए आवश्यक है। विभिन्न समाजो मे परिवार द्वारा कुछ आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक तथा सास्कृतिक कार्य भी सम्पन्न किए जाते हैं, परन्तु स्थान और समय के साथ इनमे कुछ अन्तर पाया जाता है। पितृसत्तात्मक परिवारो मे बालको की देखरेख का उत्तरदायित्व पिता या वयोवृद्ध पुरुष सदस्य का होता है जबकि मातृसत्तात्मक परिवारो में यह उत्तरदायित्व माता का होता है।

डॉ० एस० सी० दूबे ने लिखा है कि नतृत्व मे 'परिवार' शब्द का उपयोग एक विशिष्ट अर्थ मे किया जाता है। साधारणत प्रत्येक विवाहित दम्पत्ति को परिवार (या फैमिली) की सज्ञा दी जाती है, किन्तु नृतत्व की शास्त्रीय दृष्टि से यह परिवार शब्द का सही उपयोग नही है। परिवार मे स्त्री और पुरुष दोनो को सदस्यता प्राप्त रहती है, उनम से कम-से-कम दो विपमलिंगी व्यक्तियो को यौन-सम्बन्धो की सामाजिक स्वीकृति रहती है, और उनके ससर्ग से उत्पन्न सन्तान मिलकर परिवार का निर्माण करते है। इस प्रकार प्राथमिक या मूल परिवार के लिए माता-पिता और उनकी सतति का होना आवश्यक है। परिवार को इस अर्थ म समझने के बाद एक बात स्पष्ट हो जाती है कि प्रत्येक व्यक्ति दो मूल परिवारो का वर्तमान या भावी सदस्य होता है—एक तो वह जिसम उसका जन्म हुआ, दूसरा वह जहाँ वह जनक (या जननी) का कार्य करता है, या भविष्य मे करने वाला है।[13] यद्यपि मागन ने मानव विकास के प्रारम्भिक स्तर पर यौन साम्यवाद की बात की है और कहा है कि समाज की एक अवस्था ऐसी थी जब परिवार नाम की सामाजिक सस्था नही थी। परन्तु उनका यह कथन सत्य प्रतीत नही होता क्योकि आज तक कोई भी ऐसी जनजातीय सस्कृति नही मिली है जिसमे परिवार का कोई न कोई रूप नही पाया जाता हो। इतना अवश्य सत्य है कि सस्कृतियो की भिन्नता के कारण, अलग अलग स्थानो पर परिवार का रूप भिन भिन रहा है। परन्तु परिवार का अस्तित्व सदैव रहा है क्योकि इसके द्वारा मानव की कुछ मौलिक आवश्यकताओ की पूर्ति होती रही है।

परिवार सदैव एक प्रकार्यात्मक इकाई के रूप मे महत्वपूर्ण रहा है। यह प्राणिशास्त्रीय (विशेष रूप से भावी माताओ और शिशुओ की) और भोजन सम्बन्धी आवश्यकताओ की पूर्ति करता, यह आर्थिक क्रियाओ के सम्पादन का महत्त्वपूर्ण केन्द्र और व्यक्ति की यौन-इच्छाओ की पूर्ति का माध्यम रहा है। यौन क्रिया के फलस्वरूप सन्तानोत्पत्ति होती है और सन्तान के माध्यम से माता पिता को मनोवैज्ञानिक सतुष्टि प्राप्त होती है। साथ ही इस कार्य से समूह का अस्तित्व भी बना रहता है। परिवार सास्कृतिक परम्पराओ को एक पीढी से दूसरी पीढी को हस्तान्तरित करता रहता है। विभिन्न परिस्थितियो मे व्यक्ति के अनुकूलन को सरल बनाता और समाज की सस्कृति की निरन्तरता को बनाए रखने मे योग देता है।

---

१३ डा० एस० सी० दूबे, पूर्व उद्धृत, पृष्ठ, १०१

परिवार ही बालको को भाषा-सम्बन्धी प्राथमिक ज्ञान प्रदान करता है । जनजातीय भारत मे, कुछ जनजातियो जिनमे युवा-गृहों की व्यवस्था पाई जाती है, को छोड़-कर परिवार बालको की प्रारम्भिक शिक्षा के मुख्य केन्द्र रहे हैं। इस प्रकार परिवार एक सामाजिक- सांस्कृतिक इकाई के रूप मे कार्य करता है ।

जनजातीय लोगो मे परिवार का, उत्पादन की इकाई के रूप मे विशेष महत्व पाया जाता है । इन परिवारो का आधार व्यक्तिवाद की भावना न होकर सामूहिकता है । जन-जातीय समाजो मे व्यक्ति की सामाजिक स्थिति का निर्धारण मूलत परिवार के आधार पर ही होता है । कुछ जनजातियो मे विवाह के पूर्व और विवाह के अतिरिक्त यौन-सम्बन्धी स्वतन्त्रता के होने से, परिवार का भावात्मक आधार बहुत अधिक दृढ नही होता । जन-जातीय परिवारो मे स्त्रियो की स्थिति पुरुषो मे निम्न नही होती, इनमे स्त्रियों का भी पुरुषो के समान ही अधिकार प्राप्त होते हैं । मैकाइवर और पेज नामक विद्वानो ने परिवार की जिन आठ विशेषताओ का उल्लेख किया है, उनका वर्णन "परिवार" वाले अध्याय मे अन्यत्र किया गया है । अत यहाँ उनकी पुनरावृत्ति आवश्यक नही है ।

जब हम परिवार पर एक समूह और मानव द्वारा निर्मित एक समिति के रूप मे विचार करते हैं, तो पाते हैं कि समय और स्थान के साथ इसके आकार और स्वरूप मे भिन्नता रही है । जनजातीय भारत मे परिवार के निम्नलिखित रूप प्रचलित रहे हैं । आकार या सदस्यो की सख्या के आधार पर तीन प्रकार के परिवार पाए जाते हैं, प्रथम **मूल या केन्द्रीय परिवार** (Primary or Nuclear Family) वह परिवार होता है जिसम पति-पत्नी और उनके अविवाहित बच्चे पाए जाते हैं । ऐसे परिवार हो, सन्थाल तथा थारू लोगो मे पाए जाते हैं । जनजातीय समाजो मे ऐसे परिवार अधिक नही पाए जाते हैं, अत इन्हे विशेष महत्व नही दिया जाता । द्वितीय, **विवाह सम्बन्धी परिवार** (Conjugal Family) विशेष रूप मे खरिया जनजाति के लोगो मे पाए जाते हैं जिनमे पति-पत्नी और उनके बच्चो के अतिरिक्त विवाह द्वारा बने कुछ रिश्तेदार भी होत हैं । तृतीय, **विस्तृत एव सयुक्त परिवार** (Extended and Joint Family) का अर्थ स्पष्ट करते हुए डॉ० एस० सी० दूबे ने बताया है कि यदि कई मूल-परिवार एक-साथ रहते हो, और उनम निकट का नाता हो, एक ही स्थान पर भोजन करते हो, और एक आर्थिक इकाई के रूप मे कार्य करते हो, तो उन्हें उनके सम्मिलित रूप से सयुक्त परिवार कहा जा सकता है । विस्तारित परिवार की सज्ञा उस परिवार सकुल को दी जाती है, जो वशानुक्रम से सम्बद्ध होते हुए भी, अपनी *भिन्न भिन्न इकाइयो के रूप मे परिवारो मे बटा हो ।*[14] स्पष्ट है कि मूल परिवारो को मिलाकर बनने वाला परिवार विस्तृत परिवार कहलाएगा । विस्तृत परिवार को एक पक्षीय परिवार के नाम से पुकारा जा सकता है क्योकि इसमे वश-परम्परा एक ओर से ही चलती है, चाहे वह पिता के नाम से चले या माता के नाम से । ऐसे परिवार मे रक्त-सम्बन्धियों का विशेष महत्त्व पाया जाता है । गारो और नायरो को छोडकर, शेष करीब-करीब सभी भारतीय जनजातियो म पितृपक्षीय और पितृवशीय विस्तृत परिवार पाये जाते हैं । गारो तथा नायरो मे मातृ-पक्षीय और मातृवशीय विस्तृत परिवार मिलते हैं । विवाह के आधार

१४ डा० एस० सी० दूबे, पूर्वोक्त, पृष्ठ, १०१ ।

पर परिवार के दो रूप दिखाई पड़ते हैं —प्रथम, एक विवाही परिवार (Monogamous Family) जिसमें एक पुरुष का विवाह एक स्त्री के साथ ही होता है। सन्थाल तथा कादर आदि जनजातियों में ऐसे परिवार पाए जाते हैं। भारतीय जनजातियों में ऐसे परिवार कम मात्रा में ही पाए जाते हैं। द्वितीय, बहु विवाही परिवार (Polygamous Family) में एक पुरुष अथवा स्त्री के एक से अधिक पत्नियाँ या पति होते हैं। इस प्रकार के परिवार के दो रूप मिलते हैं (१) बहु-पत्नी विवाही परिवार (Polygynous Family) जिसमें एक पुरुष का विवाह एक से अधिक पत्नियों के साथ होता है। अधिकांश भारतीय जनजातियों में इसी प्रकार के परिवार पाए जाते हैं। ऐसे परिवार खासतौर से नागा, गोंड, बैगा, लुशाई आदि जनजातियों में मिलते हैं। (२) बहु-पति विवाही परिवार (Polygandrous Family) में एक स्त्री का एक से अधिक पुरुषों के साथ विवाह होता है। उस स्त्री के सभी पति एक दूसरे के भाई हो सकते हैं, परन्तु यह आवश्यक नहीं है। खस, टोडा, नायर, तथा टियान कुसुम्ब आदि जनजातियों में बहुपति-विवाही परिवार पाए जाते हैं।

पारिवारिक सत्ता, वंश नाम तथा निवास के आधार पर जनजातीय भारत में निम्नलिखित प्रकार के परिवार मिलते हैं —प्रथम, मातृसत्तात्मक परिवार (Matriarchal Family) वे परिवार होते हैं, जिनमें सत्ता पुरुष की न होकर स्त्री की होती है। विवाह के पश्चात् स्त्री अपने पति के घर जाकर निवास नहीं करती बल्कि पति पत्नी के परिवार में आकर रहता है। इसी कारण ऐसे परिवार को मातृस्थानिक परिवार (Matrilocal Family) भी कहते हैं। इस प्रकार के परिवार में वंश-नाम माता से ग्रहण किया जाता है न कि पिता से। *अत ऐसे परिवार को मातृवंशीय परिवार (Matrilineal Family)* कहते हैं। खासी तथा गारो जनजातियों में विशेषतः इस प्रकार के परिवार पाए जाते हैं। द्वितीय, पितृसत्तात्मक परिवार (Patriarchal Family) में सत्ता पुरुष की होती है। विवाह के बाद पत्नी को अपने पति के घर जाकर निवास करना पड़ता है, इसी कारण ऐसे परिवार को पितृस्थानिक परिवार (Patrilocal Family) कहते हैं। इस प्रकार के परिवार वंश नाम पिता से ग्रहण किया जाता है और इसलिए ये परिवार पितृवंशीय परिवार (Patrilineal Family) कहलाते हैं। अधिकांश भारतीय जनजातियों में पितृसत्तात्मक परिवार ही पाए जाते हैं। हिन्दू समाज में सर्वत्र इसी प्रकार के परिवार दिखाई पड़ते हैं। सभ्य समाज के सम्पर्क के कारण मातृसत्तात्मक संस्कृतियों वाली जनजातियाँ भी पितृसत्तात्मक परिवारों की विशेषताएँ ग्रहण करती जा रही हैं। परिवार के विभिन्न प्रकारों पर विस्तार पूर्वक चर्चा करना यहाँ उचित नहीं समझा गया है क्योंकि "परिवार" वाले अध्याय में इनका सविस्तार वर्णन किया जा चुका है।

स्पष्ट है कि जनजातीय विवाह और परिवार विभिन्न जनजातियों के सामाजिक और आर्थिक जीवन के दृढ़ आधार हैं। अलग-अलग जनजातियाँ न केवल एक-दूसरे से पृथक् भौगोलिक दशाओं में निवास करती हैं बल्कि इनके सांस्कृतिक मूल्य भी भिन्न हैं। यही कारण है कि विभिन्न जनजातियों में विवाह एवं परिवार के अलग-अलग रूप दिखलाई पड़ते हैं। अ-जनजातीय ग्रामीणों तथा नगरीय लोगों के सम्पर्क के उपरान्त भी अधिकतर जनजातियाँ अपने जीवन के मौलिक स्वरूप को आज भी अधिकांशतः बनाये हुए हैं। आवश्यकता इस बात की है कि जनजातीय विवाह एवं पारिवारिक व्यवस्था पर जनजातीय सामाजिक सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के सन्दर्भ में ही विचार किया जाना चाहिए। केवल तभी हम वास्तविकता के निकट पहुँच सकते हैं, सही अर्थों में जनजातीय जीवन को समझ सकते हैं।

प्रश्न

१ भारतीय जनजातियो के विवाह तथा परिवार की विशेषताओ की विवेचना कीजिए।
२, 'बहु-पत्नी विवाह तथा बहु-पति विवाह' पर सक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
३. बहु-पति विवाह की परिभाषा कीजिए। भारत की आदिम जातियो में इसका अभी तक प्रचलन क्यो है ?
४. भारतीय जनजातियो मे जीवन-साथी प्राप्त करने के विभिन्न तरीको पर प्रकाश डालिये।
५. भारतीय जनजातियो मे प्रचलित पूर्व-वैवाहिक एव अतिरिक्त वैवाहिक यौन-सम्बन्धो का वर्णन कीजिए।
६ मातृसत्तात्मक परिवार पर सक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
७. आदिम समाजो मे पाये जाने वाले परिवार के विभिन्न स्वरूपो का वर्णन कीजिए।

परिवार : कार्य एवं स्वरूप

(FAMILY : FUNCTIONS & FORMS)

प्राथमिक समूहों मे परिवार का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। सामाजिक सरचना मे परिवार की केन्द्रीय स्थिति है। परिवार वास्तव में समाज की आधारभूत इकाई है। परिवार से ही समाज का विस्तार हुआ है और उस पर ही प्रत्येक समाज का जीवित रहना निर्भर करता है। यदि यह कहा जाय कि परिवार समाज को अमरत्व प्रदान करता है, तो कोई अतिशयोक्ति नही होगी। परिवार सन्तानोत्पत्ति द्वारा समाज के लिए नवीन सदस्यो की भर्ती करता है जो मृत व्यक्तियो के रिक्त स्थान की पूर्ति करते रहते हैं और इस प्रकार समाज की निरन्तरता बनाए रखते हैं। परिवार मे मृत्यु और अमरत्व का सुन्दर समन्वय हुआ है। परिवार के एक सदस्य के रूप में व्यक्ति मरता है, परन्तु उसका स्थान उसके बेटे, पोते लेते रहते हैं और परिवार का अस्तित्व बना रहता है।

परिवार मानव-जीवन के सास्कृतिक विकास के प्रत्येक स्तर पर किसी-न-किसी रूप मे अवश्य पाया जाता है। इस दृष्टि से परिवार एक सार्वभौमिक और सार्वकालिक सस्था रही है। उसका अस्तित्व प्रत्येक समाज मे, चाहे वह आदिम हो या आधुनिक, पूर्व का हो या पश्चिम का, पाया जाता है। व्यक्ति और समाज दोनों की दृष्टि से परिवार एक मौलिक सस्था रही है। जन्मने बालक परिवार का सदस्य बन जाता है। परिवार ही मुख्यत. उसका समाजीकरण करता है उसे मानव बनाता है और समाज को समर्पित कर देता है। जन्म से लेकर मृत्यु तक साधारणत व्यक्ति परिवार का सदस्य बना रहता है। इसे मानव का एक लघु समुदाय कहा जा सकता है। मैकाइवर और पेज ने बतलाया है कि सभी प्राथमिक समूहो मे समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से, परिवार सबसे महत्त्वपूर्ण है। परिवार समाज को कई रूपो मे प्रभावित करता है। पारिवारिक परिवर्तन समस्त सामाजिक सगठन मे प्रति-ध्वनित हो उठते हैं। मानव-समाज मे असख्य रूपो मे अवतरित होने तथा परिवर्तनो के मध्य अपनी निरन्तरता और स्थायित्व बनाए रखने की इसमे अपूर्व क्षमता है।[1] ऐसी महत्त्वपूर्ण सस्था का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। यहाँ सर्वप्रथम परिवार के अर्थ को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है।

परिवार की परिभाषा करना एक कठिन कार्य है। श्री प्रभु नामक विद्वान ने डन्लेप (Dunlap) को उद्धृत करते हुए लिखा है कि 'परिवार की मनमाने ढग से परिभाषा करने

---

1. MacIver, R M & Page, C. . Society, P. 240

के अतिरिक्त' सार्वभौमिक परिभाषा करना असम्भव-सा है। यह सत्य है कि इसके स्वरूपो मे से एक प्रसिद्ध स्वरूप मे, एक पुरुष और एक स्त्री अपने संयुक्त बच्चो सहित आते है जो अपने बच्चों की अवयस्कता (Minority) की अवधि म एक ही निवास पर साथ-साथ रहत है, लेकिन इसके भी अनेक रूप भेद हैं। अत बिना बच्चो वाले परिवार होते है या गोद लिए हुए बच्चो वाले परिवार होते है, ऐसे परिवार होते हैं जिनमे मनुष्य का स्त्री और बच्चो से पृथक् निवास स्थान होता है, या दादा-दादी, चाचा-चाची, और पोते-पोती सदस्य होते है, जिसमे एक से अधिक पत्नी या पति अथवा दोनो होते हैं, या जिसमे विधवा माता और उसके बच्चे होते है या जिसमे एक माता और उसके गोद लिए हुए बच्चे होते हैं।[2] स्पष्ट है कि परिवार के इन विविध रूपो को एक ही परिभाषा मे समाविष्ट करना बड़ा कठिन कार्य है। बर्गेस और लॉक (Burgess and Locke) का कथन है कि परिवार की किसी भी परिभाषा मे दो तत्वो का होना आवश्यक है (१) परिवार की परिभाषा इतनी विस्तृत होनी चाहिए कि उसमे इसके सभी रूप आ जाएँ, और (२) वह इतनी विशिष्ट भी होनी चाहिए कि सीमान्त समूह, जैसे गृहस्थी और सम्बन्धी-वर्ग, भ्रातृसंघ आदि, इसकी परिभाषा मे न आ सकें।[3] इन्ही बातो को ध्यान मे रखते हुए बर्गेस और लाक ने लिखा है, "एक परिवार उन व्यक्तियो का समूह है, जो विवाह, रुधिर अथवा गोद लेने के सम्बन्धो मे एक दूसरे से बँधे रहते हैं, जो एक गृहस्थी का निर्माण करते है, जो पति-पत्नी, माता-पिता, पुत्र-पुत्री और भाई-बहिन की निजी सामाजिक भूमिका मे, एक-दूसरे के साथ अन्त-क्रिया और अन्त सचार करते रहते हैं, और जो एक सामान्य संस्कृति का निर्माण करते हैं तथा उसे बनाए रखत है।"[4] परिवार का अर्थ स्पष्ट करते हुए मैकाइवर और पेज ने लिखा है, "परिवार एक ऐसा समूह है जो सुनिश्चित और स्थायी यौन सम्बन्धो द्वारा परिभाषित किया जाता है, जो बच्चो के प्रजनन एवं पालन-पोषण के लिए अवसर प्रदान करता है। इसमें समपार्श्विक (Collalteral) अथवा सहायक (Subsidiary) सम्बन्धी भी हो सकते हैं, लेकिन इसका निर्माण पति-पत्नी के एकसाथ रहने और बच्चो के साथ मिल कर एक विशिष्ट इकाई बनने से होता है।"[5] परिवार का आधार मनुष्य की दैहिक, मानसिक और सामाजिक आवश्यकताएँ हैं।

जुकरमेन (Zuckerman) ने लिखा है, 'एक परिवार समूह पुरुष स्वामी, उसकी स्त्री

---

2 Dunlap, K Civilized Life "The Principles and Applications of Social Psychology', pp 136 7, quoted by P H Prabhu, op cit, pp 201-202

3 Burgess E W and Locke, H. J The Family p 8.

4 "A Family is a group of persons united by the ties of marriage, blood or adoption, constituting a single household, interacting and intercommunicating with each other in their respective social role of husband and wife, mother and father, son and daughter, brother and sister, and creating and maintaining a common culture' Burgess and Locke Ibid, p 8

5 "The family is a group defined by a sex relationship sufficiently precise and enduring to provide for the procreation and upbringing of children It may include collateral or subsidiary relationships, but it is constituted by the living together of mates, forming with their offspring a distinctive unity" Maciver, R M and Page, C. H op cit, p. 238

या स्त्रियों और उनके बच्चों से मिलकर बनता है और कभी-कभी इसमें एक या अधिक अविवाहित पुरुष भी सम्मिलित होते हैं।"[6] बिसेन्ज और बिसेन्ज के अनुसार, "परिवार की परिभाषा एक दृष्टिकोण से यह की जा सकती है कि एक स्त्री बच्चों के सहित और एक पुरुष उनकी देख-रेख करने हेतु।"[7] मॅरडाक ने लिखा है, "परिवार एक ऐसा सामाजिक समूह है, जिसमें सामान्य निवास, आर्थिक सहयोग, और प्रजनन, विशेषताओं के रूप में पाए जाते हैं। इसमें दोनों लिंगो के वयस्क सम्मिलित होते हैं, जिनमें से कम से कम दो में सामाजिक दृष्टि से स्वीकृत यौन-सम्बन्ध होता है और यौन-सम्बन्धों में बँधे इन वयस्कों के स्वय के अथवा गोद लिए हुए एक या अधिक बच्चे होते हैं।"[8] ऑगबर्न और निमकॉफ (Ogburn & Nimkoff) ने बतलाया है, "परिवार, बच्चो सहित अथवा बच्चो रहित पति और पत्नी, या अकेले एक पुरुष अथवा स्त्री और बच्चो का लगभग एक स्थायी संघ है।"[9] इन परिभाषाओं से ज्ञात होता है कि परिवार के अर्थ के सम्बन्ध में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। फिर भी इतना अवश्य कहा जा सकता है, कि परिवार एक ऐसा सामाजिक समूह है जिसे सामान्य निवास, आर्थिक सहयोग एवं प्रजनन के आधार पर अन्य समूहों से अलग किया जा सकता है। परिवार के सदस्यों में से साधारणतः दो विषम-लिंगी व्यक्तियों में यौन-सम्बन्ध पाए जाते हैं और इनके स्वय के अथवा गोद के लिए हुए बच्चों के पालन-पोषण की निश्चित और स्थायी व्यवस्था होती है। पारिवारिक समूह में पति-पत्नी और उनके स्वय के बच्चो के अतिरिक्त एक या दो सदस्य और भी हो सकते हैं जो निकट रक्त-सम्बन्धी या गोद लिए हुए होते हैं।

परिवार की प्रमुख विशेषताएँ
(Chief Characteristics of Family)

विश्व के सभी समाजो में पारिवारिक संगठन की विविधता के बावजूद भी कुछ समान विशेषताएँ पायी जाती हैं। मैकाइवर और पेज ने ऐसी आठ प्रमुख विशेषताओं का वर्णन किया है।[10] ये विशेषताएँ निम्नलिखित हैं जो भारतीय परिवार में भी पाई जाती हैं:

१. सार्वभौमिकता (Universality) :

---

6 "A family group consists of a male overlord, his female or females together with their young, and may sometimes include one or more bachelors or unmated males" Zuckerman. S : The social life of Monkeys and Apes, P 225

7. "Thus the family may in one sense be defined as a woman with a child, and a man to look after them" Biesanz, J. and Biesanz, M · Modern Society An Introduction to Social Sciences, p. 204.

8. "The family is a social group characterized by common residence, economic co-operation, and reproduction It includes adults of both sexes, at-least two of whom maintain a socially approved sexual relationship and one or more children, own or adopted, of the sexually cohabiting adults" Murdock : Social structure, p 1.

9. "The family is more or less a durable association of husband and wife with or without children, or of a man or woman alone with children". W. F. Ogburn and M F. Nimkoff, "A Hand-book of Sociology" P 459.

10. Maciver & Page, op cit pp. 240-241.

सभी छोटे-बडे सगठनो मे परिवार सबसे अधिक सार्वभौम है। यह सभी समाजो और सभी कालो म पाया जाता रहा है। प्रत्येक मनुष्य अपने जीवन मे कभी न कभी, किसी न किसी परिवार का सदस्य अवश्य रहा है और भविष्य म भी रहेगा। सामाजिक विकास के प्रत्येक स्तर पर परिवार पाया जाता है। प्रत्येक प्रकार के समाज म, चाहे वह सभ्य हो अथवा असभ्य, आदिम हो अथवा आधुनिक, ग्रामीण हा अथवा नगरीय, परिवार का अस्तित्व सदैव रहा है।

२ भावात्मक आधार (Emotional basis)

परिवार के सदस्य भावात्मक आधार पर एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित रहते हैं। पति-पत्नी क बीच घनिष्ठ प्रेम और सन्तान कामना की प्रवृत्ति पाई जाती है। माता पिता म अपनी सतान के प्रति वात्सल्य और त्याग की भावना पाई जाती है, सन्तान म अपने माता पिता और परिवार के अन्य सदस्यों के प्रति प्रम, श्रद्धा और आदर के भाव पाए जाते हैं। परिवार क सगठन को बनाए रखने मे इन भावनाओ का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

३ रचनात्मक प्रभाव (Formative Influence)

परिवार व्यक्ति का प्रथम सामाजिक पर्यावरण है। परिवार का बच्चो के जीवन पर गहरा प्रभाव पडता है। यह बालको के चरित्र निर्माण म महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। उनके जीवन को सस्कारित करता है, उन पर अमिट छाप डालता है और उनके व्यक्तित्व के निर्माण मे योग देता है। श्री कूले ने परिवार को मानव स्वभाव का सवर्धन-गृह (Nursery) कहा है।

४ सीमित आकार (Limited Size)

प्राणिशास्त्रीय दशाओ के कारण परिवार का आकार बहुत सीमित होता है। इसमे पति-पत्नी के अतिरिक्त वास्तविक या काल्पनिक रक्त सम्बन्धी पाए जाते हैं। इसम वे ही बच्चे सदस्यो के रूप मे होत हैं जिनका जन्म परिवार म हुआ हो या जिन्हे गोद ले लिया गया हो। इस दृष्टि से सामाजिक सरचना के औपचारिक सगठनों म परिवार सबस छोटा है।

५ सामाजिक सरचना मे केन्द्रीय स्थिति (Nuclear position in the Social Structure)

सभी सामाजिक सगठनो म परिवार की केन्द्रीय स्थिति है। यह सामाजिक जीवन की अत्यत महत्त्वपूर्ण इकाई है। सपूर्ण सामाजिक सरचना का आधार परिवार ही है। सरल प्रकार के समाजो और अधिक विकसित पितृ-सत्तात्मक समाजो की सामाजिक सरचनाओ का निर्माण पारिवारिक इकाइयो के आधार पर ही हुआ है। आज के कुछ जटिल आधुनिक समाजो म परिवार के इस कार्य मे कमी आई है, परन्तु उनम भी स्थानीय समुदाय परिवारो के ही सयुक्त रूप अथवा सघ हैं।

६ सदस्यों का उत्तरदायित्व (Responsibility of the Members)

परिवार के सदस्यो म उत्तरदायित्व की अपरिमित भावना पाई जाती है। सकट के समय व्यक्ति अपने समाज और राष्ट्र के लिए त्याग करता है, बलिदान की ओर अग्रसर होता है, परन्तु परिवार मे वह सदैव ही एक दूसरे के प्रति अपने उत्तरदायित्व

रहता है त्याग करता रहता है। परिवार के लिए व्यक्ति बड से वडा त्याग करने को तैयार हो जाता है। परिवार के प्रति उत्तरदायित्व की भावना की जडें मनुष्य के स्वभाव मे गहरी बैठी हुई हैं। उत्तरदायित्व की यह भावना परिवार के सगठन और स्थायित्व के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

७ सामाजिक नियन्त्रण (Social Regulation)

यद्यपि ससार के विभिन्न भागो मे परिवार के अलग अलग रूप दिखलाई पडते हैं तथापि प्रत्येक स्थान पर परिवार सामाजिक नियन्त्रण के एक साधन के रूप मे कार्य करता है। व्यक्ति और समाज दोनो के दृष्टिकोण से ही परिवार एक आधारभूत और लाभदायक सगठन है। इसको बनाए रखने के लिए अनेक सामाजिक निषेध और कानून पाए जाते हैं। हिन्दू समाज मे 'हिन्दू विवाह अधिनियम, १९५५" के अनुसार, एक पति या पत्नी के जीवित रहते हुए कोई भी, दूसरा विवाह नही कर सकता है। इस प्रकार के अनेक अन्य नियम पाए जाते हैं जो विवाह और परिवार को नियन्त्रित करते हैं। वर्तमान समय मे कोई भी स्त्री,पुरुष विवाह द्वारा परिवार को बना तो सकते हैं, परन्तु अपनी इच्छानुसार उसे छोड नही सकते, न ही उसे समाप्त कर सकते हैं।

८ परिवार की स्थायी और अस्थायी प्रकृति (Its Permanent & Temporary Nature))

एक समिति के रूप मे परिवार कुछ सदस्यो का एक समूह है। इन सदस्यो से मिलकर परिवार का निर्माण होता है। इनके परिवार से अलग हो जाने से परिवार का एक समिति के रूप मे अस्तित्व समाप्त हो जाता है। विवाह द्वारा पति-पत्नी मिलकर परिवार की रचना करते हैं और इनकी मृत्यु हो जाने पर अथवा एक-दूसरे को छोड देने या तलाक लेने पर, परिवार भग हो जाता है। इस रूप मे परिवार की प्रकृति परिवर्तनशील या अस्थायी है। परन्तु जब हम परिवार पर एक सस्था के रूप मे विचार करते हैं, तो पाते हैं कि इसकी प्रकृति स्थायी है, यह निरन्तर बना रहता है। पुराने सदस्य मृत्यु को प्राप्त होते रहते हैं और नवीन सदस्य इसमे प्रवेश करते रहते हैं। एक सस्था के रूप मे परिवार के नियम और कार्य-प्रणाली बने रहते है, चलते रहते हैं, जो परिवार को स्थायित्व प्रदान करते हैं।

परिवार की उपर्युक्त आठ विशेषताओ के अतिरिक्त कुछ अन्य सामान्य विशेषताएँ भी हैं जो ये हैं—

१ वैवाहिक सम्बन्ध (Mating Relationship)

वैवाहिक सम्बन्ध के आधार पर ही परिवार का जन्म होता है। यह सम्बन्ध समाज द्वारा स्वीकृत होता है। इसी सम्बन्ध के आधार पर पति-पत्नी मे यौन-सम्बन्ध और सन्तानोत्पत्ति होती है जिन्हें समाज द्वारा मान्यता प्राप्त होती है। वर्तमान समय मे हिन्दू समाज मे कुछ विशिष्ट परिस्थितियो मे पति-पत्नी को तलाक देने का अधिकार दिया गया है।

२ आर्थिक व्यवस्था (Economic System)

प्रत्यक परिवार की साधारणत कुछ आर्थिक व्यवस्था अवश्य होती है जिसके माध्यम से सदस्य अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त करते हैं। बिना आर्थिक व्यवस्था क परिवार के सदस्यो का भरण पोषण सम्भव नही होता।

३. वंश-नाम (Nomenclature) :

प्रत्येक परिवार मे वंश-नाम को चलाए रखने की एक व्यवस्था पाई जाती है। वंश-नाम को निश्चित करने के सम्बन्ध मे कुछ नियम पाए जाते हैं। परिवार मे प्रत्येक बच्चे को किसी नियम के आधार पर उप-नाम (Surname) अथवा वंश-नाम प्राप्त होता है। एक परिवार के सदस्य पीढ़ी-दर-पीढ़ी इसी उप-नाम से पहचाने जाते हैं। वंश-नाम मातृ-वंशीय भी हो सकता है और पितृ वंशीय भी। भारत मे खासी, गारो तथा नय्यर आदि जनजातियो मे वंश-नाम, माता के नाम पर चलते हैं जबकि अन्य जनजातियो और हिन्दुओ मे अधिकतर पिता के नाम पर।

४. सामान्य निवास स्थान (Common Habitation) .

प्रत्येक परिवार के लिए एक सामान्य निवास स्थान या घर भी होता है जहाँ सभी सदस्य रहते हैं। यह निवास स्थान मातृ-स्थानिक भी हो सकता है जैसे नय्यर, खासी, गारो आदि लोगो मे और और पितृ-स्थानिक भी। भारत मे अधिकतर परिवारो मे पितृ-स्थानिक व्यवस्था ही पाई जाती है, जहाँ पत्नी विवाह के पश्चात् अपने पति के यहाँ जाकर निवास करती है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि पति-पत्नी मे से कोई भी एक-दूसरे के मूल-परिवार मे जाकर निवास नही करके, अपना नया निवास बनाकर रहने लगते हैं। डा० एस० सी० दूबे ने ऐसे परिवारों को नव-स्थानिक परिवार (Neolocal family) कहा है। आज-कल भारत मे ऐसे परिवारो के उदाहरण मिलने लगे हैं जहाँ नव-दम्पत्ति अपना नया घर बसा कर रहते हैं।

परिवार की उत्पत्ति
(Origin of Family)

मानव मे सदैव से ही भूत (Past) तथा भविष्य (Future) के विषय मे जानकारी प्राप्त करने की इच्छा रही है। मानव ने इसी इच्छा के कारण यह जानने की उत्सुकता भी प्रकट की कि परिवार का आरम्भ किस प्रकार हुआ तथा उसका प्रारम्भिक रूप क्या था ? लेकिन यहाँ हमे यह नही भूलना चाहिए कि किसी भी सामाजिक घटना की उत्पत्ति का पता लगाना बहुत ही कठिन कार्य है। इस सम्बन्ध मे मैकाइवर ने लिखा है "उत्पत्तियाँ सदैव अस्पष्ट होती हैं। यदि हम अपने ही समय और अपनी स्वय की आँखो के सामने घटित होने वाली किसी घटना की व्याख्या करना चाहें, किसी वैज्ञानिक खोज की, किसी नए धर्म की, युद्ध, क्रान्ति आदि घटनाओ की उत्पत्ति का पता लगाने का प्रयत्न करें तो हम उस साधारण स्रोत, जिससे कि इन्हे प्रारम्भिक प्रेरणा मिली है, तक नही पहुँच पाते। जिस स्रोत के ऊपर की तरफ हम बढते हैं वह हमे गहरे दलदल और अदृश्य तालाब तक पहुचा देता है स्वच्छ झरने (वैज्ञानिक सत्य) तक कभी नही पहुचाता है। यदि पास की घटनाओ के लिए यह सत्य है तो अज्ञात और सदैव दूर भागने वाले भूत (Past) मे निहित सामाजिक घटनाओ की उत्पत्ति का पता लगाना बहुत अधिक कठिन कार्य है।"[11] स्पष्ट है कि भूतकालीन घटनाओ की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे सही जानकारी प्राप्त करना बहुत दुष्कर कार्य है। फिर भी विभिन्न समाजशास्त्रियो एव मानवशास्त्रियो द्वारा परिवार की उत्पत्ति

---

11. Maciver, R M The Modern State, p 25.

के सम्बन्ध मे समय-समय पर प्रकट किये गए दृष्टिकोणो को यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। यहाँ हम परिवार की उत्पत्ति से सम्बन्धित प्रमुख सिद्धान्तो का वर्णन करेंगे।

१ शास्त्रीय सिद्धान्त (Classical Theory) :

प्लेटो (Plato) तथा अरस्तु (Aristotle) ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इन विद्वानो की यह मान्यता थी कि प्रारम्भ से ही समाज और सामाजिक समूहो मे पुरुषो का आधिपत्य रहा है, उनकी प्रधानता पाई जाती रही है। इन्होने परिवार की उत्पत्ति मे भी पुरुष को ही प्रमुख कारण माना है। इसी आधार पर इन लोगो ने बतलाया है कि प्रारम्भ मे पितृ-सत्तात्मक परिवार ही थे। सर हेनरी मेन भी १८६१ ई० मे इसी निष्कर्ष पर पहुंचे थे। आपने सभी प्राचीन सभ्यताओ के अध्ययन के आधार पर उपर्युक्त विचारो का समर्थन किया है। प्राचीन ग्रीक, रोमन एव यहूदी इतिहास पितृ-सत्तात्मक परिवारो के तथ्य की ही पुष्टि करते है। परन्तु यह नही कहा जा सकता कि परिवार का मौलिक रूप यही था।

यह सिद्धान्त किसी क्षेत्र विशेष की दृष्टि से सत्य हो सकता है, परन्तु यह सभी स्थानो पर परिवारो का प्रारम्भिक रूप ही रहा है, ऐसा नही कहा जा सकता। विश्व के विभिन्न आदिम समाजो मे पितृ-सत्तात्मक परिवारो के पाए जाने की बात वर्तमान समय मे अधिकतर वैज्ञानिक अनुसन्धानो के आधार पर प्रमाणित नही होती। इस सिद्धान्त के आधार पर निश्चित रूप से यह नही कहा जा सकता कि परिवार की उत्पत्ति कब, किस रूप मे तथा किन अवस्थाओ मे हुई।

२ यौन-साम्यवाद का सिद्धान्त (Theory of Sex-Communism)

मानव-जीवन की प्रारम्भिक अवस्था मे यौन-साम्यवाद पाया जाता था, ऐसा कुछ विद्वानो का मत है। लुईस मॉर्गन (Lewis Morgen), फ्रेजर (Frazer) तथा ब्रिफाल्ट की यह मान्यता है कि प्रारम्भ मे परिवार नही पाए जाते थे। उस समय यौन-सम्बन्धो पर किसी प्रकार का कोई नियन्त्रण नही था। कोई भी पुरुष किसी भी स्त्री के साथ और कोई भी स्त्री किसी भी पुरुष के साथ स्वच्छन्दतापूर्वक यौन-सम्बन्ध स्थापित कर सकते थे। यह नियन्त्रणहीन स्वच्छन्द यौन सम्बन्धो की स्थिति थी, जिसे यौन-साम्यवाद कहा गया है। इस अवस्था मे परिवार नाम की कोई संस्था नही थी। इस सिद्धान्त के प्रतिपादको ने अपने मत के समर्थन मे कुछ आदिम जातियो से पाए जाने वाले ऐसे रीति-रिवाजो का उल्लेख किया है जिनसे ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भ मे यौन-सम्बन्धी नियन्त्रण बहुत ही कम मात्रा मे पाए जाते थे। ऐसे रीति-रिवाजो मे त्यौहारों के अवसर पर यौन-सम्बन्धी स्वच्छदता, पत्नियो का आदान-प्रदान और अतिथि-सत्कार के लिए पत्नियो को प्रस्तुत करना मुख्य हैं। इस सिद्धान्त के प्रवतक नातेदारी की वर्गीय-व्यवस्था (Classificatory System) से भी काफी प्रभावित थे, जिसके अन्तर्गत एक ही आयु-समूह के सभी व्यक्तियो को पिता, माता, भाई, बहिन, पुत्र अथवा पुत्री के रूप मे सम्बोधित किया जाता था। साथ ही कुछ समूहो मे, जैसे मध्य आस्ट्रेलिया तथा ट्रोब्रायड द्वीप के निवासियो मे सन्तान के प्राणिशास्त्रीय पितृत्व (Biological Paternity) के सम्बन्ध मे अज्ञानता का उदाहरण भी इन विद्वानो ने प्रस्तुत किया है। इन सब तथ्यो के आधार पर कहा गया है कि मानव-जीवन के, आरम्भिक काल मे यौन-साम्यवाद पाया जाता था।

मानवशास्त्रीय अनुसधान यौन-साम्यवाद के सिद्धान्त की पुष्टि नही करते हैं। कुछ जन-

जातियो मे विशिष्ट अवसरो पर कुछ यौन-सम्बन्धी शिथिलता अवश्य पाई जाती है और कुछ जनजातियो मे यौन-सम्बन्धो को कठोरता से नियमित करने के विशेष प्रयत्न नही किए जाते, परन्तु तथ्यो के आधार पर यह प्रमाणित नही होता कि ये सब यौन-साम्यवाद के अवशेष है। मानव-समाज तो दूर रहा, उन्नत पशु-समाज तक मे भी यौन-साम्यवाद नही पाया जाता है। कुछ समूहो मे पाई जाने वाली वर्गीय-व्यवस्था के आधार पर यह कह देना कि उन लोगो को सम्बन्धो के भेद-भाव का अथवा प्राणिशास्त्रीय पितृत्व का ज्ञान नही था, एक भ्रम-मात्र है। जहाँ कहीं लोग पिता की प्राणिशास्त्रीय पैतृक भूमिका से अपरिचित रहे हैं, वहाँ भी परिवार पाए जाते रहे हैं। उस समय आदिम से आदिम लोग प्राणिशास्त्रीय पितृत्व के बारे मे उतने सजग नहीं थे जितने सामाजिक पितृत्व के सम्बन्ध मे। वर्गीय-व्यवस्था, बहिर्विवाह (Exogamy) के नियमों के पालन एव कुछ अन्य सामाजिक उद्देश्यो की पूर्ति के लिए एक परम्परागत व्यवस्था थी। आज भी सभ्य समाजो तक मे समान आयु के व्यक्तियो के लिए, भाई अथवा बहिन शब्द का प्रयोग किया जाता है। ऐसी दशा मे यह *नही कहा जा सकता कि मानव-जीवन की प्रारम्भिक अवस्था मे यौन-साम्यवाद पाया जाता था।*

३. एक विवाह का सिद्धान्त (Theory of Monogamy) :

इस सिद्धान्त का प्रतिपादन वेस्टरमार्क (Westermark) ने अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री ऑफ ह्यूमन मैरिज' मे किया है। उनकी यह मान्यता है कि आरम्भ मे एकविवाही परिवार ही थे। डार्विन का कहना है कि परिवार का जन्म पुरुष के आधिपत्य और ईर्ष्या की भावना के कारण हुआ है। वेस्टरमार्क ने डार्विन के इस कथन का पूर्ण समर्थन करते हुए बतलाया है कि पुरुष स्त्रियो पर उसी प्रकार अधिकार रखना चाहता था, जिस प्रकार सम्पत्ति पर। अपनी शक्ति के आधार पर पुरुष स्त्री पर अपना एकाधिकार स्थापित करने मे सफल भी हुआ। फिर जब इस एकाधिकार को स्त्री-पुरुष दोनो के हित मे आवश्यक समझा गया, तो समाज द्वारा इसे मान्यता प्राप्त हो गई, इसने प्रथा का रूप ग्रहण कर लिया। आगे चलकर यही विवाह की रीति बन गई। वेस्टरमार्क ने छोटी पूँछ वाले बदरो, गोरिल्ला, चिम्पाजी आदि का अध्ययन करके यह बतलाया है कि इनमे भी एक विवाह-प्रथा का ही प्रचलन है और यौन-कामाचार की कल्पना अथवा परिवार के न होने का सिद्धान्त अवास्तविक एव अव्यावहारिक है। जुकरमेन तथा मैलिनोवस्की ने भी वेस्टरमार्क के इस सिद्धान्त का समर्थन किया है। मैलिनोवस्की ने लिखा है, "एकविवाह ही विवाह का सच्चा स्वरूप है, रहा था तथा रहेगा।"[12] वेस्टरमार्क ने एकविवाह की प्रथा को ही विवाह का स्वस्थ स्वरूप माना है, अन्य विवाह-प्रथाओं, जैसे बहु-विवाह इत्यादि को रोगो के रूप मे माना है।

यद्यपि परिवार की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे वेस्टरमार्क ने महत्त्वपूर्ण कारको पर जोर दिया है तथापि यह नही माना जा सकता कि सभी स्थानो पर विवाह की उत्पत्ति एक-विवाह प्रथा के आधार पर ही हुई है।

---

12 "Monogamy is, has been and will remain the only true type of marriage." Malinowski, B "Marriage" in Encyclopaedia Britannica, Vol XIV, 14th Edition, 1938, p 940-950

४ मातृसत्ताक सिद्धान्त (Theory of Matriarchy) :

ब्रिफाल्ट (Briffault) ने वेस्टरमार्क के इस विवाही सिद्धान्त की कटु आलोचना करते हुए अपनी पुस्तक "दी मदर्स" मे परिवार की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे मातृसत्ताक सिद्धान्त प्रस्तुत किया। उन्होने बतलाया है कि आरम्भ मे यौन-सम्बन्धो के बहुत अधिक निश्चित नही होने के कारण, बालक अपनी माता को ही जानते थे। माता और सन्तान के सम्बन्धो मे ही घनिष्ठता पाई जाती थी। पारिवारिक जीवन मे पिता का स्थान महत्वपूर्ण नही था, वह शिकार की तलाश मे अवसर घर से बाहर ही रहता था और परिवार का भार माता पर ही होता था। ऐसी दशा मे पारिवारिक क्षेत्र मे माता के अधिकार बढ गए और मातृ-सत्तात्मक परिवारो का जन्म हुआ। ब्रिफाल्ट ने कहा है कि माता और उसकी सन्तान की आर्थिक और सामाजिक सुरक्षा की निरन्तर आवश्यकता ने परिवार को जन्म दिया। स्त्री ने अपनी मूल-प्रवृत्तियो का अनुकरण करते हुए पुरुष पर विजय प्राप्त की और पुरुष अपने यौन-स्वार्थो के कारण परिवार का हिस्सेदार बन गया। इस प्रकार पुरुष को अपने प्रेम-बन्धन मे बाँध कर स्त्री ने परिवार की उत्पत्ति मे योग दिया। ब्रिफाल्ट ने लिखा है कि परिवार का आरम्भिक रूप मातृ सत्तात्मक ही था और बाद मे कृषि विकास और पुरुष के आर्थिक प्रभुत्व के कारण, पितृ-सत्तात्मक परिवारो का उदय हुआ। उन्होने आदिम जातियों मे पाए जाने वाले मातृ-सत्तात्मक परिवारो के उदाहरणो के आधार पर बतलाया है कि इन परिवारो मे न केवल स्त्री का स्थान पुरुष के बराबर है, बल्कि कही-कही तो पुरुष से ऊँचा भी है। टायलर नामक विद्वान ने इस सिद्धान्त का समर्थन करते हुए कहा है कि आरम्भ मे परिवार का रूप मातृ-सत्तात्मक था, बाद मे मातृ-सत्तात्मक व पितृ-सत्तात्मक व्यवस्था का मिश्रित रूप हुआ और अन्त मे पितृ-सत्तात्मक परिवारो की स्थापना हुई।

परिवार के विकास मे निश्चित रूप से माता का स्थान प्रमुख रहा है, परन्तु यह स्वीकार नही किया जा सकता कि परिवार की उत्पत्ति मे केवल माता ही एकमात्र कारण रही है। वास्तव मे अनेक कारकों के फलस्वरूप परिवार का विकास हुआ है। इसके अति-रिक्त यह भी स्वीकार नही किया जा सकता कि सभी समाजो म परिवार का यही आरम्भिक रूप था। अलग-अलग स्थानो की सामाजिक और सास्कृतिक परिस्थितियो मे भिन्नता पाई जाती है और ऐसी दशा मे हर स्थान पर परिवार का एक ही रूप होना सम्भव नही है।

५ उद्‌विकासीय सिद्धान्त (Evolutionary Theory)

परिवार की उत्पत्ति का एक प्रमुख सिद्धान्त उद्‌विकासीय सिद्धान्त है जिसको सर्वप्रथम श्री बैकोफेन (Bachofen) ने प्रतिपादित किया। तत्पश्चात् लुईस मॉर्गन (Lewis Morgan) ने इसे विस्तृत रूप मे प्रस्तुत किया। हर्बर्ट स्पेन्सर (Herbert Spencer), मैकलेनन (Mc Lennan), लुबोक (Lubbock) तथा टायलर (Tylor) आदि इस सिद्धात के प्रमुख समर्थक रहे हैं। बैकोफेन ने अपने इस सिद्धान्त को निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया है—

मनुष्य का आरम्भिक पारिवारिक जीवन निम्न स्तर का था। उस समय यौन-सम्बन्धी निश्चित नियमो का अभाव था। कुछ उद्‌विकासीय लेखकों ने मानव-जीवन की इस अवस्था को यौन-स्वच्छन्दता (Sexual Promiscuity) की स्थिति माना है। उस समय

पति-पत्नी के सम्बन्धो में ढीलापन पाया जाता था। बच्चो का सम्बन्ध मुख्यत माता के साथ ही था क्योकि यौन-सम्बन्धी शिथिलता के कारण वास्तविक पिता का पता लगाना बहुत कठिन था। बच्चो को समूह के सभी पुरुष सदस्यो का सरक्षण प्राप्त था। इस समय पारिवारिक सम्बन्धो में काफी ढीलापन था। इस स्थिति को ही परिवार की प्रारम्भिक अवस्था माना गया है।

धीरे-धीरे परिवार का रूप कुछ स्पष्ट होने लगा। यह दरिद्रता और आर्थिक कठिनाइयो का समय था और लोगो को खाने-पीने की चीजें प्राप्त करने के लिए कठोर परिश्रम, और प्रकृति के साथ घोर सघर्ष करना पडता था। ऐसी परिस्थितियो मे लडकियो के लिए कठिन परिश्रम करना बडा मुश्किल था, अत उन्हे जन्मते ही मार दिया जाता था। परिणाम यह हुआ कि लडकियो की कमी होने लगी और बहुपति विवाही परिवार की उत्पत्ति हुई। साथ ही जीविकोपार्जन के साधनो के बहुत सीमित होने से, एक स्त्री का अपने भरण-पोषण के लिए एक ही पति पर आश्रित रहना सम्भव नही था। परिणाम यह हुआ कि बहुपति-विवाही परिवार बनने लगे।

इसके बाद जब मनुष्य कृषि अवस्था मे आया और भोजन मे काम आने वाली वस्तुएँ काफी मात्रा मे प्राप्त होने लगी, तो लडकियो को जन्मते ही मार डालने की प्रथा का अन्त हो गया जिससे समाज मे स्त्रियो की सख्या मे वृद्धि हुई। आर्थिक कठिनाइयो के दूर होने होने पर पुरुष के लिए भी एक स अधिक स्त्रियो के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करना सम्भव हो गया। इसके अतिरिक्त, कृषि कार्य में अधिक अतिरिक्त आदमियो की आवश्यकता होती थी। ऐसी दशा मे एक पुरुष एक से अधिक स्त्रियो के साथ विवाह करने लगा। इस प्रकार मानव विकास के इस स्तर पर बहुपत्नी विवाही परिवार का जन्म हुआ।

सभ्यता के विकास के साथ-साथ लोगो को बहुपति विवाह और बहुपत्नी विवाह के दोषो का पता चलने लगा। विवाह क इन प्रकारो के कारण बहुत-से लोग अविवाहित रह जाते थे। इस समय समानता के विचार पनपने लगे, स्त्रियो द्वारा समान अधिकारो की माँग की जाने लगी। इन सबका परिणाम यह हुआ कि एक पुरुष का विवाह एक ही स्त्री के साथ होन लगा और एक-विवाही परिवार बनन लग। वर्तमान समय म परिवार का सर्वाधिक प्रचलित रूप यही है।

उद्विकासीय सिद्धान्त क समर्थन मे आदिम जातियो के सामाजिक सगठनो से अनेक प्रमाण प्राप्त हुए हैं। आदिम जनजातीय लोगों मे ऐसे परिवार अधिक पाए गए जहां वश माता के नाम से चलता था, अर्थात् इनम मातृ-वशीय परिवारो की अधिकता पाई गई। इससे यह धारणा बनी की मातृ-वशीय परिवारो की स्थापना पहले हुई। प्रसिद्ध समाज-शास्त्री हर्बट स्पेन्सर ने प्राणिशास्त्रीय उद्विकास के सिद्धान्त का प्रयोग समाज और सस्कृति के उद्विकास को समझाने में किया। इस सिद्धान्त के अनुसार, आरम्भ में जीवन की उत्पत्ति निम्न स्तर पर होती है और विभिन्न स्तरो से होता हुआ जीवन उच्च अवस्था को प्राप्त करता है। इस सम्बन्ध में टायलर ने बतलाया है कि मनुष्य की सस्थाएँ उतनी स्पष्टत स्तरित ह जितनी स्वय पृथ्वी जिस पर वह निवास करता है।[13]

---

13 Tylor On a method of investigating the development of institution, Applied to Laws of Marriage and Descent in 'Journal of Royal Anthropological Institute' Vol 18, p. 258

लुईस मॉर्गन ने परिवार के उद्विकास के निम्नलिखित पाँच चरणों का वर्णन किया है : उन्होंने कहा है कि सर्वप्रथम रक्त सम्बन्धी परिवार (Consanguine Family) का जन्म हुआ। मानव-जीवन के प्रारम्भिक काल में ऐसे परिवार पाए जाते थे। इस समय यौन-नियन्त्रण नहीं पाए जाते थे, कोई भी किसी के साथ ही ऐसे सम्बन्ध स्थापित कर सकता था। इस अवस्था में भाई-बहिनों तक में विवाह होते थे। द्वितीय चरण में समूह परिवार (Punaluan Family) बने। एक परिवार के सभी भाइयों का विवाह, दूसरे किसी परिवार की सभी बहिनों के साथ होता था और इनमें से प्रत्येक व्यक्ति सभी स्त्रियों का पति माना जाता था तथा प्रत्येक स्त्री सभी पुरुषों की पत्नी। इन परिवारों को समूह-परिवार कहा जाता था। तृतीय चरण में सिन्डेस्मियन परिवार (Syndyasmian Family) की स्थापना हुई। ऐसे परिवारों में एक पुरुष का विवाह यद्यपि एक ही स्त्री के साथ होता था तथापि वह, परिवार में विवाहित सभी स्त्रियों के साथ यौन-सम्बन्ध रख सकता था। ऐसे परिवारों को सिन्डेस्मियन परिवार कहा गया। चतुर्थ चरण में पितृ-सत्तात्मक परिवारों (Patriarchal Family) का विकास हुआ। इस समय परिवार में पिता सर्व शक्तिशाली हो गया, उसके अधिकार बढ़ गए, वह अपनी इच्छानुसार एक से अधिक स्त्रियों के साथ भी विवाह करने लगा। पंचम चरण में एक विवाही परिवार (Monogamous Family) की स्थापना हुई। ये परिवार उद्विकासीय क्रम में अन्तिम अवस्था है और आधुनिक समय में इन्हीं परिवारों का सर्वाधिक प्रचलन पाया जाता है। ऐसे परिवार में एक पुरुष का विवाह, एक ही स्त्री के साथ होता है और उनके यौन-सम्बन्ध उन्हीं तक सीमित रहते हैं। इस प्रकार, उद्विकासीय सिद्धान्त के अनुसार, परिवार विभिन्न स्तरों से गुजर कर वर्तमान अवस्था में पहुंचा है।

इस सिद्धान्त के विरुद्ध सबसे बड़ी आपत्ति तो यह है कि मानवशास्त्रीय अनुसंधानों के आधार पर आज तक ऐसा कोई आदिवासी समूह नहीं पाया गया है जिसमें यौन-कामाचार (Sexual Promiscuity) की स्थिति पाई जाती हो जबकि विकासवादी लेखक यह मानते हैं कि आरम्भ में यौन-कामाचार की स्थिति थी। साथ ही इस बात को भी स्वीकार नहीं किया जा सकता कि प्रत्येक स्थान पर और प्रत्येक समाज में परिवार के विकास का एक ही प्रकार का क्रम रहा है। सभी स्थानों पर उपर्युक्त निश्चित स्तरों से गुजर कर ही परिवार वर्तमान अवस्था में पहुंचा है, ऐसा नहीं माना जा सकता। इतिहास विकासवादी लेखकों की इस मान्यता को प्रमाणित नहीं करता। अलग अलग स्थानों की परिस्थितियों ने वहाँ विभिन्न प्रकार के परिवारों को जन्म देने में योग दिया है। विकासवादी लेखकों के विचार वैज्ञानिक तथ्यों पर आधारित होने के बजाय, अनुमान और कल्पना पर अधिक आधारित होते हैं। यही कारण है कि वर्तमान में अनेक विद्वान परिवार की उत्पत्ति सम्बन्धी इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते हैं। फिर भी परिवार की उत्पत्ति पर प्रकाश डालने की दृष्टि से इस सिद्धान्त का महत्त्व अवश्य है।

६ चक्राकार सिद्धान्त (Cyclical Theory) -

इस सिद्धान्त के प्रतिपादकों में स्पेंगलर (Spengler) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। सॉरोकिन (Sorokin), लिप्ले (Leplay) और जिमरमैन (Zimmerman) इस सिद्धान्त के अन्य प्रतिपादक रहे हैं। इस सिद्धान्त को स्पष्ट करने के दृष्टिकोण से घड़ी के पेन्डूलम (Pendulum) का उदाहरण दिया गया है। जिस प्रकार घड़ी का पेन्डूलम एक छोर से दूसरे छोर तक जाता है और पुनः अपने मूल स्थान पर आता है तथा यह क्रम चलता रहता है, ठीक इसी प्रकार से पारिवारिक प्रतिमान एक छोर से दूसरे छोर की ओर

बढते हैं और पुन अपने मूल स्थान पर लौट आते हैं। तत्पश्चात् फिर से परिवार का उद्विकास आरम्भ होता है।

सॉरोकिन ने पारिवारिक विकास के इतिहास की तीन अवस्थाओ का उल्लेख किया है और कहा है कि जीवन का आरम्भ जहाँ से होता है, वह पुन वही लौट जाता है। परिवार की उत्पत्ति और विकास के सम्बन्ध मे उन्होंने अपने इसी विचार को महत्त्व दिया है। लिप्ने नामक विद्वान ने फ्रेंच पारिवारिक विकास के इतिहास को छ भागो मे विभक्त किया है और परिवार की उत्पत्ति के इस चक्राकार सिद्धान्त का समर्थन किया है।

७ मूलर-लियर का सिद्धान्त (Theory of Muller-Lyer)

मूलर-लियर ने परिवार के इतिहास को तीन भागो मे विभक्त किया है (१) गोत्र-काल (Clan Period), (२) परिवार काल (Family Period) और (३) व्यक्तिगत काल (Personal Period)। उन्होने प्रथम दो कालो को तीन-तीन उप कालो मे बाँटा है प्रारम्भिक काल (Early Period), मध्य काल (Middle Period) और उत्तर (अर्वाचीन) काल (Late Period)। तीसरे काल (व्यक्तिगत) का अभी आरम्भ ही हुआ है। मूलर-लियर की मान्यता है कि अब एक नवीन प्रजातान्त्रिक परिवार की स्थापना हो रही है और यह युग प्रजातान्त्रिक परिवार के आरम्भ का युग है। उन्होने लिखा है कि जहाँ राज्य शक्तिशाली होता है, परिवार कमजोर होता है और स्त्रियो की स्थिति अच्छी होती है, और जहाँ राज्य कमजोर होता है, वहाँ परिवार शक्तिशाली होता है और स्त्रियो की स्थिति खराब होती है।[14] बर्ट्रेण्ड रसल (Bertrand Russel) ने मूलर लियर के इस विचार का समर्थन जापान के एक उदाहरण के आधार पर किया है और बतलाया है कि जहाँ परिवार शक्तिशाली होते हैं, वहाँ स्त्रियो की स्थिति निम्न होती है। भारत के स्वतन्त्र होने के पश्चात् राज्य शक्तिशाली होने लगा है, परिवार कुछ निबल होने लगे है और स्त्रियो की स्थिति म सुधार होने लगा है।

परिवार की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे यहाँ अनेक सिद्धान्तो पर विचार किया गया है, परन्तु इन सबके विश्लेषण के आधार पर यही निष्कर्ष निकलता है कि परिवार की उत्पत्ति को किसी एक सिद्धात अथवा एक कारक के माध्यम से नही समझा जा सकता है। परिवार का विकास हुआ है और इस विकास मे अनेक कारको का योग रहा है। वास्तव मे परिवार सृष्टि के आरम्भ से ही किसी न किसी रूप मे पाए जाते रहे हैं। मानव जीवन के इतिहास के किसी ऐसे काल का पता आज तक नही चल पाया है, जब परिवार नाम की सस्था नहीं थी। इस सम्बन्ध मे मैकाइवर और पेज ने लिखा है, "परिवार की इस दृष्टि से कोई उत्पत्ति नही हुई है कि मानव जीवन की कभी कोई ऐसी अवस्था थी जिसम परिवार नहीं पाया जाता या अथवा कोई दूसरी अवस्था ऐसी थी जिसम परिवार का उदय हुआ।'[15] स्पष्ट है कि अनेक कारको ने परिवार के विकास मे योग दिया है। परिवार के विकास म मानव की कुछ मौलिक आवश्यकताओ ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। ऐसी आवश्यकताओ म, यौन-सम्बन्धी तथा सन्तानोत्पत्ति की कामना, और बच्चो के पालन-

---

14 Muller-Lyer, quoted by Bertrand Russel 'Styles in Ethics in the Nation'

15 "The family has no origin in this sense that there ever existed a stage of human life from which the family was absent or another stage in which it emerged Maciver and Page, op cit p 245

पोषण की अनिवार्यता प्रमुख रही हैं। मानव-शिशु, जन्म के समय और अपने जीवन के प्रारम्भिक वर्षों मे इतना निर्बल होता है कि जब तक उसके पालन-पोषण की समुचित व्यवस्था नही की जाए, तब तक उसके अस्तित्व को बनाए रखना सम्भव नही है। गर्भावस्था और उसके बाद मे माता और शिशु को कुछ समय तक अनिवार्य रूप से आर्थिक दृष्टि से पुरुष पर निर्भर रहना पडता है। वास्तव मे आर्थिक आवश्यकताओ ने भी परिवार की उत्पत्ति मे योग दिया है। साथ ही स्त्री-पुरुष एक दूसरे के सहयोग के बिना, न तो अपनी यौन-इच्छा की पूर्ति कर सकते थे और न ही सन्तान को जन्म दे सकते थे। स्थायी रूप से अपनी इन इच्छाओ की पूर्ति और इनके मार्ग मे आने वाली बाधाओ से बचने की दृष्टि से मानव ने पारिवारिक समूह मे रहना लाभप्रद समझा। ये आवश्यकताएँ ही परिवार के विकास का आधार रही हैं। मैकाइवर और पेज ने लिखा है, "ये तीन कारक—यौन इच्छा, सन्तानोत्पादन और अर्थ-व्यवस्था, मुख्य चल (Variables) हैं जो एक-दूसरे से अन्त क्रिया करते हुए पारिवारिक जीवन के सभी रूपो मे पाए जाते हैं।"[16]

परिवार का समाजशास्त्रीय महत्व
(Sociological Importance of Family)

प्राथमिक समूहो म परिवार का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है, क्योकि यह समाज की आधारभूत इकाई है। परिवार से ही समाज का विस्तार हुआ है और परिवार पर ही समाज का जीवित रहना निर्भर करता है। परिवार के समाजशास्त्रीय महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए, बीसेन्ज और बीसेंज ने लिखा है, "परिवार मौलिक एव सार्वभौमिक सस्था है। प्रत्येक समाज का जीवित रहना इसी पर आधारित है।"[17] समाज की प्रमुख इकाई होने के कारण परिवार का महत्त्व अत्यधिक है। इसके महत्त्व का पता इसी बात से चलता है कि ससार के सभी मनुष्य किसी न किसी परिवार के सदस्य हैं और प्रत्येक मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन परिवार मे ही व्यतीत होता है। हर कही परिवार ही समाज के लिए नए उत्पन्न हुए बच्चो के रूप मे कच्चा माल उत्पादित करता है। वह उनका समाजीकरण करता है ताकि वे समाज के अन्य सगठनो मे पूर्ण भाग ले सकें और अपने स्वय के परिवारो का निर्माण कर सकें। परिवार वास्तव मे समाज की प्राथमिक एव मौलिक इकाई है क्योकि सर्वप्रथम परिवार में ही बालक का जन्म होता है और परिवार उसे ऐसे समय मे रखता और लालन-पालन करता है जो उसके व्यक्तित्व के निर्माण मे बहुत महत्त्वपूर्ण है। समाज की रचना परिवार के सगठन द्वारा ही होती है। परिवार एक ऐसा आधार है जिस पर समाजरूपी भवन टिका हुआ है। समाजशास्त्री और मानवशास्त्री सभी इस बात से पूर्ण सहमत हैं कि समाज का विकास प्राथमिक समूह-परिवार के विकास द्वारा हुआ है।

परिवार समाज का सूक्ष्म रूप है। समाज मे जो कुछ होता है, वह सब सक्षिप्त रूप मे परिवार मे पाया जाता है। परिवार के तीन मुख्य प्राथमिक कार्य हैं—बच्चो का उत्पादन, बच्चो का पालन तथा पारस्परिक सहायता एव सहानुभूति। बालक परिवार मे ही जन्म

---

16 These three factors sex and reproduction and economy, are the chief variables that in interaction with one another are found in all forms of family life Maciver and Page, Ibid, P 246

17 'The family is the basic and universal institution Upon it depends the survival of every society' Biesanz and Biesanz p 203

लेता है और वहीं पर उसका पालन पोषण होता है। परिवार में ही बालक में मानवीय गुण आते हैं। उसके व्यक्तित्व पर परिवार के वातावरण की अमिट छाप लग जाती है। परिवार ही व्यक्ति का समाजीकरण (Socialization) करता है। परिवार में ही बालक खाना-पीना, बोलना तथा व्यवहार करना सीखता है। यही पर उसके चरित्र का गठन होता है और उसे जीवनोपयोगी शिक्षा प्राप्त होती है। परिवार में ही बालक को माता-पिता तथा अन्य सदस्यों के साथ रहने से पारस्परिक सम्बन्धों का ज्ञान होता है। सामाजिक संरचना में परिवार नींव के समान है।

परिवार का आधार भावात्मक है। परिवार में सदस्यों को अपनी मूल प्रवृत्तियों एवं भावनाओं को पूर्ण करने का अवसर प्राप्त होता है। परिवार की सामाजिक संरचना में केन्द्रीय स्थिति है। कहने का तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण सामाजिक संगठन पारिवारिक इकाइयों पर ही आधारित होता है। परिवार में सदस्यों को ऐसी शिक्षा मिलती है जो समाज में कार्य करते समय उनके लिए उपयोगी सिद्ध होती है। व्यक्ति परिवार में बहुत से कार्य करता है, बहुत कुछ सीखता है और फिर अपने अनुभव द्वारा अनेक सामाजिक कार्यों को पूर्ण करने में सफलता प्राप्त करता है। इसलिए यह कहना उचित ही है कि परिवार समाज की प्राथमिक एवं मौलिक इकाई है।

परिवार का मनुष्य और समाज दोनों के लिए अत्यन्त महत्व है क्योंकि यह वह प्राथमिक समूह है जो मनुष्य की आवश्यकताओं को पूर्ण करता है और समाज के लिए कार्यकर्ताओं को तैयार करता है। प्राथमिक समूह होने के कारण, परिवार सामाजिक नियंत्रण का कार्य भी बड़ी कुशलता से करता है। परिवार अपने सदस्यों पर नियन्त्रण रखकर समाज में व्यवस्था बनाए रखने में योग देता है। परिवार मानव-सभ्यता और संस्कृति को पीढ़ी दर-पीढ़ी हस्तान्तरित करने का महत्वपूर्ण काम भी करता है। बालक अपने माता पिता के द्वारा समाज के उन सब अनुभवों को, जो कई सदियों में प्राप्त किए गये हैं, केवल कुछ ही वर्षों में सीख लेता है। परिवार में ही बालक आज्ञापालन, सेवा, त्याग स्नेह तथा सहयोग इत्यादि का पाठ सीखता है। यहाँ वह अपने समाज की नैतिक शिक्षाओं के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करता है तथा अपने धर्म और संस्कृति से परिचित होता है। बालक की सम्पूर्ण सुप्त शक्तियों का विकास मुख्यत परिवार में ही होता है, उसमें उच्च विचारों का बीजारोपण यहीं पर होता है। जब तक उत्तम परिवार नहीं होंगे, तब तक उत्तम समाज भी नहीं हो सकता।

परिवार के कार्य
(Functions of Family)

परिवार समाज की मौलिक एवं सार्वभौमिक संस्था है। परिवार अनेक महत्वपूर्ण कार्य करता है। इस सम्बन्ध में इलियट और मैरिल ने लिखा है, "किसी भी संस्था के विविध कार्य होते हैं, सम्भवत समस्त संस्थाओं में परिवार अत्यन्त विविध कार्यों वाली संस्था है।"[18] परिवार के प्रमुख कार्यों को दो मुख्य भागों में बाँटा जा सकता है : प्रथम श्रेणी में वे सार्वभौमिक कार्य आते हैं, जो प्रत्येक समाज और संस्कृति में पाये जाते हैं। ये कार्य परिवार के मौलिक और सार्वभौमिक कार्य कहलाते हैं। दूसरी श्रेणी में वे कार्य आते हैं जो विभिन्न संस्कृतियों में भिन्न भिन्न होते हैं तथा जिनका निश्चय वहाँ की सांस्कृतिक परम्पराओं के अनुसार होता है। ये कार्य परिवार के परम्परागत कार्य कहलाते हैं।

---

18 "Any institution has a variety of functions, and the family is perhaps the most multifarious of all" "Elliott and Merrill • Social Disorganization", 1950, p 361

परिवार के मौलिक एवं सार्वभौमिक कार्य (Basic & Universal Functions of Family)

परिवार अपने इन्ही मौलिक एवं सार्वभौमिक कार्यों की वजह से अपने अस्तित्व को आज तक बनाए हुए है। परिवार के कार्य निम्नलिखित हैं

१ प्राणिशास्त्रीय कार्य (Biological Functions)

परिवार के प्राणिशास्त्रीय कार्यों को तीन भागो मे बाँटा जा सकता है—

(अ) यौन इच्छाओं की पूर्ति (Satisfacation of Sexual Desires)—परिवार दो विषम लिंगियो की यौन इच्छाओ की पूर्ति सृष्टि के आरम्भ से ही करता रहा है। यौन-इच्छा वास्तव मे मनुष्य की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण आवश्यकता है। इस इच्छा की पूर्ति परिवार म ही स्थाई रूप से हो सकती है। समाज एस व्यक्तियो को बुरा समझता है, जो इधर-उधर प्रेम प्रदर्शित करते हुए वैवाहिक सम्बन्ध के दायरे के बाहर अपनी यौन-इच्छाओं की पूर्ति करते हैं। सभी समाजो मे यौन-सम्बन्धो को नियन्त्रित करने की दृष्टि से कुछ प्रतिबन्ध अवश्य पाए जाते हैं, और पति पत्नी के अतिरिक्त किसी अन्य के साथ यौन-सम्बन्धो को समाजो मे निन्दा की दृष्टि से देखा जाता है। वास्तव मे परिवार यौन इच्छाओ की पूर्ति का सर्वोत्तम स्थान है।

(ब) सन्तानोत्पत्ति (Reproduction)—परिवार का सन्तानोत्पत्ति का कार्य प्रमुख है, जो प्रत्येक काल और समाज मे इसके द्वारा किया जाता रहा है। सभी स्त्री-पुरुषो म माता-पिता बनने की मूल प्रवृत्ति साधारणत पाई जाती है, जिसकी सन्तुष्टि परिवार में ही होती है। परिवार के बाहर सन्तानोत्पत्ति का काय सामाजिक दृष्टि से सम्भव नही है और यदि कोई ऐसा करता भी है, तो समाज इसे बुरा समझता है तथा ऐसी अवैध सन्तानो को स्वीकार नही करता है, उन्ह मान्यता प्रदान नही करता है। परिवार के इस कार्य के सम्बन्ध मे सदरलैंड और वुडवड ने लिखा है कि यह एक मौलिक प्राणिशास्त्रीय काय है जा परिवार करता रहा है, यह एक एसा कार्य है जो किसी भी मानव अथवा पशु समाज के अस्तित्व के लिए पूर्णत अनिवाय है।[19] परिवार अपने इस कार्य के द्वारा मानव और समाज के अस्तित्व और निरन्तरता को बनाए रखने मे योग देता है। मनुष्य मरणशील है, परन्तु सन्तानोत्पत्ति के माध्यम स परिवार मानव जाति को अमरता प्रदान करता है और प्रजाति की निरन्तरता बनी रहती है।

(स) बच्चों का पालन पोषण (Nurture of Children)—बच्चो का पालन-पोषण करना परिवार का एक आवश्यक काय है। बच्चा जन्म के समय असहाय होता है तथा एक लम्बी अवधि तक असहाय ही रहता है। परिवार के अन्य सदस्यो की सहायता क बिना वह जीवित भी नही र सकता है। परिवार स तानोत्पत्ति और बच्चो के पालन-पोषण द्वारा प्रजाति का विकास करता है और उसे नष्ट होने से बचाता है। आजकल नर्सरी होम, शिशु-सदन आदि सगठनो की अनेक स्थानो पर स्थापना हुई है जो बालको के पालन पोषण का प्रयत्न करते हैं। सन् १९१७ के पश्चात् रूस म तो परिवार को समाप्त

---

19 Robert L Sutherland and Woodward Introductory Sociology P 610

करने तक का प्रयत्न किया गया था, परन्तु वह असफल रहा। इसका मुख्य कारण यह है कि बालक का जैसा पालन-पोषण और विकास माता पिता के संरक्षण मे होता है, वैसा अन्यत्र कही भी सम्भव नही है। अत. बच्चो का पालन-पोषण एक ऐसा कार्य है, जिस पर परिवार का एकाधिकार है।

२ मनोवैज्ञानिक कार्य (Psychological Function) :

परिवार का मनोवैज्ञानिक कार्य व्यक्तित्व के स्वस्थ विकास के दृष्टिकोण से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। परिवार अपने सदस्यो मे प्रेम तथा सद्भावना को बढाता है, उन्हे मनोवैज्ञानिक सुरक्षा और मानसिकशान्ति प्रदान करता है। बालक को वात्सल्य और मनोवैज्ञानिक सुरक्षा परिवार मे ही माता-पिता, भाई-बहिनो तथा अन्य सदस्यों के साथ रहते हुए प्राप्त होती है। परिवार का मानसिक सुरक्षा प्रदान करने वाला पर्यावरण, बालक मे आत्म-विश्वास जाग्रत करता है। वह उसके स्वस्थ विकास मे योग देता है, उसके व्यक्तित्व के निर्माण मे अपूर्व सहायता पहुँचाता है। परिवार अपने अन्य सदस्यो मे सतत् सुरक्षा की भावना भरता रहता है। रॉबर्ट फास्ट का कथन पूर्णत उपयुक्त है कि घर वह स्थान है जहाँ आप जब भी जाना चाहे, वे आपको आने देंगे।[20]

परिवार अपने सदस्यो को पारस्परिक स्नेह भी प्रदान करता है। इलियट और मैरिल ने परिवार के इस कार्य के सम्बन्ध मे लिखा है कि स्नेह कार्य की सुरक्षात्मक तथा उपयोगितावादी विशेषता भी है। विवाहित पुरुष अविवाहित पुरुषो की तुलना मे अधिक स्वस्थ प्रतीत होते हैं।[21] बर्गेस और लॉक ने इस कार्य की महत्ता के सम्बन्ध मे लिखा है, "पारस्परिक स्नेह, विवाह और परिवार का अनिवार्य आधार बनता जा रहा है।"[22]

परिवार के मनोवैज्ञानिक कार्य की महत्ता का पता तो उन परिवारो मे चलता है जहाँ तलाक हो चुका हो, माता-पिता अलग-अलग रहते हों अथवा सौतेली माँ या सौतेले पिता हो, या माता-पिता की मृत्यु हो गई हो और जहाँ बालको को अपने माता पिता और परिवारजनों का स्नेह नही मिला हो एव मानसिक सुरक्षा का अभाव रहा हो। ऐसे परिवारो के बालको के व्यक्तित्व का स्वस्थ विकास नही हो पाता। ऐसे बालको के अपराधी बन जाने की सम्भावना अधिक रहती है। एक सगठित परिवार अपने सभी सदस्यो को कितनी मानसिक सुरक्षा प्रदान करता है, कितनी शान्ति और आनन्द देता है, उनकी थकान का किस प्रकार दूर कर देता है, किस प्रकार उन्हे सासारिक चिन्ताओ से मुक्त कर देता है, इसकी कल्पना वे ही लोग कर सकते हैं, जिन्हे ऐसे स्वस्थ परिवारो का सदस्य होने का सौभाग्य प्राप्त है। घर का स्नेह से परिपूर्ण वातावरण सदस्यो मे न केवल सद् वृत्तियो को जाग्रत करता है बल्कि उन्हे जीवन में महान कार्य करने की असीम प्रेरणा भी प्रदान करता है। जिस व्यक्ति को जीवन मे मानसिक सुरक्षा और शान्ति नहीं होती, वह अपराध की ओर प्रवृत्त होता है। वह शराबी और जुआरी बनता है, वेश्यावृत्ति मे रुचि लेता है, अनैतिक और समाज विरोधी

---

20. "Home is the place where, when you have to go there, they have to take you in" Robert Frost "" "*The Death of the Hired Man*", complete poems of Robert Frost, pp 49-55

21 Elliott and Merrill op cit,, p 363

22 "Mutual affection is becoming the essential basis of marriage and the family" Burgess, E W and Locke, H J, op cit, p 25.

काय करता है और ऐसा व्यक्ति कभी-कभी आत्महत्या का सहारा लेकर अपने सारे अभावों और विफलताओं को सदा के लिए भुलाने का प्रयास भी करता है। अत स्पष्ट है कि परिवार का मनोवैज्ञानिक काय व्यक्ति और समाज दोना के स्वस्थ विकास के दृष्टिकोण स महत्त्वपूर्ण है। सदरलैंड तथा वुडवड ने उचित ही लिखा है कि आदश रूप मे परिवार एक प्रकार का मनोवैज्ञानिक आराम स्थल है जहाँ कोई भी व्यक्ति सुरक्षापूवक विश्राम कर सकता है तथा दूकान या दफ्तर की चिताओं से मुक्त हो सकता है।[13] यदि यह कहा जाए कि स्नेह मानव जीवन का आधार है और परिवार इसका अमित स्रोत तो इसम किसी प्रकार की कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

परिवार के परम्परात्मक कार्य (Traditional Functions of Family)

परिवार के परम्परात्मक काय संस्कृति एव परम्परा द्वारा निश्चित होते हैं। विभिन्न समाजो की भिन्न भिन्न परम्पराओं के कारण, अलग अलग समाजो म परिवार के इन कार्यों म भिन्नता पाई जाती है। परिवार क परम्परात्मक काय ये हैं

१ प्राणिशास्त्रीय कार्य (Biological Function)

परिवार के इस काय को शारीरिक दखभाल के काय का नाम भी दिया जाता है। ये काय निम्नलिखित हैं

(अ) सदस्यो की शारीरिक रक्षा (Physical care)—परिवार के सभी सदस्य आजीवन परिवार द्वारा रक्षा प्राप्त करत रहत है। परिवार के इस काय के अन्तगत घायल व अपाहिजो की सवा बीमारी के समय सवा शुश्रुषा शारीरिक चोट से रक्षा आदि आते है। परिवार न केवल बाल्यावस्था म ही बालको की शारीरिक रक्षा करता है बल्कि युवावस्था म भी उनकी दखभाल करता है और वृद्धावस्था म तो उन्ह पूण सरक्षण प्रदान करता है।

(ब) भोजन तथा वस्त्र की व्यवस्था (Provision for food and clothing)—प्रत्यक परिवार अपने सदस्यो की आवश्यकता का ध्यान म रखत हुए उनके लिए भोजन तथा वस्त्र का अपनी आर्थिक स्थिति के अनुसार प्रबन्ध करता है। अपने सदस्यो के लिए भोजन का प्रबन्ध करना परिवार का एक महत्त्वपूर्ण काय है जो यह आदिकाल स करता रहा है। परिवार अपने सदस्यो के लिए वस्त्रो की भी व्यवस्था करता है। परिवार म ही वस्त्रो को सीने धोने और इस्त्री करने आदि काय होते रहे है परन्तु वतमान मे विशेषज्ञ, जैसे —दर्जी और धोबी आदि इन कार्यों को करने लगे हैं।

(स) स्थान की व्यवस्था (Provision for shelter)—परिवार अपने सदस्यो के रहने के लिए सामान्य घर या निवास-स्थान की व्यवस्था करता है। बिना घर के किसी भी परिवार का रहना सम्भव नहीं है। वर्षा धूप, सर्दी गर्मी आदि के प्रतिकूल प्रभाव से घर व्यक्ति को बचाता है और उसके लिए विश्राम स्थल क रूप म काय करता है।

२ आर्थिक काय (Economic Function)

---

13 Ideal y the fam ly is a sort of psycholog cal rel ef slat on n wh ch one can safely relax and slough off the cares of the shop or office Sutherland and Wood ward op cit p 615

परिवार एक महत्त्वपूर्ण आर्थिक इकाई के रूप में भी कार्य करता रहा है। परिवार के सदस्य साधारणत उत्पादन कार्य मे योग देते है, धनोपार्जन करते है और आवश्यकतानुसार धन को खर्च भी करते है। प्रत्येक परिवार का एक वशानुगत व्यवसाय रहा है लेकिन वर्तमान समय मे एक ही परिवार के विभिन्न सदस्य परिस्थितियो वश विविध प्रकार के कार्य करने लगे है। परिवार के प्रमुख आर्थिक कार्य निम्नलिखित हैं

(अ) श्रम विभाजन (Division of labour)—परिवार मे लिंग तथा आयु के आधार पर प्रत्येक सदस्य की एक निश्चित प्रस्थिति और भूमिका होती है। सदस्यो की प्रस्थिति तथा भूमिका के आधार पर ही उनमे श्रम विभाजन किया जाता है। अधिकतर पिता धनोपार्जन का कार्य करता है तथा परिवार का प्रधान माना जाता है। माता भोजन पकाने, बालको का पालन-पोषण करने और घर की व्यवस्था करने का कार्य करती है। परिवार म बच्चो वयस्को तथा वृद्धो के कार्य उनकी योग्यतानुसार अलग अलग होते हैं। मनुष्य जब शिकारी अवस्था मे था उस समय भी लिंग भेद के आधार पर स्त्री-पुरुषो मे श्रम विभाजन पाया जाता था और आज के आधुनिक समय म भी यह श्रम विभाजन का एक महत्त्वपूर्ण आधार है। परिवार व्यावसायिक ज्ञान को पीढी दर पीढ़ी हस्तान्तरित करने का कार्य भी करता है।

(ब) आर्थिक क्रियाओ का केन्द्र (Centre of economic activities)– परिवार आरम्भ से ही उत्पादन का एक प्रमुख केन्द्र रहा है। कृषि युग तक इसने आर्थिक दृष्टि से एक उत्पादक इकाई के रूप मे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है। आज भी ग्रामीण भारत म परिवार के छोटे-बडे सभी सदस्य किसी न किसी रूप म खेती के कार्य म योग देते ही है। इसी प्रकार अनेक परिवारो के विभिन्न सदस्य गृह-उद्योगो म लगे हुए हैं। वर्तमान समय मे नगरीय क्षेत्रो म आर्थिक क्रियाओ के केन्द्र के रूप म परिवार का महत्त्व अवश्य कम हुआ है परन्तु इसम कोई सन्देह नही कि परिवार आज भी उपभोग का प्रमुख केन्द्र है। आज तक भी भारत म अधिकतर परिवार ऐसे हैं जिनके सदस्य मिलकर अपने वशानुगत व्यवसाय को करते हैं। जुलाहे बढई, लुहार सुनार, मोची धोबी और इसी प्रकार के अन्य परिवारो म विभिन्न सदस्य मिलकर आर्थिक कार्य करते हैं और उनम परिवार एक उत्पादक इकाई के रूप मे पाया जाता है।

(स) आय एव सम्पत्ति का प्रबन्ध (Management of income and property)– साधारणत प्रत्येक परिवार का आय का कोई न कोई साधन अवश्य होता है जिसके माध्यम से सदस्यो की आवश्यकता पूर्ति होती है। आय के अनुसार परिवार का बजट बनता है, यह निश्चित होता है कि कौन कौन-सी मदो पर कितना रुपया खर्च किया जाएगा। प्रत्येक परिवार की थोड़ी-बहुत सम्पत्ति मकान दुकान खेत जेवर या नकद मुद्रा के रूप म होती है। परिवार इस सम्पत्ति का उचित प्रबन्ध करता है। इसके अतिरिक्त परिवार सम्पत्ति के उत्तराधिकारी का निर्णय भी करता है। वह यह निश्चित करता है कि पारिवारिक सम्पत्ति का स्वामी कौन होगा। साधारणत पितृ-वशीय परिवारो मे लडको म और मातृ-वशीय परिवारो म लडकियो म सम्पत्ति का विभाजन होता है परन्तु आजकल हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम १९५६ के अनुसार, कानूनी दृष्टि स पुत्रियो को भी सम्पत्ति म हिस्सा प्राप्त करने का अधिकार है।

३ सामाजिक कार्य (Social Function)

परिवार समाज की महत्वपूर्ण इकाई के रूप में अनेक सामाजिक कार्य करता है जो ये हैं

(अ) *स्थिति निश्चित करना (To determine status)*—प्रत्येक परिवार की समाज में एक निश्चित स्थिति होती है। परिवार की इस स्थिति के अनुसार ही सदस्यों को समाज में स्थिति प्राप्त होती है। प्रत्येक परिवार अपने सदस्यों को स्थिति और उनसे सम्बन्धित कार्य प्रदान करता है। परिवार ही निश्चित करता है कि व्यक्ति किन लोगों से मिलेगा, किन के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करेगा, किन लोगों के साथ खाएगा-पीएगा और किस प्रकार से जीविकोपार्जन करेगा। एक साधारण मजदूर परिवार में जन्म लेने वाले व्यक्ति की सामाजिक प्रस्थिति और भूमिका उस व्यक्ति से भिन्न होगी जिसका जन्म किसी धनी परिवार में हुआ हो। इसी प्रकार, एक ब्राह्मण और एक शूद्र परिवार में जन्म लेने वाले व्यक्तियों की स्थिति और कार्यों में निश्चित रूप से अन्तर पाया जाएगा। यही कारण है कि परिवार को, सामाजिक स्थिति प्रदान करने वाला प्रतिनिधि (Status giving agent of society) कहा गया है।

(ब) *समाजीकरण (Socialization)*—व्यक्ति का समाजीकरण करने वाली संस्था के रूप में परिवार का महत्व सर्वाधिक है। परिवार में सदस्यों में पारस्परिक घनिष्ठ और स्थायी सम्बन्ध पाए जाते हैं, उनमें अन्तःक्रिया होती रहती है। बालक माता पिता और अन्य सदस्यों के सम्पर्क में रहता हुआ, उनका प्यार और दुलार पाता हुआ जो कुछ सीखता, ज्ञान और अनुभव प्राप्त करता है वह उसके समाजीकरण और व्यक्तित्व के विकास में अपूर्व योग देता है। परिवार ही बालक को समाज का एक योग्य सदस्य बनाता है। परिवार उसे आचरण सम्बन्धी नियमों से परिचित कराता है। परिवार ही बालक को पशु से मानव बनाता है। सदरलैंड तथा वुडवर्ड ने परिवार को समाजीकरण की सबसे अधिक महत्वपूर्ण समिति माना है।[24]

(स) मानव सभ्यता को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचाना (Perpetuation of human achievement from one generation to another)—*मानव सभ्यता और संस्कृति का इतिहास बहुत विशाल है। सदियों से मानव जो कुछ सीखता, अनुभव प्राप्त* करता आ रहा है वह सब कुछ, परिवार बच्चों को बहुत शीघ्र ही सिखा देता है। माता पिता अपने पूर्वजों से जो कुछ सीखते हैं, उसे वे अपने बालकों को सिखाने का प्रयत्न करते हैं और इस प्रकार मानव सभ्यता और संस्कृति एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होती रहती है और इनके विकास में योग मिलता है।

(द) सामाजिक नियन्त्रण (Social control)—प्राथमिक समूह के रूप में परिवार सामाजिक नियन्त्रण का एक मुख्य साधन है। परिवार के सदस्यों का एक-दूसरे पर नियंत्रण रहता है, सब सदस्य बड़ों की आज्ञा का पालन करना अपना कर्त्तव्य समझते हैं। परिवार का कोई भी सदस्य साधारणतः ऐसा कोई कार्य नहीं करना चाहता, जिससे परिवार की बदनामी हो। परिवार अपने सदस्यों में नागरिकता के गुण भरता है, उन्हें सद्‌गुणी बनाता है और अनुशासित जीवन व्यतीत करने की शिक्षा देता है। इन सबका प्रभाव सामाजिक क्षेत्र पर भी पड़ता है और सामाजिक नियन्त्रण के कार्य में सहायता मिलती है।

---

24 Sutherland and Woodward Ibid, p 613.

४ शिक्षात्मक काय (Educational Function)

बच्चो को आरम्भिक शिक्षा परिवार म ही प्राप्त होती है। परिवार की आरम्भिक शिक्षा का बालक के चरित्र पर गहरा प्रभाव पडता है। परिवार बालक के चरित्र निमाण मे काफी योग देता है वह वास्तव म सामाजिक जीवन का अमित स्रोत है। परिवार म बच्चा अनुकरण के द्वारा जो कुछ सीखता है उसी के आधार पर उसका जीवन बनता है। परिवार मे बालक मे अनेक मानवीय गुणो का विकास होता ह। यही वह प्रम आत्म-त्याग परोपकार कर्त्तव्य और आज्ञा पालन तथा सहयोग का पाठ सीखता हैं। परिवार बालको मे अनेक सामाजिक गुणो का विकास और सद्भावनाओ का सचार करता ह। बालक नागरिकता का प्रथम पाठ माता के चुम्बन और पिता के आलिगन म ही सीखता है। परिवार के इस काय के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए थी मूर (Moore) ने लिखा हैं कि एक शिक्षादायक सस्था के रूप मे परिवार की काय कुशलता पर ही मुख्यत सम्पूर्ण समाज की सुरक्षा और योग्यता निभर करती हैं। 25

५ मनोरन्जनात्मक काय (Recreational Function)

परिवार अपने सदस्यों का मनोरजन भी करता ह। यद्यपि सिनेमा सकस क्लब आदि परिवार के इस काय को छीनते जा रहे हैं तथापि भारत जसे निधन देश के करोडो लाग व्यावसायिक मनोरजन के इन साधनो का लाभ नही उठा पाते। ऐसी दशा मे इन लोगो का मनोरजन घर म ही होता है। परिवार बिना पसे के बहुत ही स्वास्थ्यप्रद मनोरजन की व्यवस्था करता ह। परिवार म बच्चो की प्यार भरी बातें हसी मजाक माता पिता का बच्चा के प्रति स्नेह-पूर्ण व्यवहार पति पत्नी का आपसी प्रम और अवकाश के समय म एक जगह बैठकर गप शप करना किस्से कहानिया सुनना सुनाना गीत और भजन गाना ताश आदि खेलना मनोरजन के परम्परागत पारिवारिक साधन हैं। इस प्रकार के मनोरजन का बालको के व्यक्तित्व के विकास पर स्वस्थ प्रभाव पडता ह जबकि सिनेमा थियटर आदि का उन पर कुप्रभाव प्रतीत होता ह। आजकल रेडियो और टेलीविजन भी परिवार म मनोरजन क मुख्य साधन बन गये हैं। मनोरजन का सुखी पारिवारिक जीवन का दृष्टि से काफी महत्त्व ह। यह परिश्रम से थके हुए व्यक्ति म नवजीवन का सचार करता ह उसकी काय क्षमता और कुशलता को बढाता ह।

६ धार्मिक काय (Religious Function)

परिवार धार्मिक एव आध्यात्मिक शिक्षा का केद्र ह। यहाँ सदस्यो को धार्मिक उत्सवो के महत्त्व उनमे भाग लेने क नियमो तथा विधियो और पाप-पुण्य के भेद आदि का ज्ञान प्राप्त होता ह। माता पिता के धार्मिक आचरण द्वारा बालको का धार्मिक शिक्षा भी यहीं प्राप्त होती है। अनेक जनजातीय परिवार तो अपने सदस्यो को धार्मिक एव जादू सम्बन्धी क्रियाए सिखाते हैं ताकि वे इनके माध्यम स जीवन की समस्याओ का मुकाबला कर सक।

७ सास्कृतिक काय (Cultural Function)

परिवार सस्कृति को जीवित रखने और उस अपने सदस्यो को पीढी-दर पीढी सौंपने का महत्त्वपूर्ण काय करता ह। परिवार अपने सदस्या को समाज के रीति रिवाजो परम्प

25 Upon its efficiency as an educational agency primarily depend the security and the quality of society as a whole." Moore An Introduction to Sociology

गम्रो रूढियो, म्रादर्शो, सामाजिक मूल्यो, अर्थात् उस समाज विशेष की सम्पूर्ण जीवन-विधि से परिचित कराता है। वह सदस्यो को इस योग्य बनाता है कि वे समाज के नियमो को मानते हुए और एक दूसरे के अधिकारो का ध्यान रखते हुए, अपने कर्त्तव्यो का पालन कर सकें। सस्कृति का अस्तित्व परिवार के इसी कार्य पर निर्भर करता है।

८ राजनीतिक कार्य (Political Function)

परिवार राजनीतिक कार्य भी करता रहा है। परिवार के राजनीतिक कार्यों का सरल प्रकार के समाजो मे विशेष महत्त्व रहा है। जनजातीय लोगो मे शासन-प्रबन्ध का कार्य अधिकतर एक मुखिया द्वारा किया जाता रहा है। सभी परिवारो के बडे-बूढो की बनी हुई समिति मुखिया को इस काय मे योग देती है। परिवार के माध्यम से सदस्यो को राजनीतिक शिक्षा भी प्राप्त होती है। परिवार को राज्य का एक छोटा रूप माना जा सकता है। राज्य का कोई न कोई मुखिया होता है, उसी प्रकार प्रत्येक परिवार का भी एक मुखिया होता है जिसको भारतीय सयुक्त परिवार मे कर्त्ता कहा जाता है। डा० मजूमदार का कथन है कि कर्त्ता ही परिवार का वास्तविक मुखिया होता है, जज और जूरी होता है। वही पारिवारिक झगडो को निपटाता है और सामाजिक, धार्मिक एव सामुदायिक कार्यों मे परिवार का प्रतिनिधित्व करता है। वह ग्राम पचायत मे भी परिवार के प्रतिनिधि के रूप मे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। इस प्रकार कर्त्ता एक राजनीतिक मुखिया के रूप मे कार्य करता है। परिवार मे आचरण सम्बन्धी नियम और कार्य विभाजन की व्यवस्था भी पाई जाती है, अलग-अलग सदस्यो की भिन्न भिन्न स्थितियाँ और भूमिकाएँ भी होती है। परिवार के सभी सदस्य परम्पराओ के अनुसार अपने-अपने कार्य करते हैं। वे मुखिया की आज्ञा का पालन करते है और परिवार मे सगठन बना रहता है।

परिवार का एक महत्त्वपूर्ण कार्य यह है कि वह, जैसाकि थॉमस (Thomas) ने बतलाया है, मनुष्य की चार प्रकार की मौलिक अभिलाषाओ—नवीन अनुभव (New experience), सुरक्षा (Security), मान्यता (Recognition), और अनुक्रिया (Response) की सन्तुष्टि का अवसर देता है। ये इच्छाएँ और इनके सम्मिश्रण से उत्पन्न विविध 'इच्छाएँ' सभी प्रकार के सामाजिक व्यवहार की आन्तरिक प्रेरणाओ के रूप मे कार्य करती है।[26] श्री प्रभू ने लिखा है, "ये अभिलाषाएँ सार्वभौमिक हैं, और सभी सामाजिक सम्बन्धो के अन्तर्गत पाई जाने वाली मौलिक आवश्यकताओ का प्रतिनिधित्व करती है। परिवार वह महत्त्वपूर्ण क्षेत्र है, जहाँ प्रत्येक व्यक्ति इन अभिलाषाओ की पूर्ति का प्रथम पाठ सीखता है।"[27] इस प्रकार, परिवार अनेक महत्त्वपूर्ण मौलिक एव परम्परात्मक कार्य करता है। यद्यपि आधुनिक समय म परिवार के अनेक परम्परात्मक कार्य अन्य समितियो ने छीन लिए हैं तथापि भारत जैसे निर्धन देश मे परिवार के इन कार्यों मे उतनी कमी नही आयी है जितनी कि यूरोपीय देशो मे।

परिवार के उपर्युक्त कार्यों से स्पष्ट है कि यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सामाजिक सस्था है। परिवार बालक के समाजीकरण की एक अपूर्व समिति है। जन्म के समय बालक न तो मानव होता है और न ही सामाजिक। परिवार मे ही वह, अन्य सदस्यो के साथ रहता

---

26 Burgess & Locke op cit, p 302
27 Prabhu, P. H op cit, p 210

और सचार करता हुआ, व्यवहार-प्रतिमानो और आचरण-सहिता से परिचित होता है। बालक के उचित-अनुचित सम्बन्धी विचार भी परिवार म ही सर्वप्रथम बनत हैं। धीरे धीरे परिवार के माध्यम से ही बालक समाज की प्रथाओं को व्यक्त करने लगता है, उनके अनुरूप उसका आचरण बनने लगता है। श्री प्रभु ने कहा है कि व्यक्ति के व्यक्तित्व के प्रारम्भिक मौलिक लक्षणो का निर्माण परिवार मे ही होता है, जो उसे सास्कृतिक विरासत हस्तान्तरित करता है और इस प्रकार व्यक्ति और उसके समाज के बीच एक सास्कृतिक निरन्तरता कायम करता है। वह वास्तव मे समाज की विभिन्न पीढियो मे निरन्तरता बनाये रखता है। यह उनके बीच सास्कृतिक-समायोजन (Cultural Adjustment) की एक अत्यन्त प्रभावशाली कडी है।[28] वस्तुत परिवार बालक के सम्मुख केवल एक सस्कृति ही प्रस्तुत नही करता, बल्कि अन्तर-वैयक्तिक सम्बन्धो का पर्यावरण भी। परिवार के विभिन्न सदस्यो के साथ अन्त क्रिया के आधार पर बालक के व्यक्तित्व का निर्माण होता है।

बालक खेल ही खेल मे परिवार मे, विविध क्रियाओ के माध्यम से दूसरो के साथ व्यवहार करना सीख जाता है। यहाँ वह विशिष्ट परिस्थितियो के अनुरूप कार्य करने की कला से परिचित हो जाता है। मनोवैज्ञानिको की यह मान्यता है कि बालक अपने व्यक्तित्व और चरित्र सम्बन्धी करीब-करीब सभी लक्षण अपने जीवन के प्रारम्भिक पाँच वर्षों म ही प्राप्त कर लेता है और इस महत्त्वपूर्ण काल मे वह परिवार मे ही रहता है। इससे स्पष्ट है कि पारिवारिक पर्यावरण का बालक पर कितना गहरा और शीघ्र मनो वैज्ञानिक एव सामाजिक प्रभाव पडता है। श्री प्रभु का कथन है कि पर्यावरण सम्बन्धी शक्तियाँ, विशेष रूप से प्रथम तीन से पाँच वर्षों की अवधि म बालक के चरित्र और व्यक्तित्व के विकास को निश्चित रूप से प्रभावित करती हैं। इस समय तक उसके मनोजात व्यक्तित्व-लक्षण (Psychogenic personality traits) करीब-करीब निश्चित हो चुके होते हैं और बाद म पर्यावरण सम्बन्धी कोई परिवर्तन इन मौलिक लक्षणो को अधिकाशत नही बदल पाते है।[29] स्पष्ट है कि व्यक्तित्व के निर्माण म परिवार का कितना महत्त्वपूर्ण स्थान है। अन्य कोई समिति बालक के चरित्र और व्यक्तित्व निर्माण मे परिवार की तुलना मे नही टिक सकती है।

व्यक्ति आजीवन परिवार मे कुछ न कुछ सीखता ही रहता है। बालक परिवार म जो कुछ देखता, सुनता और अनुभव करता है, वह सब उसके व्यवहार म झलकने लगता है। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक श्री यग ने बतलाया है कि परिवार म, प्राणिशास्त्रीय मनोवैज्ञानिक और समाजशास्त्रीय शक्तियाँ मिलकर व्यक्ति को उसका जीवन प्रारम्भ करने के योग्य बनाती हैं।[30] मनुष्य मे जितनी भी सद्वृत्तियाँ, उत्तम गुण, महानता के लक्षण, त्याग, सहानुभूति, सहयोग की भावना, सेवा और प्रेम पाए जाते हैं, उनका मूल स्रोत वास्तव म परिवार ही है। वाल्टर और हिल ने परिवार की महत्ता को स्पष्ट करते हुए, उसे अन्त क्रिया करने वाले व्यक्तित्वो का कार्यक्षेत्र (An arena of interacting personalities)

[redacted] [redacted] [redacted] Prabhu Ibid [redacted] 205

29 Prabhu P. H Ibid P 207

30 Young P V Social Psychology, P. 237

माना है ।[31] श्री गोल्डस्टीन के कथन से परिवार की महत्ता और भी स्पष्ट हो जाती है उन्होंने लिखा है कि परिवार एक कानूनी इकाई अथवा एक सामाजिक सस्था से भी कु अधिक है । यह वह उद्गम स्थान है, जिसमे भविष्य का जन्म होता है और वह पोषण केन्द्र है, जिसमे नवीन प्रजातान्त्रिक सामाजिक व्यवस्था ढलती है । परिवार परम्पराओ द्वार मत से सम्बन्धित होता है, लेकिन उत्तरदायित्व और सामाजिक विश्वास द्वारा यह भविष् से भी सम्बन्धित होता है ।

परिवार के स्वरूप
(Forms of Family)

ससार के विभिन्न भागों म परिवार के स्वरूपा मे विविधता दिखलाई पडती है । इ विविधता का मूल कारण स्थान विशष की भौगोलिक, सामाजिक और सास्कृतिक परिस्थितिय की भिन्नताएँ हैं । भारतवष म ही अनक प्रकार के परिवार पाए जाते हैं । उदाहरण के रूप यहाँ एक विवाही, बहु विवाही पितृ सत्तात्मक मातृ-सत्तात्मक कन्द्रीय और सयुक्त आदि पा वार पाए जाते हैं । रचना ओर सगठन की दृष्टि म परिवार के अनेक रूप विश्व के विभि भागो म मिलते हैं । यहाँ कुछ आधारो पर परिवार के रूपो का वणन किया जा रहा है

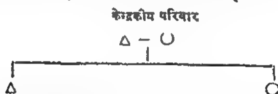
सदस्य-सख्या के आधार पर परिवार के रूप (Forms of Family on the Basi of Number of Family Members)

सदस्यो की सख्या के आधार पर परिवार के तीन प्रकार पाए जाते हैं

१ केन्द्रकीय, मूल या नाभिक परिवार (Primary or Nuclaer Family)

केन्द्रकीय परिवार को प्राथमिक, मूल या नाभिक परिवार भी कहते है । यह परिवा का सबस छोटा और मूलभूत रूप है । ऐसे परिवार म पति-पत्नी और अविवाहित बच्च हाते हैं । इस प्रकार के परिवार मे अन्य रिश्तदार नही पाए जाते हैं । वतमान म विशेष रूप स नगरीय क्षेत्रो मे, एसे परिवारो की सख्या बढती जा रही है । केन्द्रीय परिवार ससा के सभी भागा म पाए जाते । ऐसे परिवार म साधारणत आठ प्रकार के सम्बन्ध होत है पति-पत्नी, पिता-पुत्र माता-पुत्र, पिता पुत्री माता पुत्री, भाई-भाई, बहन बहन तथ भाई-बहन । ऐसे परिवार आधुनिक औद्योगिक समाजो म विशष रूप से पाए जात हैं ।

कन्द्रकीय परिवार को इस चित्र द्वारा समझा जा सकता है



२ विवाह सम्बन्धी परिवार (Conjugal Family)

विवाह-सम्बन्धी परिवार क केन्द्र म तो पति-पत्नी और उनके अविवाहित बच्चे होते हैं, साथ ही विवाह क आधार पर बने कुछ अन्य रिश्तेदार भी एस परिवार के सदस्य होत

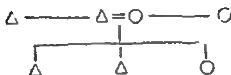
---

31 Walter W and Hill, R , quoted by Prabhu Ibid, p 209

△—परुष ○—स्त्री —वैवाहिक सम्बन्ध क लिए | माता पिता के सन्ताना क साथ सम्बन्ध क लिए, —भाई बहनों के आपसी सम्बन्ध के लिय |

हैं। इस प्रकार, विवाह-सम्बन्धी परिवार मे पति-पत्नी, उनके अविवाहित बच्चे तथा सम्बन्धी आते हैं। इसको परिभाषित करते हुए चार्ल्स विनिक ने लिखा है, "यह पति-पत्नी का एक केन्द्र है, जो सम्बन्धियो के जाल से घिरा हुआ है।"[32] ऐसे परिवार भारतीय समाज मे सब जगह पाए जाते हैं। अनेक जन-जातियो मे इसी प्रकार के परिवार पाए जाते हैं, जैसे खरिया जनजाति मे। ऐसे परिवार को निम्नलिखित चित्र द्वारा समझा जा सकता है :

विवाह सम्बन्धी परिवार



सयुक्त परिवार
(Joint Family)

सयुक्त परिवार का तात्पर्य ऐसे परिवार से है जिसमे कई पीढियो के सदस्य एक साथ रहते हैं। ये सदस्य पारस्परिक कर्त्तव्य-परायणता के आधार पर बँधे रहते है। सयुक्त परिवार का अर्थ स्पष्ट करते हुए डा० एस० सी० दूबे ने लिखा है, "यदि कई मूल परिवार एक साथ रहते हो, और इनमे निकट का नाता हो, एक ही स्थान पर भोजन करते हो और एक ही आर्थिक इकाई के रूप मे कार्य करते हो, तो उन्हें उनके सम्मिलित रूप मे, सयुक्त परिवार कहा जा सकता है।"[33] सयुक्त परिवार मे पति-पत्नी, उनके बच्चे, दादा दादी, चाचा-चाची, चचेरे भाई, उनकी पत्नियाँ और बच्चे, एव विधवा बहनें आदि सम्मिलित होते हैं। सयुक्त परिवार हिन्दुओ मे विशेष रूप से पाए जाते हैं। नायर जनजाति में भी ऐसे परिवार पाए जाते हैं, परन्तु उनमे मातृस्थानिक सयुक्त परिवार होते हैं जबकि हिन्दुओ मे पितृ-स्थानिक सयुक्त परिवार। सयुक्त परिवार पर अगले अध्याय मे विस्तार पूर्वक प्रकाश डाला गया है। सयुक्त परिवार को अग्राकित चित्र द्वारा समझा जा सकता है :

विवाह सम्बन्ध के आधार पर परिवार के रूप (Forms of Family on the Basis of Marriage-relation)

विवाह-सम्बन्ध के आधार पर परिवारो के मुख्यत दो रूप पाए जाते हैं

१ एक-विवाही परिवार (Monogamous Family)

जब एक पुरुष एक स्त्री से विवाह करता है, तो ऐसे विवाह के आधार पर बने परिवार को "एक-विवाही परिवार" कहते हैं। वर्तमान मे एक-विवाही परिवार को परिवार का आदर्श रूप माना जाता है। आधुनिक औद्योगिक समाजो मे ऐसे परिवार अधिक पाए

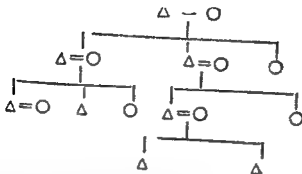
---

32. "It is a nucleus of spouses surrounded by a fringe of relatives"
Charles Winick. Dictionary of Anthropology, P 202

33. डा० श्यामाचरण दूबे, मानव और सस्कृति, पृ० १०३,

जाते हैं। कुछ जनजातीय लोगों मे भी एक विवाही परिवार ही पाए जाते हैं, जैसे—भारत म सन्थाल और कादर आदि लोगो म। हिन्दुओ म भी एक विवाही परिवार काफी पाये जाते हैं।

संयुक्त परिवार



२ बहु विवाही परिवार (Polygamous Family)

जब एक पुरुष का एक स अधिक स्त्रियो के साथ या एक स्त्री का एक से अधिक पुरुषों के साथ विवाह होता है तो परिणामस्वरूप बहु विवाही परिवार बनते है। ऐसे परिवारो म दो प्रकार होते हैं

(अ) बहु पत्नी परिवार (Polygynous family)—जब एक पुरुष एक से अधिक स्त्रियो के साथ विवाह करता है, तो बहु पत्नी परिवार की रचना होती है। ऐसे परिवार म एक पुरुष की एक से अधिक पत्नियाँ होती हैं। हिन्दुओ मे प्राय इस प्रकार के परिवार नही पाए जाते परन्तु मुसलमानो म ऐसे परिवार मिलते हैं, उनम एक पुरुष चार पत्नियाँ तक रख सकता है। हिन्दुओ म एक विवाह के नियम को कानूनी दृष्टि स आवश्यक बना दिया गया है। भारत की नागा बैगा तथा गोंड जनजातियों म बहु पत्नी विवाही परिवार पाए जाते हैं।

(ब) बहु पति विवाही परिवार (Polyandrous family)—जहाँ एक स्त्री का एक स अधिक पुरुषो के साथ विवाह होता है, वहाँ बहु पति विवाही परिवार का निर्माण होता है। मिस्र म तथा भारत क कुछ जनजातीय लोगो मे, एस परिवार पाए जात हैं। उत्तर प्रदेश क जौनसर बावर की खस जनजाति म दक्षिण भारत की कोटा, टोडा तथा टियान आदि जनजातियों म और मलाबार के नायर लोगो म एस परिवार दिखलाई पड़त हैं। ऐसे परिवार म सभी पतियो का पत्नी पर समान अधिकार होता है।

अधिकार या सत्ता क आधार पर परिवार के स्वरूप (Forms of Family on the Basis of Authority)

सत्ता के आधार पर परिवार के दो प्रकार पाए जाते हैं

१ पितृ सत्तात्मक परिवार (Partriarchal Family)

जिन परिवारो म सत्ता पुरुष क हाथ म होती है जहाँ महत्त्वपूर्ण निर्णय उसी के द्वारा लिए जाते हैं जहाँ वही परिवार का केन्द्र होता है, जहाँ उसी का प्रमुत्व होता है

यहाँ ऐसे परिवार को पितृ-सत्तात्मक परिवार कहते हैं। ऐसे परिवार मे पुरुष की स्थिति माता से ऊँची होती है। यही परिवार मे कर्त्ता धर्त्ता होता है और सब सदस्यो पर उसका पूर्ण नियन्त्रण होता है। ऐसे परिवार म सम्पत्ति का उत्तराधिकारी पिता के बाद पुत्र ही होता है। समस्त हिन्दू समाज म पितृ-सत्तात्मक परिवार ही पाए जाते हैं। खरिया, भील आदि जनजातियों म भी ऐसे ही परिवार मिलते हैं।

२ मातृ-सत्तात्मक परिवार (Matr archal Family)

मातृ-सत्तात्मक परिवार मे माता ही परिवार का केन्द्र होती है। इस परिवार म स्त्री को ही मूल पूर्वज माना जाता है। इस प्रकार के परिवार मे बच्चो पर माता या उसके रक्त-सम्बन्धियो का ही अधिकार होता है न कि पिता या उसके रक्त-सम्बन्धियो का। बच्चो के पालन-पोषण तथा शिक्षा आदि का प्रबन्ध लड़की के माता पिता या भाई करते हैं। ऐसे परिवार म स्त्री की स्थिति पुरुष से उच्च होती है और वही परिवार का सचालन करती है। यही कारण है कि इस प्रकार के परिवार को मातृ-सत्तात्मक परिवार कहते हैं। ऐसे परिवार म पुत्र सम्पत्ति का अधिकारी नहीं होता बल्कि माता का भाई अथवा बहन का लड़का (भानजा) सम्पत्ति का उत्तराधिकारी होता है।

वैदिक साहित्य से ज्ञात होता है कि उस समय भारत म मातृ-सत्तात्मक परिवार पाए जाते थ। वर्तमान म मलाबार तथा असम मे एस परिवार पाए जाते है। मलाबार म बेल्लार नायर, जोगी पुरुष मलयाली क्षत्रिय, समन्तन तथा पल्लन आदि म मातृ-सत्तात्मक परिवार पाए जाते हैं। भारतीय जनजातियो म, विशेष रूप स असम मे खासी तथा गारो लोगों म, मातृ-सत्तात्मक परिवार मिलते हैं। नायर लोगो म एस मातृ-सत्तात्मक परिवार का तारवाद कहते है।

वंश नाम के आधार पर परिवार के रूप (Forms of Family on the Basis of Nomenclature)

वंश के आधार पर परिवार के अग्रांकित प्रकार पाए जाते हैं

पितृ वंशीय परिवार (Patrilineal Family)

इन परिवारो म वंश परम्परा पिता के नाम पर चलती है अर्थात् पिता का वंश नाम ही पुत्रो को प्राप्त होता है। वे पिता के वंश के ही माने जाते हैं न कि माता के वंश के। हिन्दू परिवार पितृ-वंशीय परिवार ही हैं।

२ मातृ-वंशीय परिवार (atrilineal Family)

ऐसे परिवारो म स्त्री ही वंश-परम्परा तथा उत्तराधिकार का आधार होती है। बच्चे पिता के वंश के नहीं, बल्कि माता के वंश के माने जाते हैं। माता का ही वंश नाम बच्चो को प्राप्त होता है। मलाबार के नायरो म एस परिवार पाए जाते हैं।

३ उभयवाही परिवार

जिन परिवारो म वंश परिचय म, वंशानुगत सम्बन्ध को महत्त्व नहीं दिया जाता और वंश नाम का निर्धारण सभी निकट के सम्बन्धियो के आधार पर होता है, उन्हें उभयवाही परिवार कहते हैं।

४ द्विनामी परिवार

ऐसे परिवारों म वंश-नाम का निर्धारण केवल पिता अथवा माता के वंश के आधार पर न होकर दोनों के आधार पर होता है। माता और पिता दोनों का ही वंश-नाम जहाँ

साथ-साथ चलता है वहाँ इस प्रकार के परिवार को द्विनामी परिवार कहते हैं। डा० एस० सी० दूबे के अनुसार, 'पितृ नामी परिवार मे किसी व्यक्ति का केवल अपने पिता और दादा से सम्बन्ध रहता है जबकि मातृ नामी परिवार म अपनी नानी से। उभयवाही वश के परिवार मे एक व्यक्ति का सम्बन्ध दादा दादी और नाना-नानी चारो सम्बन्धियो से समान रूप से रहता है जबकि द्विनामी परिवार म एक ही समय म सम्बन्ध दादा और नानी से तो रहता है, किन्तु अन्य दो सम्बन्धियो (दादी और नाना) से नही।'[34]

निवास के आधार पर परिवार के रूप (Forms of Family on the Basis of Residence)

निवास या घर के आधार पर परिवार के दो प्रकार पाए जाते हैं

१ पितृ-स्थानीय परिवार (Patrilocal Family)

जब विवाह के पश्चात् पत्नी अपने माता पिता के परिवार को छोड कर अपने पति के घर जाकर निवास करती है, तो ऐस परिवार को पितृ-स्थानीय परिवार कहते हैं। साधारणत विवाह के बाद पति अपनी पत्नी को अपने पिता के परिवार म रखता है। हिन्दू समाज म और खरिया भील आदि जनजातियो मे इसी प्रकार के परिवार पाए जाते हैं।

२ मातृ स्थानीय परिवार (Matrilocal Family)

जब विवाह के पश्चात् पत्नी अपने पति के घर जाकर निवास नही करती और अपने माता पिता के घर म ही रहती है तथा पति स्वय अपनी पत्नी के घर जाकर निवास करता है तो ऐसे परिवार को मातृ स्थानीय परिवार कहत है। एसे परिवार मे बच्चे भी अपने पिता के परिवार म न रह कर माता क परिवार म ही रहते हैं। अधिकतर ऐसे परिवार मलाबार के नायरा तथा खासी गारो आदि लोगो मे पाए जाते हैं।

३ नव स्थानीय परिवार (Neo local Family)

जब विवाह के बाद पति-पत्नी मे से कोई भी एक दूसरे के पिता के घर मे जाकर निवास नही करत और अपना स्वय का नया घर बसा कर रहते हैं, तो ऐसे परिवार को नव स्थानीय परिवार कहत हैं। वतमान मे बदली हुई परिस्थितियो मे ऐसे परिवार बनने लगे हैं।

यहाँ हम यह ध्यान मे रखना है कि मूल रूप मे पितृ सत्तात्मक, पितृ वशीय और पितृ-स्थानीय परिवार एक ही प्रकार के परिवार के विभिन्न लक्षण हैं। साधारणत जो परिवार पितृ सत्तात्मक होता है वही पितृ-वशीय और पितृ स्थानीय भी होता है, जैसे–हिन्दू परिवार। यही बात मातृ-सत्तात्मक परिवार के लिए भी सत्य है। खासी गारो तथा नायर परिवार म मातृ-सत्तात्मक, मातृ वशीय और मातृ स्थानीय व्यवस्था पाई जाती है।

परिवार के कुछ अन्य रूप (Some Other Forms of Family)

डेविस नामक विद्वान ने परिवार के दो प्रकार बतलाए हैं।[35]

---

34 डा० श्यामाचरण दूबे, पूर्वोक्त, पृ० 104 105।

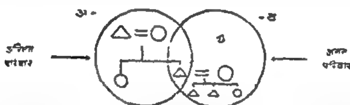
35 Kingsley Dav s Human Society P 399

१. जन्मित परिवार (Family of Orientation) :

जन्मित परिवार वह परिवार होता है जिसमे एक व्यक्ति जन्म लेता, पलता और बड़ा होता है। इस परिवार मे उस व्यक्ति के माता-पिता तथा भाई-बहन होते हैं।

२. जनन परिवार (Family of Procreation) :

विवाह के पश्चात् व्यक्ति जिस परिवार की स्थापना करता है, उसे जनन अथवा सन्तानोत्पत्ति वाला परिवार कहते हैं। इसमे पति-पत्नी, उनके लड़के और लड़कियां होते हैं। इन दोनो प्रकार के परिवारो को अग्रांकित चित्र द्वारा सुगमता से समझा जा सकता है :



"य" नामक व्यक्ति के लिए "अ" परिवार जन्मित परिवार है, जिसमे उसका जन्म और पालन-पोषण होता है। इसी व्यक्ति के लिए "ब" परिवार जनन परिवार है जिसकी स्थापना वह स्वय विवाह द्वारा करता है। स्पष्ट है कि व्यक्ति अपने जीवन-काल मे साधारणतः दो परिवारो का सदस्य होता है—एक जन्मित परिवार का और दूसरा जनन परिवार का।

लिन्टन (Linton) ने परिवार के दो प्रकार बतलाए हैं : रक्त सम्बन्धी परिवार और विवाह-सम्बन्धी परिवार। विवाह-सम्बन्धी परिवार का वर्णन पहले किया जा चुका है। रक्त-सम्बन्धी परिवार (Consanguine Family) उस परिवार को कहते हैं, जिसके केन्द्र में रक्त-सम्बन्धी होते हैं और जिनमे आपस मे किसी प्रकार का यौन सम्बन्ध नही पाया जाता है। ऐसे परिवार मे कुछ अन्य सम्बन्धी भी होते हैं जिनमे पति-पत्नी भी हो सकते हैं, परन्तु ये परिवार के आधार के रूप मे नही होते। चार्ल्स विनिक्त ने लिखा है, "रक्त-सम्बन्धी परिवार रक्त सम्बन्धियो का एक केन्द्र है जो पति-पत्नी के जाल से घिरा हुआ है।"[36] ऐसे परिवार की सदस्यता व्यक्ति को जन्म के आधार पर प्राप्त होती है। विवाह-विच्छेद द्वारा रक्त-सम्बन्धी परिवार का अन्त नही होता। अत इस प्रकार के परिवार अधिक स्थायी होते है। रक्त सम्बन्धियो मे विवाह का निषेध होने के कारण, ये परिवार अपने सदस्यो की यौन-इच्छाओ की पूर्ति नही कर पाते और इसी कारण ऐसा परिवार पति-पत्नी के जाल से घिरा होता है। ऐसे परिवार मे जोर रक्त-सम्बन्ध पर दिया जाता है न कि विवाह-सम्बन्ध पर। इस शताब्दी के प्रारम्भ तक मलाबार के नायरों मे ऐसे परिवार पाए जाते थे। वे परिवार मे पति अथवा पिता को कोई मान्यता प्रदान नहीं करते थे।

---

36. "Consanguineal family is nucleus of blood relatives surrounded by a fringe of spouses." Charles Winick : opp. cited, P. 203,

प्रश्न

1. परिवार को परिभाषित कीजिए तथा इसकी विशेषताओ एव कार्यों का विवेचन कीजिए।
2. परिवार की परिभाषा कीजिए। आधुनिक समाज मे इसके महत्वपूर्ण स्वरूपो एव कार्यों का वर्णन कीजिए।
3. परिवार के प्रमुख उद्देश्य बतलाते हुए परिवार की परिभाषा दीजिए तथा इसकी प्रमुख विशेषताओ को स्पष्ट कीजिए।
4. परिवार के परम्परागत कार्यों का वर्णन कीजिए और यह बताइये कि इनमे अब किस प्रकार परिवर्तन हो रहे हैं ?
5. भारत मे पाये जाने वाले परिवारो के प्रमुख स्वरूपो का विश्लेषण कीजिए।
6. नाभिक परिवार एव विवाह-सम्बन्धी परिवार पर सक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।



अध्याय 15

संयुक्त परिवार

(Joint Family)

संयुक्त परिवार प्राचीन काल से ही भारतीय सामाजिक संरचना की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता के रूप में रहा है। आज जबकि लोगों में व्यक्तिवादी दृष्टिकोण काफी मात्रा में विकसित हो चुका है, तब भी संयुक्त परिवार यहाँ के सामाजिक जीवन के समष्टिवाद के आदर्श को प्रकट करता हुआ समाज में एक मौलिक संस्था के रूप में दिखलाई पड़ता है। पाश्चात्य देशों में पति-पत्नी और उनके अविवाहित बच्चों से मिलकर जो समूह बनता है, उसे 'परिवार' कहा जाता है। जब पति-पत्नी और उनके अवयस्क बच्चों वाले समूह को 'परिवार' की संज्ञा दी जाती है, तब जहाँ एक से अधिक दम्पत्ति अपने बेटे-पोतों और कुछ अन्य रिश्तेदारों के साथ एक साथ रहते हों तो ऐसे परिवार को 'विस्तृत' अथवा 'संयुक्त' परिवार कहना उपयुक्त होगा।

मैक्समूलर नामक विद्वान ने संयुक्त परिवार को भारत की 'आदि-परम्परा' माना है जो सदियों से भारतीयों को सामाजिक विरासत के रूप में प्राप्त होता रहा है। हिन्दू समाज की इकाई वास्तव में संयुक्त परिवार ही रहा है, न कि व्यक्ति। श्री पणिक्कर ने लिखा है, "सैद्धान्तिक रूप में असम्बन्धित होते हुए भी, ये दोनों संस्थाएँ, जाति और संयुक्त परिवार, व्यवहारिक रूप में एक दूसरे से इस प्रकार गुंथी हुई हैं कि वे एक सामान्य संस्था ही हो गई हैं। हिन्दू समाज की इकाई व्यक्ति न होकर संयुक्त परिवार है।"[1] श्री पणिक्कर के इस कथन को तो स्वीकार नहीं किया जा सकता कि जाति और संयुक्त परिवार एक ही सामान्य संस्था हो गई है। इन दोनों संस्थाओं की उत्पत्ति अलग अलग समय पर हुई है और दोनों ने विभिन्न रूपों में हिन्दुओं के जीवन को प्रभावित किया है। ऐसी दशा में इन दोनों को एक नहीं माना जा सकता। संयुक्त परिवार वास्तव में भारतीय संस्कृति के आदर्श तत्त्वों को व्यक्त और समूह कल्याण के सुन्दर आदर्शों को प्रस्तुत करता है।

संयुक्त परिवार केवल भारतवर्ष में ही पाए जाते हों, ऐसी बात नहीं है। जो भी समाज हल की खेती पर आधारित रहे हों, उनमें साधारणत पितृ-सत्तात्मक विस्तृत परिवार पाए गए हैं। वर्तमान समय में भी मानव जाति का बहुत बड़ा भाग हल की खेती पर ही आधारित है; ऐसे समाजों में संयुक्त प्रकार के परिवारों का ही अधिकांशत. प्रचलन पाया जाता

1. K M Pannikar op cit, pp. 17-18.

है। ऐसी दशा मे यह प्रश्न उपस्थित होता है कि इन परिवारो को परिवार का स्वाभाविक रूप न मानकर, आधुनिक औद्योगिक समाजो मे पाए जाने वाले एकाकी या नाभिक परिवारो (Nuclear Families) को, परिवार का स्वाभाविक और सामान्य रूप मानना वैज्ञानिक दृष्टिकोण से कहाँ तक उचित है। होकार्ट की तो यह मान्यता है कि भारतीय सयुक्त परिवार को "विस्तृत परिवार" न मान कर परिवार माना जाना चाहिए और आधुनिक समय मे पाए जाने वाले एकाकी परिवारो को सकुचित परिवार (Contracted Family) कहा जाना चाहिए।

मानव सभ्यता के इतिहास मे यद्यपि परिवार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सस्था रही है, तथापि इसके विभिन्न प्रकारो मे से पितृ-सत्तात्मक बडे परिवार का विशेष महत्त्व रहा है। भारतीय परिवार जो सामान्यत सयुक्त परिवार के नाम से जाना जाता है, ऐसे ही परिवारो के अन्तगत आता है। हल की खेती वाले कृषक समाजो मे विस्तृत अथवा सयुक्त परिवार शक्तिशाली और महत्त्वपूर्ण रहे हैं। य परिवार समाज की विभिन्न सस्थाओ, व्यक्तियो के आपसी सम्बन्धो, सामाजिक मूल्यो और आदर्शो को अनेक रूपो मे प्रभावित करत रहे हैं। यहाँ हम ऐस परिवार पर विचार करेंगे।

सयुक्त परिवार का अर्थ

(Meaning of Joint Family)

सयुक्त परिवार की परिभाषा के सम्बन्ध म विभिन्न विद्वानो मे मतभेद पाया जाता है। कुछ ने सयुक्त परिवार के सरचनात्मक तत्त्वो के आधार पर इसको परिभाषित किया है तो कुछ ने कानूनी आधार पर। सयुक्त परिवार का अर्थ स्पष्ट करते हुए श्रीमती इरावती कार्वे ने लिखा है, "एक सयुक्त परिवार उन लोगो का समूह है जो साधारणत एक ही भवन मे रहते हैं, जो एक ही रसोई मे बना हुआ भोजन करते हैं, जो सम्पत्ति के सम्मिलित स्वामी होते हैं, जो सामान्य पूजा मे भाग लेते है और जो किसी न किसी प्रकार एक दूसरे के रक्त सम्बन्धी हैं।"[2] इस परिभाषा के अनुसार सयुक्त परिवार मे वे ही लोग सम्मिलित हो सकते है, जो रक्त-सम्बन्धी हो जबकि वास्तविकता यह है कि किसी किसी सयुक्त परिवार मे कुछ अन्य सम्बन्धी भी होते हैं, जैसे—पत्नी का भाई, बहन अन्य कोई रिश्तेदार। यद्यपि परिवार की सम्पत्ति म इनका कोई भाग नही होता तथापि इन्हें सयुक्त परिवार का सदस्य माना जाता है। यह परिभाषा सयुक्त परिवार के सरचनात्मक आधारो को व्यक्त करने मे अवश्य योग देती है। सयुक्त परिवार को परिभाषित करते हुए श्री आई० पी० देसाइ ने लिखा है, 'हम उस गृह को सयुक्त परिवार कहते हैं जिसमे एकाकी परिवार स अधिक पीढियो (अर्थात् तीन या अधिक) के सदस्य रहते हो और जिसके सदस्य एक दूसरे से

---

2 "A Joint Family is a group of people who generally live under one roof, who eat food cooked at one hearth, who hold property in common and who participate in common worship and are related to each other as some particular type of kindred" Dr I Karve, Kinship organization in India P. 10

सम्पत्ति, आय और पारस्परिक अधिकारों तथा कर्त्तव्यो द्वारा सम्बद्ध हो ।'[3] इस परिभाषा से स्पष्ट है कि डॉ० देसाई सयुक्त परिवार के लिए सामान्य निवास, सामान्य पाकशाला एव समूह के सदस्यो की सख्या को आवश्यक नही मानते । उनके अनुसार, पीढियों की सख्या, सम्मिलित सम्पत्ति तथा आय और पारस्परिक कर्त्तव्य-परायणता सयुक्त परिवार के लिए आवश्यक हैं । पीढी की गहराई से उनका तात्पर्य ऐसे परिवार से है, जिसमे दादा, पिता और पुत्र तीनो पीढियो या इससे भी अधिक पीढियो के सदस्य एक साथ रहते हो । ऐसे सयुक्त परिवार मे दादा और पिता के भाइयो एव उनकी सन्तानो का होना आवश्यक नही है । डॉ० देसाई की इस परिभाषा के अनुसार, ऐसे परिवार को सयुक्त परिवार नही कहा जा सकता जिसमे दो या अधिक भाई अपनी पत्नियों एव अविवाहित अथवा विवाहित बच्चो सहित एक साथ रहते हो, एक ही स्थान पर बना भोजन करते हो तथा जिनकी आय व सम्पत्ति सम्मिलित हो । ऐसे परिवार को सयुक्त परिवार की परिभाषा के अन्तर्गत नही लेना उपयुक्त प्रतीत नही होता क्योंकि वस्तुत व्यावहारिक रूप मे सयुक्त परिवार का क्षेत्र काफी व्यापक है । इस परिभाषा मे पारस्परिक अधिकारो और कर्त्तव्यो पर विशेष जोर दिया गया है । परिवार में सभी सदस्यो के एक दूसरे के प्रति कुछ दायित्व, कुछ कर्त्तव्य और साथ ही कुछ अधिकार भी होते हैं । ऐसे परिवार की सम्पत्ति और आय का उपभोग सभी सदस्य सयुक्त रूप से करते हैं ।

सयुक्त परिवार के अर्थ के सम्बन्ध मे बुलेटिन ऑफ दी क्रिश्चियन इन्स्टीट्यूट फॉर दी स्टडी ऑफ सोसाइटी मे बतलाया गया है—'सयुक्त परिवार से हमारा अभिप्राय उस परिवार [redacted] है, जिसमे कई पीढियो के सदस्य एक दूसरे के प्रति पारस्परिक कर्त्तव्य परायणता के बन्धन में बधे रहते हैं ।'[4] इस परिभाषा के अनुसार सयुक्त परिवार मे कई पीढियो के सदस्य होते हैं और वे एक दूसरे के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन करते हैं । डा एस सी दुबे ने लिखा है कि यदि कई मूल परिवार एक साथ रहते हो, और इनमे निकट का नाता हो एक ही स्थान पर भोजन करते हो और एक आर्थिक इकाई के रूप म कार्य करत हो, तो उन्हें उनके सम्मिलित रूप मे सयुक्त परिवार कहा जा सकता है । जौली न सयुक्त परिवार का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है—"न केवल माता-पिता तथा सन्तान, भाई तथा सौतेले भाई सामान्य सम्पत्ति पर रहते हैं, बल्कि कभी-कभी इनमे कई पीढियो तक की सन्तानें, पूर्वज तथा समानान्तर सम्बन्धी भी सम्मिलित रहने है ।"[5]

---

3 We call that household a joint family which has greater generation depth (i e three or more) than the nuclear family and the members of which are related to one another by property, income and the mutual rights and obligations " I P Desai The Joint Family in India, an article in sociological Bulletin, Vol. V No 2 Sept, 1956, P 148

4 Bulletin of the Christian Institute for the study of Society, Sept, 1957, Vol IV, No 2, P [redacted]

5 "Not only parents and children, brothers & step-brothers live on the common property, but it may sometimes includes ascendants and collaterals upto many generations " Jolli Hindu Law and Custom, P. 178

कानूनी दृष्टिकोण से श्री मुल्ला के अनुसार एक सयुक्त परिवार मे वे सब व्यक्ति आ जाते हैं जो एक सामान्य पूर्वज के वशज हैं। ऐसे परिवार मे न केवल रक्त सम्बन्धी ही, बल्कि विवाह सम्बन्धो के आधार पर बनने वाले सदस्य भी पाए जाते हैं। ये सभी सदस्य न केवल सम्पत्ति के दृष्टिकोण से बल्कि पूजा और भोजन के दृष्टिकोण से भी सयुक्त होते हैं। यदि ये सदस्य पूजा और भोजन के दृष्टिकोण से अलग भी रहें, परन्तु यदि इनमें सम्पत्ति का विभाजन नही हुआ है तो ऐसा परिवार कानूनी दृष्टिकोण से सयुक्त परिवार ही कहलाता है। विवाह के द्वारा पत्नियो को सयुक्त परिवार की सदस्यता प्राप्त हो जाती है। सयुक्त परिवार के उपर्युक्त अर्थ के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यदि किसी सम्पत्ति के अनेक उत्तराधिकारी एक साथ न रहकर अलग-अलग भी रहते हैं और उनमे सम्पत्ति का बँटवारा नही हुआ है, तो ऐसी दशा म वे सब सयुक्त परिवार के ही सदस्य माने जाते हैं। इस परिभाषा के आधार पर सयुक्त परिवार के मौलिक स्वरूप को नहीं समझा जा सकता।

सामान्यत सयुक्त परिवार का तात्पय एक ऐसे परिवार से है, जिसमे अनेक पीढियो के रक्त-सम्बन्धी और विवाह द्वारा बने सदस्य सम्मिलित रूप से एक ही भवन मे निवास, एक ही रसोई मे बना हुआ भोजन करते है तथा जिनकी सम्पत्ति व आय सम्मिलित है और जो पारस्परिक कर्त्तव्य परायणता के आधार पर एक दूसरे से बँधे हुए हैं।

सयुक्त परिवार के प्रमुख लक्षण
(Main Features of Joint Family)

सयुक्त परिवार के अर्थ को अधिक स्पष्ट रूप से समझने के लिए यह आवश्यक है कि इसके प्रमुख लक्षणो पर प्रकाश डाला जाए।

१ सामान्य निवास (Common Residence)

सयुक्त परिवार के लिए एक सामान्य निवास-स्थान का होना आवश्यक है। सामान्य निवास-स्थान के अभाव मे सदस्यो मे सहयोगी सम्बन्धो का बना रहना बहुत कठिन है। डॉ० आई० पी० देसाई ने सामान्य निवास स्थान को सयुक्त परिवार का आवश्यक लक्षण नही माना है, परन्तु उनका यह दृष्टिकोण उचित प्रतीत नही होता। इसका कारण यह है कि पृथक्-पृथक् घरो में अलग से निवास करने वाले एकाकी परिवार कहलाते है और उनके सकलन को सयुक्त परिवार नही कहा जा सकता। यदि ऐसे सकलन को ही सयुक्त परिवार कहा जाए, तो अधिकाश एकाकी परिवारा को किसी न किसी रूप म सयुक्त परिवार ही मानना पडेगा। स्पष्ट है कि सयुक्त परिवार के लिए सामान्य निवास-स्थान का होना आवश्यक है। ऐसे निवास-स्थान म एक सामान्य पाकशाला भी होती है और साधारणत, परिवार के सभी सदस्य उसी मे बना भोजन करते है।

२ सम्मिलित सम्पत्ति (Common Property)

सयुक्त परिवार का एक मुख्य लक्षण सम्पत्ति का सम्मिलित स्वामित्व है। पारिवारिक सम्पत्ति पर व्यक्ति विशेष का अधिकार न होकर सम्पूर्ण परिवार का होता है। इस *सम्पत्ति का उपभोग परिवार के सामान्य लाभ के लिए होता है न कि व्यक्ति विशेष के* लिए। सभी सदस्यो की आय एक सामान्य कोष मे जमा हो जाती है और परिवार का मुखिया प्रत्येक की आवश्यकता क अनुसार उस सम्मिलित कोष म स खच करता है।

प्रत्येक अपनी योग्यता के अनुसार कमाता है, परन्तु प्राप्त अपनी आवश्यकताओं के अनुसार करता है। संयुक्त परिवार में पुरुष सदस्य चाहे वे कमाते हों या नहीं, स्त्रियाँ चाहे वे विवाहित हों या अविवाहित, विधवा तथा बच्चे,—सभी समान रूप से उपलब्ध सुख-सुविधाओं का उपभोग करते हैं। श्री चन्द्रशेखर ने इस सम्बन्ध में लिखा है, "संक्षेप में, संयुक्त परिवार केवल उत्पादन के साधनों का सामान्य स्वामित्व और श्रम के प्रतिफल का सामान्य उपभोग है।"[6]

हिन्दू संयुक्त परिवार में साधारणतः सम्पत्ति-विभाजन को रोकने का प्रयास किया गया है। मनु ने बतलाया है कि "माता-पिता की मृत्यु के पश्चात् ज्येष्ठ पुत्र ही सारी पैतृक सम्पत्ति को ले ले तथा दूसरे भाई उसके संरक्षण में उसी तरह रहें जैसे वे पिता के साथ रहते थे।"[7] यहाँ यह भी कहा गया है कि अपने पिता की इच्छा के विरुद्ध जो सम्पत्ति का बँटवारा कराते हैं, उन्हें श्राद्ध-भोज के अवसर पर नहीं बुलाना चाहिए। इस प्रकार, स्मृति काल में "पारिवारिक सम्पत्ति का विभाजन न करने पर जोर दिया गया था यद्यपि आपस्तम्ब ने इस बात का विरोध किया है कि सम्पत्ति पर एकमात्र ज्येष्ठ पुत्र का ही अधिकार क्यों हो।"[8]

३. सामान्य पूजा तथा धार्मिक कर्त्तव्य (Common Worship and Religious Duties) ·

संयुक्त परिवार का एक महत्त्वपूर्ण आधार सामान्य पूजा और धार्मिक /यित्व का निर्वाह है। सभी सदस्य सामान्य पितृ पूजा के कारण एक दूसरे से बँधे रहते हैं। पितरों की पूजा घर में स्थान-विशेष पर ही की जाती है। वह स्थान पवित्र माना जाता है और सभी सदस्य आध्यात्मिक रूप से उस स्थान से जुड़े रहते हैं। परिवार के सभी सदस्य विविध धार्मिक उत्सव सम्मिलित रूप से मनाते हैं, अनेक व्रत आदि करते हैं, धार्मिक अनुष्ठानों में भाग लेते हैं और श्राद्ध के अवसर पर तर्पण व पिण्ड-दान करते हैं। परिवार में समय-समय पर अनेक संस्कार—जन्मोत्सव, उपनयन, विवाह आदि सम्पन्न किये जाते हैं, जिनमें सभी सदस्य सम्मिलित रूप से भाग लेते हैं। संयुक्त परिवार का धार्मिक पक्ष सदस्यों को एक सूत्र में बाँधे रखता है, उनमें समूह कल्याण की भावना को प्रोत्साहित करता है और सभी सदस्यों को एक दूसरे के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन करने की प्रेरणा देता है।

सामान्य-निवास स्थान, सामान्य रसोईघर, सामान्य सम्पत्ति, सामान्य पूजा एवं धार्मिक कर्त्तव्य, संयुक्त परिवार रूपी शरीर के भौतिक लक्षण हैं और पारस्परिक कर्त्तव्य-परायणता (Mutual Obligations) इसकी आत्मा है। कर्त्तव्य-परायणता संयुक्त परिवार का एक ऐसा आन्तरिक आवश्यक लक्षण है जो सदस्यों को एक सूत्र में बाँधता है। डॉ॰ देसाई के अनुसार, यदि संयुक्त परिवार के सदस्य परिस्थितियोंवश अलग-अलग

---

6 Chandrasekhar. The Family Pattern in India, an article in the Illustrated Weekly of India, Nov 2, 1958, P. 9.

7. मनुस्मृति, अध्याय 9, पृ॰ 105।

8 K. M. Kapadia, op. Cit P. 208.

स्थानों पर रहते हुए भी एक दूसरे के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन करते हैं एक दूसरे के सुख दुःख में साथ देते हैं तो अन्य भौतिक लक्षणों के न होने पर भी ये सभी एक संयुक्त परिवार के सदस्य ही माने जाएँगे। परन्तु ऐसी दशा में कठिनाई यह होगी कि बहुत से एकाकी परिवारों को संयुक्त परिवार की श्रेणी में ही रखना होगा।

इन लक्षणों के अलावा संयुक्त परिवार में कुछ अन्य विशेषताएँ भी पाई जाती हैं, जो निम्नलिखित हैं

१. बड़ा आकार (Larger Size)

संयुक्त परिवार में कई पीढ़ियों के सदस्य एक साथ रहते हैं जैसे—दादा पिता-पुत्र, उनकी पत्नियाँ और अन्य अनेक नाते रिश्तेदार। इन सब लोगों के एक साथ रहने से परिवार का आकार का बड़ा होना स्वाभाविक ही है। हिन्दू संयुक्त परिवार में सदस्यों की संख्या काफी पाई जाती है।

२. सहयोगी व्यवस्था (Co operative Organization)

संयुक्त परिवार सदस्यों के पारस्परिक सहयोग पर आधारित है। सहयोग के अभाव में संयुक्त परिवार का अधिक समय तक संयुक्त बना रहना सम्भव नहीं है। संयुक्त परिवार की प्रकृति समाजवादी ढंग की है अर्थात् इसमें प्रत्येक सदस्य अपनी योग्यता के अनुसार काम करता उत्पादन में योग देता और अपनी आवश्यकताओं के अनुसार प्राप्त करता है। संयुक्त परिवार में एक सबके लिए और सभी एक के लिए नामक आदर्श की अभिव्यक्ति हुई है। संयुक्त परिवार एक उत्पादक इकाई के रूप में कार्य करता है। कृषि प्रधान व्यवस्था वाले समाजों में विशेष रूप से परिवार एक उत्पादक इकाई के रूप में अपनी भूमिका निभाता है। हिन्दू समाज में अपने परम्परागत व्यवसाय में लगी हुई जातियों में संयुक्त परिवार अभी भी उत्पादन का केन्द्र है एवं उत्पादक इकाई के रूप में संयुक्त परिवार के विभिन्न सदस्यों में परस्पर सहयोग पाया जाता है।

३. कर्त्ता का सर्वोच्च स्थान (Highest Position of Katta)

परिवार का कोई बुजुर्ग सदस्य मुखिया के रूप में कार्य करता है जिसे हिन्दू संयुक्त परिवार में कर्त्ता कहा गया है। परिवार के सभी सदस्यों में कर्त्ता की स्थिति सर्वश्रेष्ठ होती है। उसे अन्य सदस्यों का आदर प्राप्त होता है और सभी सदस्य उसकी आज्ञा का पालन करते उसके अनुशासन में रहते हैं। परिवार के प्रत्येक मामले में महत्त्वपूर्ण निर्णय उसी के द्वारा लिए जाते हैं। वह सदस्यों के व्यवहारों को नियन्त्रित करता है अनुचित कार्य करने पर उन्हें बुरा भला भी कहता है। परिवार से सम्बन्धित सभी महत्त्वपूर्ण कार्य उसी की राय के अनुसार होते हैं। अन्य सभी क्षेत्रों में वह परिवार का प्रतिनिधित्व करता है। अनेक अधिकारों के होने पर भी वह अधिनायक के रूप में कार्य न कर एक परोपकारी शासक के रूप में सदस्यों के कल्याण को दृष्टि में रखते हुए अपना दायित्व निभाता है। परिवार की एकता बहुत कुछ मात्रा में कर्त्ता के व्यक्तिगत गुणों पर निर्भर करती है।

४ सदस्यों में एक निश्चित संस्करण (A Definite Hierarchy)

सरचनात्मक दृष्टि से संयुक्त परिवार के विभिन्न सदस्यों के अधिकारों और स्थितियों में भिन्नता पाई जाती है जिनमें साधारणतः कोई परिवर्तन सम्भव नहीं होता। संयुक्त

परिवार मे सर्वोच्च स्थान कर्ता का और उसके पश्चात् दूसरा स्थान उसकी स्त्री का होता है। वह धार्मिक कार्यों का संचालन करती और परिवार की स्त्रियो को विविध प्रकार के कार्य करने की आज्ञा देती है। इस सस्तरण में तीसरा स्थान कर्ता के भाइयो को दिया गया है जो उसे सहयोग प्रदान करते हैं। चौथा स्थान कर्ता के सबसे बड़े पुत्र को दिया गया है जिसका धार्मिक दृष्टि से विशेष महत्त्व होता है, श्राद्ध के अवसर पर पिण्ड आदि अर्पित करने का उसी का दायित्व माना गया है। प्रथम पुत्र के होने पर पिता अपने पितृ-ऋण से मुक्त हो जाता है और अमरत्व को प्राप्त करता है। सयुक्त परिवार मे पाँचवाँ, छठा और सातवा, स्थान क्रमश छोटे पुत्रो, पुत्रो की पत्नियो और पुत्रियों को प्रदान किया गया है। संयुक्त परिवार की सरचना मे विधवाओ की स्थिति सबसे निम्न मानी गई है। इस प्रकार, सयुक्त परिवार के विभिन्न सदस्यो म स्थिति और अधिकारो की दृष्टि से एक सस्तरण पाया जाता है।

५ तुलनात्मक स्थायित्व (Comparative Permanence)

सयुक्त परिवार मे अन्य प्रकार के परिवारो की तुलना मे अधिक स्थायित्व पाया जाता है क्योकि सभी सदस्य पारस्परिक कर्त्तव्यपरायणता के सूत्र म बँधे रहते हैं; एक-दूसरे से मिलकर सामूहिक रूप से काय करते रहते हैं। सयुक्त परिवार की सदस्य सख्या अन्य प्रकार के परिवारो की तुलना म अधिक होती है। किसी सदस्य के मरने अपग या वृद्ध हो जाने अथवा किसी की नौकरी छूट जाने पर ऐसे परिवार की सरचना विघटित नही होती। ऐसी किसी भी स्थिति का अन्य सभी सदस्य मिलकर मुकाबला करते हैं। ऐसा दो कारणो स सम्भव होता है प्रथम, ऐसे परिवार म आर्थिक स्थिरता पाई जाती है। अनेक कमाने वाले होते हैं जिनकी आय सामान्य कोष म जमा होती रहती है और उसी मे से सम्पूर्ण परिवार की आवश्यकता के अनुसार खर्च होता रहता है। ऐसे परिवार म किसी सदस्य के बेरोजगार हो जाने या उसकी आय के स्रोत के समाप्त हो जाने पर भी परिवार का खर्च चलता रहता है। द्वितीय परिवार म अनेक पीढियो के सदस्यो के एकसाथ रहने स सास्कृतिक निरन्तरता बनी रहती है। सास्कृतिक विशेषताएँ पिता से पुत्र को और पुत्र से पौत्र को, पीढी दर पीढी हस्तान्तरित होती रहती है। प्रत्येक सयुक्त परिवार का एक सास्कृतिक प्रतिमान बन जाता है जो सामान्यत निरन्तर चलता रहता है। एसी दशा मे यह कहा जा सकता है कि संयुक्त परिवार मे तुलनात्मक दृष्टि स अधिक स्थायित्व पाया जाता है।

सयुक्त परिवार के पूर्व-वर्णित प्रमुख लक्षण तथा कुछ अन्य विशेषताएँ इसके आदर्श प्ररूप (Ideal Type) को व्यक्त करते हैं। किसी परिवार के सयुक्त परिवार कहलाने के लिए उपर्युक्त सभी बातो का होना अनिवार्य नही है। परन्तु इतना अवश्य है कि सयुक्त परिवार को सयुक्त बनाए रखने के लिए सदस्यो म एकता और पारस्परिक कर्त्तव्यपरायणता, कर्त्तव्य पालन तथा त्याग की भावना होनी चाहिए।

कृषक समाजो मे परिवार
(Family in Agricultural Societies)

सामान्यत सभी कृषक समाजो मे, परिवार के कुछ मौलिक लक्षण पाये जाते हैं। सोरोकिन और जिमरमैन नामक समाजशास्त्रियो ने अपनी पुस्तक 'ए सिस्टमैटिक सोस

बुक ऑफ रूरल सोशियोलॉजी' मे इन लक्षणो पर प्रकाश डाला है। कृषक समाजो मे परिवारों मे आन्तरिक भेद बहुत कम दिखलाई पड़ते हैं। सदस्यो मे जीवन के प्रति विचार और दृष्टिकोणो मे समानता पाई जाती है। सदस्यो के आपसी सम्बन्ध सुदृढ होते हैं। उनमे आयु तथा लिंग के आधार पर कार्य का विभाजन होता है। सभी सदस्य विभिन्न कार्यों मे एक दूसरे को सहयोग प्रदान करते हैं। ऐसे परिवारो मे नगरीय परिवारो की तुलना में अनुशासन अधिक पाया जाता है, स्वेच्छाचारिता का अभाव दिखलाई पड़ता है तथा सदस्यो मे एक-दूसरे पर निर्भरता पायी जाती है। आयु और सम्बन्धो के आधार पर प्राप्त स्थिति के अनुसार, प्रत्येक सदस्य को व्यवहार करना पड़ता है। ऐसे परिवार मे सदस्य व्यक्तिगत दृष्टिकोण से न सोच कर पारिवारिक दृष्टिकोण से सोचते हैं। परिवार की प्रतिष्ठा–अप्रतिष्ठा का वे काफी ध्यान रखते हैं और ऐसे काम से बचने का प्रयत्न करते हैं, जिससे परिवार की प्रतिष्ठा को ठेस पहुँचती हो। कृषि-प्रधान व्यवस्था वाले समाजो मे परिवार के मुखिया अथवा पिता का, परिवार के अन्य सदस्यो पर काफी अधिकार प्राप्त होते हैं। भारतीय सयुक्त परिवार मे भी पिता की आज्ञा–पालन का विशेष महत्त्व रहा है। राम ने पिता की आज्ञा-पालन हेतु ही परिवार, राज्य और सब सुखो को छोड़ कर वन-गमन किया। इस आज्ञा-पालन के कारण रामायण के नायक के रूप मे उनका चरित्र निखर उठा है। रामायण मे पितृ-सत्तात्मक सयुक्त परिवार को दृढता प्रदान करने वाले आज्ञा-पालन के इस गुण का विशेष महत्त्व बताया गया है। सोरोकिन और जिमरमैन का कथन है कि ग्रामीण समाजो मे परिवार का इतना अधिक महत्त्व होता है कि इन समाजो की अन्य सस्थाएँ तथा सामाजिक सम्बन्ध भी पारिवारिक ढाचे के अनुरूप होते हैं। ग्रामीण समाजो के इस लक्षण को पारिवारिकता की सज्ञा दी गई है और पारिवारिकता को ही इन समाजो के ढाँचे का प्रमुख स्वभाव माना गया है।[9] कृषक समाजो मे पाई जाने वाली परिवार की उपर्युक्त सभी विशेषताएँ भारतीय परम्परागत सयुक्त परिवार मे पाई जाती हैं, विशेष रूप से ग्रामीण परिवारो मे।

कृषक समाजो मे सयुक्त परिवार का महत्त्व अनेक क्षेत्रो मे दिखाई पड़ता है। यही बात भारतीय सयुक्त परिवार के सम्बन्ध मे भी सत्य है। पारिवारिक सम्बन्धो का प्रभाव जीवन के विभिन्न पक्षो पर पड़ता है। आर्थिक सम्बन्ध भी साधारणत परिवारात्मक ही होते हैं। जजमानी प्रथा के आधार पर नाई, धोबी, माली, कुम्हार, बढई और ब्राह्मण तक कृषक-गृहस्थी से सम्बन्धित रहे हैं। ऐसे परिवार, उत्पादन, उपभोग एव विनिमय के भी केन्द्र रहे हैं। सयुक्त परिवार वास्तव मे आर्थिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते रहे हैं। वर्तमान समय मे औद्योगिक समाजो मे उत्पादन और विनिमय की इकाई के रूप म, परिवार का महत्त्व कम होता जा रहा है। कृषक समाजो के राजनीतिक सगठनो पर भी परिवार का काफी प्रभाव रहा है। राजा को पिता और प्रजा को सन्तान के रूप मे मानकर एक-दूसरे के अधिकार और कर्त्तव्य निर्धारित किए गए हैं। परम्परागत ग्रामीण पचायतो मे व्यक्तिगत प्रतिनिधित्व नही बल्कि परिवार का प्रतिनिधित्व रहा है। ऐसे समाजो मे धार्मिक विश्वासो और अनुष्ठानो पर परिवार का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

---

९. सोरोकिन और जिमरमैन, उद्धृत—"भारतीय समाज" द्वारा डा० इन्द्रदेव, पृ० 84।

धार्मिक अनुष्ठानो के केन्द्र परिवार ही रहे है। भारतीय संयुक्त परिवार के निवास स्थान का पवित्र और धार्मिक क्रियाओ के सम्पादन के पूर्णत उपयुक्त माना गया है। पारिवारिक पूर्वजो को देवता के रूप मे माना जाता है और विवाह आदि अवसरो पर उनका आह्वान करके उन्हे स्थापित किया जाता है, उनकी पूजा की जाती है। ऐसे समाजो मे सामाजिक उत्तरदायित्व व्यक्तिगत न होकर पारिवारिक ही होते है। किसी उत्सव अथवा विवाह आदि के अवसर पर परम्परागत रूप से व्यक्ति को नही बल्कि परिवार को ही आमन्त्रित किया जाता था। कृषि पर आधारित समाजो के परिवार मे बडे-बूढो को विशेष आदर की दृष्टि से देखा जाता है, उनकी आज्ञा का पालन किया जाता है, सदस्यो पर उनका प्रभुत्व पाया जाता है। उनकी इच्छा के अनुसार आचरण करना प्रत्येक सदस्य का पुनीत कर्त्तव्य समझा जाता है। परिणाम यह होता है कि स्वाभाविक रूप से पुराने विचारो का महत्त्व बना रहता है। परम्पराओ का आदर किया जाता है, किन्तु नवीनता को पसन्द नही किया जाता।

विभिन्न कालो में भारतीय संयुक्त परिवार
(Indian Joint Family in Different Periods)

भारतीय परिवार की प्रकृति मुख्यत 'संयुक्त' है। यद्यपि अहिन्दू लोगो मे भी संयुक्त परिवार पाये जाते हैं, तथापि अपने वास्तविक स्वरूप मे ये हिन्दू समाज मे ही मिलते हैं। भारत मे ऐतिहासिक काल के प्रारम्भ से ही संयुक्त परिवार पाए जाते रहे हैं यद्यपि समय के साथ साथ इनके स्वरूप और कार्यों मे परिवर्तन होता रहा है। वैदिक मन्त्रो मे दम्पत्ति को आशीर्वाद देते हुए कहा गया है, कि तुम जीवन भर अपने बेटो एव पोतो के साथ रहो। ऋग्वेद के एक मन्त्र मे वधू से कहा गया है कि तू सास-ससुर, ननद, देवर आदि पर शासन करने वाली साम्राज्ञी बन। इन मन्त्रो के आधार पर विद्वानो ने बतलाया है कि पूर्व वैदिक काल मे भी संयुक्त परिवार पाये जाते थ। लेकिन मैकडानल तथा कीथ आदि विद्वानो की मान्यता है कि वैदिक काल मे संयुक्त परिवार के पाए जान के कोई ठोस प्रमाण उपलब्ध नही हैं। पूर्व वैदिक-काल मे शायद एसे सुसंगठित और बडे परिवार नही पाए जाते थ जिनका विकास बाद मे स्थायी हल की खेती के कारण सम्भव हुआ। लेकिन वैदिक मन्त्रो से ऐसा अवश्य ज्ञात होता है कि उस काल मे संयुक्त परिवार रहे हैं, चाहे उनका आकार छोटा ही क्यो न हो। ऐतरेय ब्राह्मण और जैमिनीय ब्राह्मण ग्रन्थो से ऐसा पता चलता है कि पिता के जीवन काल मे ही पुत्रो मे सम्पत्ति का विभाजन हो जाता था। इससे यह प्रमाणित होता है कि उत्तर वैदिक काल से ईसा-पूर्व छठी शताब्दी तक, संयुक्त परिवार के बन्धनो मे कुछ शिथिलता आ गई थी।

ईसा पूर्व छठी शताब्दी से ईसा के बाद छठी शताब्दी तक संयुक्त परिवार कमजोर होते गए। इस अवधि मे पिता के अधिकार सीमित हो गए, उसकी मौजूदगी मे ही पुत्रो मे सम्पत्ति का विभाजन होने लगा। गौतम, कौटिल्य, मनु, याज्ञवल्क्य आदि शास्त्रकारो ने पिता की मृत्यु के पश्चात् ही सम्पत्ति के विभाजन को उचित माना है, परन्तु व्यवहार रूप में पिता के जीवन काल मे ही पुत्र सम्पत्ति को बाँटने लग गए थे। गौतम, मनु, बृहस्पति आदि शास्त्रकारो ने कहा कि भाइयो के पृथक् पृथक् रहने से धर्म की वृद्धि मे सहायता मिलती है। गौतम के समय मे यह माना जाने लगा कि एकाकी अथवा व्यक्ति-मूलक

परिवार अनिवार्यता सी है। कृषि कार्यों में अनेक व्यक्तियों के सहयोग की आवश्यकता के कारण बहुत से रक्त सम्बन्धी एकसाथ संयुक्त परिवार के रूप में रहने लगे। इस देश के कृषि प्रधान होने के कारण ही यहाँ संयुक्त परिवार सामान्यतः पाये जाते रहे हैं। आवागमन के साधनों के अभाव एवं पैतृक परम्परागत पेशों के कारण भी संयुक्त परिवार प्रथा का यहाँ काफी मात्रा में विकास हुआ। इसके अलावा यहाँ की धर्म व्यवस्था ने धार्मिक विश्वासों विधि विधानों और पितृ पूजा ने संयुक्त परिवारों के विकास और स्थायित्व में काफी योग दिया है। श्री प्रभु ने लिखा है "जब हम हिन्दू परिवार पर विचार करते हैं तो जो प्रथम वस्तु ध्यान में आती है वह उसकी संयुक्त प्रकृति ही है।"[12] हिन्दू परिवार की इसी संयुक्त प्रकृति पर प्रकाश डालते हुए श्री कापडिया ने कहा है कि "संयुक्त परिवार साधारणतः हिन्दुओं की विशिष्ट विशेषता माना जाता है।"[13] स्पष्ट है कि हिन्दू परिवार मुख्यतः संयुक्त प्रकृति वाला है।

संयुक्त परिवार के प्रकार

(Forms of Joint Family)

भारत में मुख्यतः संयुक्त परिवार के दो प्रकार पाए जाते हैं जो निम्नलिखित हैं —

१ पितृसत्तात्मक पितृवंशीय एवं पितृस्थानीय परिवार (Patriarchal Patrilineal and Patrilocal Family)

ऐसे संयुक्त परिवारों में पिता का स्थान प्रमुख होता है, वंश परम्परा उसी के नाम पर ही चलती है। सम्पत्ति अधिकार पिता से पुत्रों को प्राप्त होता है और पत्नियाँ ऐसे परिवारों में आकर निवास करती हैं। पुरुष पक्ष के तीन चार पीढ़ियों के सदस्य ऐसे परिवार में एक साथ रहते हैं। भारत के अधिकांश हिन्दुओं में इसी प्रकार के संयुक्त परिवार पाए जाते हैं। मलाबार में नम्बूद्री ब्राह्मणों के संयुक्त परिवार (इल्लम) और उत्तर पश्चिम के पहाड़ी क्षेत्रों के निवासी खस राजपूतों के बहुपति प्रथा पर आधारित परिवार पितृसत्तात्मक संयुक्त परिवारों के ही उदाहरण हैं यद्यपि इनके परिवारों की संरचना और सिद्धान्त हिन्दू परिवारों से भिन्न हैं। डा० कलाशनाथ शर्मा ने उपर्युक्त परिवारों के तीन प्रारूप बताए हैं[14]

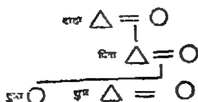
(१) संयुक्त परिवार का उदग्र (Vertical) प्रारूप — इस प्रकार के संयुक्त परिवार में एक ही वंश के उदग्र रेखा से सम्बन्धित कम से कम तीन पीढ़ियों के सदस्य साथ साथ रहते हैं। डा० आई० पी० देसाई ने ऐसे परिवार को ही संयुक्त परिवार कहा है। ऐसे परिवार को अग्रलिखित चित्र द्वारा समझा जा सकता है —

---

12 "The first thing that strikes us when we consider the Hindu Family is its joint nature." P. H. Prabhu op. cit. p. 217

13 "The joint family is generally supposed to be a characteristic peculiar to the Hindus." K. M. Kapadia op. cit. p. 233

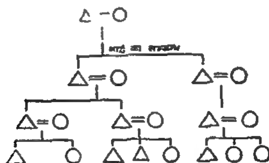
१४ कलाशनाथ शर्मा भारतीय समाज और संस्कृति, पृ. ३६१-३६२



(२) सयुक्त परिवार का क्षैतिज (Horizontal) प्रारूप—इस प्रकार के परिवार मे मुख्यतया क्षैतिज प्रकार का अर्थात् भाई का सम्बन्ध पाया जाता है। इसमे दो अथवा तीन भाइयो के एकाकी परिवार साथ-साथ रहते हैं। इस प्रकार के परिवार को इस चित्र द्वारा समझा जा सकता है —



(३) सयुक्त परिवार का उदग्र एव क्षैतिज (Vertical and Horizontal) प्रारूप—ऐसे परिवार म न केवल दादा, पिता, और पुत्र के उदग्र सम्बन्ध ही, बल्कि साथ ही भाइयो के क्षैतिज सम्बन्ध भी पाए जाते हैं। ऐसे परिवार को निम्नाकित चित्र द्वारा सुगमता से समझा जा सकता है



खस-राजपूतो मे सयुक्त परिवार

देहरादून जिले के जौनसार बाबर क्षेत्र तथा गढवाल और हिमाचल प्रदेश के कुछ भागो मे पाये जाने वाले खस-राजपूतो मे बहुपति-प्रथा (द्रौपदी प्रथा) पर आधारित विशेष प्रकार के सयुक्त परिवार पाए जाते हैं। यहाँ बहु पतित्व (द्रौपदी प्रथा) ही मुख्यत प्रचलित है। एक खस परिवार मे कई पीढियो के सदस्य एकसाथ रहते हैं। वे सामान्य निवास-स्थान, भोजन तथा सम्पत्ति के आधार पर एक-दूसरे से जुडे रहते हैं। परिवार के सभी सगे भाई सम्मिलित रूप से एक स्त्री के साथ विवाह करते हैं जो उन सबकी सामान्य पत्नी होती है।

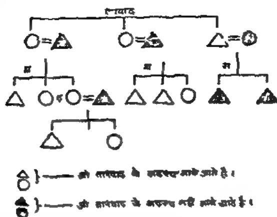
परिवार मे सबसे वरिष्ठ पीढी के भाइयो मे ज्येष्ठ भाई को परिवार के कर्ता की प्रस्थिति प्राप्त होती है। वह काफी शक्तिशाली होता है। परिवार की सभी सम्पत्ति—खेत, फसल जानवर, मकान, बाग, स्त्री, बच्चे आदि सब उसी के माने जाते हैं। यह कर्ता परिवार में शासक के रूप मे होता है। उसी के द्वारा सब सदस्यो मे कार्यों का विभाजन किया जाता है। वही उनके भरण-पोषण की व्यवस्था करता है। पत्नियो पर उसी का अधिकार होता है। परिवार मे सबसे बडा भाई ही प्रत्येक पत्नी के साथ विवाह करता है और परिवार मे विवाहित ऐसी सभी स्त्रियां सभी भाइयो की सामान्य पत्नियां समझी जाती है। इन पत्नियो के साथ यौन सम्बन्धी अधिकार भी सबसे बडे भाई को सर्वाधिक होने हैं। परिवार की सम्पत्ति मे स्त्री को कोई उत्तराधिकार प्राप्त नही होता है। स्त्री स्वय सम्पत्ति के रूप मे ही मानी जाती है। जहां परिवार मे कुछ भाइयों की एक से अधिक पत्नियो के आपसी ईर्ष्या द्वेष के कारण परिवार-विभाजन की सम्भावना पैदा हो जाती है, वहां वे लोग साधारणत विभाजन करने के बजाय स्त्री को तलाक दे देना अधिक उचित समझते हैं।

२ मातृसत्तात्मक, मातृवशीय एव मातृस्थानीय परिवार (Matriarchal, Matrilineal and Matrilocal Family)

ऐसे परिवारो मे साधारणत माता का प्रमुख स्थान होता है। परिवार की सम्पत्ति पर भी उसी का अधिकार माना जाता है। उत्तराधिकार माता से पुत्रियो का अथवा भाई के पुत्रो को प्राप्त होता है। ऐसे परिवारो मे वश-परम्परा माता के नाम पर ही चलती है, अर्थात् वश-नाम माता से पुत्रियों को प्राप्त होता है। इस प्रकार के सयुक्त परिवार मे एक स्त्री, उसके भाई, उसकी बहनें तथा परिवार की सभी स्त्रियो के बच्चे होते हैं। केरल मे ऐसे परिवार को 'थारवाड' (तारवाद) के नाम से पुकारते हैं। ऐसे परिवार नायरो और असम के खासी और गारो लोगो मे पाए जाते हैं।

नायर परिवार—जिसे मलयालम मे 'थारवाड या तारवाद कहा जाता है, मातृ-सत्तात्मक परिवार का उत्तम उदाहरण है। तारवाद मे एक स्त्री के कई पीढियो के वशज रहते हैं। ऐसे परिवार म एक स्त्री, उसके पुत्र तथा पुत्रियां, उसकी पुत्रियो के पुत्र एव पुत्रियां, तथा पुत्रियो की पुत्रियों के लडके एव लडकियां पाए जाते हैं। लडको की सन्तान को इस तारवाद की सदस्यता प्राप्त न होकर उनकी माता के तारवाद की सदस्यता प्राप्त होती है। तारवाद की सम्पत्ति अविभाज्य मानी जाती है जिस पर सभी सदस्यो का अधिकार होता है। इस सम्पत्ति का प्रबंधक कार्नवान कहलाता है जो परिवार का सबसे वृद्ध पुरुष होता है। परिवार की सम्पत्ति के विभाजन पर कोई जोर नही दे सकता यद्यपि ऐसी माग रखी जा सकती है। परन्तु किसी भी सदस्य के विभाजन के विरुद्ध होने पर सम्पत्ति का विभाजन नही किया जा सकता। तारवाद की सम्पत्ति मे से सभी को भरण-पोषण का अधिकार प्राप्त होता है। कार्नवान सब सदस्यो की राय के बिना पारिवारिक सम्पत्ति को न तो बेच सकता है और न ही गिरवी रख सकता है। परिवार मे कितना धन, किस प्रकार, कैसे खर्च किया जाएगा, यह कार्नवान पर ही निर्भर करता है, व्यवहार रूप मे वह काफी शक्तिशाली होता है। वर्तमान समय म तारवाद छोटी परिवार इकाई तावजी के रूप मे बदल रहे हैं। एक तावजी का गठन एक स्त्री, उसकी सन्तान और क्रमागत वशजो से मिलकर होता है। तावजी के सदस्यो का तारवाद के साथ वशज सम्बन्ध तो बना रहता है,

परन्तु पैतृक-तारवाद की सम्पत्ति पर उनका अधिकार समाप्त हो जाता है। तारवाद को निम्नलिखित चित्र द्वारा समझाया जा सकता है—



उपर्युक्त चित्र में "अ" और "ब" बहनें हैं और "स" इन दोनों का भाई है। इस तारवाद में "अ" और "ब" के पति तथा "स" की पत्नी और "स" की सन्तान सदस्य नहीं हैं। "अ" की सन्तान में से "द" का पति भी इस परिवार का सदस्य नहीं है। इस परिवार के सदस्यों में 'अ", "ब" "स" तथा "अ" और "ब" की सन्तानें तथा "द" की सन्तान आती हैं

पैतृक सम्पत्ति में अधिकारों की दृष्टि से हिन्दू संयुक्त परिवार को दो भागों में बाँटा जा सकता है

१ मिताक्षरा (Mitakshara), और

२ दायभाग (Dayabhaga)।

मिताक्षरा प्रणाली पर आधारित संयुक्त परिवार में बालक को जन्म से ही पैतृक सम्पत्ति में अधिकार प्राप्त हो जाता है। इसके विपरीत दायभाग प्रणाली पर आधारित संयुक्त परिवार में व्यक्ति को जन्म से पैतृक सम्पत्ति में अधिकार न मिलकर पिता की मृत्यु के पश्चात् ही मिलता है। मिताक्षरा प्रणाली में संयुक्त परिवार की सम्पत्ति में केवल पुरुषों को ही हिस्सेदार माना जाता है। अविभाजित परिवार में जब किसी हिस्सेदार की मृत्यु हो जाती है, तो उसके हिस्से का बँटवारा उसके रक्त-सम्बन्धियों में ही हो सकता है। दायभाग प्रणाली में मृतक पुरुष हिस्सेदारों की विधवाएँ भी सम्पत्ति की हिस्सेदार होती हैं, जबकि मिताक्षरा प्रणाली में ऐसी व्यवस्था नहीं है।

हिन्दू संयुक्त परिवार की प्रकृति
(Nature of Hindu Joint Family)

हिन्दू परिवार में गृहस्थ को प्रतिदिन शास्त्रों में वर्णित निर्देशों के अनुसार अपने कर्त्तव्यों का पालन करना होता है, प्रतिदिन पंच महायज्ञ करने पड़ते हैं। इन यज्ञों द्वारा वह अनेक पापों का प्रायश्चित करता है, ऋषियों मुनियों, देवताओं, अतिथियों और प्राणी मात्र के प्रति अपने सामाजिक और मानवीय दायित्वों को निभाता है। गृहस्थ इन यज्ञों द्वारा स्थायी आनन्द प्राप्त करता और त्याग के महत्त्व से परिचित होता है। डॉ० प्रभु का

कथन है कि घर मात्र जीवित सदस्यों के रहने का स्थान ही नहीं है, बल्कि मृत पूर्वजों-पिता, पितामह और जन्म लेने वाले पुत्र एवं पौत्रों के रहने का भी स्थान है। ऐसे परिवार में गृहस्थ, जीवन की सभी क्रियाओं को कर्त्तव्य के रूप में कर धर्म अर्जित करता है। धर्म को अपने दैनिक जीवन में वह अधिक महत्त्व देता है। वह जानता है कि प्रत्येक व्यक्ति अकेला जन्मता, अकेला ही मरता, अच्छे कार्मों का फल भी अकेला ही प्राप्त करता और पापों का दण्ड भी वह अकेला ही भुगतता है। मृत शरीर को भूमि पर लकड़ी के लट्ठे अथवा मिट्टी के ढेले के समान छोड़कर, रिश्तेदार उसके पास से चले जाते हैं। केवल उसका धर्म ही उसके साथ रहता है। इसलिए उसे धर्म के संग्रहण हेतु धीरे धीरे निरन्तर प्रयास करना चाहिए। क्योंकि, धर्म की सहायता से ही, वह अन्धकार (तम) के पार जाने में समर्थ हो सकेगा जिसको अन्यथा पार करना कठिन है।[15]

स्पष्ट है कि हिन्दू परिवार और उसकी परम्पराओं का आधार आध्यात्मिक निरन्तरता की भावना है। ऐसे परिवार में पारिवारिक सम्पत्ति को व्यक्ति विशेष की *सम्पत्ति नहीं मानकर सारे घर की सम्पत्ति समझा जाता है* और घर वर्तमान, मृत-कालीन और भविष्य में जन्म लेने वाले सभी सदस्यों की निरन्तरता से बनता है। परिवार को पवित्र परम्पराओं के स्थान के रूप में देखा जाता है। घर में गृहस्थ को अपने धार्मिक दायित्वों को निभाना और विविध कर्मों को करना होता है। संसार में विभिन्न प्रकार की क्रियाओं को सम्पादित करते हुए भी गृहस्थ अपने में निर्लिप्त भाव को जाग्रत करता है, स्वार्थ-रहित होकर निष्काम भाव से कर्म करता है। वह पूर्णतः शान्त चित्त रहता है। वह जानता है कि वह स्वयं घर का स्वामी नहीं है, वह तो परिवार की निरन्तरता की प्रतीक पवित्र अग्नि की देख-रेख में अपने दायित्वों का निर्वाह करने वाला एक सदस्य मात्र है। वह संसार को क्षण भंगुर (अस्थायी) समझता है। वह जानता है कि संसार उसके लिए अस्थायी कर्म-भूमि है, जहाँ उसे कर्म करते हुए धर्म का अर्जन और मोक्ष प्राप्त करना है। जहाँ एक गृहस्थ इन विचारों और आदर्शों से प्रेरित होकर अपना गृहस्थ जीवन बिताता है, वहाँ पारिवारिक जीवन कितना सुखद और वातावरण कितना आनन्दमय होगा, इसकी वर्तमान समय में केवल कल्पना ही की जा सकती है। आज आदर्श और यथार्थ में काफी अन्तर आ चुका है परन्तु फिर भी कहीं-कहीं ऐसे आदर्श संयुक्त परिवार मिल अवश्य जाते हैं।

ऐसे परिवार में धार्मिक अनुष्ठानों की पूर्ति और अर्थ के उपार्जन से सम्बन्धित क्रियाएँ भी की जाती हैं। सदस्यों के जीवन को संस्कारित करने और उन्हें पारस्परिक दायित्वों के पालन की प्रेरणा प्रदान करने की दृष्टि से हिन्दू परिवार में समय-समय पर अनेक संस्कार भी सम्पन्न किए जाते हैं। विभिन्न संस्कारों द्वारा परिवार व्यक्ति का समाजीकरण करता, उसे अपने कर्त्तव्यों के प्रति सजग बनाता और जीवन के विभिन्न स्तरों पर दायित्वों से परिचित कराता है।

हिन्दू परिवार के उपर्युक्त सारे विवरण से स्पष्ट है कि इसमें पति पत्नी और केवल उनके बच्चे ही नहीं आते, बल्कि कई पीढ़ियों के सदस्य—पिता, दादा, पुत्र पौत्र,

---

15 Manu, IV, 239-242, Quoted by P H Prabhu, op cit, P 215.

चाचा-ताऊ और विवाहित स्त्रियाँ, सन्तानें आदि आते हैं। डॉ० प्रभु के अनुसार—'आध्यात्मिक निरन्तरता का मनोविज्ञान हिन्दू परिवार और उसकी परम्पराओं का आधार है। घर परिवार के सभी सदस्यों की निरन्तरता से बनता है—भूतकालीन सदस्य जो अब नहीं हैं, वर्तमान सदस्य जो मौजूद हैं, और भावी सदस्य जो अभी उत्पन्न होने हैं, से मिलकर बनता है। इसलिए घर वह स्थान है जहाँ सामान्य रसोई घर, सामान्य सम्पत्ति, सामान्य देवी-देवता, सामान्य सुख दुःख होते हैं। यहाँ केन्द्रीय विचार पवित्र परम्पराओं के एक मन्दिर के रूप में परिवार (कुल) की पूजा है।'[16]

संयुक्त परिवार में सदस्यों के अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्ध
(Interpersonal Relations of Members)

हिन्दू संयुक्त परिवार की संरचना को भली-भाँति समझने और ऐसे परिवार के सामजिक और मनोवैज्ञानिक प्रभावों के बारे में जानकारी प्राप्त करने हेतु, सदस्यों के पारस्परिक सम्बन्धों तथा विभिन्न सदस्यों की प्रस्थिति एवं भूमिका पर विचार करना आवश्यक है।

(१) पति पत्नी के सम्बन्ध—हिन्दू संयुक्त परिवार में पति-पत्नी के सम्बन्धों को जन्म-जन्मान्तर का सम्बन्ध माना गया है। साधारणतः हिन्दू शास्त्रकारों ने विवाह-विच्छेद की आज्ञा नहीं दी है। पति-पत्नी के पारस्परिक सम्बन्धों पर ही परिवार की सुख-शान्ति निर्भर करती है। मनु ने पति-पत्नी की एक-दूसरे के प्रति मृत्यु पर्यन्त पूर्ण निष्ठा को सर्वोच्च धर्म माना है। आपने बतलाया है कि उन्हें पारस्परिक अनबन या झगड़े से बचना चाहिए और सदैव एक-दूसरे के प्रति कर्त्तव्यपरायण बने रहना चाहिए। हिन्दू शास्त्रकारों ने जीवन में एकविवाह को ही आदर्श स्थान दिया है और पति-पत्नी के स्थायी और मित्रतापूर्ण सम्बन्धों को पारिवारिक और सामाजिक दृष्टि से आवश्यक माना है। मनु ने कहा है कि पति को अपनी पत्नी और बच्चों के साथ प्रेमपूर्ण सम्बन्ध बनाए रखने चाहिएँ। वह घर जिसमें पति सदैव अपनी पत्नी से प्रसन्न रहता है और पत्नी सदैव अपने पति के साथ प्रसन्नता का अनुभव करती है, वास्तव में सौभाग्यशाली है।[17]

हिन्दू संयुक्त परिवार में पत्नी पर पति के प्रभुत्व को, कुछ दायित्वों को निभाने की दृष्टि से ही स्वीकार किया गया है। स्मृतिकारों ने कहा है कि पति में गुण न होने पर भी पत्नी को उसे अपना स्वामी मानकर उसके प्रति श्रद्धा रखनी चाहिए। महाभारत में लिखा है कि पति को यह मानकर चलना चाहिए कि आनन्द, पारस्परिक समन्वय और धर्म, पत्नी पर ही निर्भर करते हैं और इसलिए उसे कभी भी उसको अप्रसन्न नहीं करना चाहिए चाहे वह कभी ऐसा कर दे।[18] पति को 'भर्त्तृ' कहा गया है क्योंकि वह पत्नी का भरण-पोषण करता है। पुरुष को पत्नी का पति इसी कारण कहा गया है कि उसे ही पत्नी की रक्षा करनी होती है। पत्नी की रक्षा करना पति का प्रमुख

---

16 P H Prabhu, op. Cit, p 216,
१७ मनुस्मृति, ३ | ४५, ३ | ६०
१८ महाभारत आदि पर्व, ६८, ४१

धर्म माना गया है क्योकि अपनी पत्नी की रक्षा द्वारा ही सन्तान की रक्षा होती है और सन्तान की रक्षा द्वारा वह अपने 'आत्म' की भी रक्षा करता है। महाभारत मे कहा गया है कि विवाह मे जिसे पत्नी के रूप मे ग्रहण किया है, उसके प्रति आदर और उदारतापूर्ण व्यवहार किया जाना चाहिए, और उसकी आवश्यकता और इच्छानुसार सभी वस्तुएँ दी जानी चाहिएँ। पति के अतिरिक्त सास-ससुर, देवर-जेठ आदि को भी उसे स्नेह से प्रसन्न रखना चाहिए क्योकि वह सन्तान की उत्पत्ति, उनके पालन-पोषण और अन्य कारको की पूर्ति का, जो समाज के हित के लिए आवश्यक हैं, कारण है।[19] पत्नी को महाभारत मे धर्म, अर्थ और काम का स्रोत कहा गया है, उसे मोक्ष का भी स्रोत माना गया है। महाभारत मे पति को आदेश दिया गया है कि उसे ऐसे सब कामो से बचना चाहिए जिससे परिवार की शान्ति भग होती हो। उसे परिवार मे अपने भाइयो, पुत्रो, पत्नी, पुत्री और नौकरो तक के साथ सघर्ष की स्थिति से बचना चाहिए, उसे अपना सतुलन बनाए रखना चाहिए। परिवार की एकता और सामन्जस्यपूर्ण सम्बन्धो का मूल आधार यह है—"सबसे बडा भाई पिता के समान है (उसके सब छोटे भाइयो के लिए), पत्नी और पुत्र स्वय का ही शरीर है, नौकर लोग स्वय की ही परछाई हैं, और पुत्री गहन प्रेम की वस्तु है।"[20] हिन्दू सयुक्त परिवार मे पत्नी को काफी उच्च स्थिति प्रदान की गई है। पति-पत्नी के एक-दूसरे के प्रति प्रेमपूर्ण सम्बन्धो और कर्त्तव्य-परायणता को, पारिवारिक सुख-शान्ति का आधार माना गया है।

(२) पुत्र का स्थान—हिन्दू सयुक्त परिवार मे पुत्र का स्थान काफी ऊँचा माना गया है, विशेष रूप स सबसे बडे पुत्र का। ज्येष्ठ पुत्र के जन्म से पिता, पितृ-ऋण से मुक्त हो जाता है। महाभारत मे ज्येष्ठ पुत्र के सम्बन्ध मे कहा गया है कि वह परिवार को समृद्धशाली भी बना सकता है और उसके कारण परिवार का नाश भी हो सकता है। हिन्दू परिवार मे पुत्रियो की अपेक्षा पुत्रो को अधिक महत्त्व इस कारण दिया गया है कि पुत्र ही परिवार को धार्मिक क्रियाओ को सम्पन्न करता है, वही पितरो को तर्पण देता और पिण्डदान करता है। वह अपने पूर्वजो को 'पुत' नामक नरक स छुटकारा दिलाता है। पिता की मृत्यु क पश्चात् छोटे भाइयो को बड़े भाई को पिता के समान समझने का मनुस्मृति मे आदेश दिया गया है। महाभारत मे बताया गया है कि बडे भाई को छोटे भाइयो के साथ वैसा ही व्यवहार करना चाहिए जैसा गुरू अपने शिष्यो के साथ करता है। उसे छोटे भाइयो की गलतियो पर विशेष ध्यान नही देना चाहिए। छोटे भाइयो का यह कर्त्तव्य बताया गया है कि वे बडे भाई को अपना सरक्षक माने और उसमे विश्वास रखें। जहा हिन्दू सयुक्त परिवार मे बडे भाई को कुछ विशेषाधिकार दिए गए हैं, वहाँ छोटे भाइयो की तुलना मे, उसके दायित्व भी कुछ अधिक बताए गए हैं।

(३) पुत्री का स्थान—हिन्दू परिवार मे पुत्री को वह स्थान नही दिया गया है जो पुत्र को प्राप्त है। परिवार मे पुत्री के जन्म का पुत्र-जन्म के समान स्वागत नही किया जाता है। पुत्री को परिवार के सभी सदस्यो का स्नेह अवश्य प्राप्त होता है, परन्तु

---

१६. महाभारत, अनुशासन पर्व ४६, १ | १२

२०. महाभारत, शान्तिपर्व, २४३, २०

सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से उसके अधिकार बहुत सीमित हैं। पुत्री को परिवार में धरोहर के रूप मे माना गया है, जिसका विवाह-योग्य आयु प्राप्त करते ही विवाह कर दिया जाना चाहिए। मनुस्मृति मे कहा गया है कि परिवार में पुत्री को भी पुत्र के समान ही भरण-पोषण एवं शिक्षा सम्बन्धी सुविधाएँ प्राप्त होनी चाहिएँ। योग्य वर प्राप्त न होने पर जीवन-भर अविवाहित रहने की आज्ञा तक भी उसे दी गई है।[21] पुत्री के विवाह के बदले धन प्राप्त करने को शास्त्र-सम्मत नहीं माना गया है। परिवार की सम्पत्ति मे पुत्री को कोई अधिकार नहीं दिया गया है, परन्तु साथ ही उस भाई को पतित भी माना गया है जो अपनी सम्पत्ति का चौथा भाग अपनी बहनों के लिए सुरक्षित नहीं रखता। इस प्रकार पुत्री के प्रति स्नेह, सहानुभूति और सम्मानपूर्ण व्यवहार को प्रदर्शित करना आवश्यक बतलाया गया है। वर्तमान समय मे परिवार में लड़कियों की स्थिति मे परिवर्तन आता जा रहा है, अब उनकी प्रतिष्ठा बढ़ती जा रही है।

(४) माता-पिता का स्थान—हिन्दू परिवार मे माता-पिता को सर्वोच्च स्थिति प्राप्त रही है। वे परिवार के अन्य सब सदस्यों को संरक्षण प्रदान करते रहे हैं। माता-पिता की आज्ञा का पालन न करना किसी भी स्थिति मे न्याय-संगत नहीं माना गया है। पिता की आज्ञा-पालन हेतु ही राम ने चौदह वर्ष वन में बिताए और अनेक कष्टों का सामना किया। माता-पिता की प्रत्येक आज्ञा का पालन करना, उनकी सेवा करना, उन्हें देवता-तुल्य समझना सन्तान का परम कर्तव्य माना गया है। जहाँ तक परिवार मे माता और पिता की तुलनात्मक स्थिति का प्रश्न है, यह कहा जा सकता है कि प्रभुत्व की दृष्टि से पिता की स्थिति सर्वोपरि रही है। उसे कर्त्ता या मुखिया के रूप में माना गया है। सभी महत्त्वपूर्ण निर्णय उसी के द्वारा लिए जाते हैं। परिवारजनों द्वारा पिता की आज्ञा की अवहेलना होने पर, पिता को उन्हें दण्ड देने का अधिकार भी प्राप्त है। लेकिन बच्चों को गलत मार्ग पर जाने से रोकने और सही दिशा देने की दृष्टि में ही पिता को ऐसा करना चाहिए। डॉ० प्रभु का कथन है कि अपने बच्चों के व्यवहारों को नियन्त्रित और निर्देशित करने के लिए अधिकांश माता-पिता दण्ड को मुख्य साधन के रूप मे प्रयोग करते हैं। लेकिन, अक्सर माता-पिता अपने प्रभुत्व-प्रदर्शन और प्रतिष्ठा-भावना की सन्तुष्टि के लिए दण्ड का सहारा लेते हैं, न कि बच्चों के कल्याण के कारण। बच्चों के प्रति अन्धाधुन्ध और कठोर दण्ड प्रौढ़ावस्था प्राप्त करने पर उनके व्यक्तित्व को विकृत और मिथ्यापूर्ण बना देता है।[22] स्पष्ट है कि माता-पिता को यद्यपि परिवार मे सर्वोच्च अधिकार प्राप्त हैं तथापि उन्हें उनका प्रयोग सदस्यों के कल्याण को दृष्टि मे रखकर ही करना चाहिए।

यद्यपि परिवार मे पिता की कर्त्ता के रूप मे श्रेष्ठतम स्थिति है, परन्तु माता को भी काफी महत्त्वपूर्ण स्थिति प्राप्त है। पिता के बाद पत्नी के रूप मे महत्त्व की दृष्टि से उसका स्थान दूसरा है। कहीं-कहीं तो स्मृतियों मे माता को बहुत ही आदरणीय माना गया है। मनुस्मृति मे कहा गया है कि पिता की अपेक्षा माता हजार गुना अधिक

---

२१. मनुस्मृति, १० | ८६।
22. P. H Prabhu, op cit, p 254.

आदरणीय है।[23] मनुस्मृति मे इस बात पर भी जोर दिया गया है कि माता, पिता और गुरु तथा साथ ही सबसे बडे भाई का प्रत्येक के द्वारा आदर किया जाना चाहिए और उनकी आज्ञाओं का पालन होना चाहिए।[24] स्पष्ट है कि हिन्दू परिवार मे सामाजिक दृष्टि से माता की स्थिति सर्वोच्च मानी गई है, उसे 'धात्री, 'जननी' तथा 'अम्बा' कहा गया है, परन्तु प्रभुत्व की दृष्टि से पिता का स्थान निश्चित रूप से सर्वोपरि है।

हिन्दू सयुक्त परिवार की सरचना मे प्रमुख अंगो के रूप मे कर्त्ता, कर्त्ता की पत्नी, बड़ा लड़का, अन्य पुरुष सदस्य, माता-पिता, पति-पत्नी, नव-वधू तथा कन्या आदि आते है। इसी प्रकार सयुक्त परिवार मे भाई-बहन, ननद-भौजाई और देवर-भाभी के सम्बन्ध भी पाए जाते हैं। सयुक्त परिवार के इन विभिन्न सदस्यो की निश्चित स्थिति, अधिकार और कर्त्तव्य होते हैं। व्यवहार सम्बन्धी निश्चित प्रतिमानो के आधार पर वे परम्परागत रूप से एक-दूसरे के साथ मन्त क्रिया करते, पारस्परिक दायित्वो को निभाते और परिवार की सुख शान्ति को बनाए रखने मे योग देते है।

सयुक्त परिवार के कार्य या लाभ

(Functions or Merits of Joint Family)

भारतीय सयुक्त परिवार व्यवस्था समय-विशेष की देन है। कृषि-प्रधान व्यवस्था वाले समाजो मे सयुक्त परिवार की विशेष उपयोगिता रही है। ऐसे समाजो मे सयुक्त परिवार के अनेक लाभ अथवा कार्य रहे हैं जिनकी यहाँ विवेचना की जा रही है

(१) **बच्चो का समुचित पालन पोषण**—सयुक्त परिवार बच्चो के पालन-पोषण के लिए उत्तम स्थान है। ऐसे परिवार मे वृद्ध सदस्य भी होते हैं, जैसे दादा-दादी आदि। वृद्ध सदस्य कठोर परिश्रम तो नही कर पाते परन्तु सुगमता से बालको की देखभाल कर लेते है। आज एकाकी परिवारो मे बालको के उचित पालन-पोषण की समस्या पाई जाती है क्योकि पति कार्य हेतु घर मे बाहर चला जाता है, पत्नी भी कही नौकरी करती, किसी न किसी काम मे व्यस्त रहती है। ऐसे परिवारो मे नौकरो की देख-रेख मे बालक पलते हैं।

(२) **प्रशिक्षण एव समाजीकरण का उत्तम स्थल**—सयुक्त परिवार मे विभिन्न सदस्यो के सम्पर्क म रहते हुए बालको को प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त होती है, बडे-बूढो के अनुभवो का उन्हे लाभ मिलता है। समय-समय पर उनका मार्ग-दर्शन होता रहता है। ये परिवार बालको के समाजीकरण मे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। ऐसे परिवार म बालको मे सद्गुणो का विकास होता है। यहाँ वे प्रेम, सहयोग, त्याग, सहनशीलता, परोपकार, सेवा आदि का पाठ सीखते हैं। ऐसे परिवारो म सदस्यों म व्यक्तिवादी प्रवृत्ति नही पनप पाती है। यहाँ विभिन्न सदस्य एक दूसरो के हितो को ध्यान मे रखते हुए कार्य करते हैं। उनमे सामुहिकता और समष्टिवाद की भावना का विकास होता है। यहां वे स्वार्थरहित होकर कार्य करना सीखते हैं। बालक मे इन सब गुणो का विकास पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय दृष्टिकोण से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

---

२३ मनुस्मृति, II. १४५.
२४. मनुस्मृति, II, २२५—३७.

(३) धन का उचित उपयोग—संयुक्त परिवार के सामान्य कोष मे वृद्धि करने की दृष्टि से प्रत्येक सदस्य द्वारा प्रयत्न किया जाता है। सभी सदस्यों की आवश्यकताओं को ध्यान मे रखते हुए पारिवारिक धन का सर्वोत्तम उपयोग किया जाता है। उपभोग की दृष्टि से भी खर्चे मे बचत होती है। एकसाथ वस्तुएँ खरीदी जाती है, सेवाएँ प्राप्त की जाती हैं, सुविधाओं का सामान्य प्रबन्ध किया जाता है और कर्त्ता के नियन्त्रण के कारण अनावश्यक खर्चों से बचा जाता है। संयुक्त परिवार म कम खर्चे मे अधिक लोगों का भरण-पोषण हो जाता है। संयुक्त परिवार समाजवादी व्यवस्था के अधिक निकट है। यहा प्रत्येक मे उसकी योग्यता के अनुसार काम लिया जाता है और आवश्यकता के अनुसार उस पर खर्च किया जाता है।

(४) सम्पत्ति के विभाजन से बचाव—संयुक्त परिवार प्रणाली के कारण सम्पत्ति के विभाजन से बचा जा सका है। सभी सदस्यो के मिलकर एकसाथ रहने से सम्पत्ति के विभाजन का प्रश्न ही नही उठता। संयुक्त परिवारो ने भारतीय ग्रामो मे खेतो के छोटे-छोटे टुकडो मे विभाजन और दूर-दूर छिटकने को काफी सीमा तक रोका है। कृषि के क्षेत्र मे इस प्रणाली का लाभकारी गुण रहा है जिसने उत्पादन को बढ़ाने मे योग दिया है। इस प्रकार संयुक्त परिवार आर्थिक जीवन मे स्थायित्व लाने और व्यक्तिवादिता पर अकुश रखन म काफी सहायक रहे हैं।

(5) श्रम विभाजन—संयुक्त परिवार मे श्रम विभाजन के सब लाभ प्राप्त हो जाते हैं। सब सदस्यो मे उनकी योग्यता का ध्यान मे रखकर ही कार्य बाँटा जाता है। वृद्ध और कमजोर, अपाहिज और शारीरिक दृष्टि से अयोग्य व्यक्तियों को बिना उन पर अनावश्यक भार डाले, उनकी सामर्थ्य के अनुसार ही कार्य दिए जाते हैं। इस प्रकार संयुक्त परिवार मे पुरुष धनोपार्जन का कार्य करते है, स्त्रियाँ बालको का पालन-पोषण, घर की देख-भाल करती हैं और आवश्यकतानुसार आर्थिक क्रियाओं मे भी योग देती है। श्रम के उचित विभाजन के परिणामस्वरूप सबकी कार्य-कुशलता बनी रहती है और परिवार को श्रम-विभाजन का पूर्ण लाभ मिल पाता है।

(6) आपत्तियों का पारिवारिक बीमा—संयुक्त परिवार अपने सदस्यो के लिए *बीमा* कम्पनी के रूप मे कार्य करता है। यदि किसी की नौकरी छूट जाती है, कोई दुर्घटना-ग्रस्त, बीमार और शारीरिक अथवा मानसिक दृष्टि से कार्य करने के अयोग्य हो जाता है, तो संयुक्त परिवार उन सबकी देख-भाल तथा उनकी सेवा-सुश्रूषा करता है, उनके भरण-पोषण की व्यवस्था करता है। संयुक्त परिवार व्यक्ति को आर्थिक सुरक्षा प्रदान करता है, चिंताओं से मुक्त रखता है और व्यक्तित्व के स्वस्थ विकास म योग देता है। अनाथ बच्चो, विधवाओं और वृद्धो के लिए संयुक्त परिवार उत्तम आश्रय स्थल है। यहाँ इन सबकी आवश्यकताओं की पूर्ति भी हो जाती है और सम्मान भी बना रहता है।

(7) अनुशासन एव नियन्त्रण—संयुक्त परिवार मे सभी सदस्य मुखिया के आदेशानुसार कार्य करते हैं। इस कारण इस प्रकार के परिवारों मे अनुशासन एव नियन्त्रण बना रहता है। एकाकी परिवारो मे सामान्यत बडे बूढो के नही होने से व्यक्ति सापेक्ष रूप से स्वतन्त्रतापूर्वक आचरण करता है, उस पर अनौपचारिक नियन्त्रण के साधनों का प्रभाव बहुत कम होता है। संयुक्त परिवार मे प्रत्येक को मुखिया के आदेशानुसार ही कार्य करना

श्रौर नियन्त्रण मे रहना पडता है। उन्हे ऐसे कार्यों से बचना पडता है, जो पारिवारिक प्रतिष्ठा को गिराने मे योग देते है। सयुक्त परिवार मे सभी सदस्यो का एक-दूसरे पर श्रकुश रहता है।

(8) **सस्कृति की रक्षा**—भारतीय सस्कृति की निरन्तरता श्रौर स्थायित्व को बनाए रखने मे सयुक्त परिवार का श्रपूर्व योग रहा है। ये परिवार अपने सदस्यो को प्रथाम्रो, परम्पराश्रो, रूढियो श्रौर सामाजिक मान्यताओ के श्रनुसार श्राचरण करने के लिए प्रेरित करते रहे हैं। विविध सामाजिक श्रौर धार्मिक उत्सवो के माध्यम से सयुक्त परिवार, व्यवहार के सामान्य प्रतिमानो को बनाए रख सकते हैं। सयुक्त परिवार इन सबको पीढी-दर-पीढी श्रपनी सन्तानो को हस्तान्तरित करते रहे हैं।

(६) **राष्ट्रीय एकता को प्रोत्साहन तथा देश-सेवा मे योग**—सयुक्त परिवार श्रपने सदस्यो को सामुदायिक जीवन की व्यावहारिक शिक्षा प्रदान करते हैं। श्राज व्यक्तिवादिता के बहुत बढ जाने के उपरान्त भी सयुक्त परिवार व्यक्तियो मे त्याग, परोपकार, सहयोग श्रौर सामूहिकता की भावनाश्रो को भर रहे हैं श्रौर राष्ट्रीय एकता को प्रोत्साहित कर रहे हैं। सयुक्त परिवार मे सदस्यो की सख्या श्रधिक होने से, एक-दो सदस्य श्रपना समय सुगमता से सार्वजनिक श्रौर देशहित के कार्यों मे लगा सकते हैं। एकाकी परिवार के किसी सदस्य के लिए सार्वजनिक कार्यों के लिए समय निकालना बडा कठिन होता है। साथ ही देश-सेवा के लिए जिन गुणो की श्रावश्यकता पडती है, उसका विकास साधारणत सयुक्त परिवार मे ही होता है।

इन सब कार्यों के अतिरिक्त सयुक्त परिवार श्रपने सदस्यों का स्वस्थ मनोरजन करता है। बहुत से बालको की तुतली-तुतली प्यार भरी बातें बडी प्रिय लगती हैं। भाई-बहनो का प्रेम, माता का वात्सल्य श्रौर श्रन्य सदस्यो का हास परिहास सभी सदस्यो के लिए श्रानन्ददायक होता है। सयुक्त परिवार मे रहकर सदस्य जिस सुरक्षा का श्रनुभव करते हैं वह उनके मानसिक सन्तुलन को बनाए रखने मे विशेष लाभकारी सिद्ध होता है। सयुक्त परिवार ने समष्टिवादी समाज के निर्माण में योग दिया है।

सयुक्त परिवार के दोष
(Demerits of Joint Family)

समय की माग के श्रनुसार सस्थाओ का विकास होता है श्रौर परिस्थितियो के बदलने पर उनका श्रस्तित्व भी खतरे में पड जाता है। उनमें श्रनेक दोष उत्पन्न हो जाते तथा विघटन के लक्षण दिखलाई पडने लगते है। यही बात भारतीय सयुक्त परिवार के सम्बन्ध में भी सही है। श्राज की बदली हुई परिस्थितियो में सयुक्त परिवार व्यवस्था मे श्रनेक दोष स्पष्टत दिखाई पडने लगे है, जो निम्नलिखित है—

(१) **कुशलता मे बाधक**—सयुक्त परिवार में व्यक्ति की सब प्रकार की सुख-सुविधाश्रो की पूर्ति हो जाती है, चाहे वह कमाता हो अथवा नही। श्रार्थिक दृष्टि से कोई कार्य न करने पर भी समान रूप से सबकी श्रावश्यक्ताश्रो की पूर्ति, एक श्रोर तो कमाने वालो में श्रसन्तोष पैदा करती है श्रौर दूसरी श्रोर रहन सहन के स्तर को गिराती है, जिसका प्रभाव सदस्यो की कार्य-कुशलता पर पडता है। न कमाने वालो का भार भी कमाने वालो पर

भा पडने के कारण कुशलता में कमी आती है। कमाने वालो को अपने परिश्रम का उचित पुरस्कार नही मिल पाता और उनके द्वारा कमाया हुआ धन आलसी और निकम्मे व्यक्तियों पर खर्च किया जाता है। आज के इस भौतिकवादी युग में अपने कठोर परिश्रम का लाभ व्यक्ति स्वय ही प्राप्त करना चाहता है। सयुक्त परिवार में व्यक्ति को कठिन परिश्रम करने की प्रेरणा नही मिल पाती।

(२) गतिशीलता मे बाधक—सयुक्त परिवार का स्नेह-युक्त वातावरण व्यक्तियो को परिवार मे ही बने रहने और किसी प्रकार का दायित्व अथवा जोखिम उठाने की प्रेरणा प्रदान नही करता। सयुक्त परिवार का व्यक्ति पर इतना प्रभाव है कि वह अपने ही रक्त-सम्बन्धियो के बीच बना रहना चाहता है, चाहे उस स्थान विशेष पर उसे रोजगार की सुविधा उपलब्ध न भी हो। किसी अन्य स्थान पर रोजगार के मिलने पर भी वह अपने घर का मोह छोडकर साधारणत वहाँ जाने को उत्सुक नही रहता। परिणामस्वरूप श्रम की गतिशीलता में बाधा पहुँचती है, जो आर्थिक विकास की दृष्टि से हानिकारक है।

(३) व्यक्तित्व के विकास मे बाधक—सयुक्त परिवार मे होनहार बालको को अपने व्यक्तित्व के समुचित विकास का अवसर नही मिल पाता क्योकि वहा सबके साथ समानता बरती जाती है। ऐसी दशा मे योग्य और प्रतिभाशाली बालको को विशेष सुविधाएँ नही मिल पाती हैं। ऐसे परिवार मे सदस्यो पर बडे-बूढो का कठोर नियन्त्रण पाया जाता है, निश्चित नियमों के अन्तर्गत ही सदस्यो को व्यवहार करना पडता है। ऐसा व्यवहार यन्त्रवत् और रूढिवादी बन जाता है। ऐसे परिवार मे सदस्यो मे आत्म-विश्वास की कमी और दूसरो पर निर्भरता अधिक पाई जाती है, उनमे चेतना का अभाव रहता है और निर्णय लेने की शक्ति का उचित मात्रा मे विकास नही हो पाता है। इस प्रकार के व्यक्तित्वो का निर्माण चेतन समाज और प्रगतिशील राष्ट्र के विकास मे बाधक है।

(४) द्वेष और कलह—सयुक्त परिवार के विभिन्न सदस्यो के बीच द्वेष और कलह की स्थिति पाई जाती है जो अनेक पारिवारिक झगडो के लिए उत्तरदायी होती है। बच्चो, आय, व्यय, अथवा कर्ता के पक्षपात पूर्ण व्यवहार को लेकर सदस्यो मे मन-मुटाव होता रहता है जो झगडो के रूप मे प्रकट होता है। मुखिया और युवा सदस्यो के आदर्शो और स्वभाव-सम्बन्धी विशेषताओ मे अन्तर होने के कारण भी समय-समय पर झगडे होते रहते हैं। छोटी-छोटी बातो पर सास-बहू, देवरानी-जेठानी तथा ननद-भौजाई मे कलह होती रहती है। ऐसे कलह-पूर्ण वातावरण मे सदस्यो मे तनाव बना रहता है, जो शान्त तथा सुखी पारिवारिक जीवन असम्भव बना देता है। ऐसे परिवार बालक के स्वस्थ विकास मे बाधक सिद्ध होते हैं, वे उनमे सद्गुणो को विकसित करने के बजाय द्वेष और कलह का बीजारोपण कर देते है।

(५) स्त्रियों की दुर्दशा के लिए उत्तरदायी—सयुक्त परिवार स्त्रियो की दयनीय दशा के लिए उत्तरदायी है। सयुक्त परिवार मे सर्वाधिक शोषण स्त्रियो का ही हुआ है। पारिवारिक मामलो मे प्रभुता-सम्पन्न पुरुषो और मुखिया की स्त्री को ही सब प्रकार के अधिकार प्राप्त रहे हैं। जिन स्त्रियो ने सयुक्त परिवार मे नव-वधू के रूप मे परिश्रम-साध्य कार्य किये हैं, सास और ननद का दुर्व्यवहार सहन किया है, उनके ताने सुने है, उनकी डाट-फटकार के बावजूद प्रात काल से रात्रि मे सोने के पूर्व तक उनकी सेवा की है, वे स्वय सास के रूप मे अपनी बहुओं के साथ इसी प्रकार के व्यवहार को दोहराती है। नव-

वधुग्रो को हर समय बड़े-बूढो के कठोर नियन्त्रण मे रहना तथा यन्त्रवत् व्यवहार करना पडता है। ऐसे परिवारो मे वे स्वतन्त्र वातावरण में सास नही ले पाती है। सयुक्त परिवार में स्त्रियो की इस दुर्दशा ने शिक्षित महिलाग्रो को इस व्यवस्था के विरुद्ध ग्रावाज उठाने को बाध्य किया है। साधारणत आज नव वधुएँ ऐसे सयुक्त परिवारो में रहने के बजाय एकाकी परिवारो में स्वतन्त्रतापूर्वक रहना ग्रधिक पसन्द करती है।

(६) **गोपनीय स्थान का ग्रभाव**—सयुक्त परिवार में सदस्यों की सख्या के बढने ग्रौर उसी ग्रनुपात में रहने के स्थान में वृद्धि न होने के कारण गोपनीय स्थान का ग्रभाव पाया जाता है। नव-विवाहित दम्पत्ति केवल रात्रि में ही कुछ समय तक एक-दूसरे के साथ रह सकते है। दिन में ग्रन्य सदस्यो की उपस्थिति में पत्नी से बातचीत करना ग्रनुचित समझा जाता है। ऐसी दशा में पति-पत्नि में सच्चे दाम्पत्य प्रेम ग्रौर पारस्परिक सद्भावना का विकास होना सम्भव नही है।

(७) **सामाजिक समस्याग्रों को प्रोत्साहन**—यदि सयुक्त परिवार को रूढिवादिता का केन्द्र कहा जाए, तो किसी प्रकार की कोई ग्रतिशयोक्ति नही होगी। सयुक्त परिवारो ने बाल-विवाहो को प्रोत्साहित किया है, विधवा विवाह निषेध मे योग दिया है, दहेज-प्रथा, पर्दा-प्रथा ग्रौर जाति-ग्रन्तर्विवाह को बनाए रखने मे सहायता पहुँचाई है, बड़े-बूढो ने परम्पराग्रो की रक्षा के नाम पर ग्रनेक कुरीतियो को बनाए रखने मे विशेष भूमिका निभायी है। सयुक्त परिवार परिवर्तन विरोधी ग्रौर ग्रनेक सामाजिक समस्याग्रो के लिए उत्तरदायी रहे हैं।

(८) **शुष्क एव नीरस वातावरण**—सयुक्त परिवार मे सदस्यों की सख्या के ग्रधिक होने से उनके आपसी सम्बन्ध घनिष्ठ न होकर ग्रौपचारिक रहते हैं। सभी सदस्यो मे समान रूप से एक दूसरे के प्रति ग्रात्मीयता नहीं पाई जाती जिसके ग्रभाव मे व्यक्ति को मानसिक सुरक्षा नही मिल पाती। यही कारण है कि ग्राजकल ग्रनेक सयुक्त परिवारो मे शुष्क एव नीरस वातावरण रहता है। कही कही तो मन-मुटाव ग्रौर कलह की स्थिति भी पाई जाती है।

(९) **मुखिया की स्वेच्छाचारिता**—सयुक्त परिवार के सभी सदस्य मुखिया के ग्रादेशानुसार कार्य करते हैं। उसकी इच्छा के ग्रनुसार ही परिवार मे सब कार्य चलते हैं। पारिवारिक मामलों मे मुखिया के ग्रतिरिक्त अन्य सदस्यो को कोई स्वतन्त्रता नही होती। जैसा वह चाहता है, वैसा ही ग्रन्य सदस्यो को करना पडता है। ग्रपनी स्वय की इच्छा से वे कुछ भी नही कर सकते। ग्रपने को परिवार का कर्ता धर्ता समझ कर मुखिया कई बार ग्रपने ग्रधिकारो का दुरुपयोग भी करता है। नवीन विचारो से ग्रोतप्रोत युवा-सदस्य मुखिया की इस स्वेच्छाचारिता को ग्रब सहन करने को तैयार नही हैं, उनमे आज सयुक्त परिवार से पृथक् एकाकी परिवार मे रहने की इच्छा बलवती होती जा रही है।

ग्राज भारत कृषि स्तर से ग्रौद्योगिक स्तर की ग्रोर बढता जा रहा है। सयुक्त परिवार कृषि-प्रधान व्यवस्था वाले समाजो के लिए श्रेष्ठ सिद्ध हुए हैं, किन्तु ग्राज के ग्रौद्योगिक समाजो मे ये नवीन युग की माँग को पूरा नही कर पा रहे हैं। सयुक्त परिवार के गुण एव दोषों पर प्रकाश डालते हुए श्री रमन ने लिखा है कि इस व्यवस्था का एक गुण यह भी है कि वृद्धावस्था मे लोग सुरक्षित, सुखमय तथा सम्पूर्ण जीवन व्यतीत करते हैं जबकि पाश्चात्य देशो मे लोग बुढापे मे ग्रकेलेपन से व्यग्र होने लगते हैं। परन्तु इसके साथ यह

भी ध्यान रखना चाहिए कि इन गुणों के साथ दोष भी हैं। एक ओर यदि परम्परा की रक्षा होती है तो पुरानी संकीर्णता बनी रहती है और यदि आत्म-संयम और दूसरों का ध्यान रखने की आदत पड़ती है तो साथ ही व्यक्तिगत रूप से धन एकत्र नहीं किया जा सकता। यदि लोग रोगी की सेवा-सुश्रूषा के लिए तत्पर रहते हैं तो साथ ही साथ कोई न कोई सदा रोगी भी रहता है। वृद्धों का आदर अवश्य होता है, चाहे नवयुवक मिट्टी में क्यों न मिल जाएँ।[25] इस प्रकार संयुक्त परिवार व्यवस्था के गुण और दोष दोनों ही हैं। यह व्यवस्था मूलतः कृषि-प्रधान समाजों के लिए विशेष उपयोगी रही है।

संयुक्त परिवार पर आधुनिक प्रभाव
(Modern Impact on Joint Family)

भारतीय समाज में एक लम्बे समय तक परिवार का संयुक्त आधार बना रहा। औद्योगिक क्रान्ति के पूर्व तक कृषि-प्रधान समाजों में मानव-श्रम, परिवार के सदस्यों द्वारा ही प्राप्त होता रहा है। हल की खेती पर आधारित व्यवस्था वाले समाज में बहुत-से लोगों के सहयोग की आवश्यकता पड़ती है, स्थायित्व अनिवार्य होता है और परम्परागत जीवन लाभदायक सिद्ध होता है। संयुक्त परिवार इन सभी को बनाए रखने में योग देता है। कृषि-व्यवस्था वाले समाज में एकाकी परिवार की तुलना में, संयुक्त परिवार के सदस्य अधिक सुरक्षा का अनुभव करते हैं। संयुक्त परिवार का संयुक्त आधार तभी तक बना रह सकता है जब तक परिवार की आय के स्रोत संयुक्त हों, अर्थात् सभी सदस्यों के संयुक्त श्रम द्वारा परिवार की आय होती हो। कृषि, परिवार की आय का ऐसा संयुक्त स्रोत रहा है। सभी सदस्य खेत पर सामूहिक रूप से कार्य कर जो कुछ अनाज आदि उत्पन्न करते हैं, उसी के द्वारा अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करते रहे हैं। संयुक्त परिवार को दृढ़ता प्रदान करने वाले कारकों पर प्रकाश डालते हुए डॉ० आर० एन० सक्सेना ने लिखा है कि समय-समय पर होने वाली पूजा-विधियों और उत्सवों द्वारा परिवार के सदस्यों में पारस्परिक निर्भरता और सहयोग का स्थापित होना, परिवार के प्रत्येक सदस्य की एक निश्चित स्थिति और कार्य का परम्परानुसार पूर्व-निर्धारित होना, कर्त्ता का सर्वोपरि सत्ता तथा अधिकार मिलना, कर्त्ता को मिले हुए न्यायिक कार्य तथा अधिकार और कृषि पर आधारित सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था इत्यादि हिन्दू परिवार की संयुक्त संरचना को स्थायित्व प्रदान करने में मुख्य कारण रहे हैं।[26]

वर्तमान समय में परिस्थितियाँ बदल चुकी हैं। आज भारत में संयुक्त परिवार विघटित होते प्रतीत हो रहे हैं। अंग्रेजों के भारत में आगमन के पश्चात् औद्योगिकरण के परिणाम-स्वरूप नवीन सामाजिक-आर्थिक शक्तियों का भारतीय समाज पर प्रभाव पड़ने लगा। कृषि-प्रधान सामाजिक आर्थिक व्यवस्था,, औद्योगिक सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था में बदलने लगी। इस नवीन आर्थिक व्यवस्था का प्रभाव सामाजिक संस्थाओं पर भी पड़ने लगा और संयुक्त परिवार परिवर्तित होने लगे। आज संयुक्त परिवार के आकार में ह्रास होता जा रहा है। सदस्यों में धर्म के प्रति उदासीनता बढ़ती जा रही है। कर्त्ता की प्रभुता और स्वेच्छा-

---

२५ श्री रमन, डा० कैलाशनाथ शर्मा द्वारा उद्धृत "भारतीय समाज और संस्कृति," पृ० ११८.
२६ आर. एन सक्सेना, पूर्व उद्धृत पृ. १५.

चारिता मे कमी आती जा रही है। युवा सदस्यो की स्थिति मे परिवर्तन आ रहा है और उनके अधिकारो मे वृद्धि हो रही है। वर्तमान मे सदस्यो की स्थिति का निर्धारण उनकी योग्यता एव उपलब्धियो के आधार पर होने लगा है। यहाँ अब उन कारको पर विचार किया जा रहा है जिन्होने सयुक्त परिवार को परिवर्तित करने मे योग दिया है।

सयुक्त परिवार को परिवर्तित करने वाले कारक
(Factors Changing Joint Family)

सयुक्त परिवार को परिवर्तित करने मे अनेक कारको का योग रहा है। श्री भट्ट ने लिखा है कि जिन परिवर्तनकारी शक्तियो के कारण सयुक्त परिवार की सरचना मे रूपान्तरण हुआ है, उन्हें तीन श्रेणियो के अन्तर्गत रखा जा सकता है—प्रथम श्रेणी के अन्तर्गत वे शक्तियाँ आती है, जो औद्योगिकरण तथा पूंजीवादी सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था से उत्पन्न हुई हैं, दूसरी श्रेणी के अन्तर्गत वे भावनात्मक शक्तियाँ आती हैं, जो पश्चिमी पूंजीवादी व्यवस्था के सास्कृतिक आदर्शों से उत्पन्न हुई हैं और जिन्हे भारत की परिवर्तित सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था मे पनपने का अवसर मिला, तीसरी श्रेणी मे उन शक्तियो की गणना है, जिन्हे नई विधि प्रणाली ने जन्म दिया है।[27] बॉटोमोर (Bottomore) की मान्यता है कि सयुक्त परिवारो का विघटन केवल औद्योगिकरण से सबधित विभिन्न दशाओ का ही परिणाम नही है, बल्कि इसका प्रमुख कारण यह है कि सयुक्त परिवार आर्थिक विकास की आवश्यकताओ को पूरा करने मे असफल सिद्ध हो चुके हैं।[28] डॉ० कापडिया का कथन है कि नवीन न्याय-व्यवस्था, शिक्षा प्रसार एव परिवर्तित मनोवृत्तियो ने सयुक्त परिवारो को विघटित करने मे विशेष भूमिका निभायी है। यद्यपि सैकडो वर्षों तक सयुक्त परिवार भारतीय समाज मे महत्वपूर्ण कार्य और व्यक्ति को सब प्रकार से सुरक्षा प्रदान करता रहा है, तथापि आज की वदली हुई परिस्थितियो मे इसमे अनेक परिवर्तन आ रहे है। वर्तमान समय मे सयुक्त परिवार की सरचना मे पारिवारिक दायित्वो, महत्वपूर्ण निर्णयो एव सदस्यो के आपसी सम्बन्धों और बच्चो के समाजीकरण से सम्बन्धित अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन हो रहे हैं। आधुनिक शिक्षा ने स्त्रियो को अपने अधिकारो के प्रति जागरूक बनाया है। वे शिक्षा प्राप्त कर नौकरी करने लगी है, उनकी प्रस्थिति और भूमिका मे अन्तर आया है। अनेक कारको ने नाभिक परिवारो की स्थापना मे योग दिया है। इन सब परिवर्तनो ने नवीन मूल्यो और मनोवृत्तियो को जन्म दिया है जो व्यवहार की परम्परागत सहिता को समर्थन प्रदान नहीं करते है। सयुक्त परिवार को परिवर्तित करने वाले महत्वपूर्ण कारक निम्नलिखित है

१ औद्योगिकरण (Industrialization).

सयुक्त परिवार उत्पादन और उपभोग, दोनों के ही केन्द्र रहे हैं। न केवल परिवार के सभी सदस्य एक ही खेत पर सम्मिलित रूप मे खेती करते थ बल्कि गृह-उद्योगो मे भी एक-साथ मिलकर ही काम करते थे। उस समय सयुक्त परिवार देश की आर्थिक परिस्थितियो के अनुरूप थे, परन्तु धीरे-धीरे परिस्थितियो मे परिवर्तन हुआ। इस परिवर्तन को व्यक्त

---

२७ बी० एस० भट्ट भारत में समाजशास्त्र, प्रगति और सस्कृति, पृ ७७२.

28 T B Bottomore, Sociology A guide to Problems and Literature, P 177.

करते हुए डॉ० आर० एन० सक्सेना ने कहा है कि अंग्रेजी पूंजीवादी व्यवस्था का भारत मे श्रीगणेश हुआ और उसके विकास के साथ-साथ औद्योगिकरण बढ़ा, द्वितीयक समूहो की प्रधानता से परिपूर्ण शहरी समाज अस्तित्व मे आया। धर्मनिरपेक्ष राज्य स्थापित हुआ, व्यक्तिवादी विचारधारा का अभ्युदय हुआ और उसके पनपने के लिए अनुकूल सामाजिक-आर्थिक वातावरण बना और जैसी पूंजीवादी शक्तियो की माग थी, अनेक सामाजिक कानून बने, जिनसे व्यक्तिवाद को प्रोत्साहन मिला। सक्षेप मे, कृषि पर आधारित सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था, औद्योगिक सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था मे परिणत होने लगी। प्रत्येक समाज की आर्थिक व्यवस्था उसकी सरचना का एक आधार है और यदि अर्थ-व्यवस्था बदलती है तो उससे सम्बन्धित सामाजिक सस्थाएँ भी बदलती हैं। भारतीय आर्थिक व्यवस्था-परिवर्तन का परिणाम यह हुआ कि सयुक्त परिवार परिवर्तित होने लगा और जैसा कि साधारणतः लोगो का मत है, विघटित होने लगा।[29] पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था और औद्योगीकरण के फलस्वरूप बडे-बडे कारखानो की स्थापना हुई, जहाँ मशीनो की सहायता से कार्य होने लगा। भूमि पर जनसख्या का दबाव बढने, कुटीर उद्योगो के नष्ट होने तथा नए-नए व्यवसायो के पनपने से लोग ग्रामो से नगरो की ओर बढने लगे। वे नगर मे अकेले अथवा अपनी पत्नी एव बच्चो के साथ रहने लगे। नगरीय क्षेत्रो मे मकानो के अभाव के कारण सयुक्त परिवार के सभी सदस्यो को वहाँ ले जाना सम्भव नही था।

औद्योगीकरण के फलस्वरूप स्त्रियो को भी आर्थिक क्षेत्र मे नौकरी करने की सुविधा प्राप्त हुई। उनकी प्रस्थिति और भूमिका मे परिवर्तन हुआ, उनमे आत्मनिर्भरता बढी और वे अपने अधिकारों के प्रति जागरूक होने लगी। परिणाम यह हुआ कि वे सयुक्त परिवार के प्रति अपने विद्रोह को व्यक्त करने लगी, इस व्यवस्था के विरुद्ध आवाज उठाने लगीं और एकाकी परिवारो की स्थापना मे सक्रिय योग देने लगी। औद्योगीकरण ने नकद मजदूरी प्रणाली को लागू करके, सयुक्त परिवार के सदस्यो को अपने श्रम के परिणाम को नकद के रूप मे आँकने का मौका दिया। सयुक्त परिवार का वह सदस्य जो अधिक कमाने लगा, इस बात से असन्तुष्ट रहने लगा कि उसके द्वारा कमाया हुआ रुपया, परिवार के सभी सदस्यो पर—चाहे कोई कमाता हो या नही, चाहे कोई कम कमाता हो या अधिक, समान रूप से खर्च किया जाय। परिणाम यह हुआ कि सदस्यो मे व्यक्तिवादी भावना पनपने लगी और वे अपने कमाये हुए धन को अपने स्त्री-बच्चो पर ही खर्च करने की इच्छा रखने लगे। परिवार के अन्य सदस्यों पर अपने कमाये हुए धन को खर्च करने के बजाय वे इसे जोडना अधिक उचित समझने लगे क्योकि औद्योगिक व्यवस्था के अन्तर्गत धन का विशेष महत्व पाया जाता है। धन के आधार पर व्यक्ति को प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। इस सारी परिस्थिति ने व्यक्ति को सयुक्त परिवार से अलग रहकर जीविकोपार्जन करने और एकाकी परिवार की स्थापना के लिए अवसर एव प्रेरणा प्रदान की। डॉ० इन्द्रदेव ने सयुक्त परिवार पर औद्योगिक सभ्यता के प्रभाव का उल्लेख करते हुए लिखा है कि आधुनिक औद्योगिक सभ्यता की माँग गतिशीलता और स्पर्धा है। सयुक्त परिवार,

---

२९. आर०एन० सक्सेना पूर्व उद्धृत, पृष्ठ १९।

३०. डॉ० इन्द्रदेव - पूर्व उद्धृत, पृ० ६०।

कम से-कम अपने परम्परागत रूप मे, इनकी पूर्ति मे बाधक है। अत. यह आश्चर्य की बात नही कि यह व्यवस्था जो इतने समय तक अपने अस्तित्व को बनाए रख सकी, और समाज की अन्य संस्थाओं को एक प्रकार से शासित करती रही, आज अपनी जड़ो से हिलती दिखाई देती है।[30] आज जब व्यक्तिगत उपलब्धि का महत्त्व काफी बढ गया है, व्यक्तिगत व्यवसाय, नौकरी, आदि से व्यक्तिगत आय होने लगी है, सयुक्त श्रम एव स्वामित्व का महत्त्व कम हो गया है, नौकरी अथवा व्यवसाय के लिए सदस्यो को अलग-अलग नगरो मे जाना पडता है, तब ऐसी दशा मे उनके अलग-अलग परिवारो का बन जाना स्वाभाविक है। स्पष्ट है कि नवीन पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था और औद्योगीकरण ने प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप मे सयुक्त परिवारो को परिवर्तित करने मे योग दिया है।

२ नगरीकरण (Urbanization)

पश्चिमी वैज्ञानिक प्रौद्योगिकी, औद्योगीकरण और यातायात के साधनो के विकास ने नगरीकरण की प्रक्रिया को गति दी है। एक ओर नए नगरो का विकास हुआ है तथा दूसरी ओर छोटे नगर बडे नगरो मे परिवर्तित हुए हैं। नगरों मे व्यापार, वाणिज्य एव उद्योग-धन्धो का विकास हुआ है, नौकरियो के अवसर बढे हैं, ग्रामो स लाखो लोग नौकरी हेतु नगरो म पहुँचे हैं, जहाँ वे नाभिक परिवारो में रहने लगे हैं। नगर में विभिन्न विचारधाराएँ, आदर्श एव सामाजिक मूल्य पाए जाते हैं। आधुनिक शिक्षा प्राप्त एव नगरीय सभ्यता मे पले युवक-युवतियाँ जीवन के प्रति प्रगतिशील दृष्टिकोण रखते हैं। इनमे व्यक्तिवादिता अधिक पाई जाती है। ये लोग नवीनता प्रिय होते हैं। इनका झुकाव आधुनिकता की ओर होता है जबकि माता-पिता परम्पराओ से चिपके रहना चाहते हैं। नगरीय क्षेत्रो मे माता-पिता अपने पुत्रो एव बहुओ से यह आशा करते है कि वे परिवार की मान्यताओ, रीति-रिवाजो तथा रूढियो के अनुसार व्यवहार करें, परन्तु युवा पुत्र एव बहुएं अपनी पसन्द के अनुसार रहना और व्यवहार करना चाहते हैं। ऐसी दशा मे माता-पिता तथा परिवार के अन्य युवा सदस्यो मे विचारो, आदर्शों एव सामाजिक मूल्यो सम्बन्धी भिन्नता के कारण तनाव पाया जाता है। घर मे सास चाहती है कि उसकी बहु पर्दा करे, जबकि बहु अपने पति के साथ स्वतन्त्रता-पूर्वक घूमना चाहती है। ऐसी स्थिति मे एक ओर माता पिता पुत्र स कुछ अपेक्षाएं रखते हैं, और दूसरा ओर पत्नी और बच्चे कुछ अन्य अपेक्षाएं रखते हैं, उनकी अपेक्षाओ मे विरोध पाया जाता है और पुन अपने आपको द्वन्द्वात्मक स्थिति मे पाता है, जिसका उसके मानसिक स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पडता है। यह सारी परिस्थिति सयुक्त परिवार मे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन लाने में सहायक है, एकाकी परिवार के निर्माण म प्रेरक है। नगरीय क्षेत्रो मे व्यक्तिगत उपलब्धि का विशेष महत्त्व पाया जाता है। यहाँ व्यक्ति आगे बढना चाहता है, अपनी महत्वाकाक्षाओ को पूर्ण करना चाहता है, परन्तु सयुक्त परिवार मे व्यक्ति को ऐसा करने के लिए उचित अवसर एव प्रोत्साहन नही मिल पाता है।

नगरीय पर्यावरण ने सयुक्त परिवार के रूपान्तरण मे निश्चित रूप से योग दिया है। इस सम्बन्ध मे श्री भट्ट ने कहा है कि शहरी सामाजिक-आर्थिक पर्यावरण ग्रामीण पर्यावरण की अपेक्षा अधिक गतिशील है और शहरी सामाजिक-आर्थिक सरचना जाति तथा परिवार की ओर उन्मुख न होकर, व्यक्ति की ओर उन्मुख है। शहरी सामाजिक

र्यावरण मे अनामिकता (Anonymity) का व्यापक प्रभाव रहता है, जिससे एक ओर थाओ के कठिन अनुशासन मे ढीलापन आता है और दूसरी ओर व्यक्तिवाद को ोत्साहन मिलता है। शहरी पर्यावरण मे, व्यक्ति का अधिकतर समय पारिवारिक भाव-क्षेत्र के बाहर बीतता है, जिससे व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की भावना को प्रोत्साहन मिलता है।[31]

३. पाश्चात्य संस्कृति एवं शिक्षा का प्रभाव (Impact of Western Culture and Education) :

भारत मे अंग्रेजी राज्य की स्थापना के पश्चात् भारतवासी अंग्रेजों के सम्पर्क में आए, उन्होंने अनेक कारणों से अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करना प्रारम्भ किया, उनके विचारों, मनोवृत्तियो और सामाजिक मूल्यो पर पाश्चात्य सस्कृति का प्रभाव पडने लगा। अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार से योरोपीय सभ्यता के अनेक तत्त्व भारतीय समाज मे समाहित होने लगे और परिवार सम्बन्धी मान्यताएँ बदलने लगी। फलस्वरूप भारतीय सयुक्त परिवार परिवर्तित होने लगे। स्त्री पुरुष की समानता को यहाँ भी महत्त्व दिया जाने लगा, सवैधानिक सुधारो के लागू होने पर भारतीय स्त्रियो को मताधिकार का राजनीतिक अधिकार प्राप्त हो गया। इस काल मे अनेक नारी-सुलभ पेशे, जैसे—नर्सिंग डाक्टरी, शिक्षण-कार्य, स्टेनोटाईपिंग तथा क्लर्की आदि अस्तित्व मे आए। इन पेशो से स्त्रियो को आर्थिक स्वतन्त्रता मिली। सतति-निग्रह के उपकरणो ने भारतीय नारी को मातृत्व के निरन्तर भार से मुक्त किया। अब वह घर के बाहर विभिन्न क्षेत्रो मे कार्य करने लगी। पश्चिम की उदारतावादी विचारधारा और प्रकृतिवादी दर्शन ने स्त्री-पुरुष की समानता की धारणा को विकसित और स्वतन्त्र, स्वाभाविक एव वैयक्तिक प्रेम की धारणा को प्रोत्साहित किया। यौन-सन्तुष्टि को सहज आवश्यकता बतलाया गया और विवाह को स्वाभाविक प्रेम पर आधारित एक समझौता माना गया। परिणाम यह हुआ कि प्रेम-विवाह और सिविल मैरिज की धारणा विकसित हुई। ये वैचारिक परिवर्तन जितनी तेजी से हुए, उतनी तेजी से परम्परागत सामाजिक मान्यताएँ नहीं बदल पाईं। ऐसी परिस्थिति मे रूमानी विचारधारा का अंग्रेजी साहित्य पर प्रभाव पडा। यह विचारधारा सामाजिक बन्धनों के प्रति विद्रोह और अतृप्त अभिलाषाओ की अभिव्यक्ति के रूप मे प्रकट होने लगी। इसका प्रभाव भारतीय साहित्य पर भी पडा। यहाँ भी कविता, उपन्यासो, लेखो आदि मे वैयक्तिकता, स्वाभाविक प्रेम एव नारी-स्वातन्त्र्य को महत्त्व दिया गया; परिवार और जाति के बन्धनो से व्यक्ति को मुक्त करने का प्रयत्न किया गया। इन वैचारिक परिवर्तनो का स्त्री-पुरुष के सम्बन्धो पर प्रभाव पडा है, जिसने सयुक्त परिवार को परिवर्तित करने मे योग दिया है। ये नवीन विचार सयुक्त परिवार के आदर्शों के प्रतिकूल दिखलाई पडते हैं। आज की नारी सयुक्त परिवार के बन्धनो से मुक्त होकर ऐसे परिवार मे रहना चाहती है, जहाँ पति पत्नी के सम्बन्धो का विशेष महत्त्व हो, जहाँ वे एक-दूसरे के अधिक निकट रह सकें और अपनी इच्छानुसार अपने बालको का भरण-पोषण एव शिक्षा आदि का प्रबन्ध कर सकें।

---

३१. डॉ॰ बी. एस. भट्ट : पूर्व उद्धृत, पृ. ७६८।

स्त्री शिक्षा ने महिलाग्रो को ग्रपने ग्रधिकारो के प्रति सजग किया, उनमे नव-जागृति का मचार किया और सामाजिक जीवन के नियमो का पुनर्परीक्षण करने का उन्हे ग्रवसर दिया। उन्होने राष्ट्रीय ग्रान्दोलन मे महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। उन्ह पुरुषो के समान ग्रधिकार प्राप्त हुए, उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा मे ग्रन्तर ग्राया, इसी समय देश मे नवजागरण हुग्रा। सती-प्रथा के विरुद्ध राजा राममोहन राय ने ग्रान्दोलन किया ग्रौर फिर घीरे-धीरे विधवा विवाह, बाल-विवाह निरोध, ग्रन्तर्जातीय विवाह एव विवाह विच्छेद ग्रादि को नवजागृति के प्रणेताग्रो ने वैधानिक ग्राधार प्रदान करने की कोशिश की ग्रौर साथ ही इन समस्याग्रो की ग्रोर जनता का ध्यान ग्राकर्षित करते हुए स्वस्थ जनमत निर्माण का प्रयास किया। इन सब कारणो ने सयुक्त परिवार को परिवर्तित करने मे योग दिया।

४ कानूनो का प्रभाव (Impact of Legislation)

ग्रग्रेजो द्वारा स्थापित ग्रदालतो मे हिन्दू-विधि-प्रणाली का जिस प्रकार से प्रयोग किया गया, उसके परिणामस्वरूप सयुक्त परिवार के सदस्य परिवार मे निहित अपने उत्तरा-धिकारो की धीरे धीरे माँग करने लगे। फल यह हुग्रा कि सयुक्त परिवार विभाजित होने लगे। बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ मे ही देश मे ऐसे कानून बनने लगे जिन्होने सयुक्त परिवार के सयुक्त ग्राधार को चोट पहुचाई। सयुक्त परिवार की स्थिरता के बने रहने का एक मूल कारण यह था कि पारिवारिक सम्पत्ति मे किसी सदस्य के वैयक्तिक ग्रधिकार नही थे। ग्रब कानून द्वारा कर्ज चुकाने के लिए कर्त्ता को सम्पत्ति बेचने का ग्रधिकार दे दिया गया। "हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, १६२६" के द्वारा सर्वप्रथम उन व्यक्तियो को परिवार की सम्पत्ति मे ग्रधिकार प्रदान किये गए, जो सयुक्त परिवार से पृथक् होकर रहना चाहते थे। 'गेन्स ग्रॉफ लर्निग एक्ट, १६३०" के द्वारा व्यक्ति की स्वय अर्जित सम्पत्ति की सीमा को काफी विस्तृत कर दिया गया। "हिन्दू स्त्रियो के सम्पत्ति विषयक ग्रधिकार ग्रधिनियम, १६३७" के द्वारा सयुक्त परिवार की सम्पत्ति मे स्त्रियो के ग्रधिकार को स्वीकार किया गया। परिवार की सम्पत्ति मे पति के समान ही पत्नी के ग्रधिकार को मान लेने से सयुक्त परिवार का परम्परागत पितृवशी सयुक्त आधार ही टूट गया। सन् १६५४ मे 'विशेष विवाह ग्रधिनियम" को सशोधित कर किसी भी जाति एव धर्म के स्त्री-पुरुष को वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने की ग्राज्ञा प्रदान की गई। सन् १६५५ मे पारित "हिन्दू विवाह ग्रौर विवाह विच्छेद ग्रधिनियम" के द्वारा स्त्री-पुरुष को समान रूप से विवाह विच्छेद सम्बन्धी ग्रधिकार प्रदान किए गए एव वैवाहिक निर्योग्यताग्रो को दूर कर दिया गया। सन् १६५६ मे पारित 'हिन्दू उत्तराधिकार ग्रधिनियम" के द्वारा स्त्रियो को भी पुरुषो के समान ही सम्पत्ति सम्बन्धी ग्रधिकार दिए गए ग्रौर सयुक्त परिवार के मिताक्षरा एव दायभाग के भेद को समाप्त कर दिया गया। "ग्रवयस्क बच्चा की सरक्षकता ग्रधिनियम" भी इसी वर्ष पास किया गया, जिसके द्वारा परिवार मे नाबा-लिग बच्चो के ग्रार्थिक हितो को सरक्षण प्रदान किया गया। इन सब सामाजिक कानूनो ने सयुक्त परिवार मे उन सब परिवर्तनो को पनपने का अवसर प्रदान किया जो नवीन सामाजिक-ग्रार्थिक परिस्थितियो के फलस्वरूप सयुक्त परिवार मे ग्रकुरित हुए थे।

५ पारिवारिक झगडे (Familial Quarrels)

पारिवारिक झगडो ने सयुक्त परिवार के रूपान्तरण मे योग दिया है। एक सयुक्त परिवार मे कई पीढियो के सदस्यो के एकसाथ रहने से उनमे विचारो, मनोवृत्तियो एव आदर्शों की दृष्टि से अन्तर पाया जा सकता है, जो कई बार आपसी तनाव और पारिवारिक झगडो का कारण बन जाता है। सयुक्त परिवार म साधारणत स्त्रियो की ओर से झगडे प्रारम्भ होते हैं क्योकि सास बहू या देवरानी जेठानी म विभिन्न मूल-परिवारो से आने के कारण स्वभाव सम्बन्धी अन्तर पाए जाते है। अधिकतर झगडे प्राय व्यय को लकर खडे होते हैं। यदि एक सदस्य अधिक कमाता है और दूसरा सदस्य कम और यदि कम कमाने वाले के बच्चे अधिक है, तो उस दशा मे अधिक कमाने वाले सदस्य की पत्नी इस स्थिति से असन्तुष्ट रहती है, वह कम कमाने वाले सदस्य की पत्नी को समय-समय पर ताने मारती है। इसके अतिरिक्त बच्चो अथवा पारिवारिक श्रम के वितरण को लेकर छोटी छोटी बातो पर स्त्रियो म झगडे हो जाते हैं। इन झगडों का प्रभाव पुरुष सदस्यो पर अनिवार्यत पडता है। झगडो के बढने से सयुक्त परिवार का वातावरण दूषित तथा सुख और शान्ति नष्ट हो जाती है। यदि परिवार के मुखिया का सब सदस्यों के साथ समान बर्ताव नही रहता और वह पक्षपात पूर्ण व्यवहार करता है, सभी सदस्यो की सुख सुविधाओ का समान रूप स ध्यान नहीं रखता है तो परिवार के अन्य सदस्यो का उस पर से विश्वास उठ जाता है, फलत सयुक्त परिवार टूटने लगता है। आज कई सयुक्त परिवारो म यह स्थिति देखने को मिलती है।

६. सयुक्त परिवार के कार्यो का घटना (Reduction of Functions).

आधुनिक समय म सयुक्त परिवार क बहुत-से काय अन्य समितियो को हस्तान्तरित हो गए हैं। अब परिवार उत्पादन के केन्द्र नही रहे हैं। पहले परिवार के द्वारा व्यक्ति के लिए जो कुछ कार्य किए जाते थे, वे आजकल विभिन्न प्रकार क अन्य समूहो, क्लवो, सघो, शिक्षण समितियो आदि के द्वारा किये जात है। वर्तमान मे कपडो की धुलाई के लिए लान्ड्रियाँ सिलाई के लिए टेलरिंग हाउस तथा अनाज को कूटने-पीसने क लिए फ्लोरिंग मीन हैं। परिणामस्वरूप व्यक्ति का सयुक्त परिवार पर आश्रयण कम हुआ है, इसक प्रति उसकी निष्ठा म कमी आई है। व्यक्ति यह अनुभव करने लगा है कि सयुक्त परिवार स पृथक् होकर भी वह जीवन मे आग बढ सकता है, अपनी उन्नति और अधिक उत्तमता से कर सकता है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि अनेक आर्थिक-सामाजिक शक्तियो, पाश्चात्य आदर्शों और मूल्यो, आधुनिक शिक्षा और महिला-जागृति, पारिवारिक कलह और सामाजिक कानूनो न सयुक्त परिवार के आदर्श, सरचना और आधार पर चोट की है और उसमे अनेक आधारभूत परिवर्तन लाने मे योग दिया है। वतमान परिस्थितियो को देखत हुए यह कहा जा सकता है कि भविष्य मे सयुक्त परिवार को उसस परम्परागत रूप मे बनाए रखना सम्भव प्रतीत नहीं होता। परम्परागत सयुक्त परिवारो म प्राय स्त्री का स्थान नीचा रहा है, परन्तु भविष्य मे ऐसे परिवार का अस्तित्व, जहाँ स्त्री को निम्न समझा जाता हो, सदिग्ध मालूम पडता है। चाहे ऐसे सयुक्त परिवार टूट कर एकाकी परिवार न बनें, परन्तु समाज की बदलती हुई आवश्यकताओ के अनुसार इसकी सरचना और आदर्शों मे कुछ मौलिक परिवर्तनो का आना निश्चित है।

सयुक्त परिवार मे होने वाले परिवर्तनो को देखकर साधारणत. यह कहा जाता है कि यह विघटन-प्रक्रिया मे है। बहुत–से शिक्षित लोग तो यह मानने लगे हैं कि पाश्चात्य सस्कृति के सघात से भारत मे सयुक्त परिवार विघटित हो चुके हैं। ऐसे लोग सयुक्त परिवार को अप्रजातन्त्रीय मानते हैं और उसकी समाप्ति के पक्ष मे अपना मत प्रकट करते हैं। श्री के० एम० पन्नीकर की मान्यता है कि सयुक्त परिवार आदिवासी अवस्था को व्यक्त करता है, अत उसे समाप्त होना ही चाहिए।[32] उनका कथन है कि स्त्रियो द्वारा सामाजिक जीवन के सिद्धान्तो का पुनर्परीक्षण वर्तमान हिन्दू समाज के लिए एक महानतम चुनौती है, जिसके फलस्वरूप सयुक्त परिवार, जाति एव ग्राम जैसी समष्टिवादी सस्थाओ का विघटन हो रहा है। श्री आर० एन० सक्सेना के अनुसार, सयुक्त परिवार विषयक वास्तविक स्थिति यह है कि विघटन प्रक्रिया मे न होकर परिवर्तन प्रक्रिया मे है। इस सम्बन्ध मे श्री जी० एस० भट्ट ने लिखा है कि समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से यह मान्यता निर्मूल सिद्ध होती है कि जिस प्रकार वर्तमान योरोप मे औद्योगीकरण, शहरीकरण और स्थानान्तरण से उत्पन्न शक्तियो ने एकाकी परिवारो को जन्म दिया है और परिवार पर व्यक्ति की निर्भरता का अन्त कर दिया है, वैसे ही भारत मे यही परिवर्तनकारी शक्तियाँ दो विभिन्न समाजो मे, समान परिवर्तन को जन्म नहीं देती हैं। योरोप की औद्योगिकी और औद्योगीकरण को अपना करके भी जापान योरोप की प्रतिकृति नही बना।"""यदि परिवर्तनकारी शक्तियाँ तेजी से आती हैं, तो सहसा परिवर्तन के स्थान पर, धीरे धीरे रूपान्तरण होता है। भारत मे सयुक्त परिवार का विघटन न होकर रूपान्तरण हुआ है। भारत मे औद्योगीकरण, शहरीकरण और स्थानान्तरण जैसी परिवर्तनकारी शक्तियो का प्रवेश धीरे-धीरे हुआ है। इसी कारण, भारत की सामाजिक सस्थाएँ, एक ओर रूपान्तरित हुई हैं और दूसरी ओर ये परिवर्तनकारी शक्तियाँ और उनसे उत्पन्न होने वाला सामाजिक परिवर्तन, भारत की सस्थाओ से प्रभावित हुआ है।[33] स्पष्ट है कि भारत मे औद्योगीकरण, नगरीकरण और स्थानान्तरण जैसी परिवर्तनकारी शक्तियों का आगमन धीरे धीरे हुआ है जिसके परिणामस्वरूप भारत की सामाजिक सस्थाएँ रूपान्तरित हुई हैं, पूर्णत विघटित अथवा समाप्त नही।

सयुक्त परिवार परिवर्तन और चुनौती के मध्य

(Joint Family in the Change and Challenge)

परिवर्तनकारी शक्तियो के प्रभाव के कारण ऐसा प्रतीत होता है कि सयुक्त परिवार शीघ्र ही समाप्त हो जाएँगे, लेकिन शोध-कार्यों के आधार पर जो कुछ तथ्य उपलब्ध हैं, उनसे तो ऐसा ज्ञात होता है कि न तो यह सस्था समाप्त हुई है और न ही निकट भविष्य मे इसकी समाप्ति की कोई सम्भावना है। नगरीय क्षेत्रो मे रहने वाले शिक्षित लोग तक इसे बनाये रखने के पक्ष मे हैं। सन् १९३०–३२ मे के० टी० मरचेन्ट द्वारा विवाह और परिवार के सम्बन्ध मे, ४४६ ग्रेजुएट और १५३ बिना ग्रेजुएट लोगो के बदलते हुए दृष्टिकोणो का जो अध्ययन किया गया, उसके आधार पर पाया गया कि सम्पर्क किए गए कुल

---

32. K. M Pannikar, op. cit , pp. 18-19.
३३. जी एस. भट्ट, पूर्वउद्धृत, पृ ७८१—८२.

लोगो मे से ५६ प्रतिशत सयुक्त परिवार मे रहते हैं, ग्रेजुएट लोगो मे सयुक्त परिवार मे रहने वालो का प्रतिशत ६२ १ और बिना ग्रेजुएट लोगो मे यह प्रतिशत ३८ ५ ज्ञात हुआ। इस अध्ययन से यह भी पता चला कि सयुक्त परिवार मे रहने वाले लोगो मे से ४३ २ प्रतिशत लोगो ने सयुक्त परिवार के पक्ष मे और ३६ ५ प्रतिशत लोगो ने विपक्ष मे अपना मत व्यक्त किया। ग्रेजुएट और बिना ग्रेजुएट दोनो ही प्रकार के लोगो मे सयुक्त परिवार के समर्थको का अनुपात प्राय समान पाया गया, जिससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आधुनिक शिक्षा के प्रभाव के बावजूद भी लोगो के दृष्टिकोण सयुक्त परिवार के पक्ष मे हैं, शिक्षित लोग निश्चित रूप से सयुक्त परिवार के विरुद्ध नहीं हैं।[34] डॉ० के० एम० कापडिया ने ५१३ ग्रेजुएट लोगो के साथ किए गए साक्षात्कार के आधार पर बताया है कि इनमे से ५७ ३ प्रतिशत लोग सयुक्त परिवारो म रह रहे थे। सयुक्त परिवार मे रहने वाले इन लोगो मे से ८६ प्रतिशत लोगो ने इसे एक अच्छी व्यवस्था माना और ८३ ३ प्रतिशत लोगो ने सयुक्त परिवार मे ही रहने की अपनी इच्छा व्यक्त की। केवल ११ ६ प्रतिशत ग्रेजुएट ही ऐसे पाए गए जो इसे अच्छी व्यवस्था नही मानते थे और इसे बनाए रखने के विरुद्ध थे। इन तथ्यो से ऐसा प्रतीत होता है कि शिक्षित हिन्दुओ मे करीब तीन चौथाई लोग अब भी सयुक्त परिवार मे रहते हैं और शिक्षित लोगो का आठवाँ भाग इस व्यवस्था से असन्तुष्ट है। स्पष्ट है कि इस अध्ययन मे भी शिक्षित लोग सयुक्त परिवार के पक्ष मे पाए गए। के० टी० मरचेन्ट और डॉ० कापडिया के अध्ययनो के आधार पर यह ज्ञात होता है कि इन दोनो अध्ययनो के बीच की २० वर्ष की अवधि मे सयुक्त परिवार मे रहने वाले स्नातको की सख्या मे करीब ५ प्रतिशत कमी हुई है। सयुक्त परिवार म रहने के इच्छुक लोगो की सख्या दुगुनी हो गई है जबकि इस व्यवस्था का विरोध करने वालो की सख्या आधी रह गई है।[35]

सन् १९५१ की जनगणना मे यह पाया गया कि कम सदस्यो वाले परिवारो की सख्या मे वृद्धि हुई है। इस आधार पर जनगणना-कमिश्नर द्वारा यह मत व्यक्त किया गया कि भारत मे सयुक्त परिवार विघटन प्रक्रिया मे है, यहाँ केवल शहरो मे ही नही बल्कि गाँवो मे भी सयुक्त परिवार का विघटन तेजी से हो रहा है। जनगणना सम्बन्धी आँकडो के आधार पर निकाले गए इन निष्कर्षों की अनेक समाजशास्त्रियो द्वारा कटु आलोचना की गई है। केवल सम्मिलित निवास-स्थान एव परिवार के आकार के आधार पर यह निष्कर्ष निकालना कि सयुक्त परिवार विघटित हो रहे हैं, तार्किक दृष्टि से उचित नही है। जनगणना विवरण, खण्ड १-१ ए और १ बी के पृष्ठ ५० पर दी गई जिस सारणी सख्या ६ के आधार पर ये निष्कर्ष निकाले गए हैं, वह सारणी दोषपूर्ण जनगणना का फल है। पृष्ठ ५० पर ही दी गई सारणी ७ मे १०० परिवारो के ४८७ सदस्यो मे से १२० सदस्य ऐसे सम्बन्धी हैं जो कर्ताओ के लडके एव लडकियाँ नही हैं। ये सदस्य भाइयो और बहनो की सन्तानें हो सकती हैं। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि सयुक्त परिवार विघटित नहीं हो रहा है, वह आज भी सशक्त है।

---

34 K T Merchant, Changing Views on Marriage and Family, pp 128 278

35 K M Kapadia, op cit, P 260

प्रो० आई० पी० देसाई ने जनगणना सम्बन्धी उपर्युक्त निष्कर्षों की आलोचना की है। आपने सौराष्ट्र के 'महुआ' नामक छोटे नगर मे परिवार मे होने वाले परिवर्तनो के सम्बन्ध मे ४१० परिवारो के अध्ययन के आधार पर महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले हैं।[36] आपने उस परिवार को एकाकी परिवार माना है जिसके सदस्य दूसरे बन्धुओ से सम्पत्ति या आय या इनसे सम्बन्धित अधिकारो एव कर्त्तव्यो द्वारा सम्बन्धित न हो, जैसी कि बन्धुता से सम्बद्ध लोगो से अपेक्षा की जाती है। दूसरी ओर, उस परिवार को आपने सयुक्त परिवार कहा है जिसमे पीढियो की गहराई (तीन या अधिक) एकाकी परिवार की तुलना मे अधिक हो एव जिसके सदस्य सम्पत्ति, आय और पारस्परिक अधिकारों और कर्त्तव्यो द्वारा एक दूसरे से सम्बन्धित हो। उन्होने निष्कर्ष निकाला है कि यदि हम निवास स्थानीय केन्द्रीय समूह को केन्द्रीय परिवार मान लेते हैं, तो करीब ५३ प्रतिशत परिवार केन्द्रीय परिवार है। करीब ६३ प्रतिशत परिवार पति-पत्नी बच्चो वाले समूह हैं। इस तरह हम कह सकते हैं कि पति पत्नी और सन्तान-समूह ही परिवारो के निवास स्थानीय और बनावट सम्बन्धी प्रतिमान मे प्रमुख हैं। हमे यह कहने का प्रलोभन हो रहा है कि नाभिकता बढती जा रही है और सयुक्तता कम होती जा रही है। फिर भी, परिवार सम्बन्धी *जो परिभाषा हमने दी है, उसके अनुसार केवल २८ प्रतिशत परिवार ही एकाकी* (नाभिक) परिवार होंगे और ७२ प्रतिशत सयुक्त परिवार। यदि हम विभिन्न किस्म के परिवारो के प्रभाव मे रहने वाले व्यक्तियो की सख्या की ओर ध्यान दें, तो पायेंगे कि कुल व्यक्तियो की सख्या मे से केवल २३ प्रतिशत लोग ही एकाकी परिवारो के प्रभाव मे हैं, शेष ७७ प्रतिशत व्यक्ति किसी एक अथवा दूसरे तरीके से सयुक्तता के प्रभाव मे हैं। प्रो० देसाई का कथन है कि ४७ प्रतिशत परिवार ऐसे हैं जिनमे विवाहित पुत्र अथवा भाई साथ-साथ रहते हैं और अन्य १८ प्रतिशत परिवारो मे जहाँ वे पृथक् मे रहते हैं, ऐसा वे विवाह के कारण नही बल्कि व्यावसायिक एव आर्थिक आवश्यकताओ के कारण करते हैं। वे सम्पत्ति एव आय की दृष्टि से अब भी सयुक्त रूप मे चलत है। प्रो० देसाई के इस कथन के निष्कर्ष के आधार पर भारत म सयुक्त परिवार के भविष्य के सम्बन्ध मे अनुमान लगाया जा सकता है। प्रो० देसाई द्वारा सौराष्ट्र के महुआ और स्वय द्वारा गुजरात के नवसारी नामक दो छोटे अर्द्ध-औद्योगीकृत नगरो के परिवारो के अध्ययनो के आधार पर डॉ० कापडिया ने बताया है कि इनमे पाया जाने वाला सयुक्त परिवारो का ऊँचा अनुपात, भारत मे सयुक्त परिवार क अस्तित्व की सम्भावना के सम्बन्ध मे किसी भी प्रकार की भविष्यवाणी के लिए महत्त्वपूर्ण है।[37] प्रो० देसाई ने महुआ के अध्ययन के आधार पर बतलाया है कि किसी विशिष्ट जाति से परिवार की सयुक्तता सम्बन्धित नही है। इतना अवश्य है कि अन्य व्यवसायो म लगी हुई जातियो की तुलना मे व्यापार और कृषि कार्यों मे लगी हुई जातियो म सयुक्तता अधिक पाई जाती है। आपका कथन है कि दो-तरफा प्रक्रिया सयुक्तता से नाभिकता की ओर, और नाभिकता से सयुक्तता की ओर अभी भी चालू है और वह सयुक्तता के पक्ष मे कार्य कर सकती है क्योकि हमने

36. I P Desai, Sociological Bulletin, Vol V, No ii, P 148
37 K. M Kapadia op cit, P 264

देखा है कि सयुक्त रूप मे रहने के विचार को लोग अब भी सजोए हुए हैं। सयुक्त रूप मे रहने की वांछा मे विश्वास काफी व्यापक रूप मे पाया गया।[38]

रॉस ने बगलौर के नगरीय क्षेत्र मे मध्यम तथा उच्च वर्ग के १५७ पुरुषो तथा स्त्रियो के साथ किये गए साक्षात्कार (Interview) के आधार पर निष्कर्ष निकाला है कि यदि प्रौद्योगिक शक्तिया पूर्ण सख्या मे पारिवारिक सरचना पर अतिक्रमण करती हैं, तो वह बदलेगा।[39] आगे आपने बतलाया है कि छोटी पारिवारिक ईकाइयो को प्रोत्साहित करने वाले नवीन कारक ये हैं उच्च शिक्षा के अवसर, बढी हुई महत्वाकाक्षाएँ, उच्च व्यावसायिक गतिशीलता, रहन-सहन के उच्च स्तर की इच्छा, अधिक व्यक्तिवादिता, और अधिक स्वतन्त्रता। परिवार के पुराने स्वरूपो को बनाये रखने मे सहायता पहुचाने वाले कारक ये हैं स्नेह तथा उत्तरदायित्व की परम्परागत अभिवृत्तिया, आर्थिक असुरक्षा, तथा जीवन निर्वाह के लिए अधिक लागत। श्री एम० एस० गोरे ने शहरी व ग्रामीण दोनो प्रकार के परिवारो का अध्ययन किया। आपने अपने अध्ययन हेतु हरियाणा राज्य के रोहतक जिले के ३६६ अग्रवाल परिवारो को मुख्य निदर्शन के लिए और दिल्ली क्षेत्र के १०० अग्रवाल परिवारो को अतिरिक्त निदर्शन के रूप मे चुना। अपने अध्ययन के आधार पर आपने दो निष्कर्ष निकाले हैं। प्रथम, निदर्शन समग्र रूप मे अब भी व्यवहार, भूमिका बोध एव अभिवृत्ति (Attitude) की दृष्टि से अधिकतर सयुक्त पारिवारिक प्रतिमान के अनुरूप है। द्वितीय, अनुरूपता के इस व्यापक प्रतिमान के अन्तर्गत नगरीय निवास एव शिक्षा ने कुछ मात्रा मे विभेद आरम्भ कर दिया है।[40] आपका कथन है कि हमारे तथ्य यह प्रकट करते हैं कि नगरीय क्षेत्रो मे और भारत म अधिक शिक्षित लोगों मे भ्रातृक सयुक्त परिवार को वशज सयुक्त परिवार की तुलना म कम समर्थन प्राप्त होने की सम्भावना है। इस बात की पुष्टि नवसारी के कापडिया द्वारा और बगलौर के मध्यम-वर्गीय परिवारो के रॉस द्वारा प्राप्त तथ्यो से भी होती है।

महाराष्ट्र के पूना जिले के हवेली तालुका में लोनीखण्ड नामक ग्राम की पारिवारिक सरचना के सम्बन्ध मे १८१६, १९५८ और १९६७ मे प्राप्त किए गए तथ्यो के आधार पर पी० एम० कोलिन्डा ने कुछ महत्वपूर्ण निष्कर्ष प्रस्तुत किए हैं। पिछली डेढ शताब्दी मे लोनीखण्ड मे जीवन के स्वरूप मे कोई गहन परिवर्तन आया हो, ऐसी कोई बात नही है। हमारे आकडे जो कुछ प्रकट करते हैं, वह यह है कि सयुक्त परिवार-सुनिर्वाह (Joint Family living) मे कमी नही आई है। १८१६ मे करीब-करीब समान और सम्भवत आनुपातिक रूप से १९६७ की तुलना मे थोडे सयुक्त परिवार थे। हमारे आकडे बतलाते हैं कि उस समय अब के बजाय सपूरक (Supplemented) नाभिक परिवार अधिक थ

---

38 I P Desai, Some Aspects of Family in Mahuva, pp. 146—147

39 Aileen Ross, The Hindu Family in its Urban Setting

40 M S Gore, Urbanization and Family Change, P 232

जबकि नाभिक परिवार थोड़े थे। इतना स्पष्ट है कि १६६७ की तुलना मे १८१६ मे अधिक सयुक्त परिवार नही थे।[41]

डॉ० कापडिया ने लिखा है कि यद्यपि युवा पीढ़ी अक्सर सयुक्त परिवार के दमघोटू वातावरण की शिकायत करती है, तथापि साथ ही ऐसा प्रतीत होता है कि वह सयुक्त रूप मे रहने के कुछ लाभो के प्रति जागरूक है, जैसे आर्थिक सहायता, सकट की परिस्थितियो मे आश्रय, छोटे बच्चो का उचित पालन पोषण, पति-पत्नी मे सघर्ष की स्थिति मे निरोधक प्रभाव आदि। सक्षेप मे, सयुक्त परिवार अब भी अपने सदस्यो की आवश्यकताओ की पूर्ति करने के योग्य हैं। इसी कारण बहुत-से लोग आज भी सयुक्त परिवार से मनोवैज्ञानिक *दृष्टि से पृथक् होने को तैयार नही हैं। जो असन्तोष पाया जाता है, वह इस* व्यवस्था के विरुद्ध इतना नही है, जितना उस वातावरण के जो परिवार के कुछ सदस्यो के व्यवहार प्रतिमान के कारण उत्पन्न है। इस सम्बन्ध मे आवश्यकता समझौते और अनुकूलन की है।[42] अग्रवाल परिवारो के अध्ययन के आधार पर डॉ० एम० एस० गोरे ने भी इसी प्रकार के निष्कर्ष निकाले हैं। यदि सयुक्त परिवार सम्बन्धी उपलब्ध साहित्य का अध्ययन किया जाय, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि इसमे सरचनात्मक दृष्टि से कुछ परिवर्तन आ रहे हैं, लेकिन अभिवृत्ति सम्बन्धी परिवर्तनो का आना कठिन है। श्री बी०के० रामानुजम् ने कहा है कि अधिक महत्त्वपूर्ण यह है कि यदि सरचनात्मक दृष्टि से सयुक्त परिवार नाभिक परिवारो मे टूटता भी है, तो भी प्रकार्यात्मक दृष्टि से परिवार के सभी सदस्य उसके प्रति निष्ठा के रूप मे सयुक्तता' को बनाए रखते हैं। क्षेत्र मे बहुत-से कार्यकर्ताओ ने पता लगाया है कि विशेष अवसरो, जैसे-जन्म, विवाह, मृत्यु अथवा धार्मिक उत्सवो पर, सम्पूर्ण परिवार इकट्ठा हो जाता है। वित्तीय एव अन्य दायित्वों तक को भी सब अपनी सामर्थ्य के अनुसार निभाते हैं। अन्त पृथक् होने के बाद भी मूल परिवार के साथ उनका शक्तिशाली उद्वेगात्मक सम्बन्ध पाया जाता है।[43] ए० एम० शाह ने गुजरात के राधवानाज (Radhvanaj) ग्राम के परिवारो के अपने अध्ययन तथा साथ ही सम्बन्धित साहित्य की समीक्षा के आधार पर बतलाया है कि पैतृक नातेदारो (Patrikin) तथा उनकी पत्नियो का निवासीय एकता का सिद्धान्त (Principle of the residential unity) नीची तथा कम सस्कृतिकृत जातियो मे कमजोर है, और उच्च तथा अधिक सस्कृतिकृत जातियो मे मजबूत है।[44] शाह की मान्यता है कि उच्च जातियो मे निम्न जातियो की तुलना मे सयुक्त परिवार अधिक पाये जाते हैं।

शोध कार्यों से प्रकट होता है कि यद्यपि सयुक्त परिवार पर अनेक आधुनिक शक्तिया अपना प्रभाव डाल रही है तथापि नगरीय क्षेत्रो के शिक्षित लोगो तक मे भी सयुक्त

---

41. Pauline Mahar Kolenda's article, Family structure in village, Lonikhand, India 1819, 1958 & 1967 Contributions to Indian Sociology, No IV December 1970, P 70
42 K M Kapadia, op cit, (third ed), pp 291-292.
43 B K Ramanujam, 'The Indian Family in Transition', The Indian Family in the Change and Challenge of the Seventies, P 23
44. A M Shah, The Household *dimensions of the Family in India*, (1973), p 162

परिवार अभी तक समाप्त नही हुए हैं और न ही सब लोग ऐसे परिवारो के विरुद्ध हैं। अभी तक सयुक्त परिवार सम्बन्धी जो कुछ तथ्य उपलब्ध हैं, वे अपर्याप्त हैं और उनके आधार पर भारत में सयुक्त परिवार के भविष्य के सम्बन्ध मे कोई अन्तिम निष्कर्ष नही निकाला जा सकता। विभिन्न अध्ययनो के आधार पर प्राप्त निष्कर्षों की वैज्ञानिक दृष्टि से तुलना करना भी कठिन है क्योंकि सब अध्ययनो मे सयुक्त परिवार की एक सी परिभाषा नही अपनाई गई है। डॉ० आर० एन० सक्सेना ने लिखा है कि वर्तमान सयुक्त परिवार का वास्तविक रूप एक परिवार के सदस्यो के पारस्परिक सम्बन्धो मे है न कि सम्मिलित निवास स्थान, सम्पत्ति और रसोई मे। यह निश्चय है कि आज सयुक्त परिवार-विभाजन की सख्या बढ़ गई है, पर प्रत्येक विभाजित सयुक्त परिवार कालान्तर मे कई नए सयुक्त परिवारो को जन्म देता है। ...... कुछ भी हो, आज भी हिन्दू परिवार वृद्ध माता-पिताओ को सामाजिक सुरक्षा प्रदान करता है और कुसमय मे व्यक्ति को आर्थिक तथा सामाजिक सरक्षरण। विधवाओ और परित्यक्ताओ को बहुधा अपने माता-पिता के परिवार मे ही शरण मिलती है और आज भी ऐसे कितने ही परिवार मिलेंगे जिनमें पुत्रियो या बहनो की सन्तान परिवार के सदस्य हैं।[४५]

वर्तमान समय मे सयुक्त परिवार के परम्परागत लक्षणो, जैसे—कई पीढ़ियो के सदस्यो का एकसाथ रहना, एक ही रसोई मे बना खाना खाना, सम्पत्ति का सहस्वामित्व, धार्मिक एव अन्य पारिवारिक अनुष्ठानो मे सम्मिलित रूप से भाग लेना आदि मे परिवर्तन हो रहे हैं। कुछ समाजशास्त्रियों की यह मान्यता है कि कई भाइयों के अलग-अलग रहने के उपरान्त भी यदि वे पारिवारिक सम्बन्धो, सामान्य सम्पत्ति एव पारम्परिक कर्त्तव्य-परायणता के आधार पर एक सूत्र से बधे हुए हैं तो भी उन्हे सयुक्त परिवार का सदस्य ही माना जाएगा। डॉ० इन्द्रदेव ने सयुक्त परिवार के भविष्य के सम्बन्ध मे लिखा है कि सयुक्त परिवार के ढाचे (Strucutre) मे विघटन अवश्य हो रहा है, पर उसके कार्यात्मक पक्ष (Functional aspect) मे नही। वास्तविकता यह प्रतीत होती है कि सयुक्त परिवार टूट कर सीधे शुद्ध व्यक्तिगत परिवार नही बन रहे हैं बल्कि परिवार के बहुत से ऐसे प्रकार बन रहे है जो न पूरी तरह से एक मे रख जा सकते हैं न दूसरे मे। इन्हे मध्यवर्ती प्रकार (Intermediary types) कहा जा सकता है।[४६] भारत मे जो नवीन प्रकार के परिवार बन रहे हैं, उन्हे चाहे किसी भी नाम से क्यो न पुकारा जाय, इतना निश्चित है कि उन्हे सयुक्त परिवार की एकाकी इकाइयो को अधिक स्वतन्त्रता देनी होगी। पारिवारिक मामलो मे स्त्री की राय को महत्त्व देना होगा और सम्बन्धो की जटिल व्यवस्था मे युवा सदस्यो को भाग लेने के लिए प्रोत्साहित करना होगा। यद्यपि डॉ० कापडिया ने शोध कार्यों के आधार पर लिखा है कि हिन्दू मनोवृत्तिया आज भी सयुक्त परिवार को अपने परम्परागत रूप मे बनाए रखना सम्भव नहीं है। इतना अवश्य है कि ग्रामीण समाज की सरचना और कृषि प्रधान अर्थ-व्यवस्था आज भी सयुक्त परिवार को बनाए रखने मे समर्थ है।

---

४५ डा० आर एन० सक्सेना, पूर्व उद्धृत, पृ. २० :
४६ डॉ० इन्द्रदेव, पूर्व उद्धृत, पृष्ठ १४।

डॉ० योगेन्द्र सिंह ने परिवर्तित पारिवारिक सरचना के सम्बन्ध मे बतलाया है कि भारत मे सयुक्त परिवारो की सरचना एव प्रकार्यों मे परिवर्तन एक समन्वयात्मक प्रतिमान (Reconcilia ory Pattern) का अनुसरण कर रहे हैं, एक ऐसा प्रतिमान जो कि भारतीय समाज मे सरचनात्मक परिवर्तनो मे सर्वसामान्य है। जीवन-साथी के चुनाव मे, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के सिद्धान्त का, विशेषत नगरीय परिवार मे, आज बढती हुई मात्रा मे माता-पिता की स्वीकृति द्वारा समाधान किया जा रहा है। मध्यमवर्गीय घरो मे पत्नी की, बाहर दफ्तरो एव स्कूलो मे काम करने की स्वतन्त्रता पति की स्वीकृति और कभी-कभी पति के या पत्नी के माता-पिता की स्वीकृति के परम्परागत ढाचे (Framework) मे ही क्रियाशील होती है। इस प्रकार के समन्वय, फिर भी बिना तनाव के नहीं होते जो कि सामाजिक परिवर्तन का एक अपरिहार्य (Inalienable) पक्ष है। इन परिवर्तनो के बावजूद भी सयुक्त परिवार की परम्परागत विश्व-दृष्टि (World-view) अब भी पायी जाती है।[47]

प्रो० आन्द्रे बिताई ने बताया है कि हिन्दू समाज मे अलग-अलग क्षेत्रो मे परिवार-सरचना भिन्न-भिन्न रही है। यह मान्यता कि सम्पूर्ण हिन्दू समाज मे सयुक्त परिवार प्रतिमान ही पाया जाता रहा है, वास्तविकता की दृष्टि से सही नहीं है। बडे सयुक्त परिवार जिनको हम परम्परागत रूप से हिन्दू समाज के विशिष्ट लक्षण के रूप मे मानते हैं, वास्तव मे उसके किसी भाग से सम्बन्धित रहे हैं। आपने बतलाया है कि उत्तरी भारत के गावो मे बडे सयुक्त परिवार राजपूत, जाट, भूमिहर तथा अन्य भू-स्वामी जातियो से ही परम्परागत रूप मे सम्बन्धित रहे हैं। कुछ व्यापारिक समुदाय भी बडे परिवारो से सम्बद्ध दिखलाई पडते हैं। इन वर्षों मे किये गए ग्राम-अध्ययनो से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि भू-स्वामी जातियो मे बडे परिवार अधिक सामान्य हैं, जबकि निम्न जातियो मे नाभिक परिवार तुलनात्मक दृष्टि से अधिक हैं।[48] गुडे ने भारतीय परिवार के सम्बन्ध मे निष्कर्ष के रूप मे बतलाया है, "एक निश्चित दिये हुए समय पर, अधिकांश भारतीय परिवारो की सयुक्त बनावट नहीं है, यह तथ्य फिर भी, यह प्रमाणित नहीं करता कि काफी परिवर्तन आया है, क्योकि अधिकाश परिवार भूतकाल मे भी सयुक्त नही थे, फिर भी, भारतीय मूल्य और प्रवृत्तिया अब भी सामान्यत सयुक्त परिवार के पक्ष मे है और सयुक्त परिवार मे अनेक महत्वपूर्ण सरचनात्मक परिवर्तन तथापि हो रहे हैं।[49]

विभिन्न अध्ययनों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सयुक्त परिवार परिवर्तन के मध्य है। इसके विभिन्न सरचनात्मक पक्षो मे परिवर्तन दिखलाई पड रहा है, इसके कई कार्य परिवर्तित परिस्थितियों मे बदल गये हैं। परन्तु फिर भी सयुक्त परिवार टूटा नहीं है, बल्कि चक्रीय प्रक्रिया के माध्यम से अपनी निरन्तरता को बनाये रख सका है।

---

47. Yogendra Singh, Modernization of Indian Tradition, p 184.

48. Andre Beteille, 'Family and Social Change in India & Other South Asian Countries', Economic weekly Annual, XVI (1964), p 238

49. William J Goode (68), The Family, pp 238-239.

प्रा० पी० देसाई तथा अन्य समाजशास्त्रियों का कथन है कि नाभिक परिवार संयुक्त परिवार चक्र में एक अवस्था है। संयुक्त परिवार से पृथक् होने वाले निर्मायक भाग प्रारम्भ में नाभिक परिवारों के रूप में होते हैं और कालान्तर में वे संयुक्त परिवार के रूप में विकसित हो जाते हैं। इस प्रकार विकास का नवीन चक्र पुनः प्रारम्भ हो जाता है। अतः यह कहा जा सकता है कि नाभिक परिवार को एक नवीन प्रकार की पारिवारिक संरचना मानने के बजाय संयुक्त परिवार व्यवस्था का एक भाग माना जाना चाहिए। रामकृष्ण मुखर्जी ने उपलब्ध सूचनाओं के आधार पर निष्कर्ष निकाला है कि "भारतीय समाज में केन्द्रीय प्रवृत्ति संयुक्त परिवार संगठन का जारी रखने की है जबकि संयुक्त संरचनाओं की समानान्तर शाखाओं को तोड़ देने की" और कि ऐसा कोई प्रमाण नहीं है कि समानान्तर प्रवृत्ति का स्थान निकट भविष्य में किसी अन्य के द्वारा लिया जा रहा है।[50] तात्पर्य यह है कि आज समानान्तर सम्बन्धियों अर्थात् विभिन्न भाइयों और उनकी सन्तानों को एक सूत्र में बाँधने वाले बन्धन शिथिल होते जा रहे हैं, अपने स्वयं के लड़के लड़कियों और पौत्र-पौत्रियों के प्रति प्रेम बढ़ता जा रहा है, पति-पत्नी के बीच स्नेहपूर्ण सम्बन्ध दृढ़ होते जा रहे हैं। यह परिवर्तन परम्परागत परिवार की संरचना को प्रभावित करने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

प्रश्न

१ संयुक्त परिवार से आप क्या समझते हैं ? संयुक्त परिवार में हो रहे परिवर्तन के कारणों का विवेचन कीजिए।

२ संयुक्त परिवार की परिभाषा दीजिए। आधुनिक हिन्दू परिवार किस सीमा तक संयुक्त रह गया है ?

३ हिन्दू संयुक्त परिवार के प्रमुख आदर्शों एवं उसकी महत्ता का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।

४ हिन्दू संयुक्त परिवार के प्रमुख लक्षणों एवं कार्यों की विवेचना कीजिए।

५ भारत में संयुक्त परिवार प्रणाली की प्रमुख विशेषताएँ क्या हैं ? क्या कार्यों की दृष्टि से भी संयुक्त परिवार विघटित हो रहे हैं ? अपने उत्तर के लिए कारण दीजिए।

६ हिन्दू संयुक्त परिवार के गुण एवं दोष क्या हैं ? क्या इसका तीव्रता से विघटन हो रहा है ? स्पष्ट कीजिए।

७ संयुक्त परिवार और नाभिक परिवार का भेद स्पष्ट कीजिए। दोनों में से आप कौन-सी व्यवस्था पसन्द करते हैं और क्यों ?

८ भारत में संयुक्त परिवार प्रथा कहाँ तक विघटित हो रही है ? कुछ महत्त्वपूर्ण अध्ययनों पर प्रकाश डालते हुए विवेचना कीजिए।

---

50 The Central tendency in Indian society is to pursue the joint family organization while shearing off the collateral ramifications of the joint structures and that there is evidence that the collatral tendency is going to be replaced by another in the near future Ramkrishna mukherjee, Family in India, A Perspective (1969), P 97

९ क्या हिन्दू सयुक्त परिवार सक्रमण की अवस्था मे हैं ? तर्कसहित उत्तर दीजिए ।

१०. हिन्दू सयुक्त परिवार मे हो रहे आधुनिक परिवर्तनो की व्याख्या कीजिए ।

११ भारतीय परिवार की सरचना तथा कार्यों मे परिवर्तन के कारणो की विवेचना कीजिए ।

१२ क्या सयुक्त परिवार टूट रहा है ? अपने उत्तर की पुष्टि मे तर्क दीजिए ।

१३ सयुक्त परिवार की सरचना और प्रकार्यों पर नागरीकरण और औद्योगीकरण के प्रभावो का विश्लेषण कीजिए ।

१४. भारत मे नगरीय परिवार पर औद्योगीकरण द्वारा पडने वाले प्रभाव का मूल्याकन कीजिये । अध्ययनो का उल्लेख कीजिए ।

□□□

अध्याय 16

पारिवारिक विघटन एवं पुनर्संगठन

(Family Disorganization & Reorganization)

परिवार एक ऐसी सामाजिक संस्था है जिसके द्वारा मानव की विविध आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। यह वस्तुत मानव समाज की एक मौलिक और सार्वभौमिक इकाई है। परिवार अनेक महत्त्वपूर्ण कार्यों को समय-समय पर करता रहा है। परिवार उसी अवस्था में अपने उद्देश्यों की पूर्ति सफलतापूर्वक कर सकता है जब इसके विभिन्न सदस्य अपने-अपने नियत कर्तव्यो का पालन करते हो और पारिवारिक प्रस्थितियो के अनुरूप भूमिका निभाते हो। जहां एक परिवार के विभिन्न सदस्यो के सम्बन्धों मे मधुरता हो, महत्त्वपूर्ण मामलो मे सदस्यो मे मतैक्यता हो, उनमे हितो, उद्देश्यो एव व्यक्तिगत महत्त्वाकाक्षाओ की दृष्टि से एकता हो तथा सभी सदस्य अपनी यौन इच्छाओ की पूर्ति केवल परिवार मे ही करते हों, उस परिवार को सगठित परिवार माना जा सकता है।

आधुनिक समय मे नवीन सामाजिक, आर्थिक एव सास्कृतिक परिस्थितियो के फलस्वरूप परिवार मे अनेक परिवर्तन आ रहे हैं। कई परिवारो मे मतैक्य का अभाव, पारिवारिक बन्धनो मे शिथिलता, दु ख एव कलहपूर्ण वातावरण पाया जाता है। ऐसे परिवारो मे सदस्यो के सम्बन्धो मे तनाव, एक-दूसरे के प्रति अश्रद्धा और कही-कही घृणा तक के भाव पाए जाते हैं। यद्यपि भौतिक दृष्टि से परिवार के सदस्य एक साथ रहते है तथापि एक-दूसरे के प्रति उनमे उदासीनता का भाव और अलगाव (Alienation) की भावना पाई जाती है। आज जबकि सामाजिक परिवर्तन बडी तेजी से हो रहे हैं, तो ऐसी दशा मे परिवार पर भी उन परिवर्तनो का तीव्रता के साथ प्रभाव पडना स्वाभाविक है। आधुनिक सभ्यता के परिणामस्वरूप लोगो के विचारो, भावनाओ, आदर्शों, मूल्यो एव अभिवृत्तियो मे द्रुतगति से परिवर्तन आ रहे हैं। इन परिवर्तनो से धीरे-धीरे लोगो के व्यवहारो एव क्रियाओं मे परिवर्तन आने लगता है। आज परिवार भी इनके प्रभाव से अछूता नही रहा है।

पारिवारिक विघटन का अर्थ

(Meaning of Family Disorganization)

परिस्थितियो के बदलने के साथ-साथ लोगो की आवश्यकताओ मे निरन्तर परिवर्तन आता रहता है। इन नवीन आवश्यकताओ के अनुसार, परिवार को समय-समय

पर अनुकूलन करना पडता है। लेकिन परिवार के आदर्श-प्रतिमानो, प्रथाओ, परम्पराओं और रूढियो मे तीव्रता के साथ परिवर्तन नही आ पाता है। जब लोग अपेक्षित व्यवहार से भिन्न प्रकार का व्यवहार करने लगते हैं तो विघटन की स्थिति पैदा हो जाती है जो व्यक्ति, परिवार और समाज को प्रभावित करती है।

परिवार के सदस्यो के मूल्यो और अभिवृत्तियो मे जब समानता का अभाव पाया जाता है, तो उसका प्रभाव उनकी क्रिया पर भी पडता है, उनके व्यवहार मे भी अन्तर आ जाता है। परिवार की एकता को बनाए रखने वाले कुछ मनोवैज्ञानिक कारक होते हैं और जब इन कारको का प्रभाव शिथिल हो जाता है, जब समूह को दृढता प्रदान करने वाली इनकी शक्ति कमजोर पड जाती है, जब पारिवारिक विघटन प्रारम्भ होता है। ऐसी स्थिति मे परिवार की शान्ति भग हो जाती है, छोटी छोटी बातो पर कलह एव सघर्ष होने लगते हैं। जब परिवार म एसा वातावरण बन जाता है, तो सदस्य अपने अपने कार्यों को एक-दूसरे के सहयोग से सफलतापूर्वक नही कर पाते हैं। पारिवारिक विघटन मे केवल पति पत्नी का तनाव ही नही आता है, इसके अन्तर्गत माता-पिता तथा सन्तान के बीच पाया जाने वाला तनाव भी सम्मिलित है। इस सम्बन्ध मे इलियट और मैरिल ने लिखा है, "विस्तृत अर्थ मे पारिवारिक विघटन विभिन्न प्रकार के परिवारो मे से किसी परिवार की अशान्तिमय क्रियाशीलता के रूप म सोचा जा सकता है। इस प्रकार पारिवारिक विघटन में केवल पति-पत्नी के बीच पाया जाने वाला तनाव ही नहीं आता है बल्कि बच्चो और माता पिता मे उत्पन्न होने वाला तनाव भी आता है।"[1] परिवार म आधारभूत सम्बन्ध पति-पत्नी का सम्बन्ध ही होता है और जब इनम मूल्यो की विभिन्नता के कारण एक दूसरे के प्रति आशानुरूप व्यवहार का अभाव पाया जाता है, जब वे आचरण के सामाजिक दृष्टि से स्वीकृति नियमो के विपरीत काय करन लगते हैं, तब पारिवारिक विघटन की स्थिति उत्पन्न होती है। इलियट और मैरिल न पारिवारिक विघटन का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा है कि "एक प्रकार्यात्मक इकाई के रूप मे परिवार का अस्तित्व अनेक व्यक्तिगत सम्बन्धो की निरन्तरता पर निर्भर करता है। ये सम्बन्ध पारस्परिक होते हैं। प्रत्येक सदस्य दूसरो के साथ सहयोग करता हुआ अपनी भूमिका निभाता है। इन समूह सम्बन्धो का टूटना ही पारिवारिक विघटन है।"[2]

श्री मार्टिन न्यूमयर ने पारिवारिक विघटन के सम्बन्ध म लिखा है कि विस्तृत अर्थ मे, पारिवारिक विघटन का तात्पर्य मतैक्य और निष्ठा का भग होना है, अक्सर पहले के सम्बन्धों का टूट जाना या पारिवारिक चेतना का नष्ट हो जाना और अनासक्ति (Detachment) का विकास है।' सकुचित अर्थ म पारिवारिक विघटन उस प्रक्रिया का ज्ञान कराता है जिसका अन्त एक टूटे परिवार म होता है। जब वैवाहिक सम्बन्ध, पृथक् हो जान, छोड देने अथवा तलाक के कारण विचलित एव विच्छिन्न हो

---

1 Elliott and Merrill Social Disorganization," P 332

2 Ibid, P 333

गया हो या मृत्यु के कारण समाप्त हो चुका हो, तो उस दशा मे परिवार टूट जाता है, यद्यपि परिवार के शेष सदस्य तब भी एक घर बनाये रखते हैं।[3]

स्पष्ट है कि परिवार के कार्यों मे असन्तुलन की स्थिति का होना ही पारिवारिक विघटन है। जब परिवार के सदस्यो के बीच तनाव रहता है, उनमे पारम्परिक कर्त्तव्य-परायणता का बन्धन शिथिल होने लगता है, वे मान्यता-प्राप्त नियमो के विपरीत आचरण करने लगते हैं और पारिवारिक आदर्श प्रतिमानो का प्रभाव हटने लगता है, तब पारिवारिक विघटन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। साधारणत लोग परित्याग, पृथक्करण, विवाह-विच्छेद अथवा शारीरिक हिंसा आदि के बाह्य लक्षणो के आधार पर ही किसी परिवार को विघटित परिवार मानते हैं, जबकि वास्तविकता यह है कि ये लक्षण तो घनिष्ठ पारिवारिक सम्बन्धो के टूटने के द्योतक हैं। कई बार व्यक्तिगत सम्बन्धो के न्यूनतम मात्रा मे पाये जाने पर भी, पति-पत्नी मे प्रेम के पूर्णत लोप हो जाने के उपरान्त भी अनेक सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक कारणो अथवा दबावो से पारिवारिक जीवन सामान्य-सा चलता प्रतीत होता है, किन्तु वास्तविकता इसके विपरीत होती है। बच्चो के प्रति अपने कर्त्तव्य को ध्यान मे रखकर भी बहुत-से पति-पत्नी परिवार मे बने रहते हैं यद्यपि एक प्रकार्यात्मक रूप में उसका महत्त्व काफी पहले ही समाप्त हो चुका होता है। कई बार माता पिता की भावनाओ को ठेस न पहुँचाने की दृष्टि से भी पति-पत्नी अपने कटु सम्बन्धो के उपरात भी पारिवारिक सम्बन्धों को पूर्णत समाप्त नही कर लेते। इन स्थितियों मे यद्यपि परिवार का बाहरी आवरण बना रहता है तथापि भीतर से वह खोखला हो चुका होता है। ऐसे परिवार म सदस्यों की भावनात्मक अभिरुचियो की पूर्ति सम्भव नहीं हो पाती है। स्पष्ट है कि एक परिवार के सदस्यो के एकसाथ रहने मात्र से यह परिवार सगठित परिवार नही हो जाता। एक विघटित परिवार में भी सदस्य अनेकानेक कारणो से एकसाथ रहते हुए पाये जाते हैं, परन्तु उनमे विचारो, आदर्शों एव उद्देश्यों की दृष्टि से एक दूसरे से काफी दूरी होती है, उनम प्रेम, सहानुभूति और सहयोग का अभाव पाया जाता है।

कुछ समय पूर्व तक परिवार ही सब प्रकार की आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक एव सास्कृतिक क्रियाओं का केन्द्र था। सभी सदस्य एक-दूसरे के सहयोग से मिलजुल कर काम करते थे और उनका अधिकतर समय परिवार मे ही व्यतीत होता था। परन्तु औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप परिवार के आर्थिक कार्यों का महत्त्व कम होने लगा। बडी-बडी मिलो के स्थापित होने से परिवार मे चलने वाले गृह उद्योग नष्ट होने लगे और पति को अपनी आजीविका हेतु फैक्ट्री मे जाना पडा। अब स्त्री का कार्य बच्चों की देख-रेख करना, खाना पकाना एव घर का प्रबन्ध करना मात्र रह गया। औद्योगिक-क्रान्ति के कारण परिवार के अनेक कार्य धीरे-धीरे अन्य समितियो ने छीन लिए। परिणाम यह हुआ कि स्त्रियों को भी बाध्य होकर कार्य की तलाश मे घर के बाहर जाना पडा। ऐसी स्थिति मे पति पत्नी को काफी समय तक एक दूसरे से अलग रहने के लिए विवश होना पडा। कारखानों में विभिन्न स्त्री-पुरुषों को एक-दूसरे के सम्पर्क मे आने और आपसी

---

3 Martin H Neumeyer 'Social Change in Modern Society,' P 189

सम्बन्ध बढाने का अवसर मिला। इस सारी स्थिति ने परिवार को अनेक रूपो में प्रभावित किया है जिसमे सदस्या के आपसी सम्बन्ध भी आ जाते हैं।

पारिवारिक विघटन के लक्षण

(Symptoms of Family Disorganization)

पारिवारिक सगठन को बनाए रखने वाले कारक जब ठीक प्रकार से कार्य नही करते, तब पारिवारिक विघटन के लक्षण दिखाई पडने लगत हैं। पारिवारिक विघटन के प्रमुख लक्षण निम्नलिखित हैं

१ हितो की एकता का अभाव (Lack of Unity of Interests)

एक सगठित परिवार म सभी सदस्य एक दूसरे के हितो को अपना हित समझत हैं जबकि विघटित परिवार मे इसक विपरीत अवस्था पाई जाती है। जब परिवार के सदस्य एक दूसरे के हितो को अपना हित नही समझत अर्थात् दूसरे सदस्यो क हितो का ध्यान नही रखते और स्वय के हितो पर आवश्यकता से अधिक आर देते हैं, तब पारिवारिक विघटन आरम्भ हो जाता है। जब व्यक्ति दूसरो के हिता की अवहेलना करता हुआ अपने ही स्वार्थों की पूति मे लग जाता है ता एसी अवस्था म पारिवारिक एकता समाप्त हो जाती है और परिवार का विघटन हाने लगता है।

२ पारिवारिक उद्देश्यो की एकता का अभाव (Lack of Unity of Familial Objectives)

परिवार का समय समय पर अनक प्रकार की समस्याओ का सामना करना पडता है। इन समस्याओ पर परिवार क विभिन्न व्यक्तियो म मतैक्य का हाना आवश्यक है अर्थात् इन समस्याओ का हल करन के लिए उठाए जाने वाले कदमो क सम्बन्ध म परिवार के सभी सदस्यो की एक राय हानी चाहिए। ऐसा न हान पर पारिवारिक विघटन प्रारम्भ हा जाता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि पारिवारिक उद्देश्यो मे एकता का अभाव हाना पारिवारिक विघटन का एक प्रमुख लक्षण है।

३ यौन-इच्छाओ की पूर्ति परिवार के बाहर (Fulfilment of Sex desires Outside the Family)

सगठित परिवार मे पति-पत्नी अपनी यौन इच्छाओ की पूर्ति एक दूसरे स ही करत हैं। जब परिवार क दायरे म यौन इच्छाओ की स तुष्टि नही हानी, तो सन्देह, तनाव और सघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है और पारिवारिक विघटन शुरू हा जाता है। स्पष्ट है कि यौन इच्छाआ की पूति परिवार के बाहर करना पारिवारिक विघटन को निमन्त्रण देना है।

४ विरोधी व्यक्तिगत महत्त्वाकाक्षाएँ (Opposite Personal Ambitions)

परिवार क प्रत्यक सदस्य की कुछ न कुछ महत्त्वाकाक्षाए अवश्य हाती है और वह उनकी सन्तुष्टि भी चाहता है लकिन परिवार क आर्थिक साधना के सीमित हाने स सभी सदस्यो की विविध महत्त्वाकाक्षाओ की पूर्ति सम्भव नही होती है। धन समय और साधनो की सीमाओ का दृष्टि म रखते हुए सभी सदस्यो को विभि न सदस्यो की कुछ महत्वपूर्ण महत्त्वाकाक्षाओ को प्राथमिकता देनी पडती है एक दूसरे क लिए कुछ त्याग

करना पडता है, लेकिन जहा दूसरो की महत्त्वाकाक्षाओ की उपेक्षा करते हुए प्रत्येक सदस्य स्वय की महत्त्वाकाक्षाओ को सर्वोपरि मान कर उनकी पूर्ति चाहता है, वहा पारिवारिक सगठन का बना रहना सम्भव नही होता। विरोधी पारिवारिक महत्त्वाकाक्षाए पारिवारिक विघटन को जन्म देती है।

पारिवारिक विघटन और सामाजिक संरचना

(Family Disorganization and Social Structure)

टॉलकट पारसन्स ने कहा है कि पारिवारिक विघटन सामाजिक सरचना मे होने वाले परिवर्तनो से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है।[4] विवाह के पश्चात् पति एव पत्नी दोनो को ही नवीन प्रस्थिति और भूमिकाए प्राप्त हो जाती है; जिन्हे उनको अपने भावी जीवन मे निभाना होता है। सदियो तक पारिवारिक सरचना के परम्परागत प्रतिमान मे कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नही हुए तथा पति-पत्नी समाज की अपेक्षाओ के अनुरूप परम्परागत तरीके से अपनी भूमिकाए अदा करते रहे। लेकिन आज परिस्थितिया इतनी तेजी से बदलती जा रही है कि पति-पत्नी के लिए यह अनुमान लगाना कठिन हो गया है कि उनसे क्या आशाए की जा रही है; उन्हे कौनसे कार्य करने है और कौनसे नही; किन भूमिकाओ को निभाना है और किन को नही। इस परिस्थिति मे पति-पत्नी के लिए यह पता लगाना बहुत कठिन हो गया है कि उनसे परिवार और समाज किस प्रकार के व्यवहार की अपेक्षा करता है। व्यवहार के पुराने प्रतिमान बदल चुके है और नवीन प्रतिमान पूरी तरह स्थापित नही हो पाए है। भूमिका सम्बन्धी प्रतिमानो का यह विघटन कुछ अशो म परिवारो को तोड़ने के लिए उत्तरदायी है।

सस्कृति मे मान्य तरीको के अनुसार अपनी वैवाहिक भूमिकाओ को निभाना अच्छे पति-पत्नियो के लिए आवश्यक होता है। लेकिन आज समय परिवतन के कारण भूमिका सम्बन्धी अस्तव्यस्तता पाई जाती है। आज यह निश्चित करने म कठिनाई हो रही है कि पत्नी नौकरी करे या नही, बच्चो और वृद्ध माता-पिता की देख-रेख कौन करे और पारिवारिक प्रबन्ध का काय कौन सम्भाले। भूतकाल मे परिवार मे विभिन्न सदस्यो की भूमिकाए निश्चित थी, उनमे किसी प्रकार की भ्राति नही थी। परन्तु आज कौन किस भूमिका को निभाए और वही उस भूमिका का क्यो निभाए, इस सम्बन्ध मे अस्पष्टता एव भ्राति पाई जाती है। वस्तुतः बहुत-से सदस्य यह निश्चय नही कर पाते कि उन्हे क्या करना और क्या नही करना है, उनकी क्या भूमिकाए ह और उनसे क्या अपेक्षाए की जा रही है। भूमिका सम्बन्धी यह कठिनाई पत्नी के सम्मुख सर्वाधिक है। पति या पुरुष की भूमिका मे उतना अन्तर नही आया है, जितना पत्नी की भूमिका मे। पुरुष आज भी परिवार के लिए जीविका कमाने वाले तथा मुखिया के रूप मे भूमिका निभाता है। परन्तु पत्नी की भूमिकाए इतनी बढ चुकी है कि उसके लिए यह निश्चित करना बडा कठिन है कि वह क्या करे और क्या नही करे। यह सच है कि वह आज भी परिवार को

4 Talcott Parsons, "The social structure of the family," Chap. 10 in Ruth N Anshen (ed), The Family - Its Function and Destiny, 1949.

देखभाल करने वाली स्त्री और माता के रूप मे अपनी भूमिका अदा करती है, लेकिन साथ ही उससे अनेक नवीन अपेक्षाएं भी की जाती हैं। परिणाम यह हुआ है कि उससे अपेक्षित आचरण और उसके द्वारा किए जाने वाले आचरण मे अन्तर पाया जाता है। फलस्वरूप उसके व्यवहार मे जटिलता आ गई है। उसकी प्रस्थिति और भूमिका सम्बन्धी जटिलता के बारे मे कहा गया है कि अवसर वह नौकरी करती है, उच्च-शिक्षा ग्रहण करने में अधिक रुचि लेती है और पहले की तुलना मे अब उसके कम बच्चे हैं। इन भूमिकाओ के अतिरिक्त उससे एक संगिनी, सलाहकार, व्यावहारिक नर्स, भावुक प्रेम-पत्र, और गृह-स्वामिनी होने की अपेक्षा की जाती है। ये ऐसी प्रस्थितियां हैं जिनको सन्तोषप्रद ढग से पूर्ण करना कठिन है, चाहे उनकी जटिल प्रकृति के सम्बन्ध मे मतैक्य ही क्यो न हो।[5]

इलियट और मैरिल ने, आधुनिक पत्नी को जिन कठिन परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है उनका उल्लेख किया है। उनके अनुसार ऐसी परिस्थितियां तीन हैं (१) भूमिकाओ की विविधता (Multiplicity of Roles) (२) भूमिकाओ से असन्तोष (Dissatisfaction with Roles) व (३) भूमिकाओ का संघर्ष (Conflict of Roles)।[6] आज की युवा पत्नी भूमिकाओं की विविधता के कारण अपने कार्यों को पूर्ण कुशलता के साथ नहीं कर पाती है। परम्परागत पारिवारिक संरचना मे स्त्री की सीमित सर्व-स्वीकृत भूमिकाएं ही थी। लेकिन आज विविध व्यावसायिक और वर्गीय समूहो मे पत्नी से विभिन्न भूमिकाएं निभाने की अपेक्षा की जाती है। निम्न वर्ग मे मां और खाना पकाने वाली स्त्री के साथ साथ जीविका कमाने वाली स्त्री के रूप में भूमिका अदा करने की भी उससे अपेक्षा की जाती है। व्यापारिक समूहो मे पत्नी से संगिनी और साझेदार के रूप मे भूमिका निभाने की आशा की जाती है तो व्यावसायिक समूहो मे पत्नी से शिक्षित होने की अपेक्षा की जाती है ताकि वह पति को उसके कार्य म मदद दे सके। पत्नी से अपेक्षित भूमिकाओ की यह विविधता उसके सामने भ्रांति की स्थिति उत्पन्न कर देती है। परम्परागत भूमिकाओ के प्रति अनेक शिक्षित महिलाओ मे असन्तोष पाया जाता है। उच्च शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् वे घर मे रहकर केवल गृह की प्रबन्धक और माता के रूप मे ही अपनी भूमिका नही निभाना चाहती। आज उनके सम्मुख इतने अवसर उपस्थित हैं कि वे अपने पतियो के समान ही व्यापार, नौकरी और व्यावसायिक कार्यों मे स्वयं को लगाना चाहती हैं। कुछ समय पूर्व जब स्त्रियो को नौकरी की सुविधाएं प्राप्त नही थीं, तब वे अपने गृह-कार्यों से ही सन्तुष्ट थी। परन्तु आज जिन उच्च शिक्षा प्राप्त स्त्रियों को घरो मे ही रहकर अपनी भूमिका निभानी होती है, उनमें असन्तोष पाया जाता है। भूमिकाओ का संघर्ष पारिवारिक विघटन का मुख्य कारण बन जाता है। जिन परिवारो मे पति-पत्नी के परम्परागत कार्य सुनिश्चित होते हैं और दोनो ही अपनी-

---

5 Mirra Komarovsky, "Cultural Contradictions and Sex Roles," American Journal of Sociology 52 184—189 (Issue Nov 1946)

6 Elliott and Merrill op cit, P 337

अपनी भूमिकाओ से सन्तुष्ट होते हैं, वहा सघर्ष की स्थिति नही आती । परन्तु जहा पत्नी अपनी परम्परागत भूमिका से कुछ भिन्न प्रकार की भूमिका निभाना चाहती है, बच्चो की देख-भाल और घर के प्रबन्ध के अतिरिक्त नौकरी करना और पारिवारिक नीति-सम्बन्धी निर्णयो मे राय देना चाहती है, वहाँ कई बार सघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। यदि पत्नी नौकरी भी करती है और पति, सास ससुर और परिवार के अन्य सदस्य उससे पूर्ववत् सब प्रकार के पारिवारिक दायित्वो को निभाने की आशा करते हैं, तो पत्नी के लिए इन सब भूमिकाओ को एकसाथ निभा पाना सम्भव नही होगा, वह अपने कार्यों की विविधता के कारण सबको सन्तुष्ट नही कर पाएगी, परिणामस्वरूप असन्तोष और सघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जायेगी ।

स्पष्ट है कि वर्तमान समय मे पत्नी की प्रस्थिति और भूमिका मे काफी परिवर्तन आया है । पारिवारिक सदस्यो के लिए यह आवश्यक है कि वे इन परिवर्तित परिस्थितियो मे पत्नी की नवीन भूमिका को मान्यता प्रदान करें और उसके साथ अनुकूलन करें । पति और पत्नी स्वय एक-दूसरे की नवीन भूमिकाओ क प्रति सन्दिग्ध है, क्योकि विरोधी प्रतिमानो मे से अभी तक किसी एक को पूरी तरह स्वीकार नही किया जा सका है । एक अच्छी पत्नी के लिए अभी तक कोई सर्व-सम्मत अथवा सर्वमान्य भूमिका स्वीकार नही की जा सकी है जिसे स्वय उसके, परिवार के तथा समाज के लिए श्रेष्ठ माना जाए ।

आज वस्तुत परिवार वह नही रहा है जो कुछ समय पूर्व था । पति-पत्नी की परम्परागत प्रस्थितियो मे अन्तर आया है । अब वे कवल अपनी परम्परागत भूमिकाओ को ही अदा नहीं करते है । पारिवारिक सरचना की दृष्टि से इस परिवर्तन से कुछ लोग भयभीत है और वे सोचत है कि परिवार समाप्त हो रह हैं । परन्तु वस्तुत यह परिवार के पतन को व्यक्त न कर उसमे कुछ सदियो से प्रचलित परम्पराओ और ढाचे म होन वाले परिवर्तन को व्यक्त करता है । परम्परागत परिवार निश्चित रूप से परिवर्तन की प्रक्रिया से गुजर रहे हैं ।

पारिवारिक विघटन की प्रक्रिया
(The Process of Family Disorganization)

जब कभी कोई सकट की स्थिति उत्पन्न होती, परिस्थितियाँ बदलती, कमाने वाले की नौकरी छटती या परिवार का निवास स्थान परिवर्तित होता, परिवार म प्रथम बार बालक का जन्म होता अथवा इसी प्रकार की कोई अन्य परिस्थितियाँ पैदा होती है तो रहन-सहन के पुराने तरीको म कुछ परिवर्तन करना आवश्यक हो जाता है । इस नवीन परिस्थिति म थोडा-बहुत असमायोजन (Unadjustment) अवश्य ही पाया जाता है । यदि पति-पत्नी इस असमायोजन को स्वाभाविक मानकर समस्या को हल करन म पारस्परिक सहयोग देते हैं तब तो विघटन की स्थिति से बचा जा सकता है । लेकिन जहा पारिवारिक समस्याओं को सुलझाने मे दोनो का सक्रिय योग और नवीन परिस्थितियो मे अनुकूलन स्थापित करने की उनमे उत्सुकता नही होती है, वहाँ उनके दृष्टिकोणों म असन्तुलन और विरोध बढता जाता है । कई बार कइ कारणो से पृथक्करण अथवा तलाक द्वारा या पति-पत्नी अलग नही होत, परन्तु न तो उनमे पारस्परिक स्नेह

पाया जाता है और न ही लक्ष्यो की समानता। अनेक परिवार कई बार पारस्परिक सम्बन्ध पूरी तरह समाप्त नही कर पाते। वे कलहपूर्ण और असमायोजन की अवस्था मे भी सामाजिक दबाव, ईश्वर-भय, माता-पिता की अस्वीकृति, सन्तान हित या कुछ अन्य कारणो से एक दूसरे के साथ बने रहते हैं। ऐसे परिवार तलाक नही होने से यद्यपि टूटते नही हैं, तथापि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से वे विघटित परिवार ही कहलाते हैं। तलाक से विघटन को कानून द्वारा मान्यता प्राप्त हो जाती है। पृथक्करण, परित्याग और विवाह-विच्छेद वस्तुत विघटन के कारण न होकर इस प्रक्रिया के अन्तिम चरण है। जब एक बार कोई परिवार विघटित हो जाता है, तब पत्नी मे पुन समझौता कराना और उनकी विरोधी अभिरुचियो को एक दूसरे के अनुकूल बनाना बहुत कठिन होता है।

साधारणत यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक परिवार मे कुछ पारिवारिक सगठन को बनाए रखने वाले और कुछ इसे विघटित करने वाल तत्व हर समय पाए जाते हैं। यह अवश्य है कि कभी कभी किसी समाज विशेष में पारिवारिक विघटन के लक्षण अधिक स्पष्ट दिखाई पडने लगते है और वे समाज के लिए सकट की स्थिति पैदा कर देते हैं। परिवार के सदस्यो के परम्परागत सम्बन्धो का टूटना, मान्यता प्राप्त तरीको से उनके द्वारा परिवार के सामान्य लक्ष्यो की पूर्ति नहीं हो सकना, प्रेम का अभाव कटुता, लडाई-झगडे और मार-पीट का प्रारम्भ होना आदि कुछ ऐसे लक्षण हैं जो परिवार के विघटन का चित्र प्रस्तुत करते हैं।

पारिवारिक विघटन के कारण
(Causes of Family Disorganization)

यहाँ पारिवारिक विघटन के जिन कारणो पर विचार किया जा रहा है, वे सार्वभौम प्रकृति के हैं। ये ऐसे कारण हैं जो केवल भारतीय परिवार के लिए उत्तरदायी नहीं हैं, बल्कि विश्व के विभिन्न समाजो मे पारिवारिक विघटन की घटनाओ के मूल मे हैं। अनेक आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और दार्शनिक कारक, वर्तमान मे लोगो के विचारो, मूल्यो और आदर्शों मे परिवर्तन ला रहे हैं। ये परिवर्तन व्यक्ति को अनेक रूपो मे प्रभावित करते है, सामाजिक सस्थाओ की सरचना और प्रकार्यों को बदल देते है। परिवार चारो ओर होने वाले सामाजिक परिवर्तनो से अछूता नही रह सकता है। जो परिवार बदलती हुई परिस्थितियो के साथ अपने आपको परिवर्तित कर सफल अनुकूलन कर पाते है, वे सगठित रह जाते हैं और अपने सदस्यो के लिए प्रकार्यात्मक इकाई के रूप मे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा पाते हैं। दूसरी ओर जो परिवार नवीन परिस्थितियो के साथ अनुकूलन नही कर पाते, उनमे कलह, तनाव और सघर्षपूर्ण स्थिति पाई जाती है। ऐसे परिवार विघटन की ओर अग्रसर होते हैं। यहाँ उन सभी कारणो पर विचार किया जा रहा है जो सार्वभौमिक रूप से पारिवारिक विघटन के लिए उत्तरदायी है। ये कारण निम्नलिखित हैं

१ यौन-सम्बन्धो की असन्तुष्टि (Dissatisfaction of Sexual Relations) .

अधिकतर झगडे यौन-सम्बन्धो की असन्तुष्टि के कारण ही उत्पन्न होते हैं। जहा पति-पत्नी मे चारित्रिक दृढता पाई जाती है और वे एक-दूसरे के द्वारा ही अपनी यौन इच्छाओं की पूर्ति करते हैं, वहा पारिवारिक सगठन बना रहता है। इसके विपरीत जहाँ

पति-पत्नी में एक-दूसरे के प्रति अविश्वास और यौन-सम्बन्धों की असन्तुष्टि पाई जाती है, वहा अनेक झगड़े उठ खड़े होते हैं। वे एक दूसरे से घृणा करने लगते हैं तथा परिवार म द्वेष, क्लेष और दुःख का जन्म होता है। एलिस हैवलॉक ने बड़ा ही अच्छा लिखा है, "यौन-सम्बन्धी शान्ति भंग होने पर विवाह का ढाँचा स्थानान्तरित होती हुई बालू पर खड़ा होता है।'[7]

२. सामाजिक मूल्यो की विभिन्नता (Different Social Values)

विभिन्न सामाजिक मूल्य पारिवारिक विघटन को जन्म देते हैं। सामाजिक मूल्यो के भिन्न-भिन्न होने पर परिवार के सदस्यों मे संघर्ष होता है और पारिवारिक विघटन प्रारम्भ हो जाता है। माता-पिता तथा बालकों की विचारधाराओं के भिन्न होने पर वे एकमत नहीं हो पाते, जबकि पारिवारिक सगठन के लिए मतैक्य (Consensus) होना आवश्यक है। मतैक्य के अभाव के कारण ही माता पिता तथा बच्चो मे आधुनिक तनाव दिखाई पड़ता है। माता पिता पुराने मूल्यो को महत्वपूर्ण समझते हैं, जबकि बच्चे नये मूल्यो के अनुसार कार्य करना पसन्द करते हैं। ऐसी स्थिति मे माता पिता तथा बच्चो मे तनाव उत्पन्न हो जाता है जो पारिवारिक विघटन को जन्म देता है।

३ सामाजिक सरचना मे परिवर्तन (Changes in Social Structure)

सामाजिक सरचना, समाज मे व्यक्तियों की प्रस्थिति तथा भूमिका निश्चित करती है। शताब्दियो मे परिवार का जो ढाँचा बना है, उसमे प्रत्येक सदस्य की स्थिति व कार्य निश्चित हो गए हैं। समाज मे होने वाले परिवर्तनो के परिणामस्वरूप, परिवार के सदस्यो की स्थिति तथा कार्य भी बदल गए हैं। स्त्रियाँ यह निश्चित नही कर पा रही हैं कि उनके कार्य क्या हैं। स्वतन्त्रता की बढ़ती हुई भावना के कारण वे अपने पूर्व निश्चित कार्यों से सन्तुष्ट नही हैं। परन्तु पुरुष अपनी पूर्व-स्थिति तथा कार्यों मे तनिक भी परिवर्तन नहीं आने देना चाहता है। परिणाम होता है—पति और पत्नी का संघर्ष।

४ सदस्यों की स्वार्थ-भावना (Selfish Motives of Members) :

सदस्यों में स्वार्थ-भावना आने पर वे एक-दूसरे के हितों की तनिक भी चिन्ता नहीं करते और अपने व्यक्तिगत हितो की पूर्ति पर अधिक ध्यान देने लगते हैं। जब परिवार मे दूसरो के हितो की उपेक्षा की जाती है, तब पारिवारिक विघटन आरम्भ हो जाता है।

५ भौतिकवाद एव व्यक्तिवादी विचारधारा (Materialistic and Individualistic Philosophy) :

परिवार सदस्यों को एक ओर प्रेम, त्याग तथा कष्ट सहन करने की शिक्षा देता है, जबकि दूसरी ओर भौतिकवादी तथा व्यक्तिवादी विचारधाराएँ मनुष्य को केवल अपने स्वार्थों की पूर्ति का उपदेश देती हैं। इन विचारधाराओं के कारण लोगों मे त्याग तथा परोपकार की भावना कम होती जा रही है और पारिवारिक सगठन समाप्त होता जा रहा है।

---

7 "With failure of sexual harmony, the marriage structure rests on shifting sands" Ellis, Havelock "Little Essays of Love and Virtues"

६ औद्योगीकरण (Industrialisation) .

औद्योगीकरण के प्रभाव के कारण परिवार के बहुत से कार्य अन्य समितियों ने ले लिए है। पिता को धनोपार्जन हेतु घर से बाहर फैक्ट्री अथवा अन्य स्थान पर जाना पडता है। बच्चे शिक्षा प्राप्ति के लिए विद्यालयों मे जाते है। स्त्रिया भी कार्य करने घर से बाहर जाती है। परिवार के सदस्यो के एकसाथ नही रहने से उनमे सहयोग तथा प्रेम का अभाव रहता है तथा पारिवारिक विघटन मे सहायता मिलती है।

७ विवाह के आधार मे परिवर्तन (Change in the basis of Marriage) :

पहले विवाह का आधार धार्मिक था। लोग विवाह को अटूट पवित्र बन्धन मानते थे और इसी कारण पति-पत्नी हमेशा अपने को एक-दूसरे के अनुकूल बनाने का प्रयत्न करते थे, परन्तु अब विवाह केवल एक सामाजिक समझौता माना जाता है जिसे इच्छानुसार कभी भी समाप्त किया जा सकता है। इसका प्रभाव यह पडता है कि थोडी-सी भी अरुचिकर बात होने पर पति-पत्नी विवाह-विच्छेद की तैयारी प्रारम्भ कर देते हैं।

८ रोमास पर आधारित विवाह (Marriages based on Romance) .

रोमास का आधार है भोग विलास तथा विषय-सुख। इसके आधार पर जो विवाह होते हैं, उनमें प्रेम का ही महत्त्व होता है। ऐसे विवाहो मे भोग-विलास तथा विषय सुख की भावना का प्राधान्य होने से परिवार का आधार मजबूत नही होता। इसी बात को स्पष्ट करते हुए आशिर्वादम ने लिखा है, 'विवाह का रोमासवादी आदर्श जो भोग-विलास और विषय-सुख की कामना पर अपने आपको आधारित करता है, परिवार को विघटित करने के लिए परवश है।"[8]

९ दरिद्रता (Poverty)

धन के अभाव म परिवार के सदस्यो म तनाव रहता है तथा पारस्परिक सम्बन्धो मे द्वेष और कटुता उत्पन्न हो जाती है जो पारिवारिक विघटन को जन्म देती हैं। आज कई परिवारों के विघटित होन का मूल कारण दरिद्रता ही है।

१० विभिन्न हित (Different Interests)

जब परिवार के सभी सदस्यो के हित एक से होते हैं, तो वे सहयोग की भावना से उनकी पूर्ति मे लग जाते हैं, परन्तु आजकल सदस्यो के हितो के भिन्न-भिन्न होने स, वे पृथक्-पृथक् उनकी पूर्ति म सलग्न रहते है। ऐसी दशा मे सदस्य एक-दूसर से सहयोग नही करके अपने-अपने स्वार्थों की पूर्ति का प्रयत्न करते हैं।

११. आत्म-निर्भरता (Self-dependence)

इस युग मे आत्म-निर्भरता बढने से परिवार के सदस्य स्वय को स्वतन्त्र अनुभव करते हैं। उनका एक-दूसरे से कोई विशिष्ट कार्य नही पडता और वे दूसरे की साधारणत चिन्ता भी नही करते। उनम पारिवारिक सम्बन्धो के प्रति उदासीनता पाई जाती है और कई बार असहयोग तक पनपन लगता है। यह परिस्थिति पारिवारिक सगठन के लिए हितकर नही है।

---

8 "The romantic ideal of marriage which bases itself upon lust is bound to break-up the the family " Asirvatham, E, A New Social Order, P. 317

१२ प्रतिकूल परिस्थितिया (Unfavourable Conditions)

बेकारी, नौकरी का छूट जाना, बीमारी, ग्रार्थिक दशा का खराब हो जाना इत्यादि ऐसी प्रतिकूल परिस्थितिया हैं जो पारिवारिक विघटन को प्रोत्साहन देती हैं।

१३ सास्कृतिक पृष्ठभूमि मे ग्रसमानता (Different Cultural Backgrounds)

पति-पत्नी की सास्कृतिक पृष्ठभूमि के भिन्न-भिन्न होने से भी पारिवारिक विघटन प्रारम्भ हो जाता है, क्योंकि दोनों ही प्रत्येक वस्तु को ग्रपनी-ग्रपनी सस्कृति क दृष्टिकोण से देखते हैं और वे एकमत नही हो पाते हैं। पति किसी बात को ग्रच्छा समझता है जबकि पत्नी उसे बुरा समझती है।

१४. व्यक्तित्व के दोष (Personality Defects)

पति पत्नी मे किसी एक के व्यक्तित्व मे दोष होने पर परिवार मे कलह शुरू हो जाता है और इसका परिणाम पारिवारिक विघटन होता है। चरित्रहीनता, मदिरा-पान, मानसिक दोष ग्रादि व्यक्तित्व सम्बन्धी दोष के उदाहरण हैं।

वर्तमान समय मे ग्राधुनिक सभ्यता के फलस्वरूप परिवार के ग्रनेक कार्य अन्य समितियो ने छीन लिए हैं। यन्त्रीकरण ग्रौर ग्रौद्योगीकरण ने परिवार के ग्रनेक कार्यों पर कुठाराघात किया है तथा इसकी विघटन-प्रक्रिया को तीव्र किया है। वर्तमान परिस्थितियो के ग्रवलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आजकल ग्रनेक परिवार विघटन की प्रक्रिया से गुजर रहे हैं। प्राथमिक समूह के रूप मे परिवार का यह विघटन ग्राधुनिक सभ्यता का ग्रनिवार्य परिणाम है।

पारिवारिक पुनर्गठन (Family Reorganization)

वर्तमान समय मे ग्रौद्योगीकरण एव नगरीकरण के बढते हुए प्रभाव के कारण, विशेषकर पश्चिमी समाजो मे पारिवारिक विघटन बडी तेजी के साथ हो रहा है। भारत मे ग्रभी तक पारिवारिक विघटन इतना ग्रधिक नही हुग्रा है जितना कि पश्चिमी समाजो मे। पश्चिमी देशो सयुक्त राज्य ग्रमरिका तथा रूस मे पारिवारिक विघटन सबसे ग्रधिक हुग्रा है। भारतवर्ष मे ग्रौद्योगीकरण एव नगरीकरण का व्यापक प्रभाव नही होने के कारण परिवार का विघटन कम हुग्रा है। वर्तमान मे यहाँ भी ग्रौद्योगीकरण तथा नगरीकरण के बढने के साथ साथ, पारिवारिक विघटन की प्रक्रिया पहले की बजाय कुछ तीव्र होती जा रही है।

पाश्चात्य देशो मे सामाजिक परिवर्तन की गति तीव्र होने से पारिवारिक विघटन ग्रधिक हुग्रा है। भारतवर्ष मे सामाजिक परिवर्तन की गति धीमी रही है, इस कारण यहाँ पारिवारिक विघटन मन्द गति से हो रहा है। पश्चिम मे पारिवारिक विघटन के व्यापक रूप को देखकर ग्रनेक विद्वान इस बात से चिन्तित हैं कि भविष्य मे वहा परिवार का ग्रस्तित्व रहेगा ग्रथवा नही।

व्यक्ति, परिवार ग्रौर राष्ट्र के हित को ध्यान मे रखते हुए पारिवारिक विघटन को रोकना आवश्यक है। इसके लिए परिवार का फिर से पुनर्गठन करना होगा। जिस समाज मे सामाजिक परिवर्तन तीव्र गति से होते हैं, उनमे पुनर्गठन पर ग्रधिक ध्यान देने की ग्रावश्यकता होती है। इस ग्रोर ध्यान नहीं देने पर परिवार जैसी महत्वपूर्ण सामाजिक सस्था के नष्ट होने की ग्राशका उत्पन्न हो जाती है।

पारिवारिक पुनर्गठन - एक सामाजिक प्रक्रिया
(Family Reorganisation : A Social Process)

पारिवारिक पुनर्गठन की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है। परिवार मे साधारणत पारिवारिक विघटन के साथ-साथ पुनर्गठन के तत्त्व भी पाए जाते है। जैसे ही कोई परिवार विघटित होता है, वैसे ही उसका पुनर्गठन भी प्रारम्भ हो जाता है। बर्गेस तथा लॉक ने लिखा है, "वर्तमान प्रवृत्तिया केवल विघटन का ही प्रतिनिधित्व नही करती, बल्कि पुनर्गठन का भी कार्य करती है।"[9]

पारिवारिक विघटन प्रत्येक समाज का एक आवश्यक लक्षण है। सामाजिक परिवर्तन के कारण पुराने प्रतिमानो का स्थान नवीन प्रतिमान लेते जा रहे हैं। पारिवारिक विघटन के समान ही पारिवारिक पुनर्गठन भी प्रत्येक समाज का आवश्यक लक्षण है। वस्तुत विघटन तथा पुनर्गठन की प्रक्रियाएं परिवार के साथ-साथ चलती रहती हैं। घडी के पेन्डुलम के समान ही पारिवारिक विघटन और पुनर्गठन भी गतिशील रहते हैं। कभी परिवार का विघटन होता है, तो कभी पुनर्गठन। सर्वप्रथम परिवार का विघटन प्रारम्भ होता है, फिर पुनर्गठन तथा पुन वही परिवार विघटन की ओर अग्रसर हो जाता है। इस प्रकार यह प्रक्रिया चलती रहती है।

परिवार के कुछ ऐसे मौलिक कार्य हैं, जैसे—सन्तानोत्पत्ति, बालको की देखरेख, पारस्परिक स्नेह एव मानसिक सुरक्षा आदि जो अधिक उत्तमता के साथ अन्य किसी भी समिति के द्वारा नही किए जा सकते है। आज तक मानव किसी भी ऐसी समिति, सगठन आदि का आविष्कार नही कर पाया है जो परिवार का स्थान ले सके और उतनी ही कुशलता के साथ उल्लिखित मौलिक कार्यों को सम्पादित कर सके। अनेक परिवर्तनो के उपरान्त भी परिवार के बने रहने का मुख्य कारण इसके द्वारा मौलिक कार्यों का सम्पादन किया जाना ही है। परिवार के इन मौलिक कार्यों को देखते हुए परिवार के पुनर्गठन का महत्त्व और भी बढ जाता है।

सयुक्त राज्य अमेरिका मे परिवार का विघटन काफी हुआ है और इसी कारण वहाँ पारिवारिक पुनर्गठन के अनेक प्रयत्न चल रहे है। उस देश मे अनेक शिक्षण सस्थाएं, विद्यालय, महाविद्यालय एव समितियाँ पारिवारिक पुनर्गठन के कार्य मे लगी हुई हैं। भारतवर्ष मे पारिवारिक विघटन कम हुआ है और इसी कारण यहाँ पारिवारिक पुनर्गठन के विशेष प्रयत्न भी नही चल रहे हैं।

वर्तमान समय मे जहा एक ओर परिवार विघटित हो रहा है, वहाँ दूसरी ओर वह पुनर्गठन की ओर भी अग्रसर है। इस पुनर्गठन की प्रक्रिया के फलस्वरूप परिवार के कार्यों मे परिवर्तन अवश्य आ रहा है। परिवार के कुछ परम्परागत कार्य जो आज महत्त्वहीन हैं, समाप्त होते जा रहे हैं और परिवार नए-नए कार्यों को अपनाता जा रहा है। समय और परिस्थितियो के अनुसार परिवार का रूप बदलता रहता है और आज भी

---

9 "Present trends represent not only disorganisation but reorganisation." Burgess and Locke 'The Family' P 715.

वही हो रहा है। परिवार बदलती हुई परिस्थितियो के साथ अनुकूलन स्थापित करने के कार्य मे लगा हुआ है।

अन्त मे यह कहा जा सकता है कि पारिवारिक विघटन को टालना अथवा पुनर्गठन की ओर प्रवृत्त होना व्यक्तिगत, सामाजिक और राष्ट्रीय हित की दृष्टि से अत्यन्त आवश्यक है। पारिवारिक विघटन को रोकने के लिए पति-पत्नी के चुनाव पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। विवाह-बन्धन मे बधने वाले लडके-लडकियो की आयु मे अधिक अन्तर नही होना चाहिए और वे ऐसे परिवारो से सम्बन्धित होने चाहिएँ, जिनकी सास्कृतिक पृष्ठभूमि समान हो। चुनाव सोच-समझ कर किया जाना चाहिए न कि क्षणिक आवेश मे। चुनाव मे माता-पिता और अन्य शुभ-चिन्तको की सलाह पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए। सफल पारिवारिक जीवन के लिए यह आवश्यक है कि दोनो ही जीवन की वास्तविकताओं को समझने की कोशिश करें, कठिनाइयो से घबरा कर दूर भागने की प्रवृत्ति को न अपनाएँ। परिवर्तित परिस्थितियो मे पति-पत्नी को एक दूसरे के साथ समायोजन करने का प्रयास भी करना चाहिए। पारिवारिक शान्ति को बनाए रखने के लिए व्यक्तिवादी आदर्शों पर कुछ अकुश रखना भी आवश्यक है। पति-पत्नी मे एक-दूसरे के प्रति प्रेम, त्याग, सहानुभूति, आदर और पूर्ण निष्ठा और चारित्रिक दृढता होनी चाहिए, तभी पारिवारिक विघटन का रोका जा सकता है। साथ ही पारिवारिक मामलो मे सलाह देने और अनेक समस्याओ के हल करने मे योग देने की दृष्टि मे परिवार-परामर्शदात्री समितिया (Family Guidance Clinics) भी होनी चाहिएँ। इन समितियो तथा शिक्षण सस्थाओ के माध्यम से विवाह और परिवार के महत्त्व से भी लोगों को परिचित कराया जाना चाहिए। देश म साथ ही इस प्रकार के सामाजिक विधान पारित किए जाने चाहिए जो पारिवारिक स्थायित्व और वैवाहिक जीवन को सुखी बनाए रखने मे योग दे सकें। भारतवर्ष मे भी पारिवारिक विघटन की प्रक्रिया प्रारम्भ अवश्य हो चुकी है। परन्तु यदि परिवार को विघटित करने वाली परिस्थितियो का सही तरीके से विश्लेषण कर आवश्यक परिवर्तनो को स्वीकार किया जाए और पुनर्गठन हेतु उचित प्रयास भी किए जाएँ, तो पारिवारिक विघटन को रोकना बहुत कुछ मात्रा मे सम्भव है।

कुछ लोग परिवार के भविष्य के सम्बन्ध मे अनेक आशकाएँ व्यक्त करत हैं। पुरातनवादी सोचते हैं कि परिवार समाप्त हो रहा है। पुरानी पीढी के लोग कहते हैं कि सब कुछ नष्ट हो रहा है। लेकिन हमे यह नहीं भूलना चाहिए कि परिवार केवल परिवर्तन की प्रक्रिया के मध्य है, सक्राति की स्थिति मे है। इसका भविष्य अन्धकारमय नहीं है। यह मानव की मौलिक और सार्वभौमिक इकाई है। जब तक समाज का अस्तित्व रहेगा, यह भी बना रहेगा। लेकिन यह आशा करना कि जिस रूप मे परिवार कुछ समय पहले था, उसी रूप मे आज भी बना रह और जैसा आज है वैसा भविष्य मे भी बना रहे, निरर्थक है।

प्रश्न

१ पारिवारिक विघटन से आप क्या समझते हैं ? पारिवारिक विघटन के प्रमुख लक्षण कौन-कौन से हैं ?

२. "पारिवारिक विघटन सामाजिक सरचना मे होने वाले परिवर्तनो से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है (टॉलकट पारसन्स) ।" विवेचना कीजिए ।

३. आधुनिक परिवार के विघटन के लिए उत्तरदायी कारणो पर प्रकाश डालिए ।

४. क्या आप सोचते है कि आधुनिक परिवार विघटित हो रहा है ?

५ पारिवारिक पुनर्गठन की प्रक्रिया पर एक लेख लिखिए ।



अध्याय 17

परिवर्तनशील परिवार

(The Changing Family)

वर्तमान समय मे सामाजिक परिवर्तन की बाढ-सी आ गई है। एक के बाद दूसरे, दूसरे के बाद तीसरे और इसी क्रम से निरन्तर परिवर्तन होते आ रहे हैं। जब विश्व मे चारो ओर बडी तेजी से परिवर्तन आ रहे है, तो परिवार जो बृहद् समाज का ही एक भाग है, उनसे अछूता कैसे रह सकता है? बर्गेस ने बताया है कि भौतिक वस्तुओ के सचय, आविष्कारो के क्षेत्र और विविधता, आवागमन और सन्देशवाहन की उन्नत सुविधाओ, तथा बढते हुए औद्योगीकरण और नगरीकरण ने परिवार के बहुत से प्रतिमानो को, जो जीवित मानव की स्मृति मे सार्वभौम रूप से स्वीकृत थे विघटित करने मे योग दिया है।[1] अनेक आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और दार्शनिक कारको के पारस्परिक अन्तर्सम्बन्ध के फलस्वरूप स्त्री-पुरुषों के परम्परागत सम्बन्धो म परिवर्तन हो रहा है। नवीन अभिवृत्तियो, मूल्यो और आदर्शों का विकास होता जा रहा है जो परिवार की सरचना और प्रकार्यों मे परिवर्तन लाने के लिए उत्तरदायी हैं।

इलियट और मैरिल का कथन है कि जब कभी आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, नैतिक, मनोवैज्ञानिक या दार्शनिक समस्याएँ जो व्यक्तियो के जीवन को प्रभावित करती हैं, उठती है तो परिवार सामाजिक बैरोमीटर के रूप म परिवर्तनो को पजीकृत करता है।[2] स्पष्ट है कि विविध क्षेत्रों मे होने वाले परिवतनो का निश्चय ही परिवार पर प्रभाव पडता है। वर्तमान समय में प्रौद्योगिकी और औद्योगीकरण के कारण, आर्थिक व्यवस्था मे क्रान्तिकारी परिवर्तन आए हैं, स्त्रियो को राजनैतिक अधिकार प्राप्त हुए हैं लोगो के धार्मिक विश्वासो मे अन्तर आया है तथा विकसित और विकासशील देश आधुनिकीकरण की ओर बढे है और बढते जा रहे हैं। विवाह और पारिवारिक जीवन के सम्बन्ध म विचारो और अभिवृत्तियो मे भी परिवर्तन आया है। पुराने आदर्श प्रतिमानो और नियन्त्रणो का व्यक्ति पर प्रभाव कम होता जा रहा है। वे समाप्तप्राय होते जा रहे हैं, परन्तु उनके स्थान पर

---

1 Ernest W. Burgess, 'The Family in a Changing Society, American Journal of Sociology, 53 - 417—422, May, 1948

2 Elliott and Merrill, op cit, p 344

नवीन सन्तोषप्रद प्रतिमानो का विकास नही हुआ है। ऐसी दशा मे जीवन की समस्याओं को सुलझाने से व्यक्ति कठिनाई का अनुभव कर रहा है। वह प्रयत्न और परीक्षण करता जा रहा है ताकि वैवाहिक और पारिवारिक जीवन को सुखमय बनाया जा सके और बदली हुई परिस्थितियो के साथ सफल समायोजन किया जा सके।

परिवार के परम्परागत प्रतिमानो को परिवर्तित करने मे अनेक कारको का योग रहा है। ये कारक एक दूसरे से अन्तसम्बन्धित हैं और इनके सम्मिलित प्रभाव के फलस्वरूप ही आज परिवार म अनेकानेक परिवर्तन दिखलाई पड रहे हैं। वर्तमान मे परिवार मे अनेक आधुनिक प्रवृत्तियाँ परिलक्षित हो रही हैं। पाश्चात्य देशो मे परिवार मे अधिक परिवर्तन आए हैं। भारतीय परिवार भी परिवर्तनो के मध्य अवश्य है, यह भी समय की चुनौती को स्वीकार कर रहा है। भारतीय नगरीय परिवारो मे ग्रामीण परिवारो की तुलना मे आधुनिक प्रवृत्तियाँ अधिक दिखलाई पड रही हैं। यहाँ अब हमे उन सार्वभौम कारको पर विचार करना है, जिन्होने परिवार को परिवर्तित करने मे योग दिया है।

परिवार को परिवर्तित करने वाले कारक
(Factors Responsible for Changing Family)

परिवार को परिवर्तित करने वाले कारको मे चार मुख्य हैं (1) आर्थिक कारक (2) सामाजिक कारक, (3) राजनीतिक कारक और (4) दार्शनिक कारक। यहाँ हमे इन्ही कारको पर क्रमश विचार करना है। ये कारक एक दूसरे से स्वतन्त्र नहीं हैं। ये परस्पर सम्बद्ध हैं और एक-दूसरे को आपस मे प्रभावित करते रहते हैं।

आर्थिक कारक (*Economic Factors*)

आर्थिक कारको ने परिवार को प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष–अनेक रूपो मे प्रभावित किया है। परिवार को परिवर्तित करने वाले आर्थिक कारको म मुख्य निम्नलिखित हैं

(1) औद्योगिक क्रान्ति (Industrial Revolution) के फलस्वरूप न केवल समाज का आर्थिक आधार बदला है बल्कि समाज के विभिन्न पक्षो पर इसका गहरा प्रभाव पडा है। औद्योगिक क्रान्ति के पूर्व परिवार उत्पादन का केन्द्र था, आर्थिक क्रियाएँ परिवार मे ही सम्पन्न होती थी। सब सदस्य स्त्री पुरुष बच्चे आदि मिल-जुल कर एक ही स्थान पर काम करते और अपनी जीविका कमाते थ। वे एकसाथ बडे-बूढो के सरक्षण मे अपने आप म अनेक गुणो जैसे—सेवा, त्याग सहयोग परोपकार आदि का विकास करते थे। उस समय आर्थिक दृष्टि से स्त्री भी उत्पादन के काय म सक्रिय योग देती थी, लेकिन औद्योगीकरण के कारण परिस्थिति मे क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ। अब बडे-बडे कारखानो मे मशीनो की सहायता से वृहद् पैमाने पर वस्तुओ का निर्माण होन लगा। परिवार के आर्थिक कार्य छिन गए, कार्य और निवास के क्षेत्र अलग अलग हो गए। एक आत्मनिर्भर आर्थिक इकाई के रूप मे परिवार का महत्व कम हो गया। अब घर वितरण और उपभोग का केन्द्र मात्र रह गया।

औद्योगीकरण ने पारिवारिक सम्बन्धो को अनेक रूपो मे प्रभावित किया है। पुरुष का कार्य-क्षेत्र अब घर नही रहा, उस नगर म किसी कारखाने मे श्रमिक के रूप मे जाना पडा। अनेक स्त्रियो को भी बाध्य होकर औद्योगिक श्रमिको की श्रेणी मे आना पडा। नगरो मे युवक युवतियो को, स्त्री-पुरुषो को एक-दूसरे के सम्पर्क मे आने का अवसर मिला।

इसका प्रभाव पति-पत्नी के सम्बन्धो, बालको के पालन-पोषण और सम्पूर्ण पारिवारिक सगठन पर पडा। घर पहले जितना महत्वपूर्ण नही रहा। नगरो म मकान की कमी के कारण, कई बार पुरुष को अपना गाँव छोड़कर, अकेले ही वहाँ जाकर रहना पडा। पारिवारिक जीवन के अभाव म वहाँ कई पुरुष अनेक कुप्रवृत्तियों के शिकार भी बन गए। वे वहाँ शराब पीने लगे, जुआ खेलने लगे और वेश्यागमन तक करने लगे। जहाँ पुरुष अपनी पत्नी और बच्चो को भी नगर मे ले गया, वहाँ स्त्री भी कोई न कोई कार्य करने लगी। दोनों के काम पर चल जाने से बच्चो की उचित देख भाल नही हो पाती और वे बुरी सगत मे फँसकर बाल-अपराध की ओर प्रवृत्त होने लगे।

इतना सब कुछ होने के उपरान्त भी परिवार का उपभोग केन्द्र के रूप मे अभी तक महत्त्व बना हुआ है। पारिवारिक आय को किस प्रकार खर्च किया जाए, कितनी राशि किन वस्तुओ पर लगाई जाए, भोजन, वस्त्र, शिक्षा आदि आदि पर क्या और कितना खर्च किया जाए, भविष्य के लिए कितना बचाया जाए, यह सब पति-पत्नी द्वारा ही निश्चित किया जाता है। आय का असन्तुलित खर्च पारिवारिक सुख-शान्ति मे बाधक सिद्ध होता है।

विश्व के विभिन्न भागो मे औद्योगीकरण क साथ-साथ सामाजिक व्यवस्थाएँ, दाम्पत्य मूलक परिवार (Conjugal Family) व्यवस्था की ओर गतिमान हैं। कही यह गति धीमी है तो कही तेज। औद्योगीकरण ने छोटे परिवारो की स्थापना म योग दिया है। दाम्पत्य-मूलक परिवार अनेक प्रकार से औद्योगीकरण से सम्बन्धित आवश्यकताओ की पूर्ति म सहायक रहते हैं। औद्योगीकरण ने वास्तव मे न केवल परिवार की सरचना को बल्कि इसके प्रकार्यों को भी विविध रूपो मे प्रभावित किया है।

(2) स्त्रियो की आर्थिक स्वतन्त्रता (Economic Independence of Women) का भी परिवार पर कई प्रकार से प्रभाव पडा है। वर्तमान मे परिवार के आर्थिक कार्यों म परिवर्तन आया है। स्त्रियाँ कारखानो म काम करती और आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र होने लगी हैं जिसका प्रभाव परिवार के स्थायित्व पर पडा है। अब वे दुखी वैवाहिक जीवन व्यतीत करने क बजाय विवाह विच्छेद करना अधिक पसन्द करती हैं। पाश्चात्य देशों मे तलाक की दर बढने का एक मुख्य कारण यह है कि वहाँ स्त्रियाँ जानती हैं कि उन्हें सुगमता से नौकरी प्राप्त हो सकती है। भारत मे तलाक की दर के कम होने का प्रमुख कारण यही है कि अभी तक देश की अधिकाश स्त्रियाँ आर्थिक दृष्टि स पुरुषो पर निर्भर हैं और उनक धार्मिक या नैतिक विश्वास उन्हे विवाह विच्छेद का मार्ग अपनान स रोकते ह।

यद्यपि आज अधिकाधिक पत्नियाँ नौकरी करना चाहती हैं तथापि उच्चवर्गीय और औसत मध्यम-वर्गीय परिवारो म पत्नियाँ अभी भी अपने पतियो पर आश्रित हैं। यदि विवाह के पूर्व स्त्री नौकरी करती थी और विवाह के पश्चात् पति उसका नौकरी करना उचित नही समझता, तो दोनों मे विरोध उठ खडा होता है। अनेक स्त्रियाँ समझती है कि नौकरी आदि करने से उनकी शक्तियो का पूर्ण उपयोग हो सकता है तथा परिवार की आय में वृद्धि की जा सकती है। इस प्रकार पत्नी के आर्थिक क्रियाओ मे सलग्न होने के सम्बन्ध मे पति-पत्नी के विचारो मे कई बार सघर्ष पाया जाता है, जिसका उचित समाधान सुखी पारिवारिक जीवन के लिए आवश्यक है।

अनेक माताओ को बाध्य होकर नौकरी करनी पडती है। अपने परिवार के भरण-पोषण के लिए आर्थिक उत्पादन के कार्य में लगना पडता है। ऐसी माताए नौकरीके

प्रति मोह के कारण नही, वल्कि बच्चो के लिए भोजन, वस्त्र तथा अन्य आवश्यक वस्तुओ की पूर्ति के लिए नौकरी करती हैं। ऐसी स्त्रियाँ अपने छोटे-छोटे बालको की ठीक से देख-भाल नहीं कर पाती हैं। प्रो बोगार्डस ने बताया है कि यदि माँ ताश खेलने या नौकरी करने या अन्य किसी भी काम करने हेतु सारे दिन घर से बाहर रहे, तो घर का टूटना एव बच्चो का बिगडना एक अनिवार्य-सा परिणाम होगा। कार्यशील स्त्रियों के बच्चो को परिवार मे कई बार उचित पर्यावरण नही मिल पाता है। वे माता-पिता के स्नेह से काफी समय तक वचित रह जाते है। इसका उनके सामाजीकरण और व्यक्तित्व के निर्माण पर कुप्रभाव पडता है। ऐसी परिस्थिति मे अनेक बालक बाल-अपराधी बन जाते हैं।

(3) रहन-सहन के परिवर्तनशील स्तर (Changing Standards of living) के परिणामस्वरूप परिवार के स्थायित्व एव सरचना पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पडा है। आधुनिक समय मे औद्योगिक विकास के साथ-साथ उत्पादन एव धन मे वृद्धि हुई है और लोगो की आवश्यकताएँ बढी हैं। वे अधिकाधिक मात्रा मे आरामदेह वस्तुएँ खरीदना और अपने रहन-सहन के स्तर को ऊँचा उठाना चाहते है। आज जिस मात्रा म लोगो की जरूरतें बढी है, उस अनुपात म उनकी आय मे वृद्धि नही हुई है। भौतिक सुख की कामना बढ गई है, परन्तु अब सीमित साधनो के कारण इसकी पूर्ति नही होती, तो निराशा उत्पन्न होती है। वर्तमान मे कई युवा पत्नियाँ एव लडके लडकियाँ इसीलिए दुखी और कुठित है कि वे अपने मित्रो के समान उच्च जीवन-स्तर नही बनाए रख सकते हैं, उनके समान अच्छे से अच्छे वस्त्र नही पहन सकते हैं। जडसन टी० लेन्डिस ने एक अध्ययन के आधार पर कहा है कि "पारिवारिक आय का व्यय" वैवाहिक समायोजन का द्वितीय सर्वाधिक कठिन क्षेत्र है (प्रथम लैंगिक समायोजन है)।[3]

विवाह के पूर्व जो लडकियाँ नौकरी करती हैं, उनके रहन सहन का स्तर काफी ऊँचा हो जाता है। यदि विवाह के पश्चात् किसी कारणवश वे नौकरी न कर पाएँ, तो उनकी आर्थिक स्वतन्त्रता मे कमी आती है। उन्हे परिवार का खर्च चलाने के लिए अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताएँ कम करनी पडती है। यह परिस्थिति उनके जीवन मे कुठा उत्पन्न कर देती है।

रहन-सहन के स्तर का परिवार की बनावट और सरचना पर भी प्रभाव पडता है। कई लोग रहन-सहन के स्तर को उच्च बनाए रखने के लिए देर से विवाह करते हैं, सन्तानोत्पत्ति स्थगित कर देते हैं, और कम स कम सन्तान चाहते हैं। यही कारण है कि आज-कल परिवार का आकार घटता जा रहा है। यह पहले की तुलना म सीमित होता जा रहा है।

(4) बेरोजगारी और निर्धनता (Unemployment and Poverty) ने परिवार के स्थायित्व पर नकारात्मक प्रभाव डाला है। औद्योगीकरण के फलस्वरूप आर्थिक जीवन मे असुरक्षा बढ गई है, श्रम-बचत साधनो के प्रयोग से समय-समय पर अनेक व्यक्ति बेकार हो

3 Judson T. Landis, "Length of Time Required to achieve adjustment in marriage, American Sociological Review, II 666-677 (December, 1946) quoted by Elliott and Merrill, Ibid, P 346

जाते हैं। बेकारी बहुत कुछ सीमा तक निर्धनता के लिए उत्तरदायी है। एक निर्धन परिवार में भोजन, वस्त्र और मनोरंजन के साधनो की कमी रहती है। बच्चो का उचित प्रकार से पालन-पोषण नहीं हो पाता है और छोटे छोटे आर्थिक मामलो को लेकर कलह और लड़ाई-झगडे होते रहते हैं।

आधुनिक समय में परिवार के अनेक कार्य विविध समितियो ने ले लिए हैं। अब यह उत्पादन का केन्द्र भी नही रहा है। शिक्षण और मनोरंजन का कार्य भी अब विशेषीकृत एजेन्सियो के द्वारा किया जाने लगा है। ऐसी दशा में घर का महत्त्व कम होता जा रहा है।

सामाजिक कारक (Social Factors)

वर्तमान समय मे सामाजिक परिवर्तन की तीव्र गति ने जीवन-पद्धति को तेजी से बदलने मे योग दिया है। आज व्यक्ति के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने सामाजिक सम्बन्धो मे निरन्तर समायोजन करता रहे। वस्तुत जीवन के विविध क्षेत्रो मे होने वाले परिवर्तनो ने परिवार को अनेक रूपो मे प्रभावित किया है। परिवार को प्रभावित करने वाले सामाजिक कारक ये हैं .

(1) आधुनिक समय में जनसंख्या की गतिशीलता (Mobility of Population) काफी बढ गई है। ग्रामों से लोग नगरो की ओर बढ़ते हैं और नगरो मे भी एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र की ओर। आज के औद्योगीकृत समाजों मे साधारणत व्यक्तियों का एक स्थान पर स्थायी रूप से रहना बहुत कठिन हो गया है। आज एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना, एक मुहल्ले से दूसरे मुहल्ले मे पहुँचना, एक व्यवसाय छोडकर दूसरा अपनाना, एक फैक्ट्री से दूसरी फैक्ट्री मे चले जाना सामान्य-सा होता जा रहा है। इस गतिशीलता का परिणाम यह हो रहा है कि व्यक्ति सयुक्त परिवार, पडौस रिश्तेदार और मिलने-जुलने वाले लोगो के नियन्त्रणो से मुक्त हो जाता है। उसके व्यवहार पर परम्परागत आदर्श-प्रतिमानो का प्रभाव कम हो जाता है और वह नवीन ढग मे व्यवहार करने लगता है। आज की बदली हुई परिस्थितियो मे पुरुष कहीं काम करता है तो स्त्री कहीं, और बच्चे कहीं किसी होस्टल में या अपने दादा-दादी के साथ रहते हैं। यह बदली हुई परिस्थिति सदस्यों के सम्बन्धों को प्रभावित और उनमे पारस्परिक अन्त क्रिया को कम करती है। पारस्परिक अन्त क्रिया जितनी कम होगी, पारिवारिक स्नेह और दृढता भी साधारणत उसी अनुपात मे कम होती जाएगी।

(२) स्त्रियों की उच्च शिक्षा (Higher Education of Women) का परिवार पर अनेक रूपो मे प्रभाव पडता है। इस सम्बन्ध मे इलियट और मैरिल का कथन है कि वह लडकी, जो अपने पति के समान शिक्षा प्राप्त कर लेती है, उस पत्नी से भिन्न किस्म की पत्नी होगी जिसकी ऐसी तुलनीय प्रस्थिति नहीं है। वह शायद पारिवारिक निर्णयों मे अपनी बात पर जोर देगी, और उसकी स्वय की भूमिका सम्बन्धी परिभाषा उसकी शैक्षणिक उपलब्धि को प्रतिबिम्बित करेगी।[4] इस प्रकार स्त्रियों की उच्च शिक्षा का उनकी प्रस्थिति और भूमिका पर काफी प्रभाव पडता है। कम शिक्षित स्त्रियो का विवाह अपेक्षाकृत कम

---

4 Elliott and Merrill, op cit, P 352

आयु में होना है। शिक्षा के साथ-साथ विवाह की आयु बढ़ रही है। कुछ उच्च शिक्षा प्राप्त स्त्रियां विवाह के बन्धन से बचना चाहती हैं, आजीवन अविवाहित रहना ही पसन्द करती हैं। पुरुष साधारणतः अपने से कम शिक्षित स्त्रियों के साथ विवाह करना चाहते हैं और स्त्रियां भी ऐसे पति चाहती हैं जो उनसे अधिक शिक्षित हों। वे कम से कम यह तो नहीं चाहतीं कि उनका विवाह उनसे कम शिक्षित व्यक्तियों के साथ हो। स्त्रियों की उच्च शिक्षा का परिवार के आकार पर भी प्रभाव पड़ता है। साधारणतः पत्नी के अधिक शिक्षित होने पर परिवार का आकार छोटा ही होता है।

उच्च शिक्षा के साथ-साथ स्त्रियों को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्र में पुरुषों के समान अनेक अधिकार प्राप्त हुए हैं। इन अधिकारों ने स्त्रियों की स्थिति को उन्नत करने में योग दिया है। इस परिवर्तित स्थिति ने बहुत-सी उच्च शिक्षा प्राप्त स्त्रियों को परिवार के प्रति उदासीन बना दिया है। उनमें अधिकारों के प्रति जितनी चेतना पाई जाती है, उतनी पारिवारिक दायित्वों को निभाने के प्रति नहीं। उच्च शिक्षा प्राप्त स्त्रियां, प्रेम-विवाह के साथ-साथ विवाह के असफल होने पर तलाक भी करने लगी हैं।

(३) वर्तमान समय में यौन नैतिकता में परिवर्तन (Change in sex-morality) आया है। आज यौन-नैतिकता का दोहरा मापदण्ड समाप्त होता जा रहा है। अभी तक परम्परागत परिवारों में पुरुष को कुछ मात्रा में लैंगिक स्वच्छन्दता थी, परन्तु अविवाहित स्त्रियों से पूर्ण ब्रह्मचर्य और विवाहित स्त्रियों में पति के प्रति पूर्ण निष्ठा की अपेक्षा की जाती थी। अब नैतिकता के इस दोहरे मापदण्ड में लोगों का विश्वास उठता जा रहा है। स्त्री-पुरुषों के लिए समान नैतिक नियम विकसित होते जा रहे हैं। पति-पत्नी में से किसी के भी व्यभिचारी होने पर कानूनी दृष्टि से कोई किसी को शारीरिक कष्ट नहीं पहुँचा सकता, एक-दूसरे से तलाक अवश्य ले सकता है। आधुनिक समय में यौन-नैतिकता सम्बन्धी नवीन धारणाओं का विकास हो रहा है। युवक-युवतियों को एक-दूसरे के निकट आने के अधिक अवसर मिलने लगे हैं और उनमें यौन-घनिष्ठता बढ़ने के उदाहरण भी सामने आने लगे हैं। नगरीय क्षेत्रों में आजकल ऐसी यौन-घनिष्ठता के प्रति लोगों में अधिक सहिष्णुता आती जा रही है। यौन-नैतिकता सम्बन्धी बदलती हुई धारणा का, परिवार के परम्परागत स्वीकृत प्रतिमानों पर काफी प्रभाव पड़ा है।

(४) नगरीय जीवन का ढंग (Urban way of Life) पारिवारिक क्षेत्र में अनेक परिवर्तन लाने के लिए उत्तरदायी है। सन् १९५१ की तुलना में १९७१ में नगरों की संख्या के बढ़ने के साथ-साथ नगरों में रहने वाले लोगों की संख्या में भी वृद्धि हुई है। शिक्षित लोगों का प्रतिशत भी इस अवधि में १६ से ३० के लगभग हो गया है। इसी काल में देश का औद्योगीकरण भी तेजी से हुआ है। इन परिवर्तनों ने परिवार की संरचना और स्थायित्व को प्रभावित किया है। औद्योगीकरण और नगरीकरण ने परिवार को विघटित करने में कुछ सीमा तक सहायता पहुँचायी है।

ग्रामीण जीवन परिवार के सदस्यों को एकसाथ काम करने, सामान्य समस्याओं पर मिल कर विचार करने, इकट्ठे रहने, तथा पारिवारिक एकता और दृढ़ता को बनाए रखने में योग देता है जबकि नगरीय जीवन में आर्थिक हितों की भिन्नता पारिवारिक एकता के तुलनात्मक अभाव के लिए उत्तरदायी है। नगरीय परिवार के सदस्य दिन में अलग-अलग स्थानों पर काम करते हैं। पति जब दिन भर किसी दफ्तर या फैक्ट्री में काम करके लौटता है, तो पत्नी उसकी थकान या उचाट को नहीं समझ पाती है। पति स्वयं दिन भर बाहर

रहता है, इस कारण वह भी पत्नी की समस्याओं को नही समझ पाता है। वह इस बात का पूर्ण अनुमान नही लगा पाता कि प्रातःकाल से रात्रि मे सोने के पूर्व तक उसे कितने प्रकार के कार्य करने पडते हैं, किस प्रकार परिवार के सब सदस्यो के भोजन और सुख-सुविधाओ का प्रबन्ध करना पडता है। इस सारे कार्य मे पत्नी को भी कम थकान नही होती। पति-पत्नी दोनो ही एक-दूसरे की कार्य-सम्बन्धी समस्याओं से अनभिज्ञ रहते हैं जो उनके जीवन मे उदासीनता भरने के लिए उत्तरदायी हैं। नगरो मे मकानो के अभाव का भी पारिवारिक जीवन पर कुप्रभाव पडता है। वहाँ एक परिवार के सभी सदस्यो को अधिकांशत एक कमरे के मकानो मे रहना पडता है। परिणाम यह होता है कि घर मे गोपनीय स्थान के अभाव मे पति-पत्नी एकान्त मे बातचीत भी नही कर सकते, न ही अपनी समस्याओ को एक-दूसरे के सम्मुख रख सकते हैं। वास्तव मे एकान्त स्थान का होना व्यक्तित्व के स्वस्थ विकास और सृजनात्मक चिन्तन के लिए अत्यन्त आवश्यक है। परन्तु यहाँ मकान का प्रत्येक हिस्सा सार्वजनिक रहता है और बच्चे अवाछनीय बातों को भी सुनने और समझने लगते हैं। नगरों मे मकानो के अभाव मे बहुत से लोगो को बाध्य होकर अकेला रहना पडता है। अकेले रहने की इस प्रवृत्ति का पारिवारिक सगठन के स्थायित्व पर बुरा प्रभाव पडता है। यह परिस्थिति वास्तव मे स्वस्थ पारिवारिक जीवन के लिए हानिकारक है।

(8) मनोरंजन की व्यवसायिक वृद्धि (Increase of Commercialized Recreation) के कारण परिवार के सदस्यो का अधिकाशत मनोरजन परिवार के बाहर ही होता है। पूर्वकाल मे सब सदस्यो का मनोरजन परिवार मे ही होता था। इस मनोरजन का आधार लोकगीत, पौराणिक कथाएँ तथा धार्मिक विश्वास होते थे। मनोरजन के इस परम्परागत प्रकार का सदस्यो के आचरण पर स्वस्थ प्रभाव पडता था, पारिवारिक एकता बनी रहती थी। अब परिवार का मनोरजनात्मक कार्य अन्य व्यावसायिक समितियो ने ले लिया है मनोरजन का व्यापारीकरण हो गया है। आजकल सिनेमा, थियेटर, क्लब आदि व्यावसायिक मनोरजन के साधनो का प्रभाव बढ रहा है। यह व्यावसायिक मनोरजन व्यक्तियो के आकर्षण का केन्द्र बनता जा रहा है, क्योकि इसका सगठन लोगो की नवीनतम रुचियों का ध्यान मे रखकर किया जाता है। पारिवारिक मनोरजन सदस्यो को एक सूत्र मे बाँधे रखने मे योग देता था, परन्तु व्यावसायिक मनोरजन सदस्यो को परिवार से दूर ले जाता है, उन्हें परिवार के बाहर अन्यत्र अपना समय बिताने के लिए प्रोत्साहित करता है। नगरो मे बहुत से परिवार घर मे अपने बच्चो को, इलियट और मैरिल के अनुसार, तीन कारणों से मनोरजन प्रदान नही कर पाते। प्रथम, इसके लिए घर मे स्थान की कमी रहती है। द्वितीय, माता-पिता बहुत व्यस्त या थके हुए होते थे। तृतीय, व्यावसायिक मनोरजन का आकर्षण बहुत प्रबल होता है। स्पष्ट है कि आजकल नगरीय परिवार साधारणतः अपने सदस्यों का मनोरजन नही कर पाता है। परिणामस्वरूप परिवार की सामूहिकता धीरे धीरे कम होती जाती है। व्यक्ति सोने खाने-पीने के समय के अतिरिक्त बहुत थोडे समय घर मे रह पाता है और उस समय भी वह किसी न किसी कार्य मे व्यस्त रहता है।

राजनैतिक कारक (Political Factors) :

राज्य, विवाह और परिवार को विविध अधिनियमों से अनेक रूपो में नियन्त्रित और

निदेशित करता है। राज्य ने परिवार की प्रभुसत्ता को कम किया है। स्त्रियो को कई अधिकार प्रदान किए हैं जिसका प्रभाव परिवार पर भी पड़ा है। परिवार को प्रभावित करने वाले राजनीतिक कारको मे दो मुख्य है —

(१) राज्य की माता पिता पर प्रभुसत्ता (Soveaeignty of the state over Parents) ने पारिवारिक नियन्त्रण और अनुशासन को प्रभावित किया है। आजकल राज्य द्वारा क्रूर और दुराचारी माता-पिता के नियन्त्रण से बालको को मुक्त रखने का प्रयास किया जाता है। राज्य द्वारा स्थान-स्थान पर खोले गए शिशु गृह और बाल न्यायालय इस बात का प्रमाण हैं कि राज्य की बच्चो के सामाजीकरण मे रुचि बढती जा रही है; राज्य बाल-कल्याण की ओर विशेष ध्यान दे रहा है। कोई माता-पिता चाहे या न चाहें, उन्हें अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा नियम के अन्तर्गत अपने ६ से ११ साल के बच्चों को स्कूल भेजना ही होगा। राज्य विविध अधिनियमो द्वारा बालकों की शिक्षा, स्वास्थ्य और आचरण मे अधिकाधिक दिलचस्पी लेन लगा है। राज्य के कानून विवाह की आयु को निर्धारित, विवाह और तलाक की शर्तों को निश्चित और सम्पत्ति के उत्तराधिकार की व्यवस्था करते हैं। स्पष्ट है कि राज्य ने पारिवारिक क्षेत्र मे माता पिता के अधिकारो को काफी सीमित कर दिया है।

(२) स्त्रियों द्वारा नवीन प्रस्थिति की प्राप्ति (Women's achievement of new status) पारिवारिक जीवन को प्रभावित करने वाली बीसवी शताब्दी की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना है। राज्य द्वारा स्त्रियो को अनेक अधिकार प्रदान किए गए है। अब वे राजनीति, शिक्षा और व्यापार मे प्रविष्ट होने लगी हैं। कुछ समय पूर्व तक स्त्रियो का कार्य-क्षेत्र घर था, पत्नी और माता के रूप म ही उनकी भूमिका महत्वपूर्ण थी। परन्तु आज उन्होंने नवीन प्रस्थिति अर्जित कर ली है और राज्य ने इसमे विशेष योग दिया है। अब वे पुरुषो की स्वेच्छाचारिता का शिकार बनने को तैयार नही हैं। आवश्यकता पडने पर वे कानून और अदालत की शरण भी लेने लगी है। आज की महिलाएँ अपने अधिकारों के प्रति सजग हैं। अब वे पारिवारिक निर्णयो मे महत्वपूर्ण भूमिका निभाने लगी हैं। स्त्रियो की इस नवीन अर्जित प्रस्थिति ने पारिवारिक सरचना और सगठन को निश्चय ही काफी प्रभावित किया है।

दार्शनिक कारक (Philosophical Factors)

आधुनिक समय मे परिवार से सम्बन्धित जो वैचारिक परिवर्तन आए हैं, यहाँ हमे उनकी विवेचना करनी है। समूह विशेष के विचारो, आदर्शों और सामाजिक मूल्यो का व्यक्तियो की क्रियाओ पर महत्वपूर्ण प्रभाव पडता है और जैसे ही इनमे परिवर्तन आता है, लागो का व्यवहार भी बदल जाता है, फलस्वरूप उस समूह की सस्थाएँ भी प्रभावित होती हैं। ऐसे दार्शनिक कारक ये है —

(१) वर्तमान समय मे विवाह के धार्मिक आधार (Religious basis of marriage) का महत्त्व कम हुआ है। अब विवाह को जन्म-जन्मातर का अटूट पवित्र प्रबन्ध नही बल्कि एक समझौता मात्र माना जाता है। आधुनिक समय मे विवाह के प्रति धर्म-निरपेक्षवादी दृष्टिकोण का विकास हुआ है। व्यक्ति यह सोचने लगा है कि अन्य समझौतो के समान वैवाहिक समझौते को भी सुखी वैवाहिक जीवन न होने पर समाप्त किया

जा सकता है। परित्याग पृथक्करण अथवा विवाह-विच्छेद द्वारा इसका अन्त किया जा सकता है। वैवाहिक जीवन में त्याग, सहानुभूति, पारस्परिक अनुकूलन और सहनशीलता की अत्यन्त आवश्यकता पड़ती है। इनके अभाव में सुखी पारिवारिक जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती। विवाह के धार्मिक आधार ने पारिवारिक दृढ़ता को बनाए रखा, सदस्यों को एक-दूसरे के साथ रहने और अनुकूलन करने के लिए प्रेरित किया। अब विवाह के धार्मिक पक्ष के शिथिल पड़ने से परिवार का स्थायित्व खतरे में पड़ गया है। भारत में भी शिक्षित और नगरीय क्षेत्रों में निवास करने वाले परिवारों में विवाह का धार्मिक आधार कमजोर पड़ता जा रहा है।

(२) **व्यक्तिवादी और भौतिकवादी विचारों** (Individualistic and materialistic philosophy) के प्रसार के फलस्वरूप, परिवार की संरचना और कार्यों में परिवर्तन हो रहे हैं। आधुनिक सभ्यता के कारण व्यक्तिवादी दृष्टिकोण प्रोत्साहित हुआ है। आज व्यक्ति स्वयं की ही चिंता करता है, 'मैं' के सम्बन्ध में अधिकाधिक सोचता और अपने लिए ही सब सुख सुविधाएँ प्राप्त करना चाहता है। उसमें 'हम' की भावना में कमी आई है। दूसरों के लिए वह कुछ भी त्याग नहीं करना चाहता है। परिवार के अन्य सदस्यों के प्रति व्यक्तिवादिता के बढ़ने से उसमें कुछ उदासीनता भी दिखाई पड़ने लगी है। आज का व्यक्ति यह विचार करने लगा है कि विवाह के पश्चात् भी उसे अपने मूल्यों, विचारों और अपने पृथक् अस्तित्व को बनाए रखने का अधिकार है। जहाँ विवाह में बन्धने वाले दो व्यक्ति अपने व्यक्तित्वों के एकीकरण का प्रयास नहीं करते वहाँ सुखी पारिवारिक जीवन की अधिक आशा की नहीं जा सकती। अपने तरीके से जीवन बिताने पर अधिक जोर देना, पारिवारिक शान्ति को भंग करना है। स्वस्थ पारिवारिक जीवन के लिए व्यक्तिगत इच्छाओं और आकांक्षाओं पर थोड़ा नियन्त्रण रखना अत्यन्त आवश्यक है।

भौतिकवादी विचारधारा के पनपने से व्यक्ति ऐसा जीवन बिताना चाहता है जिससे उसे अधिकाधिक आराम मिल सके। जहाँ व्यक्ति भौतिक सुखों की अधिक चिन्ता करता है, उच्च जीवन स्तर को बनाए रखने पर आवश्यकता से अधिक जोर देता है, वहाँ पारिवारिक स्थायित्व पर इसका बुरा प्रभाव पड़ता है। जहाँ भोग-विलास या विषय-सुख में कुछ भी कमी आई, वहीं परिवार में अशान्ति छा जाती है। आजकल व्यक्तिवादी और भौतिकवादी विचारधारा के प्रभाव के परिणामस्वरूप ही कई परिवारों में असन्तोष एवं तनाव की स्थिति पाई जाती है।

(३) **आधुनिक समय में जीवन सम्बन्धी नवीन विचारधाराओं** (New philosophies of life) का व्यक्ति पर प्रभाव बढ़ता जा रहा है। ये नवीन विचारधाराएँ परिवार को परिवर्तित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रही हैं। ऐसी नवीन विचारधाराओं में 'प्रेम में स्वतन्त्रता' (Freedom in love), स्वतन्त्रता तथा व्यक्तिगत आनन्द (Freedom and Individual happiness), प्रयोगात्मक विवाह (Trial Marriage) तथा साथी विवाह Companionate Marriage) आदि मुख्य हैं। इन विचारधाराओं का प्रतिपादन संयुक्त राज्य अमेरिका में किया गया। प्रेम में स्वतन्त्रता का तात्पर्य यह लिया गया कि यौन-सम्बन्ध प्रेम पर आधारित होने चाहिएँ। इस सम्बन्ध में एलेन की (Ellenc key) का कथन है कि कानून के स्थान पर प्रेम, विवाह का एकमात्र आधार होना

चाहिए।[5] उनक विचार था कि प्रेम पर कानून का नियन्त्रण नही होना चाहिये। बर्ट्रेण्ड रसेल (Bertrand Russel) और डोरा रसेल (Dorn Russel) ने व्यक्तिगत सुख के लिए यौन-सम्बन्धो की स्वतन्त्रता का प्रस्ताव रखा। आश्चर्य तो यह है कि स्वतन्त्रता और व्यक्तिगत आनन्द की बात करने वाले बर्ट्रेण्ड रसेल का डोरा रसेल के साथ विवाह-विच्छेद हुआ क्योकि डोरा-रसेल द्वारा दाम्पत्य व्रत भग किया गया था। सन् १९०६ म ऐल्सी क्लूज पारसन्स (Elsie Clews Parsons) द्वारा प्रयोगात्मक विवाह की बात कही गई। यह बताया गया कि ऐसे विवाह को सन्तोषप्रद सम्बन्धो के होने पर स्थायित्व प्रदान किया जा सकता है और इसके विपरीत दशा मे बिना कानून की सहायता स उसे समाप्त किया जा सकता है, परन्तु इस अवधि मे सन्तानोत्पत्ति नही होनी चाहिए। सन् १९२७ म जज बेन लिन्डजे (Judge Ben Lindsey) द्वारा साथी-विवाह के सिद्धान्त को प्रस्तावित किया गया। उन्होने साथी विवाह को कानूनी विवाह माना, परन्तु विवाह के असन्तोषप्रद होने पर उसे पारस्परिक सहमति से समाप्त करने का विचार रखा। इस बीच बच्चो का जन्म नही होना चाहिए और स्त्री के गर्भवती होने पर विवाह स्थायी माना जाना चाहिए। विवाह और परिवार के सम्बन्ध मे प्रस्तावित ये नवीन विचारधाराएं व्यवहार के प्रतिमान नहीं बन पाई और न ही परिवारो को विघटित कर पाई।

वर्तमान समय मे रोमांटिक प्रेम (Romantic Love) का विवाह के आधार के रूप मे महत्त्व बढता जा रहा है। भारतीय नगरीय समुदायो मे पलने वाले युवक युवतियो पर रोमांटिक प्रेम का विशेष प्रभाव प्रतीत होता है। चलचित्रो ने रोमांटिक प्रेम का महत्त्व बढाने म विशेष भूमिका निभाई है। रोमांटिक प्रेम मे व्यक्ति जीवन की वास्तविकताओ को नही समझ पाता है। वह पारिवारिक जीवन मे आने वाली कठिनाइयो से अनभिज्ञ रह जाता है। रोमांटिक प्रेम के आधार पर विवाह बन्धन म बन्धने वाले युवक-युवतियां, विवाह और परिवार को जीवन भर का एक सुनहरा सपना समझ बैठते है। जब उन्हें कष्टो का सामना, घर का प्रबन्ध, जीविका हेतु कार्य, बच्चो की देख भाल, बीमारी की अवस्था मे सदस्यों की सेवा-सुश्रूषा करनी पडती है और जब पारिवारिक मामलो मे किसी बात पर उनम मन मुटाव हो जाता है, तो उनका सुनहरा सपना टूट जाता है, वे ऐसे पारिवारिक जीवन से ऊब जाते हैं। सुखी पारिवारिक जीवन के लिए वास्तविकताओ स परिचित होने की, पारस्परिक प्रेम, मैत्री-भाव, सहयोग, विश्वास और अनुकूलन स्थापित करने की क्षमता एव इच्छा की आवश्यकता पडती है। केवल रोमांटिक प्रेम के आधार पर स्वस्थ पारिवारिक जीवन की कल्पना करना यथार्थ से मुंह मोडना है। रोमांटिक प्रेम कुछ मात्रा मे पारिवारिक सम्बन्धो की अस्थिरता के लिए उत्तरदायी है।

परिवार की आधुनिक प्रवृत्तियाँ
(Recent Trends of Family)

उपर्युक्त कारको से परिवार मे परिवर्तन हुए हैं। आज परिवार की सरचना और कार्यों मे अनेक परिवर्तन दिखलाई पड रहे हैं। आजकल कई नवीन पारिवारिक प्रतिमान उभर कर सामने आ रहे हैं। परिवार के कई कार्य अन्य समितियो द्वारा अपना लिए गए हैं और

---

5 Ellen Key 'Love and Marriage', quoted by Elliott and Merrill, Ibid, P 359

इसके पास बहुत थोड़े कार्य शेष रह गए हैं। वर्तमान में परिवार संक्रमण की स्थिति से गुजर रहे हैं और अभी तक कोई सर्व-स्वीकृत पारिवारिक प्रतिमान दृष्टिगोचर नहीं हो रहे हैं। आधुनिक समय में परिवार में निम्नलिखित नवीन प्रवृत्तियाँ एवं परिवर्तन दिखलाई पड़ रहे हैं :—

(१) परिवार के आकार में ह्रास (Decline in the size of family)—आधुनिक परिवार का आकार बहुत छोटा हो गया है। साधारणत आजकल परिवार में पति-पत्नी और उनके अविवाहित बच्चे पाए जाते हैं। नव-विवाहित दम्पत्ति अपने मूल-परिवार के साथ रहना पसन्द न कर स्वयं का नया परिवार बसाना चाहते हैं। ऐसे परिवार में उनको स्वतन्त्रता अधिक रहती है। आज अनेक देशों में तो सन्तानहीन परिवार भी काफी मात्रा में पाए जाते हैं और दो बच्चों का परिवार तो सामान्य आदर्श सा बनता जा रहा है। श्री फॉल्सम ने कहा है, "दो बच्चों का परिवार आजकल का प्रचलित सामाजिक मानदण्ड या आदर्श है।"[6] रहन-सहन के उच्च-स्तर को बनाए रखने, अधिक बच्चों के पालन पोषण के भार से बचने तथा सन्ततिनिरोध के साधनों के उपलब्ध होने से परिवार का आकार घटता जा रहा है। आधुनिक समय में परिवार के सदस्यों की संख्या औसतन ४–५ तक रह गई है।

(२) पितृ-सत्तात्मक अधिकार में कमी (Decline in patriarchal authority)—कुछ समय पूर्व तक परिवार में पिता की सत्ता सर्वोपरि थी, वह परिवार के निरकुश शासक के समान था। उसके पत्नी तथा बच्चों पर असीमित अधिकार थे, परन्तु अब स्थिति बदल चुकी है। राज्य द्वारा स्त्री तथा बच्चों को अनेक अधिकार प्रदान किए जा चुके हैं और पिता की शक्तियों को आज सीमित कर दिया गया है। पारिवारिक समस्याओं पर विचार करते समय पत्नी और बच्चों की राय को भी महत्त्व दिया जाने लगा है। पत्नी भी अपनी उन्नत स्थिति का पारिवारिक निर्णयों में लाभदायक उपयोग कर रही है। यह कहा जा सकता है कि आधुनिक परिवार अधिनायकवादी आदर्शों से प्रजातान्त्रिक आदर्शों की ओर बढ़ रहे हैं।

(३) अस्थायी परिवार (Instable family)—आधुनिक परिवार की भौगोलिक और सामाजिक गतिशीलता पहले से काफी बढ़ चुकी है। परिवार के आकार के छोटा होने तथा विभिन्न प्रकार की व्यावसायिक सुविधाओं के उपलब्ध होने से, एक परिवार एक स्थान से दूसरे स्थान पर और एक व्यवसाय से दूसरे व्यवसाय में सुगमता से जा सकता है। परिणाम यह होता है कि मूल परिवार, रिश्तेदारों और पड़ोसियों का ऐसे परिवार पर कोई नियन्त्रण नहीं रहता, आचरण सम्बन्धी परम्परागत आदर्श, नवीन पर्यावरण में प्रभावहीन हो जाते हैं। पति-पत्नी और बच्चे काफी समय तक परिवार से दूर रहते हैं। अब तो विवाह विच्छेद को भी कानूनी मान्यता प्रदान की जा चुकी है। ऐसी दशा में कभी भी परिवार के टूटने का खतरा उपस्थित हो सकता है। परिवार के अस्थायित्व को बढ़ाने में बदलती हुई यौन-धारणाओं ने भी योग दिया है।

(४) घर अमहत्वपूर्ण (Home unimportant)—आधुनिक परिवार के लिए घर का कोई विशेष आकर्षण एवं महत्त्व नहीं रहा है। केवल सोने, नाश्ता एवं भोजन करने के समय व्यक्ति घर पर रहता है और शेष समय अन्य स्थानों पर व्यतीत करता है। इससे

---

6 The two child family is now a prevailing social standard or ideal J K Folsom : The family & Demorabs society P 188

सदस्यो म प्रत क्रिया की मात्रा घट गई है। बहुत से लोग समय समय पर मकान बदलते रहते हैं। ऐसे लोगो के लिए घर अथवा गृहस्थी का कोई महत्व नहीं होता। ऐसी स्थिति म व्यक्ति को पारिवारिक जीवन का लाभ नही मिल पाता।

(५) नातेदारी के महत्व मे कमी (D clining importarce of kinship)—आधुनिक समय मे नातेदारी का महत्व कम होता जा रहा है तथा पारस्परिक सम्बन्धो मे तीव्रता से परिवतन हो रहे हैं। कुछ समय पूर्व न केवल पारस्परिक सम्बन्धो का बल्कि नाते रिश्तेदारो का भी काफी महत्व था। व्यक्ति विभिन्न सम्बन्धियो के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित था। आज व्यक्तिवादिता इतनी बढ चुकी है कि कई व्यक्ति अपने माता पिता तथा भाई बहनों तक की चिन्ता नही करते नाते रिश्तेदारो की बात तो दूर रही। पहले व्यक्ति की प्रस्थिति का निर्धारण बहुत कुछ सीमा तक उसके परिवार और नाते रिश्तेदारो की प्रस्थिति के आधार पर होता था। परन्तु आजकल उसकी प्रस्थिति का निर्धारण अधिकाशत उसकी स्वय की योग्यता एव उपलब्धियों के आधार पर होता है। इस प्रकार नातेदारी का महत्त्व वतमान मे काफी घट गया है।

(६) स्त्रियों के अधिकारों मे वृद्धि (Increased rights of women) आधुनिक समय मे सम सत्तात्मक परिवार बनते जा रहे हैं। ऐसे परिवार म पति और पत्नी की समान सत्ता होती है। पारिवारिक निर्णयो मे दोनो ही समान भूमिका निभाते हैं। स्त्री पुरुष की की दासी नहीं बल्कि जीवनसगिनी और मित्र के रूप म मानी जाती है। इस बदली हुई स्थिति का मूल कारण स्त्रियो को अनेक सामाजिक आर्थिक और राजनतिक अधिकारो का प्राप्त होना है। शिक्षा के प्रसार ने स्त्रियो को अपने अधिकारो के प्रति सजग बनाया है उनमे सामाजिक और राजनीतिक चेतना जाग्रत करने म योग दिया है। आजकल स्त्रियो ने नवीन भूमिकाए ग्रहण की हैं। वे विभिन्न व्यवसायो मे पुरुषो के समान ही प्रविष्ट होने लगी हैं। इसका प्रभाव पारिवारिक सम्बन्धो पर पडता जा रहा है। अब उन्हे घर की चहारदीवारी मे बन्द नही रखा जा सकता। अब वे अनेक सावजनिक कार्यों म भाग लेने लगी हैं। आधुनिक परिवार की स्त्रियाँ न केवल नौकरी करती हैं बल्कि क्लबो मे जाती हैं चाय पार्टियो मे भाग लेती हैं ताश खेलती हैं राजनीतिक गतिविधियो और सामाजिक सेवा-कार्यों मे सम्मिलित होती हैं। तात्पय यह है कि उनकी भूमिकाए बढ चुकी हैं और अब वे परिवार के लिए उतना समय नही दे पाती जितनी उनसे अपेक्षा की जाती रही है। परिणाम यह होता है कि यह स्थिति कई बार तनाव का कारण बन जाती है। पारिवारिक सामञ्जस्य बनाए रखने के लिए यह आवश्यक है कि स्त्री की बदली हुई स्थिति को पुरुष समझे और मान्यता प्रदान करे।

(७) परिवार के परिवर्तित काय (The changing functions of the family) – अपनी स्वीकृत प्रस्थिति और भूमिका स सम्बन्धित जो काय परिवार क विभिन्न सदस्यो द्वारा किए जाते थ उनम वतमान मे काफी परिवतन आ चुका है। परम्परागत परिवार अपने सदस्यो के लिए विभिन्न प्रकार के काय करता था जसे आर्थिक धार्मिक शैक्षिक मनोरजनात्मक सुरक्षात्मक स्थिति एव स्नेह प्रदान करना आदि।

यद्यपि ये काय आज भी परिवार द्वारा किए अवश्य जाते हैं तथापि बहुत ही सीमित मात्रा मे और इनमे से बहुत से कार्यों का तो महत्त्व काफी कम हो गया है। उदाहरण के

रूप मे, व्यक्ति परिवार के बाहर आर्थिक क्रियाएँ करता है, आर्थिक उत्पादन का कार्य परिवार से छिन गया है। अब यह उपभोग का केन्द्र मात्र रह गया है। शिक्षा प्रदान करने का कार्य मुख्यत राज्य द्वारा किया जाता है और परिवार का शैक्षिक कार्य कम महत्त्वपूर्ण हो गया है। आधुनिक समय मे धर्म के प्रभाव के घटने से परिवार का धार्मिक कार्य कोई विशेष महत्त्व नही रखता, वह अधिकाधिक मात्रा मे व्यक्तिगत बनता जा रहा है। वर्तमान म पारिवारिक धार्मिक उत्सवो का स्थान, चाय पार्टियो और मित्र गोष्ठियो ने ले लिया है। आज कल कल्याण की दृष्टि से राज्य द्वारा अनेक कार्यक्रम क्रियान्वित किए जाते हैं। नगरीय क्षेत्रों म परिवार के मनोरजनात्मक कार्य का महत्त्व समाप्तप्राय हो चुका है। यहाँ व्यावसायिक मनोरजन लोगो के आकर्षण का मूल केन्द्र बनता जा रहा है। आज किसी परिवार का सदस्य मात्र होने से व्यक्ति को उच्च अथवा निम्न प्रस्थिति प्राप्त नही हो जाती है। व्यक्ति की योग्यता और उपलब्धियाँ उसकी प्रस्थिति निर्धारण मे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। ऐसी दशा मे परिवार के स्थिति प्रदान करने के कार्य मे भी अन्तर आया है। बालको के पालन पोषण का कार्य अभी भी परिवार द्वारा किया जाता है परन्तु यह प्रवृत्ति बनती जा रही है कि बालको की देखभाल विशेषज्ञो द्वारा की जानी चाहिए।

आधुनिक समय मे परिवार द्वारा सम्पन्न किए जाने वाले कार्यों मे दो मुख्य कार्य शेष रह गए हैं, प्रथम, प्राणिशास्त्रीय कार्य और द्वितीय, स्नेह प्रदान करने का कार्य। परिवार के अन्य कार्यों का महत्त्व घट जाने से इन दो का महत्त्व पहले से काफी बढ गया है। सन्तानोत्पादन का कार्य आज भी परिवार का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण काय है। इतना अवश्य है कि अब अनेक देशो मे परिवार के इस कार्य मे इस दृष्टि से अन्तर आया है कि आजकल कई परिवारो म बहुत कम बच्चे होते हैं और अनेक परिवार तो सन्तानहीन ही होते हैं।

सम्पूर्ण सामाजिक सरचना मे वैवाहिक सम्बन्ध का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। पति-पत्नी एक-दूसरे के सहयोग से न केवल अपनी यौन इच्छाओ की सन्तुष्टि करते हैं बल्कि परस्पर सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण भी अपनाते और घनिष्ठ स्नेह पूर्ण अनुक्रिया भी करते हैं। विवाह द्वारा पति पत्नी को एक दूसरे से अपार स्नेह भावनात्मक सुरक्षा, सुख दुख को समझने और उसमे पूरी तरह पारस्परिक सहयोग करने की प्रेरणा मिलती है। सक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि पति-पत्नी एक दूसरे के श्रेष्ठ मित्र होते हैं। वे एक दूसरे के व्यक्तित्व को पूरी तरह समझते और आदर करते हैं। जहाँ परिवार द्वारा स्नेह प्रदान करने के कार्य म कमी पाई जाती है, वहाँ पारिवारिक सम्बन्धो म शिथिलता आ जाती है और इसका परिवार के स्थायित्व पर बुरा प्रभाव पडता है। इलियट और मैरिल का कथन है कि जब परिवार को बनाए रखने मे स्नेह प्रदान करने का कार्य और प्राणिशास्त्रीय कार्य इतनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं, तो स्नेह की अभिव्यक्ति का ह्रास या कमी विवाह को सकट म डाल सकता है। आधुनिक परिवार को अपनी निरन्तरता बनाए रखने के लिए अधिकाशत उस सम्बन्ध की ओर देखना चाहिए, जिसमे पति-पत्नी प्रसन्न रहे—बजाय बहुत से उन उपयोगितावादी सम्बन्धो की ओर देखने

कि जो पूर्वकाल मे उसकी दृढता को बनाए हुए थे।[7] यद्यपि आधुनिक समय मे परिवार उपर्युक्त दो कार्यों के अतिरिक्त सामाजीकरण, मनोरजन और शिक्षा प्रदान करने तथा आर्थिक कार्य भी करता है तथापि अब इन कार्यों का उतना महत्त्व नही रहा जितना किसी समय था।

(८) विवाह के रूप में परिवर्तन (Change in the marriage form)— आधुनिक परिवार एक-विवाही रूप धारण करते जा रहे हैं, बहु-विवाह की प्रवृत्ति समाप्त हो रही है। अब हिन्दू समाज मे दो पत्नियाँ रखना कानूनी दृष्टि से मान्य नही है। विवाह की आयु मे वृद्धि हो रही है। बाल-विवाह कम होते जा रहे हैं। विवाह मे रोमान्स का तत्त्व बढ रहा है, अन्तर्जातीय और प्रेम-विवाह होने लगे हैं। विधवाओ के प्रति लोगो के दृष्टिकोण मे परिवर्तन हुआ है। कही-कही विधवा-पुनर्विवाह भी होने लगे हैं। आजकल परिवार नियोजन को इतना महत्त्व दिया जाने लगा है कि अब 'गर्भ गिराना' भ्रूण हत्या नही माना जाएगा। एक-विवाह के आधार पर बनने वाले परिवारो मे बालको की सीमित सख्या और एक ही माँ से सम्बन्धित होने से, सम्बन्धो मे अधिक घनिष्ठता और मधुरता दिखलाई पडती है।

परिवार की जिन आधुनिक प्रवृत्तियो का यहाँ वर्णन किया गया है, वे विश्व के प्रायः सभी आधुनिक जटिल समाजो मे अपना प्रभाव दिखला रही हैं। भारतीय परिवार पर भी इन प्रवृत्तियो का प्रभाव पडा है, नगरीय परीवारो पर अधिक और ग्रामीण परिवारो पर कम। इतना अवश्य है कि किन्ही परिवारो मे कुछ प्रवृत्तियो का प्रभाव दिखाई पडता है तो अन्य परिवारो मे कुछ दूसरी प्रवृत्तियो का। कुछ परिवार इन आधुनिक प्रवृत्तियो मे अधिक प्रभावित हुए है तो कुछ कम। आज के तेजी से बदलते हुए समाजो मे भावी परिवार की सरचना और कार्यों के सम्बन्ध मे निश्चित रूप से कुछ भी कहना कठिन है।

भारतीय परिवार परिवर्तन के मध्य
(The Indian Family in the Change)

आन्द्रेबेटली (Andre Beteille) ने भारत मे पारिवारिक जीवन और पारिवारिक सरचना के सम्बन्ध मे लिखा है, "शताब्दियो के महान सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिवर्तनो के मध्य, भारत के स्थायी पारिवारिक जीवन और पारिवारिक सरचना की एक लम्बी विरासत रही है, और पारिवारिक दृढता का भाव एक पुष्टिदायक शक्ति के रूप मे रहा है, जिसने भारतीय लोगो के दैनिक जीवन को अर्थपूर्ण बनाया है।"[8] भारत मे परिवार का परम्परागत प्रतिमान सयुक्त प्रकार का रहा है। सयुक्त परिवार व्यवस्था भारतीय सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था के अनुकूल है और धर्म ने भी सयुक्त प्रकार की जीवन-व्यवस्था बनाए रखने मे योग दिया है। डेविड और वीरा मेस ने लिखा है, "आजकल नागरिक, सामाजिक,

---

7. Elliott and Merrill, op cit, P. 363.
8. Andre Beteille, "Family and Social Change in India and other South Asian Countries," Economic Weekly Annual, XVI (1964), PP. 237—244.

आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन के क्षेत्रो मे क्रांतिकारी परिवर्तन आ रहे हैं, जो पारिवारिक जीवन के प्रतिमान को प्रभावित कर रहे हैं।"[9] वर्तमान समय मे शिक्षा-सम्बन्धी सुविधाओ, नौकरी प्राप्त करने के अवसरो तथा सामाजिक एव आर्थिक परिवर्तनों के कारण भारत मे पारिवारिक सरचना काफी प्रभावित हुई है। डॉ० ए० आर० देसाई ने लिखा है, "परम्परा-त्मक संयुक्त परिवार और परिवारवादी ग्रामीण ढाँचे मे गुणात्मक परिवर्तन आ रहा है। ग्रामीण सम्बन्धो का आधार प्रस्थिति से समझौते की ओर बदल रहा है। प्रथा की हुकूमत कानून द्वारा बदली जा रही है। परिवार उत्पादन की इकाई से उपभोग की इकाई के रूप मे बदल रहा है। परिवार को जोडने वाला बन्धन सम-रक्त के स्थान पर दाम्पत्य के रूप मे बदला जा रहा है।"[10] श्रीमती रॉस का कथन है कि, "शिक्षित महिलाओ के स्वीकृत "पारिवारिक परम्पराओ" और "पारिवारिक लक्षणों" से अलग हो जाने और आत्माभि-व्यक्ति के लिए अपने घरो से बाहर दृष्टि डालने से, भारतीय परिवार मे एक शान्त सामा-जिक परिवर्तन हो रहा है।"[11] देवानन्दन और थॉमस नामक सम्पादको के अनुसार, "उदार शिक्षा का प्रसार समानता और आत्म-सम्मान के नवीन विचार, व्यक्ति के व्यक्तित्व-विकास को दिया जाने वाला महत्त्व और आर्थिक तथा सामाजिक स्वतन्त्रता की इच्छा आदि कुछ प्रमुख कारको मे से हैं, जो विवाह और पारिवारिक जीवन के प्रतिमान को प्रभावित कर रहे हैं और स्त्रियो को उनके उत्तरदायित्व के मुख्य क्षेत्र अर्थात् घर के प्रबन्ध से दूर हटा रहे हैं।"[12]

वर्तमान समय मे औद्योगीकरण और नगरीकरण के परिणामस्वरूप न केवल व्यावसायिक गतिशीलता बढी है बल्कि एक ही जाति और परिवार के लोगों के व्यवसाय और आय मे काफी अन्तर आया है। न केवल उनकी सामाजिक प्रस्थिति मे बल्कि उनके दृष्टिकोण मे भी काफी भिन्नता पाई जाती है। उच्च शिक्षा प्राप्त करने और स्वय को किसी व्यवसाय के योग्य बनाने मे काफी वर्ष लग जाते हैं। ऐसी दशा मे विवाह देर से होते हैं। उच्च शिक्षा और पाश्चात्य प्रभाव के कारण व्यक्ति मे उदार, तार्किक और व्यक्तिवादी दृष्टिकोण पनपता है। ये परिवर्तन विवाह और पारिवारिक प्रतिमान को निश्चित रूप से प्रभावित करते हैं। श्री पी० डी० देवानन्दन तथा एम० एम० थॉमस ने भारत मे पारिवारिक प्रति-मानो मे परिवर्तन के लिए निम्न-लिखित तीन अन्तर सम्बन्धित कारको को उत्तरदायी माना है—(१) नवीन विचार (New Ideas), (२) नवीन सामाजिक अनुशास्ति (New Social Sanctions), (३) नवीन सामाजिक सरचनाएँ (New Social Structures)।

भारत जैसे विशाल देश मे, समाज मे पारिवारिक प्रतिमानो में अलग-अलग गति से परिवर्तन हो रहे हैं। समाज मे विभिन्न खण्डों के बीच परिवर्तन की दिशा और प्रतिमान

---

9 David & Vera Mace, "Marriage - East and West," P. 322—324.
10 A. R. Desai, Rural Sociology in India, P. 48
11. Aileen D Ross, op. cit , P. 197.
12. P. D Devanandan & M M Thomas (eds); The Changing Pattern of Family in India, P. 22.

स्वाभाविक रूप से भिन्न-भिन्न होंगे। यहाँ इस बात को भी ध्यान मे रखना चाहिए कि परिवर्तन की विशेषताओं का अवलोकन करने वाले लोग जितने परिवर्तन का अनुभव करते हैं, वह साधारणत उसमे बहुत कुछ मन्द होता है।[13]

१ नवीन विचार (New Ideas) :

नवीन विचारो को लोग धीरे-धीरे ग्रहण करते हैं और काफी समय के पश्चात् ये सामाजिक व्यवहार के प्रतिमानो को प्रभावित कर पाते हैं। एक पीढी के लोग जब नवीन विचारो को ग्रहण कर लेते हैं तब उनके व्यवहार-प्रतिमानो मे तो थोडा बहुत परिवर्तन आ जाता है, परन्तु उसके बाद वाली पीढ़ी मे यह परिवर्तन तेजी से आता है। नवीन विचारो को लोग न्यूनाधिक मात्रा मे ग्रहण करते हैं। जिन नवीन विचारो ने भारत मे पारिवारिक प्रतिमानों को परिवर्तित करने में योग दिया है, उनमे से मुख्य ये हैं प्रत्येक व्यक्ति को उसके विकास की पूर्ण स्वतन्त्रता और अवसर प्राप्त हो। वर्तमान समय मे यौन-सम्बन्धी परम्परागत दृष्टिकोणो मे अन्तर आया है, रोमान्टिक प्रेम को महत्त्व दिया जाने लगा है। आजकल धार्मिक परम्पराओं का महत्त्व कम हो रहा है और धर्म निरपेक्षवाद (Secularization) की प्रक्रिया तीव्र हो रही है। लोग वैज्ञानिक, प्रजातान्त्रिक और समाजवादी दृष्टिकोण को अपनाते जा रहे हैं। परिणामस्वरूप समाज एक "पवित्र परिवार" (Sacred Family) से "धर्म-निरपेक्ष परिवार" (Secular Family) की ओर बढ रहा है। धर्म निरपेक्ष परिवार मे व्यक्ति परिवर्तनो को सुगमता से स्वीकार कर लेता है। आजकल पाश्चात्य सभ्यता के प्रति लोग उपयोगितावादी दृष्टिकोण रखने लगे हैं। वे पाश्चात्य मूल्यो को स्वीकार करना भौतिक दृष्टिकोण से अपने लिए लाभदायक समझते हैं।

२ नवीन सामाजिक अनुशास्ति (New Social Sanctions)

पिछले कुछ वर्षों मे भारत म पारित अधिनियमों और अनेक नवीन सामाजिक प्रथाओं के कारण स्त्रियो को विभिन्न अधिकार मिले हैं। ये सिद्धान्त रूप मे स्त्री और पुरुष को समान स्तर पर ले आए हैं। सन् १९५५ एव ५६ मे चार अधिनियम बनाए गए जिनके द्वारा विवाह और विवाह-विच्छेद के आधारो को निश्चित किया गया, सम्पत्ति के उत्तराधिकार का निर्धारण, गोद लेने तथा भरण-पोषण एव सरक्षता सम्बन्धी नियमो को तय किया गया। ये सब अधिनियम विवाह और परिवार के परम्परागत प्रतिमानो मे परिवर्तन लाने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण थे।

३ सामाजिक सरचना (Social Structure)

औद्योगीकरण के साथ साथ देश मे नगरीकरण बढता जा रहा है। आर्थिक 'सरचनाएँ मुद्रीकरण की ओर कदम बढा रही हैं और राजनीतिक 'सरचनाओं' का विस्तार होता जा रहा है। व्यावसायिक सुविधाओं के बढने से एक ही परिवार के विभिन्न सदस्य अलग-अलग व्यवसायो मे, अलग अलग स्थानो पर काम करने लगे हैं। उनकी आय मे भी काफी असमानता पाई जाती है। परिणाम यह हुआ है कि संयुक्त प्रकार के जीवन की विशेषताएँ समाप्त होने लगी हैं और एक ही परिवार के सदस्यों के हितो, दृष्टिकोणो तथा आय मे विभेद पैदा हो गए हैं। शिक्षा-व्यवस्था के कारण माता पिता और सन्तान तथा भाई भाई के दृष्टिकोणो मे अन्तर उत्पन्न हुआ है। जाति सरचना मे भी परिवर्तन हुए हैं, जातीय-

13 P H Devanandan & M M Thomas (eds), Ibid, P 96

बन्धन कुछ शिथिल होते जा रहे हैं। अन्तर्जातीय विवाह होने लगे हैं। विभिन्न जाति के नव-विवाहित लडके-लडकियो के लिए सयुक्त परिवार मे अपना अनुकूलन करना कुछ कठिन रहता है। ऐसी दशा मे अन्तर्जातीय विवाहो के बढने के साथ साथ परिवार के प्रतिमान और सामाजिक सम्बन्धो मे परिवर्तन आना स्वाभाविक है। वर्तमान समय मे सामाजिक परिवर्तन लाने मे राज्य द्वारा महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी जा रही है। राज्य सामाजिक और आर्थिक विकास की दृष्टि से योजनाएँ बनाता जा रहा है। राज्य लोगो को सामाजिक और आर्थिक सुरक्षा प्रदान करने के लिए प्रयत्नशील है। राज्य विभिन्न कार्यक्रमो एव पचायती राज्य सस्थाओ के माध्यम से ग्रामीण समुदायों के उत्थान की ओर प्रयत्नशील है। इसी प्रकार, जनसख्या को सीमित करने की दृष्टि से परिवार नियोजन की योजना भी चल रही है। ये सारे नियोजित प्रयास परिवार के प्रतिमान को परिवर्तित करने मे सक्रिय योग दे रहे हैं।

परिवार के बदलते हुए प्रतिमान
(Changing patterns of Family)

भारत मे विवाह की आयु मे परिवर्तन किया गया है। अब किसी हिन्दू के लिए दो पत्नियाँ रखना कानूनी अपराध है। कानून द्वारा अन्तर्जातीय और प्रेम-विवाहो को भी मान्यता दी जा चुकी है। अब विवाह-विच्छेद और परिवार नियोजन के उद्देश्य से गर्भ गिराने की भी आज्ञा है। ये सब परिवर्तन विवाह और परिवार के परम्परागत प्रतिमान को अवश्य प्रभावित कर रहे है।

पिछले ३०–४० वर्षों मे पुरुषो के विवाह की आयु, १८ से २० वर्ष के आस-पास रही है, परन्तु स्त्रियो की यह आयु १३–१४ वर्ष से बढकर करीब १६ वर्ष के आस पास हो रही है। विवाह की आयु बढने से, अब विवाह सम्बन्धी निर्णयो मे युवक अपने प्रौढाधिकार का प्रयोग करने लगे हैं। लडकियाँ अधिक समय तक अपने पिता के घर मे रहती हैं और वहीं उच्च शिक्षा भी प्राप्त करती हैं। उच्च शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् वे नौकरी भी करती हैं और परिवार की आय बढान म योग देती हैं। आर्थिक दृष्टि स स्वतन्त्र होने से आज-कल उन पर माता-पिता का नियन्त्रण कम पाया जाता है। अपने पुरुष-सहयोगियो से मिलने, बातचीत और हँसी-मजाक करने, इधर-उधर घूमने जाने तक का उन्हे मौका मिलने लगा है। यह परिस्थिति उन्हे प्रेमालप का सुअवसर देती है, प्रेम विवाह तक करने के लिए उन्हे प्रेरित करती है। सहशिक्षा और स्त्री-पुरुषो के साथ-साथ नौकरी आदि करने की सुविधा ने कुछ को जाति-पाँति के बन्धनो को तोडकर अन्तर्जातीय विवाह करने के लिए प्रोत्साहित किया है।

आजकल माता-पिता अपनी लडकियो का विवाह ऐसे लडको के साथ करना चाहते हैं जो शिक्षित हो, जिनकी आय इतनी हो कि वे सुगमता से अपनी पत्नी तथा बच्चो का भरण-पोषण कर सकें तथा जिन्होने कोई सामाजिक एव आर्थिक प्रस्थिति अर्जित करली हो। इसका तात्पर्य है—विवाह की आयु म वृद्धि। विवाह की यह बढती हुई आयु सयुक्त परिवार मे व्यक्ति के अनुकूलन को कठिन बना देती है।

वर्तमान समय मे पति-पत्नी दोनो ही नौकरी करने लगे है। यदि वे दोनो ही अलग-अलग स्थानो पर नौकरी करते हैं, तो उन्हे एक-दूसरे से दूर रहना पडता है। उच्च मध्य-

वर्गीय लोगो मे अक्सर यह स्थिति पाई जाती है। श्रमिक-वर्ग के लोगों मे भी समान स्थिति दिखलाई पडती है। जब पुरुष को प्रथम बार नौकरी मिलती है, तो कुछ समय तक साधारणत: उसे पत्नी एव बच्चों से अलग रहना पडता है। इस प्रकार आर्थिक कारको ने पति-पत्नी को एक-दूसरे से अलग रहने तक के लिए प्रेरित किया है।

हमारे देश मे भारतीय परिवार पर अनेक वैज्ञानिक शोध-कार्य हुए हैं जिनसे बदलते हुए पारिवारिक प्रतिमानों के सम्बन्ध में कुछ जानकारी प्राप्त की जा सकती हैं। प्रोफेसर रॉस ने भारत में चार प्रकार के परिवारों का उल्लेख किया है · प्रथम, वृहद् सयुक्त परिवार जिसमे तीन या अधिक पीढ़ियों के सदस्य एक ही मकान मे साथ-साथ रहते हैं, जिनका एक ही रसोई मे खाना बनता है, जो सामान्य सम्पत्ति के भागीदार होते हैं और जो खर्च चलाने के लिए अपनी आय को इकट्ठा कर लेते हैं, द्वितीय, छोटा सयुक्त परिवार जिसमे माता-पिता अपने विवाहित लडकों और अन्य अविवाहित बच्चों के साथ रहते हैं, या दो भाई अपनी पत्नियो एव बच्चो के साथ इकट्ठे रहते हैं, तृतीय, नाभिक परिवार जिसमे दो पीढ़ियो के लोग पाए जाते हैं, जिसमे अक्सर माता-पिता और उनके बच्चे होते हैं; चतुर्थ, नाभिक परिवार-आश्रितों सहित जिसमें माता-पिता, उनके बच्चे तथा एक या अधिक आश्रित पाए जाते हैं। बगलौर के अधिकाश उच्च जाति के परिवारो के अध्ययन के आधार पर, श्रीमती रॉस ने बताया है कि प्रवृत्ति, नाभिक किस्म के पारिवारिक प्रतिमान की ओर है। बहुत से परिवार अपने जीवन के विभिन्न स्तरो पर विविध प्रकार के परिवारों के बीच चक्रीय गति से गुजरते हैं। भारत के नगरीय क्षेत्रो मे मध्यम और उच्च वर्गों में छोटा सयुक्त परिवार सर्वाधिक आदर्शभूत (Typical) स्वरूप है""लोगों की बढती हुई सख्या, अब कम से कम अपने जीवन का कुछ भाग एकाकी पारिवारिक इकाइयों मे बिताती है।[14]

प्रोफेसर एम० एस० गोरे ने हरियाणा क्षेत्र के अग्रवाल परिवारों के अध्ययन के आधार पर कहा है कि निदर्शन व्यवहार, भूमिका बोध और अभिवृत्तियों की दृष्टि से अधिकाशत: सयुक्त परिवार प्रतिमान की पुष्टि करता है। इस प्रकार के पारिवारिक प्रतिमान के अनुरूप तथ्यो के प्राप्त होने के साथ ही यह भी प्रतीत होता है कि नगरीय निवास और शिक्षा कुछ मात्रा मे पारिवारिक प्रतिमान मे अन्तर लाने के लिए उत्तरदायी है।[15] आपकी मान्यता है कि प्रत्येक, विशेष रूप से युवक "सीमित परिवर्तन" के पक्ष मे हैं। यदि परिवार से सम्बन्धित शोध-कार्यों का अध्ययन किया जाए, तो ज्ञात होगा कि सरचनात्मक दृष्टि से कुछ परिवर्तन आ रहे हैं, परन्तु अभिवृत्ति सम्बन्धी परिवर्तनों का आना मुश्किल है। डॉ० कापडिया का कहना है कि युवा सदस्यों और परिवार के बीच तथा युवा स्त्री-पुरुषो के बीच, सम्बन्धो को इस प्रकार पुनः निर्धारित करने की आवश्यकता है कि युवा लोगो को अपने व्यक्तित्व के विकास हेतु पूर्ण अवसर मिल सकें। आपकी मान्यता है कि सयुक्त परिवार से अलग हो जाने पर भी लोगो के अपने मूल परिवार के साथ दृढ भावात्मक सम्बध

14 Aileen D Ross, op. cit, p 50.

15. M S Gore, op cit, p 232

पाये जाते हैं। जन्म, विवाह, मृत्यु आदि अवसरो पर सभी सदस्य इकट्ठे होते हैं और अपनी अपनी क्षमता के अनुसार वित्तीय एव अन्य दायित्वो को निभात हैं।[16]

डॉ० देसाई ने गुजरात के एक छोटे कस्बे महुआ के परिवारो के अध्ययन के आधार पर यह बताया है कि अधिकाशत सयुक्त परिवार, अब भी मान्य प्रतिमान है। आपने नाभिक परिवारो मे कोई वृद्धि नही पाई और कई लोगो के अनुमानो के विपरीत यह पाया कि नाभिकता जाति, धर्म, व्यवसाय या शिक्षा के साथ-साथ व्यवस्थित रूप से परिवर्तित नही हुई है। लेकिन इस अध्ययन के आधार पर इस उपकल्पना का कि नाभिक परिवार और औद्योगीकरण, नौकरशाहीतन्त्र (Bureaucratization), नगरीकरण और मुद्रीकरण (Monetization), के बीच सम्बन्ध है, खण्डन नही होता है।[17] प्रो० देसाई ने स्वय कहा है कि अपने 'वशज समूह' यानि पति, पत्नी और बच्चो के हितो को बढावा देने के प्रयत्नो से परिवार मे प्रतिस्पर्द्धा उत्पन्न होती है। बिहारी एल० अबी (Behari L. Abbi) के अनुसार यदि हिन्दू सयुक्त परिवार किन्हीं भी छोटी इकाइयो को मान्यता नही देते हैं तो ये वशज समूह कहाँ से फूट निकलते हैं ? आपकी मान्यता है कि एक अवस्था ऐसी आ सकती है जब परिवार, सदस्यों के दृष्टिकोण से, कई छोटे उप-समूहो से मिलकर एक समूह बन जाए, यद्यपि अभी भी बाहर वालों के सम्बन्ध मे यह अविभेदीकृत एकता का दिखावा बनाए रख सकता है। आपका दावा है कि विभाजन के बिन्दु पर पहुँचने के काफी पूर्व, गृहस्थी मे उप-समूह उभरते और मजबूत हो जाते हैं। यह केवल आकार मे वृद्धि और झगडो की आवृत्ति के कारण ही नहीं बल्कि उप समूहों द्वारा अपने भिन्न हितो मे सामञ्जस्य स्थापित करने की अयोग्यता के कारण भी विभाजित होता है।[18] ऐसा प्रतीत होता है कि वर्तमान मे व्यक्ति, सयुक्त परिवार के आदर्श से हटकर नाभिक आदर्श की ओर बढ रहा है। वह रक्त-सम्बन्ध की बजाय दाम्पत्य-सम्बन्ध को अधिक महत्त्व देने लगा है, अपने बालकों के पालन-पोषण का उत्तरदायित्व अपना ही समझने लगा है। बिहारी एल० अबी का कथन है कि प्रो० गोरे ने श्री देसाई से भिन्न, सयुक्त परिवार मे नाभिक परिवार उप-व्यवस्था और एक सीमित प्रकार की द्विपक्षी नातेदारी व्यवस्था मे पाश्चात्य नाभिक परिवार की सन्निहित भूमिका को भी माना है।[19] प्रो० गोरे ने यद्यपि व्यवहार, भूमिका बोध एव अभिवृत्तियो की दृष्टि से सयुक्त पारिवारिक प्रतिमानों की पुष्टि की है तथापि उन्होंने अपने अतिरिक्त निदर्शन के आधार पर यह भी माना है कि नगरीय निवास तथा शिक्षा ने लोगो को सयुक्त पारिवारिक जीवन की कठिनाइयो के प्रति जागरूक बनाया है, अब वे कुछ मात्रा मे दाम्पत्य सम्बन्ध के महत्त्व को स्वीकार करने लगे हैं। कोलिन्डा (Kolenda) ने पारिवारिक प्रतिमानो के तुलनात्मक अध्ययन (१९६७) के आधार पर कहा है कि नाभिक गृहस्थ बहुमत मे थे, यद्यपि अधिकांश लोग सयुक्त परिवारो मे रह रहे थे। आपने यह भी पाया कि अस्पृश्य जातियो मे सयुक्त परिवारो का विस्तार सबसे कम, ब्राह्मणों मे मध्यम, तथा अन्य द्विज जातियो मे ऊँचे से ऊँचा था।

---

16 K M Kapadia op cit, pp 320—323
17. I P Desai, quoted by P D Devanandan and M M Thomas, op cit, p 99
18 Behari K Abbi 'Urban Family in India Contributions to Indian Sociolgy,' No III December, 1969, pp 120—121.
19 Ibid, P, 122

संरचना भिन्न-भिन्न रही है। यह मान्यता कि सम्पूर्ण हिन्दू समाज मे सयुक्त परिवार प्रतिमान ही पाया जाता रहा है, वास्तविकता की दृष्टि से ही सही नहीं है। बडे सयुक्त परिवार जिनको हम परम्परागत रूप से हिन्दू समाज के विशिष्ट लक्षण के रूप मे मानते हैं, वास्तव मे उसके किसी भाग से सबधित रहे हैं। आपने बतलाया है कि उत्तरी भारत के गांवो मे बडे सयुक्त परिवार राजपूत, जाट, भूमिहर तथा अन्य भू-स्वामी जातियो से ही परम्परागत रूप से सबधित रहे हैं। कुछ व्यापारिक समुदाय भी बड़े परिवारो से सम्बद्ध दिखलाई पडते हैं। इन वर्षों मे किए गये ग्राम अध्ययनो से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि भू-स्वामी जातियो मे बडे परिवार अधिक सामान्य हैं, जबकि निम्न जातियो मे नाभिक परिवार तुलनात्मक दृष्टि से अधिक है।[23] स्पष्ट है कि भारतीय परम्परागत सामाजिक सरचना मे विभिन्न प्रकार के परिवार पाये जाते रहे हैं।

० योगेन्द्रसिंह ने बतलाया है कि भारत के कुछ प्रदेशों में नाभिक या छोटे परिवारो की प्रधानता परिवारो की सामाजिक सरचना मे परिवर्तन का अभिसूचक (index) नही हो सकती क्योंकि यह प्रतिमान एक पुराना प्रतिमान है।[24] आई. पी. देसाई तथा कई अन्य समाजशास्त्रियो ने अवलोकित किया है कि भारत मे नाभिक परिवार सयुक्त परिवार चक्र मे एक अवस्था है। इस सबध मे डॉ० एस० सी० दूबे ने बताया है कि सरल से वृहद और वृहद से सरल परिवारो के रूप मे परिवर्तन स्पष्टत तीव्र है। पूर्ण तीन पीढियो वाले वृहद परिवार मिलना कठिन है, और न ही बहुत से सरल परिवार प्राविधिक दृष्टि से अधिक लम्बी अवधि तक सरल बने रह सकते हैं।[25] इस सबध मे प्रो० देसाई ने बताया है कि दो-तरफा प्रक्रिया, सयुक्तता से नाभिकता की ओर, और नाभिकता से सयुक्तता की ओर अभी भी चालू है और यह सयुक्तता के पक्ष मे कार्य कर सकती है क्योंकि हमने देखा है कि सयुक्त रूप मे बने रहने की वांछा मे विश्वास काफी रूप मे पाया गया।[26] परिवार की सरचना की दृष्टि से हमे इस ओर भी ध्यान देना होगा कि सयुक्त परिवार एक चक्रीय प्रक्रिया के माध्यम से अपनी निरन्तरता को बनाये रखता है। एक सयुक्त परिवार खण्डित होकर शीघ्र ही कई नवीन सयुक्त परिवारो को जन्म नही देता है। सयुक्त परिवारो से पृथक होने वाले निर्मायक भाग प्रारम्भ मे नाभिक परिवारो के रूप मे होते हैं और कालान्तर में वे सयुक्त परिवारो के रूप मे विकसित हो जाते है। इस प्रकार विकास का नवीन चक्र पुन प्रारम्भ हो जाता है। अत नाभिक परिवार को एक नवीन प्रकार की पारिवारिक सरचना मानने के बजाय सयुक्त परिवार व्यवस्था का एक भाग माना जाना चाहिए।

यहाँ कुछ अन्य विद्वानों के विचारो से परिचित होना भी आवश्यक है। वी के. रामानुजम का कथन है कि वर्तमान मे, या तो आर्थिक आवश्यकताओ के कारण या व्यक्ति-

---

23. Andre Beteille, 'Family and Social Change in India and Other South Asian Countries,' Economic Weekly Annual, XVI (1964), p. 238
24. Yogendra Singh, op. cit, p. 178.
25. S C. Dube, 'Men's and Women's Role in India,' A Sociological Review, (ed.) Baravaa E. Ward, Women in New Asia, p. 177.
26 I P. Desai, op. cit., pp. 146—147.

गत कारणों से, नाभिक परिवार स्थापित करने की ओर झुकाव है।[27] इसी प्रकार के विचार व्यक्त करते हुए देवानन्दन तथा थॉमस ने लिखा है कि परिवर्तनों के इतने कारकों के कारण, गति नाभिक पारिवारिक प्रतिमान की ओर है, जिसमे एक पति-पत्नी अपने अविवाहित बच्चो के साथ पाए जाते हैं। यह प्रतिमान व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और सभी सदस्यों के, विशेष रूप से स्त्रियों और बच्चो के स्वतन्त्र निर्णय का अधिक मात्रा में आदर करेगा।[28]

वर्तमान समय मे बदलते हुए पारिवारिक प्रतिमानों से सम्बन्धित कुछ नवीन समस्याएं भी सामने आई हैं। आजकल आर्थिक कारणों से स्त्रियाँ नौकरी करने लगी हैं और उनके पति उनके नौकरी करने को साधारणतः बुरा नहीं समझते। लेकिन कठिनाई यह है कि पुरुष, परिवार मे उनकी बदली हुई प्रस्थिति और भूमिका को स्वीकार करने को तैयार नहीं। वे नही चाहते कि उनकी पत्नियाँ घरों मे अपने परम्परागत उत्तरदायित्वों की तनिक भी अवहेलना करें जबकि वास्तविकता यह है कि नौकरी के कारण अब वे घर मे उतना समय नहीं दे पातीं और न ही उतनी कुशलता मे सब पारिवारिक कार्यों को पूर्ण कर पाती हैं। स्त्री की इस नवीन भूमिका ने परिवार मे तनाव की स्थिति पैदा कर दी है, क्योंकि वह नौकरी करती हुई पति, सास-ससुर, बच्चों तथा अन्य रिश्तेदारों की सब प्रकार की अपेक्षाओं को पूर्ण नही कर पाती है। आजकल की शिक्षित स्त्रियाँ विवाह के पश्चात् शीघ्र ही अपनी पृथक् गृहस्थी बसाना चाहती हैं।

वर्तमान में एक ओर विवाह की आयु बढ़ रही है और दूसरी ओर स्कूलों एव कॉलेजों मे लड़के-लड़कियों को एक दूसरे के सम्पर्क में आने का मौका मिला है। उन्हें आपस मे भावात्मक सम्बन्ध स्थापित करने का सुअवसर प्राप्त हुआ है। लेकिन इसके साथ ही लोगों के सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों म विशेष अन्तर नहीं आया है। लड़के-लड़कियों के मिलने-जुलने को आज भी रोकने का प्रयत्न किया जाता है। अभी भी अधिकांश विवाह माता पिता द्वारा ही निश्चित किए जाते हैं। लड़के-लड़कियों को एक-दूसरे के सम्पर्क में आने का अवसर अवश्य मिला है, लेकिन अपने जीवन साथी के चुनाव मे उन्हें अभी तक अपेक्षित स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं है। अपने मनचाहे लड़के के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित नहीं कर पाने के कारण आज अनेक लड़कियों म निराशा पाई जाती है। यह निराशा आग चल कर उनके पारिवारिक सम्बन्धों पर कुप्रभाव डालती है। आज समय बदल चुका है, मूल्यों में भी कुछ परिवर्तन आया है और ऐसी दशा मे व्यवहार के परम्परागत तरीकों को बनाए रखना सम्भव नहीं है।

अभी तक माता-पिता अपने लड़कों से यह आशा करते हैं कि वे उनकी वृद्धावस्था में देखभाल करेंगे, उन्हें सुरक्षा प्रदान करेंगे। परम्परागत मूल्यों के अनुसार माता-पिता की सेवा करना, विशेषतः बुढ़ापे म, सन्तान का पवित्र दायित्व समझा जाता था। आज भी सिद्धांत रूप मे इसे स्वीकार अवश्य किया जाता है। लेकिन आज की आर्थिक कठिनाईयां

---

27 K. Ramanujam 'The Indian Family in Transition,' The Indian Family in the Change & Challenge of the Seventies, p 25

28 P. D. Devanandan & M. M. Thomas, op. cit., P. 116

के समय मे, कई लड़के यह दायित्व निभाने को तैयार नही हैं । यदि सभी पुत्र मिलकर इस दायित्व को पूरा करें, तब तो कोई कठिनाई नही आती, परन्तु यदि यह भार एक पुत्र पर ही आ पडता है, तो तनाव की स्थिति पैदा हो जाती है। माता-पिता की परिवार मे सिद्धात रूप मे सर्वोपरि सत्ता होती है, परन्तु व्यवहार मे वे आश्रितो की स्थिति मे पहुँच जाते हैं। यह स्थिति काफी सीमा तक पारिवारिक तनाव के लिए उत्तरदायी बन जाती है ।

नवोदित नाभिक परिवारों में माता पिता और सन्तान के बीच अन्त क्रिया अधिक पाई जाती है, सम्बन्धो मे अधिक घनिष्ठता दिखाई पडती है । दोनो ओर से एक-दूसरे से काफी अपेक्षाएँ की जाती हैं। शिक्षा के बढ़ते हुए महत्त्व के कारण, माता-पिता अपने बालको से यह आशा करते हैं कि स्कूल और कॉलेज मे उनकी प्रगति श्रेष्ठतम हो । बालक माता-पिता से अधिकाधिक सुविधाओ की माँग करते हैं, उन्हे अच्छे से अच्छे वस्त्र चाहिए और सिनेमा देखने, रेस्तोरां मे बैठने, पिकनिक पार्टी मे जाने के लिए खर्च के लिए राशि चाहिए । इसके अलावा, ग्रामीण क्षेत्रो से नगरो मे शिक्षा प्राप्त करने हेतु आने वाले छात्र, कालान्तर मे यह अनुभव करने लगते हैं कि उनमे और उनके परिवार में कोई भी समानता नही रही है, वे आधुनिक शिक्षा प्राप्त कर अपने आप को परिवार से भिन्न समझने लगते हैं। माता-पिता यह सोचने लगते हैं कि उनकी आशा और विश्वास का केन्द्र (पुत्र) उनसे दूर होता जा रहा है । यह स्थिति तनाव और निराशा को उत्पन्न करती है । डॉ॰ योगेश अटल ने बताया है कि शिक्षा के प्रसार के साथ-साथ कई प्रकार के पारिवारिक ढाँचे देखने को मिलते हैं । कुछ तो ऐसे परिवार हैं जिनमे माता और पिता दोनो ही अनपढ है और बच्चे पहली बार स्कूल का मुँह देखते हैं । कुछ ऐसे हैं, जिनमे माता अनपढ है या कम पढी-लिखी है और पिता पढ़ा-लिखा । कुछ मे दोनो ही पढे-लिखे हैं । शिक्षा मे नए तरीको से *स्कूल की संस्कृति घर तक पहुँचने लगती है । जिन स्थितियो मे घर की संस्कृति और* स्कूल की संस्कृति मे बहुत भेद होता है, वहा बालक के लिए सन्तुलन स्थापित करना अत्यन्त कठिन हो जाता है । कम पढी-लिखी माताएँ बच्चो को 'होम वर्क' में सहायता नही कर सकतीं । दिन-भर का थका मादा बाप भी मदद नही दे पाता । संक्रमण की इस स्थिति से अनेक परिवारो के बच्चे आज ग्रसित हैं और हमारी स्कूल व्यवस्था पश्चिमी तौर-तरीके अपनाने के आकर्षण मे सामाजिक ढांचे की इस महत्त्वपूर्ण बात को नजर अन्दाज करती जा रही है । स्कूलो और कॉलेजो मे पढने वाला छात्र जब व्यवस्था के विरोध मे आवाज उठाता है, तब हम उसे अनुशासनहीन करार दे देते हैं पर समस्या का यह समाधान नही है ।[29]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारतीय परिवार के परिवर्तनीय प्रतिमानो से सम्बन्धित कुछ समस्याएँ हैं, जिनका निदान आवश्यक है । आज आवश्यकता इस बात की है कि वैज्ञानिक शोध कार्यों द्वारा वास्तविकता का पता लगाया जाए, सही स्थिति के सम्बन्ध मे पूर्ण जानकारी प्राप्त की जाए और भारतीय परिवार के कल्याण और विकास की दृष्टि से नए तरीको को ढूँढ निकाला जाए । कानून बना देने मात्र से परिवार सम्बन्धी समस्याओ

---

29 योगेश अटल, 'भारतीय परिवार के 25 वर्ष' हिन्दुस्तान साप्ताहिक-स्वतन्त्रता विशेषांक, 15 अगस्त, 1972

का निराकरण नही किया जा सकेगा; उसके लिए प्रचार द्वारा स्वस्थ जनमत के निर्माण और वांछित परिवर्तन के लिए लोगो को तैयार करने की आवश्यकता है।

प्रश्न

1. परिवार की परिभाषा कीजिए। आधुनिक समाज मे इसके महत्त्वपूर्ण प्रकारो एव कार्यों की विवेचना कीजिए।
2. विभिन्न अध्ययनो के आधार पर भारत मे परिवार मे हो रहे परिवर्तनो का उल्लेख कीजिए।
3. आधुनिक परिवार मे होने वाले परिवर्तनों का वर्णन कीजिए। पारिवारिक जीवन मे परिवर्तन लाने वाले कारणो का पूरी तरह वर्णन कीजिए।
4. भारत मे नगरीय परिवार पर औद्योगीकरण द्वारा पड़ने वाले प्रभाव का मूल्यांकन कीजिये। अध्ययनो का उल्लेख कीजिए।
5. विभिन्न अध्ययनो का उल्लेख करते हुए परिवार के बदलते हुए प्रतिमानों की विवेचना कीजिए।
६. बदलते हुए पारिवारिक प्रतिमानो से सम्बन्धित कुछ नवीन समस्याओं का उल्लेख कीजिए।

□□□

अध्याय | 8

भारत में सामाजिक विधान

(Social Legislation in India)

प्रत्येक समाज में मानव-व्यवहार को नियन्त्रित और नियमित करने का प्रयास किया जाता है। इसी कारण उसमें अनेक आदर्श प्रतिमान पाए जाते हैं। इन्हीं आदर्श प्रतिमानों के अन्तर्गत संस्थाओं का विकास होता है और वे काम करती हैं। डॉ॰ आर॰ एन॰ सक्सेना का कथन है कि संस्था परिवर्तन, आदर्श नियमों में परिवर्तन की आवश्यकता उपस्थित करता है और आदर्श नियमों में परिवर्तन संस्था परिवर्तन की मांग करता है। संस्था और आदर्श नियमों में यदि अनुकूल परिवर्तन नहीं होता है, तो मानव व्यवहार और समाज में विरोध, संघर्ष और समस्याओं की उत्पत्ति होती है।[1]

मानव व्यवहार के नियामक आदर्श प्रतिमानों में जनरीतियों, प्रथाओं रूढ़ियों और कानूनों का सदैव महत्त्व रहा है। जैसे-जैसे समाज सरलता से जटिलता की ओर बढ़ता है, वैसे वैसे कानूनों का महत्त्व अधिकाधिक होता जाता है। वर्तमान में समाज अलिखित और रूढ़िगत कानून से लिखित अधिनियमित कानून की ओर बढ़ता जा रहा है। आज अनेक शक्तियों, जैसे औद्योगीकरण, नगरीकरण, धर्म निरपेक्षता, मानव-समस्याओं के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण तथा समाज-कल्याण की भावना आदि ने रूढ़ि के स्थान पर कानून के महत्त्व को बढ़ाने में योग दिया है। जन-कल्याण के माध्यम के रूप में राज्य की शक्ति और प्रभाव में वृद्धि हुई है। वर्तमान में सामाजिक विधान का महत्त्व दिन-प्रति दिन बढ़ता जा रहा है।

समाज की आवश्यकताओं समाज-कल्याण तथा सामाजिक समस्याओं को हल करने के लिए, समय समय पर राज्य द्वारा जो अधिनियम पारित किए जाते हैं, उन्हें ही सामाजिक विधान कहा जाता है। ओलिवर वेन्डल होम्स का कथन है कि आज का विधान *बीते हुए कल की सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए है।*[2] विधान के इस अर्थ के अनुसार यह कहा जा सकता है कि सामाजिक विधान समय से पिछड़ जाता है, वर्तमान

---

1 आर एन सक्सेना, पू उद्धृत, पृ १०६

2 Ol ver Wendell Holmes quoted in the book Social Legislation , Govt of Ind a, Publ cation Division, P 1

आवश्यकताओं से सदैव पीछे रह जाता है। लेकिन साथ ही इस बात से भी इन्कार नही किया जा सकता कि आज के युग में विधान सामाजिक परिवर्तन का एक महत्वपूर्ण माध्यम भी है। वह लोगो के विचारों, विश्वासो और मनोवृत्तियों में परिवर्तन लाने का एक साधन है। प्रचलित कानूनों और समाज की वर्तमान आवश्यकताओ के बीच की खाई को पाटने वाला सुविचारित विधान ही सामाजिक विधान कहा जा सकता है।[3] स्पष्ट है कि समाज की आवश्यकताओ की पूर्ति हेतु राज्य द्वारा पारित अधिनियमो को ही सामाजिक विधान की संज्ञा दी जाती है। अतः सामाजिक कुरीतियों से छुटकारा पाने, समाज सुधार हेतु उपयुक्त परिस्थितियाँ पैदा करने और सामजिक विघटन को नियन्त्रित करने की दृष्टि से राज्य द्वारा पारित अधिनियम ही सामाजिक विधान के अन्तर्गत आते हैं।

भारत में सामाजिक विधान का महत्व
(Importance of Social Legislation in India)

भारत एक ऐसा देश है जहाँ सामाजिक जीवन को नियमित करने की दृष्टि से रूढियो का विशेष महत्व रहा है हिन्दू समाज मे रूढियों को सदैव ही धर्म का समर्थन प्राप्त रहा है। परिणाम यह हुआ है कि वे रूढियाँ जो समाज की प्रगति मे बाधक, अनेक कुरीतियो और सामाजिक समस्याओ तथा समाज की आवश्यकताओ को पूर्ण करने के बजाय उसको विघटित करने के लिए उत्तरदायी थीं, धर्म के आवरण मे समाज मे शक्तिशाली बनी रही, समाज को खोखला करती रहीं, उसकी चेतना को खाती रहीं।

हिन्दू समाज मे विवाह और परिवार के क्षेत्र मे अनेक समस्याएँ पाई जाती हैं, जैसे बाल-विवाह, विधवा-पुनर्विवाह पर प्रतिबन्ध, अन्तर्जातीय विवाहो पर रोक, बहुपत्नी विवाह का प्रचलन, दहेज प्रथा, स्त्रियो की गिरी हुई स्थिति आदि। साथ ही हिन्दू समाज मे पिछडी जातियो और अस्पृश्य लोगो को अनेक निर्योग्यताओ से पीडित रहना पडा है। उनके साथ भेद-भाव बरता गया है, उन्हें छूना और देखना तक अनुचित समझा गया है। आज देश के सम्मुख इन सब लोगों के विकास की समस्या प्रमुख है, भेद-भाव को दूर करने की आवश्यकता है।

इन समस्याओ की ओर कुछ समाज सुधारको का ध्यान अवश्य गया था, लेकिन समाज को इन कुरीतियो से छुटकारा दिलाने मे वे सफलता प्राप्त नही कर सके। इसका मूल कारण यह था कि समाज मे काफी जडता आ चुकी थी, वह धर्म-भीरू बन चुका था, रूढियों का विरोध करने की जन-साधारण मे सामर्थ्य नही थी और जो थोडे बहुत प्रगतिशील लोग थे, उन्हें धर्म-विरोधी माना जा चुका था। ऐसी दशा में समाज को कुरीतियो से छुटकारा दिलाने की दृष्टि से समाज-सुधारक तक भी राज्य की ओर देखने लगे। अग्रेजी सरकार करोडों लोगो के सामाजिक और धार्मिक जीवन मे हस्तक्षेप नही करना चाहती थी; ऐसे प्रयोग के परिणामो के प्रति वह भयभीत थी। जनता के निश्चित समर्थन के प्राप्त होने के पश्चात ही विदेशी सरकार ने कुछ कानून पारित कर सामाजिक सुधार की दिशा

---

3. "Legislation calculated to bridge the gulf between the existing laws and the current needs of society may be called social legislation." Ibid. P 1.

मे प्रयास किया । स्पष्ट है कि समाज सुधार, समाज-कल्याण और सामाजिक पुनर्निर्माण की दृष्टि से भारत मे सामाजिक विधान का अत्यधिक महत्त्व है ।

कानून की सामाजिक परिवर्तन के एक उपकरण के रूप मे भूमिका
(Role of Law as an Instrument of Social Change)

यहाँ संक्षेप मे सामाजिक परिवर्तन के अर्थ को समझ लेना आवश्यक है । जब किसी विशिष्ट सामाजिक व्यवस्था की संरचना और क्रियाशीलता मे महत्वपूर्ण परिवर्तन दिखलाई पड़े, तो उसे सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया कहा जाता है । सामाजिक परिवर्तन का तात्पर्य यही है कि सामाजिक व्यवहार और सामाजिक संरचना मे कुछ परिवर्तन आए हैं । जब सामाजिक परिवर्तन पर एक प्रक्रिया के रूप मे विचार किया जाता है, तो इसका अर्थ यही है कि एक निश्चित तरीके से निरन्तर परिवर्तन हो रहा है । किसी भी क्षेत्र मे परिवर्तन की पहली स्थिति और दूसरी स्थिति मे अन्तर पाया जाता है । सामाजिक परिवर्तन के फलस्वरूप एकीकरण भी सम्भव है और विघटन भी ।

कानून के प्रकार्यों के सम्बन्ध मे दो दृष्टिकोण पाए जाते हैं । प्रथम दृष्टिकोण के अनुसार, कानून का मुख्य कार्य सामाजिक नियन्त्रण है । कानून के माध्यम से, प्रचलित नियमो के विपरीत आचरण अर्थात् विचलन को रोकने एव सामाजिक स्थिरता बनाए रखने का प्रयत्न किया जाता है । दूसरे दृष्टिकोण के अनुसार, कानून का मुख्य कार्य विश्वासो, मूल्यो एव व्यवहारो को प्रभावित कर सामाजिक परिवर्तन लाना है । गतिशील समाजो मे सामाजिक आदर्श प्रतिमान कानूनो से आगे रहते हैं । ऐसे समाजो मे सामाजिक मूल्यो के साथ अनुरूपता उत्पन्न करने हेतु अधिनियमो को पारित करना आवश्यक होता है । कही कहीं यह भी सम्भव है कि जनसाधारण के रीति-रिवाज और आचरण-संहिता, कुछ प्रभुत्वशाली अल्पसंख्यक लोगो के सामाजिक मूल्यो से काफी पिछड़ जाएँ । ऐसी स्थिति मे इन प्रभुत्वशाली लोगो के द्वारा कानून-संहिता को परिवर्तित करने का प्रयास किया जाता है ताकि सामान्य लोग नवीन सामाजिक मूल्यो को स्वीकार कर सकें ।

प्रो० कुप्पुस्वामी का कथन है कि सामाजिक परिवर्तन के एक उपकरण के रूप मे कानून मे दो अन्तर सम्बन्धित प्रक्रियाएँ सम्मिलित हैं । नए कानून द्वारा नवीन सामाजिक मूल्यों को व्यक्त करने वाले व्यवहार के एक नये प्रतिमान का संस्थायन (Institutionalzation) होना । जब यह नवीन प्रतिमान कानून संहिता मे सम्मिलित कर लिया जाता है, तो इस नवीन प्रतिमान से कोई भी विचलन कानून के अनुसार दण्डित किया जा सकता है लेकिन केवल संस्थायन मात्र होना काफी नही है । वह कानून का एक अपत्र बन सकता है, लेकिन एक सामाजिक शक्ति नही । कानून को एक सक्रिय सामाजिक शक्ति बनाने हेतु एक सम्बन्धित प्रक्रिया भी होनी चाहिए, अर्थात् व्यक्ति मे व्यवहार के इस नवीन प्रतिमान का आन्तरिकीकरण (Internalization) होना चाहिए । ये दोनो घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं । अगर संस्थायन सफल हो जाता है, तो वह वैयक्तिक परिवारो मे सामाजिक पालन पोषण द्वारा व्यक्ति की मनोवृत्तियो और विश्वासों मे परिवतन लाकर आन्तरिकीकरण को सुविधाजनक बना देता है । यदि इस प्रकार का आन्तरिकीकरण नही होता तब केवल कानूनी संहिताकरण (Legal Codification) और संस्थायन की कोई सामाजिक उपयोगिता नहीं होगी । दूसरी ओर, इससे स्वय कानून की अवहेलना होगी । कानून के प्रति लोगो का आदर कम

हो जाएगा ।[4] तात्पर्य यह है कि कानून के सामाजिक परिवर्तन के एक उपकरण के रूप मे सफल होने के लिए, कानूनी संहिताकरण द्वारा व्यवहार के नवीन प्रतिमान का संस्थायन और साथ ही इसका आन्तरिकीकरण आवश्यक है । उदाहरण के रूप मे, सन् १९५५ के पूर्व तक हिन्दू कानून के अनुसार कोई भी पुरुष पहली पत्नी के होते हुए भी, दूसरी स्त्री के साथ विवाह कर सकता था । साधारणत पहली पत्नी के लगातार बीमार, सन्तानहीन अथवा केवल लडकियों को जन्म देने की स्थिति मे ही वह पत्नी तथा अन्य रिश्तेदारो से आज्ञा प्राप्त कर दूसरा विवाह कर सकता था । कानून के बहुपत्नी विवाह के पक्ष मे होने के उपरान्त भी प्रथा के ऐसे विवाहो के विरुद्ध होने के कारण, बहुपत्नी विवाह बहुत कम होते थे । बहुपत्नी विवाह को समाप्त करने के लिए समय-समय पर समाज सुधारको और शिक्षित महिलाओं द्वारा आवाज उठाई गई । अन्त मे हिन्दू विवाह अधिनियम, १९५५ पारित किया गया, जिसके द्वारा एक विवाह को अनिवार्य कर दिया गया । स्पष्ट है कि यहाँ कानून के पारित होने के पूर्व से ही सामाजिक आदर्श-प्रतिमान बदल चुके थे, वे बहुपत्नी विवाह के विरुद्ध थे । हिन्दू विवाह अधिनियम १९५५ के द्वारा न्यायिक-पृथक्करण तथा विवाह-विच्छेद की आज्ञा प्रदान की गई, लेकिन अदालत की सहायता से न्यायिक-पृथक्करण अथवा तलाक बहुत कम स्त्रियो ने लिया । इसका कारण यह है कि प्रचलित आदर्श-प्रतिमान पृथक्करण एव तलाक के पक्ष मे नही हैं । इसी कानून द्वारा विवाह एक समझौता माना गया है । अब धार्मिक विधानो के अनुसार विवाह सम्पन्न करना आवश्यक नहीं है, परन्तु फिर भी अधिकाश हिन्दुओ मे विवाह आज भी धार्मिक विधि से ही होते हैं ।

एक अन्य उदाहरण के रूप मे अस्पृश्यता (अपराध) अधिनियम, १९५५ को लिया जा सकता है । अस्पृश्यो की अनेक निर्योग्यताएँ रही हैं । उन्हें नगर अथवा गाँव के बाहर सवर्ण हिन्दुओ से पृथक् रहना पडता था । उन्हें अन्य हिन्दुओ की सेवाएँ प्राप्त करने का अधिकार भी नही था । अस्पृश्यता के विरुद्ध समाज-सुधारको ने समय-समय पर आन्दोलन किए, लेकिन सामान्य लोगो पर उनका प्रभाव नहीं पडा । अधिकाश हिन्दू अस्पृश्यता मे विश्वास करते रहे, अस्पृश्यो के सम्पर्क से बचते रहे । महात्मा गाधी ने भी अस्पृश्यता निवारण की दृष्टि से विशेष प्रयास किया । अन्त मे, देश के स्वतन्त्र होने पर सविधान की धारा १७ के अनुसार अस्पृश्यता को समाप्त किया गया । कानूनी दृष्टि से अस्पृश्यो को अन्य हिन्दुओ के समान स्तर पर ला दिया गया । सन् १९५५ मे अस्पृश्यता (अपराध) अधिनियम पारित किया गया, जिसके अनुसार किसी भी रूप मे अस्पृश्यता बरतने वाले व्यक्ति को दण्डित करने की व्यवस्था की गई । अनेक सुविधाओ के प्राप्त होने से कई अस्पृश्यो को उन्नति के अवसर प्राप्त हुए । आज नगरो मे कई हरिजन अन्य हिन्दुओ के समान ही जलपान-गृहों, होटलो, सिनेमा और अन्य सार्वजनिक स्थानो पर जाते हैं वहाँ उनकी अनेक निर्योग्यताएँ दूर हो चुकी हैं । लेकिन गाँवो मे अस्पृश्य कहे जाने वाले लोग अब भी अनेक निर्योग्यताओ से पीडित है, वहाँ लोग अब भी अस्पृश्यता बरतते हैं । इस उदाहरण से ज्ञात होता है कि यहाँ कानून सामाजिक आदर्श-प्रतिमान से आगे है, विशेष रूप से ग्रामीण क्षेत्रो मे । इस नवीन सामाजिक आदर्श-प्रतिमान के अनुरूप कानून बन चुका है, इसका संस्थायन हो चुका है

---

4. B Kuppuswamy - Social Change in India, pp. 103-109.

परन्तु यह ग्रामीण क्षेत्रों मे लोगो के जीवन के तरीके को नही बदल पाया है । अधिकाश ग्रामीण लोग इस नवीन सामाजिक आदर्श-प्रतिमान को आत्मसात् नहीं कर पाए हैं, इसका आन्तरिकीकरण अभी तक नही हो पाया है । स्पष्ट है कि कानून बना देने मात्र से आचरण के पुराने तरीके नहीं बदल जाते । किसी सामाजिक प्रथा को बदलने के लिए केवल कानून बना देने मात्र से काम नहो चल जाता, उसके विरुद्ध सशक्त आन्दोलन चलाना आवश्यक होता है; जनता को प्रचार द्वारा किसी कुप्रथा के विरुद्ध तैयार करना अनिवार्य होता है । सन् १९२६ मे बाल-विवाह निरोधक अधिनियम पारित किया गया, लेकिन ऐसे विवाह लगातार खुले ग्राम होते रहे क्योंकि इस आदर्श प्रतिमान का कानून के रूप मे संस्थायन तो हो चुका था, लेकिन इसका आन्तरिकीकरण नही हुआ था, लोगो के सामाजिक मूल्य इस दिशा मे नही बदल पाए थे ।

प्रो० कुप्पुस्वामी का कथन है कि कानून केवल उसी समय सामाजिक परिवर्तन की एक प्रभावपूर्ण शक्ति हो सकती है जब अधिकाश लोग नवीन सामाजिक आदर्श-प्रतिमानो के पक्ष में हो और अधिकतर लोग उस नवीन सामाजिक प्रतिमान का पहले से ही—उसके कानून का भाग नही होने के उपरान्त भी, अनुकरण कर रहे हो, उदाहरणार्थ एक-विवाह प्रथा (Monogamy) । स्पष्ट है कि किसी भी नवीन आदर्श-प्रतिमान के संस्थायन मात्र से सामाजिक परिवर्तन नही लाया जा सकता । उसके लिए आन्तरिकीकरण आवश्यक है और आन्तरिकीकरण के लिए सामाजिक आन्दोलन अनिवार्य है, लोगों को प्रचार द्वारा नवीन आदर्श-प्रतिमान के पक्ष मे करना जरूरी है ।

अंग्रेजी शासन-काल मे सामाजिक विधान
(Social Legislation in British Period)

अंग्रेजी शासन-काल मे सती प्रथा एव बाल विवाह को रोकने, विवाह सम्बन्धि कुछ परम्परागत निषेधो को दूर करने, एक-विवाह के आदर्श को प्रतिपादित करने एव हिन्दू स्त्रियों को कुछ अधिकार प्रदान करने हेतु ये अधिनियम पारित किए गए ।

१ सती प्रथा निषेध अधिनियम, १८२९
(Regulation No XVII, 1829)

सन् १८२९ से पूर्व भारत मे सती प्रथा का प्रचलन था । विधवा स्त्री को मृत पति के साथ चिता मे जल मरने के लिए प्रेरित किया जाता था । धार्मिक दृष्टि से ऐसा उचित माना जाता था । सती होने वाली स्त्री को सीधे स्वर्ग मे पहुँच जाने का लालच दिया जाता था । मुसलमानो के भारत में आगमन के पश्चात्, रक्त की शुद्धता बनाए रखने एव हिन्दू लडकियो और स्त्रियो के मुसलमानो के साथ विवाहो को रोकने की दृष्टि से सम्भवत बाल-विवाह और सती प्रथा का प्रचलन हुआ । मुसलमान लोग हिन्दू विधवाओं से विवाह करने को तत्पर थे । ऐसी दशा में विधवाओ से छुटकारा प्राप्त करने हेतु सती-प्रथा का सहारा लिया गया और इसे धर्म-सगत ठहराया गया । जो विधवाएँ सती नही होना चाहती थीं, उन्हे भी जिन्दा चिता मे जलने के लिए बाध्य किया जाता था । चिता के चारो ओर ढोल, नगाडे, शख आदि बजते थे, लोग चारो ओर लम्बे-लम्बे बांस, भाल आदि लिए खडे रहते थे ताकि विधवा चिता से भाग नही सके और न ही उसकी करुण चीत्कार कोई सुन सके ।

इस अमानवीय कृत्य के विरुद्ध राजा राममोहन राय ने आन्दोलन आरम्भ किया। उन्होंने धर्मशास्त्रों का अध्ययन करके बताया कि वेदों अथवा मनुस्मृति में विधवा के लिए सती होने की कहीं कोई व्यवस्था नहीं दी गई है। उनके आन्दोलन का लोगों पर इतना प्रभाव सम्भवतः पड़ा कि सन् १८१८ में सती होने वाली स्त्रियों की जो संख्या ८३९ थी, वह घट कर १८३९ में ४६३ रह गई। जब लॉर्ड विलियम बेन्टिंग ने देखा कि सती प्रथा के विरुद्ध काफी जनमत तैयार हो चुका है, तो अन्त में सन् १८२९ में सती-प्रथा निषेध अधिनियम पारित किया गया। इस अधिनियम के अनुसार किसी विधवा को सती होने के लिए बाध्य करना अथवा किसी भी रूप में ऐसा करने में सहायता देना दण्डनीय अपराध घोषित किया गया। वर्तमान समय में यह कुप्रथा समाप्त हो चुकी है, आज जनमत पूर्णत: इसके विरुद्ध है।

२. हिन्दू-विधवा पुनर्विवाह अधिनियम, १८५६
(Hindu Widow Remarriage Act, 1856):

यद्यपि कानून द्वारा सती-प्रथा समाप्त कर दी गई तथापि विधवाओं की स्थिति दयनीय होती गई। बाल-विवाह और कुलीन विवाह के प्रचलन के कारण विधवाओं की संख्या में तेजी से वृद्धि हुई और विधवाओं पर अनेक निर्योग्यताएँ लाद दी गई। धार्मिक आधार पर उन्हें पुनर्विवाह की आज्ञा नहीं दी गई। पिछली शताब्दी के मध्य कुछ प्रगतिशील समाज-सुधारकों, जैसे—ईश्वरचन्द्र विद्यासागर तथा बहरामजी मलाबारी आदि ने कानून द्वारा विधवाओं को पुनर्विवाह का अधिकार प्रदान किए जाने की माग की जिसके परिणामस्वरूप सरकार द्वारा हिन्दू विधवा पुनर्विवाह अधिनियम, १८५६ पारित किया गया। इस अधिनियम के द्वारा विधवाओं एवं उनके माता-पिता को विधवा-पुनर्विवाह सम्बन्धी अधिकार प्रदान किया गया। इस अधिनियम में ये व्यवस्थाएँ की गई हैं:

(१) दूसरे विवाह के समय यदि किसी स्त्री के पति की मृत्यु हो चुकी है तो ऐसा विवाह वैध है।

(२) ऐसे विवाह से उत्पन्न सन्तान वैध होगी।

(३) विधवा के नाबालिग और पहले पति से यौन-सम्बन्ध न होने की स्थिति में, उसके विवाह के लिए पिता, दादा, बड़े भाई अथवा निकट के किसी पुरुष रक्त सम्बन्धी की स्वीकृति आवश्यक है।

(४) विधवा के बालिग होने या पहले पति से यौन-सम्बन्ध स्थापित हो चुकने की दशा में उसे अपने पुनर्विवाह के लिए किसी की स्वीकृति की आवश्यकता नहीं है।

(५) पुनर्विवाह करने वाली विधवा का अपने पूर्व मृत पति की सम्पत्ति में कोई अधिकार शेष नहीं रहेगा।

(६) यदि पहले पति ने वसीयतनामे में उसे पुनर्विवाह की आज्ञा प्रदान कर दी है, तो उसका प्रथम पति की सम्पत्ति में अधिकार सुरक्षित रहेगा।

इस अधिनियम के पारित होने पर सन् १८५६ में ही प्रथम विधवा-पुनर्विवाह कलकत्ता में सम्पन्न हुआ। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने स्वयं अपने लड़के का विवाह विधवा के साथ किया था। अनेक स्थानों में विधवाओं के लिए आश्रम खोले गए और उनके पुनर्विवाह को

प्रोत्साहित करने के लिए कई विधवा-पुर्नविवाह समितियों का गठन भी किया गया। उच्च जातियों मे आज भी विधवा-पुर्नविवाह बहुत कम होते हैं यद्यपि उनके दृष्टिकोण धीरे-धीरे ऐसे विवाह के पक्ष मे बनते जा रहे हैं।

३ बाल-विवाह निरोधक अधिनियम, १९२९,

(The Child Marriage Restraint Act, 1929)

भारत मे बाल विधवाओं की काफी सख्या होने का एक मुख्य कारण यह था कि यहा छोटे-छोटे लडके-लडकियो का, ४–५ वर्ष की आयु मे ही विवाह कर दिया जाता था। बाल-विवाह को रोकने के लिए ब्रह्म समाज और आर्य-समाज के नेताओ ने प्रयास किया। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर तथा कुछ अन्य लोगो के विरोध के कारण सन् १८६० मे एक अधिनियम द्वारा लडकी के विवाह की न्यूनतम आयु १० वर्ष करदी गई और सन् १८९१ मे पारित एक अन्य अधिनियम द्वारा इस आयु को बढाकर १२ वर्ष कर दिया गया। बाल विवाह के विरुद्ध फिर भी प्रयास जारी रहे और सन् १९२९ मे श्री हरविलास शारदा के प्रयत्नो से "बाल विवाह निरोधक अधिनियम" पारित हुआ जिसे "शारदा एक्ट" भी कहते है। यह अधिनियम १ अप्रेल, १९३० से सम्पूर्ण देश पर लागू कर दिया गया। इस अधिनियम मे निम्न धाराएं रखी गई

(१) विवाह के समय लडके-लडकियो की कम से कम आयु क्रमश १८ वर्ष और १४ वर्ष होनी चाहिए। सन् १९४९ मे लड़कियो के लिए विवाह की इस आयु को १५ वर्ष कर दिया गया। लडके एव लडकियो की विवाह की आयु बढा कर क्रमश २१ और १८ वर्ष करने हेतु लोक-सभा मे बिल रखा गया था परन्तु वह पास नही हो पाया। अब लोक सभा के विचाराधीन एक नवीन बिल रखा गया है जिसमे लडको के विवाह की आयु २१ वर्ष और लडकियो की १६ वर्ष करने का प्रावधान है। इससे कम आयु मे सम्पन्न होने वाले विवाह को बाल-विवाह की सज्ञा दी गई है और उसे दण्डनीय अपराध माना गया है।

(२) विवाह हो जाने के पश्चात् कोई भी विवाह कानून द्वारा अमान्य नही माना जाएगा।

(३) इस अधिनियम के विरुद्ध विवाह करने वाले लडके को यदि उसकी आयु १८ वर्ष से २१ वर्ष के बीच है तो १५ दिन जेल या एक हजार रुपया जुर्माना अथवा दोनो की सजा हो सकती है।

(४) यदि १५ वर्ष से कम आयु की लडकी के साथ विवाह सम्बन्ध स्थापित करने वाले वर की आयु २१ वर्ष से अधिक है, तो उसे ३ मास की जेल या जुर्माना या दोनो हो सकते हैं।

(५) बाल विवाह के सम्पन्न होने मे सहायता देने वाले व्यक्तियों जैसे नाई, पडित, बराती आदि को भी ३ मास की साधारण कैद एव जुर्माने का दण्ड दिया जा सकता है।

(६) जो माता-पिता या सरक्षक ऐसे विवाहो के सम्पन्न होने मे योग देंगे, उनके लिए भी ३ मास की साधारण कैद एव जुर्माने की व्यवस्था की गई।

(७) पुलिस बाल-विवाह को रोकने के लिए कोई कार्रवाई तब तक नहीं करेगी, जब तक कि कोई व्यक्ति पुलिस को इस सम्बन्ध मे पूर्व सूचना न दे।

(८) बाल विवाह सम्बन्धी मुकदमो की सुनवाई केवल प्रथम श्रेणी के मजिस्ट्रेट की अदालत मे ही होगी।

(९) विवाह सम्पन्न हो जाने के १ वर्ष पश्चात् अदालत किसी प्रकार की शिकायत पर कोई विचार नही करेगी।

(१०) ऐसे विवाह की पूर्व सूचना मिल जाने पर अदालत उसे रोकने का आदेश जारी कर सकती है। आदेश का उल्लघन करने वाले को तीन महिने की कैद अथवा एक हजार रुपया जुर्माना या दोनो की सजा दी जा सकती है।

(११) इस अधिनियम के अनुसार स्त्रियो को कैद की सजा नही दी जाएगी।

इन धाराओ से स्पष्ट है कि इस अधिनियम के अन्तर्गत बाल विवाह करने वालों को दण्डित करना बहुत कठिन था। यह अधिनियम व्यावहारिक रूप स सफल नही हो सका। प्रचार के अभाव म ग्राम के लोगों तक यह पहुँच ही नही पाया। वतमान समय म सामाजिक आदर्श—प्रतिमानो मे परिवर्तन आन से बाल-विवाह का प्रचलन बहुत कम हो गया है। इस कानून का आज तक जितना उल्लघन हुआ, उसमे स्पष्ट है कि कोई भी सामाजिक विधान तब तक प्रभावशाली नही हो सकता, जब तक कि प्रचार के माध्यम से लोगो के विचारो, विश्वासो और सामाजिक मूल्यो मे परिवर्तन नही लाया जाता तथा नवीन सामाजिक विधान की उपयोगिता से उनको परिचित नही कराया जाता।

४ हिन्दू स्त्रियो का सम्पत्ति पर अधिकार अधिनियम, १९३७

(The Hindu Women's Right to Property Act, 1937)

विधवा की अपन मृत पति की सम्पत्ति मे अधिकार सम्बन्धी निर्योग्यता को दूर करने और उसे सम्पत्ति मे अधिकार प्रदान करने के उद्देश्य स सन् १९३७ म हिन्दू स्त्रियो का सम्पत्ति पर अधिकार अधिनियम पारित किया गया। इस अधिनियम के अन्तगत विधवा के लिए निम्नलिखित व्यवस्थाएँ की गई

(१) दाय भाग से नियन्त्रित परिवार म यदि बिना वसीयत किए ही किसी व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है, तो उसकी विधवा स्त्री को सम्पत्ति मे पुत्र के बराबर अधिकार प्राप्त होगा।

(२) मिताक्षरा से नियन्त्रित परिवार मे यदि वसीयत नही की गई है, तो पति की विधवा को अपन पति की सम्पत्ति पर उसका सीमित अधिकार होगा, वह अपने जीवन काल म इस सम्पत्ति का उपभोग कर सकती है इस बेच या किसी को दे नही सकती है। लेकिन धार्मिक कर्त्तव्यो के पालन हेतु वह ऐसा कर सकती है।

(३) अन्य नियमो के आधार पर नियन्त्रित परिवारों म विधवा को अपने मृत पति की व्यक्तिगत सम्पत्ति मे जीवित लडको के समान ही हिस्सा प्राप्त होगा।

(४) यदि परिवार मे किसी लडके की मृत्यु पिता के पूर्व ही हो जाती है, तो उसकी विधवा को पति के हिस्से का उत्तराधिकार लडको एव पौत्रो के साथ ही मिल जाएगा।

इन धाराओ स ज्ञात होता है कि विधवा का इस अधिनियम द्वारा सम्पत्ति सम्बन्धी आंशिक अधिकार ही प्रदान किए गए थे। विधवा की मृत्यु के पश्चात् सम्पत्ति पर पुन पति के उत्तराधिकारियो को अधिकार मिल जाता था

५ अलग रहने एव भरण-पोषण हेतु हिन्दू विवाहित स्त्रियो का अधिकार अधिनियम, १९४६

(The Hindu Married Women's Right to Separate Residence and Maintenance Act, 1946)

हिन्दू स्त्रियो को तलाक सम्बन्धी कानूनी अधिकार प्राप्त न होने पर भी, १९४६ मे कुछ विशेष परिस्थितियो मे अपने पति से पृथक् रहने एव पति से अपने भरण-पोषण हेतु कुछ राशि प्राप्त करने का अधिकार मिल गया। ये परिस्थितियाँ निम्नलिखित हैं

(१) यदि पति किसी ऐसे घृणित रोग से ग्रसित हो, जो पत्नी के सम्पर्क से नही हुआ हो।

(२) पति के अत्याचार पूर्ण व्यवहार के कारण पत्नी उसके साथ रहना खतरनाक समझती हो।

(३) पति ने अपनी पत्नी को छोड दिया हो।

(४) पति द्वारा दूसरा विवाह कर लिया गया हो।

(५) पति ने अपना धर्म छोडकर अन्य धम ग्रहण कर लिया हो।

(६) पति का किसी अन्य स्त्री के साथ सम्बन्ध हो। पति स अलग रहने की राजाज्ञा मिलने पर अदालत को यह अधिकार होगा कि पति की आय एव स्थिति को ध्यान मे रखकर वह स्त्री को उसके भरण-पोषण हेतु उचित राशि दिलवाए।

६ मुस्लिम विवाह से सम्बन्धित दो अधिनियम मुख्य हैं

१ मुस्लिम शरीयत अधिनियम, १९३७
(The Muslim Personal Law (Shariat) Application Act, 1937),

२ मुस्लिम विवाह-विच्छेद अधिनियम, १९३९
(Dissolution of Muslim Marriage Act, 1939)

इन दोनो ही अधिनियमो पर "मुसलिम विवाह और परिवार" नामक अध्याय के अन्तर्गत विचार किया जा चुका है। यहाँ इतना ही लिखना काफी है कि मुसलिम शरीयत अधिनियम, १९३७ के पारित होने के पूर्व पत्नी, पति के नपुंसक होने या पति द्वारा पत्नी पर व्यभिचार का आरोप लगाए जाने और उसके झूठा सिद्ध होने पर ही तलाक की माग कर सकती थी। परन्तु इस अधिनियम के अनुसार पत्नी को इला और जिहर के आधार पर भी विवाह विच्छेद करने का अधिकार मिल गया है। सन् १९३९ म पारित 'मुसलिम विवाह-विच्छेद अधिनियम" द्वारा स्त्रियो की विवाह विच्छेद सम्बन्धी सभी निर्योग्यताएँ दूर कर, उन्हे काफी अधिकार प्रदान किए गए हैं। इस अधिनियम ने पुरुषो की निरकुशता कम करने और मुसलिम स्त्रियो की स्थिति मे सुधार लाने मे काफी योग दिया। जिन आधारो पर मुसलिम स्त्री को विवाह-विच्छेद के अधिकार दिए गए हैं, उनका वर्णन पहले ही किया जा चुका है।

७ भारत मे ईसाई-विवाह से सम्बन्धित दो अधिनियम उल्लेखनीय हैं

१ भारतीय ईसाई विवाह अधिनियम, १८७२
(The ndian Christian Marriage Act, 1872)

२ भारतीय विवाह विच्छेद अधिनियम, १८६९ /
(The Indian Divorce Act of 1869)।

प्रथम अधिनियम के अनुसार, पादरी या वे व्यक्ति जिन्हें लाइसेंस प्राप्त हैं, दो ईसाइयो के बीच विवाह सम्पन्न करा सकते हैं। सरकार इस कार्य के लिए एक या अधिक

ईसाइयो को मैरिज-रजिस्ट्रार के रूप मे नियुक्त कर सकती है। परन्तु ऐसे किसी मैरिज-रजिस्ट्रार के न होने पर जिला-मजिस्ट्रेट भी इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए अधिकृत किया जा सकता है। इस अधिनियम मे उन नियमों का उल्लेख किया गया है, जिनके अनुसार धर्म के मिनिस्टरो यानि पादरियो को विवाह सम्पन्न कराना होता है। विवाह करने वाले दोनो पक्ष दो गवाहो की उपस्थिति मे पादरी अथवा मैरिज रजिस्ट्रार के सम्मुख ईश्वर की शपथ लेकर कानूनी दृष्टि से एक दूसरे को जीवन-साथी के रूप मे स्वीकार करते है। इस अधिनियम के अन्तर्गत विवाह करने हेतु लडके-लडकियो की न्यूनतम आयु क्रमश १६ वर्ष और १३ वर्ष होनी चाहिए। इससे कम आयु होने पर उनके सरक्षको की स्वीकृति आवश्यक है। विवाह के लिए एक शर्त यह रखी गई है कि विवाह के समय किसी का भी पहला जीवन साथी जीवित नही होना चाहिए, अर्थात् एक विवाह प्रथा को मान्यता दी गई है।

भारतीय विवाह-विच्छेद अधिनियम, १८६६ पर "ईसाइयो मे विवाह एव परिवार' अध्याय के अन्तर्गत सविस्तार विचार किया गया है।

८. विशेष विवाह अधिनियम १८७२, १९२३, १९५४ :
(Special Marriage Act, 1872, 1923, 1954)

१८७२ मे पारित "विशेष विवाह अधिनियम" द्वारा उन सभी व्यक्तियो को आपस में वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने की आज्ञा प्रदान की गई जो किसी भी धर्म को नही मानते हो। इस अधिनियम के अन्तर्गत विवाह करने वालो को यह घोषणा करनी पडती थी कि वे हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी, जैन, बौद्ध, सिक्ख आदि किसी भी धर्म को नही मानते। सन् १९२३ मे इस अधिनियम मे सशोधन कर विभिन्न जातियो के व्यक्तियो को आपस मे विवाह करने की अनुमति और तलाक का अधिकार प्रदान किया गया।

सन् १९५४ मे पारित विशेष विवाह अधिनियम के द्वारा सन् १८७२ के कानून को समाप्त कर दिया गया। इस नवीन अधिनियम के अन्तर्गत दो भारतीयो को, चाहे वे किसी भी धर्म अथवा जाति के क्यो न हो, न्यायालय की सहायता से विवाह करने का अधिकार प्रदान किया गया। अब उनके लिए यह घोषित करना आवश्यक नहीं था कि वे किसी भी धर्म को नहीं मानते हैं। निम्नलिखित शर्तों के पूर्ण होने पर इस अधिनियम के अन्तर्गत विवाह किया जा सकता है :

(१) दोनो में से किसी का भी पति या पत्नी जीवित न हो।

(२) विवाह के समय वर की आयु कम से कम २१ वर्ष और वधू की आयु कम से कम १८ वर्ष हो।

(३) दोनो मे से कोई भी बुद्धिरहित या पागल न हो।

(४) वर-वधू एक दूसरे के वर्जित सम्बन्धो की श्रेणी मे न आते हो।

(५) यदि विवाह कानून के क्षेत्र के बाहर किसी अन्य स्थान पर हो रहा हो, तो वर-वधू का भारतीय नागरिक एव निवासी होना आवश्यक है।

इस प्रकार के विवाह, विशेष विवाह अधिकारी के कार्यालय या उसकी उपस्थिति मे हो सकते हैं। विवाह के इच्छुक लडके-लडकी को विवाह-अधिकारी को इस आशय का प्रार्थना-पत्र देना होता है। विवाह के लिए वर-वधू मे से किसी एक का ऐसे अधिकारी के जिले मे कम से

कम तीस दिन से पहले से रहना आवश्यक होता है। विवाह का प्रार्थना-पत्र प्राप्त होने पर विवाह अधिकारी उसकी एक विज्ञप्ति अपने यहां नोटिस-बोर्ड पर और दूसरी जिले के विवाह कार्यालय के नोटिस बोर्ड पर लगवाता है। यदि तीस दिन की अवधि में ऐसे विवाह के विरुद्ध कोई भी आपत्ति प्राप्त नहीं होती है, तो विवाह अधिकारी तीन गवाहों की उपस्थिति में विवाह सम्पन्न करा देता है। इस अवसर पर वर-वधू को यह कहना पड़ता है कि वे दोनों एक दूसरे को पति-पत्नी के रूप में ग्रहण करते हैं। तत्पश्चात् विवाह-अधिकारी विवाह सार्टिफिकेट-पुस्तक में इस विवाह का सार्टिफिकेट लिख देता है जिस पर वर-वधू तथा तीनों गवाहों के हस्ताक्षर होते हैं। इस अधिनियम के अन्तर्गत विवाह करने वाले व्यक्ति, कानून की दृष्टि से अपने संयुक्त परिवार से पृथक् माने जायेंगे। संयुक्त परिवार की सम्पत्ति में उनके उत्तराधिकार का निर्धारण भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम, १९२५ के आधार पर होगा।

इस अधिनियम के अनुसार पति-पत्नी को हिन्दू विवाह अधिनियम, १९५५ में उल्लिखित आधारों से मिलते-जुलते आधारों पर ही विवाह-विच्छेद का अधिकार दिया गया है। इस कानून की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि पति-पत्नी पारस्परिक सहमति के आधार पर भी तलाक की आज्ञा प्राप्त कर सकते हैं। पारस्परिक इच्छा से तलाक के लिए प्रार्थना-पत्र इन दशाओं में दिया जा सकता है

(१) यदि पति-पत्नी कम से कम एक वर्ष से एक दूसरे से अलग रह रहे हों।

(२) यदि वे संयुक्त प्रार्थना-पत्र में यह घोषित करें कि वे एक साथ रहने में असमर्थ हैं।

(३) यदि एक दूसरे को तलाक देने के लिए उन्होंने पारस्परिक समझौता कर लिया हो। तलाक के लिए प्रार्थना-पत्र देने के एक वर्ष पश्चात् दोनों को पुन. न्यायालय को तलाक सम्बन्धी आदेश प्राप्त करने के लिए प्रार्थना-पत्र देना होगा। तत्पश्चात् न्यायालय तलाक सम्बन्धी आदेश जारी करेगा। विवाह के तीन वर्ष पश्चात् ही तलाक के लिए प्रार्थना-पत्र दिया जा सकेगा और तलाक की आज्ञा मिलने के एक वर्ष पश्चात् ही पुन विवाह किया जा सकेगा। न्यायालय तलाक के इच्छुक पति-पत्नी के बीच समझौता कराने के प्रयत्न भी करेगा। पारस्परिक अनुमति के आधार पर तलाक की व्यवस्था हिन्दू विवाह अधिनियम, १९५५ के अन्तर्गत नहीं की गई। परन्तु मई, १९७६ में इस अधिनियम में संशोधन किया गया जिसके अनुसार अब पारस्परिक सहमति के आधार पर विवाह-विच्छेद किया जा सकता है। अभी तक विशेष विवाह अधिनियम, १९५४ के अन्तर्गत विवाह करने वाले लोगों की संख्या बहुत ही सीमित है।

स्वतन्त्र भारत में सामाजिक विधान
(Social Legislation in Independent India)

स्वतन्त्र भारत के संविधान में कुछ आदर्श प्रस्तावित किए गए हैं। राज्य जाति, धर्म तथा लिंग भेद आदि को ध्यान में रखते हुए सभी नागरिकों का सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय प्रदान करेगा, समानता के सिद्धान्त को अपनाएगा। संविधान में देश के सभी नागरिकों को कुछ समान मौलिक अधिकार प्रदान किए गए हैं। धारा १७ के अनुसार, अस्पृश्यता को समाप्त कर दिया गया है। राज्य के नीति-निर्देशक तत्त्वों में अन्तर्गत उन विविध सामाजिक क्षेत्रों को बताया गया है, जिनमें राज्य कानून बनाकर समाज-कल्याण

(४) *वर-वधू एक दूसरे के सपिण्ड न हो जब तक कि कोई प्रथा जिसके द्वारा वे* नियन्त्रित होते हैं, इस प्रकार के विवाह की आज्ञा न देती हो।

(५) यदि वधू की आयु १८ वर्ष से कम है, तो विवाह के लिए उसके अभिभावक की स्वीकृति आवश्यक है।

(६) यदि दोनो पक्षो मे से कोई भी पक्ष मानसिक असन्तुलन या पागलपन के कारण विवाह के लिये सहमति देने के अयोग्य नही हो।

अवैध विवाह
(Void Marriages)

इस अधिनियम के पारित होने के पश्चात् सम्पन्न होने वाले विवाह निम्नलिखित दशाओ मे अवैध घोषित किए जा सकते हैं और विवाह सम्बन्ध समाप्त किया जा सकता है—

(१) यदि विवाह के समय दोनो मे से किसी का पहला जीवन-साथी जीवित हो जिसे तलाक नही दिया गया है।

(२) यदि दोनो निषिद्ध सम्बन्धो की श्रेणी मे आते हो तथा उसके परम्परागत नियम ऐसे विवाह की आज्ञा न देते हो।

(३) यदि वे दोनो एक दूसरे के सपिण्ड हो तथा उनके परम्परागत रिवाज ऐसे विवाह की स्वीकृति न देते हो।

उपर्युक्त दशाओ मे प्रार्थना-पत्र देकर न्यायालय द्वारा विवाह के अवैध होने की आज्ञा प्राप्त की जा सकती है। कुछ अन्य आधारो पर भी विवाह को अवैध ठहरा कर समाप्त किया जा सकता है। निम्नलिखित आधारो पर किसी भी पक्ष द्वारा विवाह-समाप्ति का माँग की जा सकती है—

(१) यदि विवाह के समय कोई पक्ष नपुंसक हो और मुकदमा चलने के समय तक भी वही स्थिति हो।

(२) यदि विवाह के समय कोई भी पक्ष पागल या बुद्धिरहित हो।

(३) यदि विवाह के एक वर्ष की अवधि मे ही यह सिद्ध हो जाए कि विवाह के लिए प्रार्थी अथवा उसके अभिभावक की अनुमति जबरदस्ती या धोखे से ली गई थी।

(४) यदि विवाह के एक वर्ष के भीतर ही यह प्रमाणित हो जाए कि विवाह के समय पत्नी किसी अन्य पुरुष से गर्भवती थी और प्रार्थी को इस सम्बन्ध मे कोई जानकारी नही थी।

वैवाहिक अधिकारो का पुनर्स्थापन
(Restitution of Conjugal Rights)

यदि पति-पत्नी किसी पर्याप्त कारण के बिना एक दूसरे से अलग रहने लग गए हों, तो दुखी पक्ष वैवाहिक अधिकारो के पुनर्स्थापन के लिए न्यायालय मे प्रार्थना-पत्र दे सकता है। यदि विपक्ष, अलग रहने का कोई ऐसा कारण नही बता सके, जो न्यायिक पृथक्करण, विवाह की अवैधता अथवा विवाह-विच्छेद का आधार बन सके, तो न्यायालय वैवाहिक

ाधिकारो के पूर्नस्थापन की आज्ञा दे देता है। यदि कोई पक्ष इस आज्ञा का पालन नही रता है तो दूसरा पक्ष इस सम्बन्ध मे आदेश प्राप्त होने के दो वर्ष पश्चात् इस आधार र विवाह-विच्छेद की माँग न्यायालय मे प्रस्तुत कर सकता है।

न्यायिक पृथक्करण
(Judicial Separation)

इस *अधिनियम की धारा १०* के अनुसार, पति-पत्नी को एक दूसरे से अलग रहने और सहवास से मुक्त होने की कुछ आधारो पर न्यायालय द्वारा आज्ञा प्राप्त हो जाती है। न्यायिक पृथक्करण पृथक् रहने की आज्ञा है, वैवाहिक सम्बन्धो की समाप्ति नही। यदि पति-पत्नी पृथक् रहकर आपसी मत-भेदो को भुला सकें और पुन एक-दूसरे के साथ रहना चाहें तो वे न्यायालय से वैवाहिक अधिकारो के पुर्नस्थान की माँग कर सकते हैं। सशोधित रूप मे 'हिन्दू विवाह अधिनियम, १९५५' के अनुसार अब न्यायिक पृथक्करण के पृथक् आधारो को समाप्त कर उन्ही आधारो को मान्यता दी गई है जो विवाह-विच्छेद के लिए आवश्यक हैं।

विवाह-विच्छेद
(Divorce)

इस अधिनियम की धारा १३ के अनुसार, पति-पत्नी मे से कोई भी पक्ष नीचे लिखे आधारो मे से किसी एक या अधिक आधार पर विवाह-विच्छेद अथवा न्यायिक पृथक्करण की माग कर सकता है। इस अधिनियम के पारित होने के पूर्व विवाह-बन्धन में बँधने वाले भी इस अधिनियम के अन्तर्गत विवाह-विच्छेद या न्यायिक पृथक्करण के लिए प्रार्थना पत्र दे सकते हैं। ये आधार निम्नलिखित हैं—

(१) विवाह सम्पन्न होने के पश्चात् पति पत्नी मे से किसी भी पक्ष ने एक-दूसरे के अतिरिक्त किसी अन्य के साथ ऐच्छिक यौन-सहवास (Sexual intercourse) किया हो।

(२) विवाह होने के पश्चात् किसी पक्ष ने दूसरे पक्ष के साथ क्रूरतापूर्ण व्यवहार किया हो।

(३) विवाह-विच्छेद के लिये प्रार्थना-पत्र देने के दो वर्ष पूर्व से पति पत्नी मे से किसी ने दूसरे का परित्याग कर दिया हो।

(४) दूसरे पक्ष ने धर्म-परिवर्तन कर लिया हो और वह हिन्दू नहीं रह गया हो।

(५) दूसरा पक्ष असाध्य पागलपन से ग्रसित हो,

(६) दूसरा पक्ष असाध्य कोढ या सक्रामक यौन-रोग से पीडित हो,

(७) दूसरा पक्ष ससार त्याग कर सन्यासी बन गया हो,

(८) दूसरे पक्ष का पिछले सात वर्ष से कोई पता नही हो, या वह जीवित न सुना गया हो,

(९) दूसरे पक्ष ने *न्यायिक-पृथक्करण की राजाज्ञा* प्राप्त होने के पश्चात् पिछले एक वर्ष या अधिक समय से सहवास प्रारम्भ नही किया हो।

(१०) दूसरे पक्ष ने वैवाहिक अधिकारों के पुर्नस्थापन की राजाज्ञा का पिछले एक वर्ष या अधिक समय से पालन न किया हो।

उपर्युक्त आधारों के अतिरिक्त स्त्रियाँ इन अतिरिक्त आधारों पर भी विवाह-विच्छेद के लिए प्रार्थना-पत्र दे सकती हैं—

(१) यदि इस अधिनियम के लागू होने के पूर्व किसी व्यक्ति ने दूसरी शादी करली है और उसकी पहली स्त्री जीवित है, तो ऐसी दशा मे कोई भी पत्नी तलाक की मांग कर सकती है।

(२) यदि विवाह के पश्चात् पति बलात्कार, गुदा मैथुन अथवा पशुता का अपराधी हो तो स्त्री उसे तलाक दे सकती है।

(३) यदि अदालत द्वारा भरण-पोषण (Maintenance) की राजाज्ञा प्राप्त हो जाने पर भी पति के द्वारा पत्नी का भरण-पोषण नही किया जाता हो, तो पत्नी तलाक की माग कर सकती है।

(४) हिन्दू विवाह अधिनियम, १९५५ (संशोधित रूप मे, १९७६) के द्वारा पत्नी को वयस्कता के वरण का अधिकार (Option of Puberty) दिया गया है। इसके अनुसार यदि विवाह के समय लड़की की आयु १५ वर्ष से कम हो, तो वह १८ वर्ष की आयु प्राप्त करने के पूर्व तक विवाह की समाप्ति के लिये अदालत मे प्रार्थना-पत्र दे सकती है।

संशोधित रूप मे हिन्दू विवाह अधिनियम, १९५५ की धारा १३ (ब) मे एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण नवीन प्रावधान यह रखा गया है कि अब पति-पत्नी पारस्परिक सहमति (Mutual consent) के आधार पर विवाह-विच्छेद कर सकते हैं। यदि वे पिछले एक वर्ष या अधिक समय से पृथक् रहते हो और यह महसूस करते हो कि उनका साथ-साथ रहना सम्भव नही है तथा यदि वे पारस्परिक रूप से विवाह को समाप्त करने के लिये सहमत हो तो इस आधार पर विवाह-विच्छेद हो सकता है।

इस अधिनियम के अनुसार विवाह-विच्छेद के लिय आवेदन-पत्र विवाह के तीन वर्ष पश्चात् ही दिया जा सकता था परन्तु अब इस अवधि को घटाकर एक वर्ष कर दिया गया है। हिन्दू विवाह अधिनियम, १९५५ के संशोधित होने के पूर्व तक विवाह-विच्छेद की राजाज्ञा प्राप्त होने के एक वर्ष पश्चात् ही कोई भी पक्ष पुन विवाह कर सकता था। परन्तु अब विवाह विच्छेद की राजाज्ञा के तुरन्त बाद भी विवाह किया सकता है। स्पष्ट है कि अब विवाह-विच्छेद की प्रक्रिया को पहले की तुलना मे कुछ सरल कर दिया गया है।

विवाह-विच्छेद के बाद प्रार्थी और विपक्षी की आर्थिक दशा को ध्यान मे रखते हुए न्यायालय प्रार्थी स विपक्षी को निर्वाह-धन (Alimony) दिला सकती है। यह निर्वाह-धन किसी भी पक्ष को उस समय तक मिलता रहता है जब तक कि वह पक्ष दूसरा विवाह न करले तथा उसकी सन्तान बालिग न हो जाए। यहाँ पर यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि न्यायालय द्वारा पृथक्करण या विवाह-विच्छेद की राजाज्ञा प्राप्त करना उतना सरल नही है जितना साधारणत सोचा जाता है। न्यायालय सर्व प्रथम दोनो पक्षो मे समझौता कराने की कोशिश करता है और इस प्रयत्न मे असफल होने पर साधारण रूप से पहले पृथक्करण की आज्ञा दी जाती है ताकि दोनो पक्षो को स्थिति पर पुन शान्तिपूर्वक विचार करने का मौका मिल जाए। यदि एक दूसरे को वे अपने अनुकूल पाएँ तो वैवाहिक अधिकारो के पुनर्स्थापन की राज्ञा भी प्राप्त कर सकते हैं। जहा ये सब सम्भावनाएँ समाप्त हो जाती हैं, वही विवाह विच्छेद की राजाज्ञा प्रदान की जाती है। इसका यह तात्पर्य नही है कि विवाह विच्छेद के लिए पहले न्यायिक पृथक्करण होना आवश्यक ही हो। विशेष परिस्थितियों मे सीधे ही विवाह-विच्छेद की राजाज्ञा भी प्रदान की जा सकती है।

हिन्दू विवाह अधिनियम, १६५५ का विश्लेषण
(Analysis of Hindu Marriage Act, 1955)

इस अधिनियम के द्वारा हिन्दू विवाह से सम्बन्धित नियमो मे आवश्यक सुधार लाने और उन्हे व्यवस्थित रूप मे प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। इस अधिनियम ने हिन्दू विवाह को निम्नलिखित रूपो मे प्रभावित किया है—

(१) इस अधिनियम की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसमे एक विवाह प्रथा को मान्यता और बहुपत्नी विवाह को समाप्त कर दिया गया है। इस अधिनियम के पारित होने के पूर्व हिन्दू समाज मे बहुपत्नी विवाह की आज्ञा प्राप्त थी। अब विवाह की आवश्यक शर्त के रूप मे बतलाया गया है कि विवाह के समय किसी का भी पहला जीवन साथी जीवित नही होना चाहिए।

(२) इस अधिनियम ने विवाह के क्षेत्र को विस्तारित करने मे योग दिया है। अब जाति अन्तर्विवाह (Coste Endogamy) आवश्यक नही है। कोई भी हिन्दू चाहे वे किसी भी जाति के क्यो न हो, आपस मे वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर सकते है। इस अधिनियम के द्वारा अन्तर्जातीय विवाह की छूट दी गई है। इसके द्वारा अनुलोम और प्रतिलोम विवाह के भेद को भी समाप्त कर दिया गया है।

(३) यह अधिनियम बहिर्विवाह के लौकिक और रक्त सम्बन्धी आधार को मान्य और पौराणिक आधार को अमान्य घोषित करता है। विवाह की शर्तों के रूप मे बताया गया है कि वर-वधू एक दूसरे के वर्जित सम्बन्धो को श्रेणी मे न आते हो। ऐसे सम्बन्धो की सूची कानून के साथ ही दी गई है। साथ ही यह भी बताया गया है कि यदि किसी समुदाय विशेष के रीति-रिवाज वर्जित सम्बन्धो की श्रेणी मे आने वाले सम्बन्धियो को आपस मे विवाह की आज्ञा देते हैं, तो कानून की दृष्टि से वे स्वीकृत होगे। इस अधिनियम मे सपिण्ड विवाहों को वर्जित बतलाया गया है। सपिण्डता के अन्तर्गत पिता की ओर पाच पीढी और माता की ओर तीन पीढी के सम्बन्धियो के बीच वैवाहिक सम्बन्धो की आज्ञा नही दी गई है। यह अधिनियम सगोत्र और सप्रवर विवाहो पर किसी प्रकार का कोई प्रतिबिम्ब नही लगाता है, एक ही गोत्र और प्रवर के व्यक्ति आपस मे विवाह कर सकते है। ऐसे विवाह को मान्य ठहराने का कारण यह है कि एक गोत्र या प्रवर के व्यक्तियो के एक दूसरे के वास्तविक रक्त सम्बन्धी होने के कोई निश्चित प्रमाण नही पाए जाते।

(४) इस अधिनियम के अन्तर्गत विशेष परिस्थितियो मे स्त्री-पुरुषो को समान रूप से न्यायिक पृथक्करण और विवाह विच्छेद का अधिकार प्रदान किया गया है। इससे पूर्व विवाह को एक धार्मिक सस्कार माना जाता था जबकि अब विवाह को एक सामाजिक समझौता माना जाता है। आजकल रोमान्टिक ढग के विवाह होने लगे है और विवाह एक स्थायी बन्धन नही रह गया है। विवाह-सम्बन्धी इस नवीन अधिनियम का अभी ग्रामीण क्षेत्रो मे बहुत कम प्रभाव पडा है।

(५) इस अधिनियम ने पारिवारिक और विवाह के क्षेत्र मे स्त्री-पुरुषो को सैद्धान्तिक रूप से समानता के स्तर पर लाने मे योग दिया है। इसके पूर्व पुरुष एक स अधिक स्त्रियो के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए स्वतन्त्र था, परन्तु अब एक विवाह प्रथा को समान रूप से लागू किया गया है। इसी प्रकार, न्यायिक पृथक्करण, वैवाहिक अधिकारो

के पुर्नस्थापन तथा विवाह्-विच्छेद के मामलो मे स्त्री-पुरुषो को समान अधिकार दिए गए है। यह कानून स्त्रियो की स्थिति को उन्नत करने मे निश्चित रूप से योग देगा।

(६) इस अधिनियम के अनुसार, विवाह के लिए आजकल लडके-लडकियो की न्यूनतम आयु क्रमश २१ वर्ष और १८ वर्ष रखी गई है। इस प्रकार बाल-विवाहो के प्रचलन को रोकने का प्रयास भी इस अधिनियम मे किया गया है। विवाह की आयु बढ़ने से स्वय लडके-लडकियो को अपन जीवन साथी का चुनाव करने के अधिक अवसर प्राप्त होने लगे है।

इस अधिनियम के सम्बन्ध म यह धारणा भ्रामक है कि अब छोटी-छोटी बातों पर विवाह-विच्छेद हो सकेगा, विवाह सस्था नष्ट हो जाएगी और पारिवारिक स्थायित्व खतरे मे पड जाएगा। विवाह विच्छेद के लिए जिन शर्तों का उल्लेख किया गया है, वे इतनी सरल नही हैं कि पति-पत्नी जब चाह तब एक दूसरे को तलाक दे दें। एक बार विवाह हो चुकने के पश्चात् कोई भी साधारणत कम से कम चार पाच वर्ष तः किसी अन्य के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित नही कर सकता है। न्यायालयो को यह भी आदेश दिया गया है कि ऐसे मामलो म पति पत्नी मे समझौता कराने का प्रयास भी किया जाना चाहिए। इतना अवश्य है कि अब पुरुष स्त्री पर मनचाहे ढग से अत्याचार नही कर सकेगा।

इस कानून के बनने मात्र स व्यापक सामाजिक परिवर्तन आ सकेंगे, ऐसा नही माना जा सकता। कानून सामाजिक परिवर्तन के मार्ग मे आने वाली बाधाओ को अवश्य हटा सकता है, परन्तु किसी परिवर्तन को स्वीकार करने के लिए लोगों को बाध्य नहीं कर सकता। सामाजिक परिवर्तन और विकास के लिए कानून के साथ-साथ अनुकूल सामाजिक परिस्थितियो का होना भी आवश्यक है। यही बात इस कानून क सम्बन्ध मे भी सही है।

२ अस्पृश्यता (अपराध) अधिनियम, १९५५
(The Untouchability (Offences) Act, 1955)

अस्पृश्यो की सभी प्रकार की निर्योग्यताओ को दूर करने के उद्देश्य से केन्द्रीय सरकार द्वारा अस्पृश्यता (अपराध) अधिनियम १ जून, १९५५ से सारे भारतवर्ष पर लागू कर दिया गया। इस अधिनियम मे १७ धाराएँ है, जिनके द्वारा अस्पृश्यता सम्बन्धी सभी निर्योग्यताओ को समाप्त करने का प्रयत्न किया गया है। इसका सविस्तार वर्णन 'पिछडे वर्ग-अस्पृश्यता' वाले अध्याय मे किया गया है।

३ हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, १९५६
(The Hindu Succession Act, 1956)

इस अधिनियम के पारित होने के पूर्व हिन्दू समाज मे उत्तराधिकार के सम्बन्ध मे दो प्रणालियाँ—मिताक्षरा और दाय भाग प्रतिलित थी। इनके अनुसार, स्त्रियो को सम्पत्ति का उत्तराधिकार प्राप्त करने मे वैधानिक अडचने थी। यद्यपि १९३७ के "हिन्दू विधवाओ का सम्पत्ति अधिकार अधिनियम" के द्वारा हिन्दू विधवा को अपने मृत पति की सम्पत्ति

मे पुत्र के समान हिस्सेदार तो माना है तथापि इस सम्पत्ति पर उसे सीमित अधिकार दिया गया है। वह इस सम्पत्ति का अपने जीवन काल मे उपभोग कर सकती है, बेच नही सकती है। उस स्त्री की मृत्यु के पश्चात् उसके हिस्से की सम्पत्ति अन्तिम पुरुष स्वामी के उत्तराधिकारियो का प्राप्त होती थी। इन सब कमियो को दूर करने एव हिन्दू स्त्री-पुरुषो को समान रूप से उत्तराधिकार एव सम्पत्ति के स्वामित्व का अधिकार प्रदान करने की दृष्टि से यह अधिनियम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

यह अधिनियम समस्त हिन्दुओ पर लागू है और भारतीय मुसलिम, ईसाई, पारसी एव यहूदी लोगो को छोडकर शेष सभी का "हिन्दू" सज्ञा के अन्तर्गत लिया गया है। लेकिन जिन लोगो ने "विशेष विवाह अधिनियम, १६५४' के अन्तर्गत विवाह किया है, उनमे उत्तराधिकार का निर्धारण भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम, ११२५ के अनुसार होगा। इस अधिनियम के लागू होने के बाद मिताक्षरा और दायभाग नियमो को समाप्त कर दिया गया है। इसके द्वारा हिन्दू स्त्री को प्रथम बार अपनी सम्पत्ति पर पूर्ण अधिकार दिया गया है और साम्पत्तिक अधिकार की दृष्टि से स्त्री-पुरुष को समान माना गया है।

इस अधिनियम के आधार पर सयुक्त परिवार मे किसी पुरुष हिस्सेदार की मृत्यु हो जाने पर, उसकी सम्पत्ति का हिस्सा उसकी माँ (यदि वह जीवित हो), विधवा पत्नी, पुत्र एव पुत्रियो मे समान रूप से बाँटने की व्यवस्था की गई है। इस अधिनियम मे स्त्री को माता, पत्नी एव पुत्री के रूप म सम्पत्ति का उत्तराधिकार प्रदान किया गया है। माता को अपने मृत पुत्र की सम्पत्ति मे उसकी विधवा पत्नी एव पुत्र के बराबर का हिस्सा और पुत्री के रूप मे भाइयो के बराबर हिस्सा मिलेगा।

इस अधिनियम मे यह भी व्यवस्था की गई है कि यदि किसी व्यक्ति को पैतृक रूप से सम्पत्ति प्राप्त हुई है, तो उसके जीवन काल मे ही उसकी पुत्रियाँ स्वय के हिस्से की माग प्रस्तुत कर सकती हैं। यदि पिता की मृत्यु के पूर्व ही उसके लडके-लडकियो की मृत्यु हो गई हो तो ऐसी दशा म उसके लडके-लडकियो की सन्तानो को अपने पिता या माता के हिस्से को प्राप्त करने का अधिकार होगा, जो उनमे समान रूप से बट जाएगा। इस अधिनियम म यह भी कहा गया है कि किसी स्त्री को शारीरिक दोप के आधार पर उत्तराधिकार से वचित नही किया जा सकता है।

इस अधिनियम मे दो प्रकार के उत्तराधिकारियो की सूची दी गई। प्रथम प्रकार के उत्तराधिकारियो के होने पर दूसरे प्रकार के उत्तराधिकारियो को सम्पत्ति प्राप्त नही होगी। दूसरे प्रकार के उत्तराधिकारियो के नौ भाग किए गए हैं और प्रत्येक भाग को प्राथमिकता के क्रम से दिया गया है। इस अधिनियम की विशेषता यही है कि यह हिन्दू उत्तराधिकार सम्बन्धी नियमो को स्पष्टता प्रदान करता है और पुरुषो के समान ही स्त्रियो को सम्पत्ति का अधिकार देता है। स्त्रियो की स्थिति मे सुधार लाने की दृष्टि से यह अधिनियम लाभकारी सिद्ध होगा। यह भय कि पुत्रियो को सम्पत्ति मे हिस्सा होने से खेतो का और छोटे-छोटे टुकडो मे विभाजन हो जाएगा, उचित नही है क्योकि इस अधिनियम मे यह व्यवस्था की गई है कि उन्हे उनका हिस्सा नकद के रूप मे दिया जा सकता है।

४. हिन्दू नाबालिगी एवं सरक्षता अधिनियम, १९५६ :

(The Hindu Minority and Guardianship Act, 1956)

इस अधिनियम के अनुसार १८ वर्ष से कम आयु के बच्चो को नाबालिग माना गया है। इस अधिनियम के पारित होने के पूर्व, यदि कोई व्यक्ति अपना नाबालिग बच्चा छोड़कर मर जाता है, तो केवल पिता-पक्ष का कोई पुरुष सदस्य ही उस बालक की सम्पत्ति का सरक्षक हो सकता था, मातृ-पक्ष का व्यक्ति नही। इस अधिनियम म निम्नलिखित व्यवस्थाएँ की गई हैं :

नाबालिग बच्चे या बच्चो के माता अथवा पिता की मृत्यु हो जाने पर बच्चो की सम्पत्ति की देखभाल एव सुरक्षा का कार्य सरक्षक द्वारा ही किया जाएगा। सरक्षक के दो प्रकार बताए गए हैं—प्रथम, प्राकृतिक सरक्षक जैसे माता की मृत्यु हो जाने पर पिता बच्चे का प्राकृतिक सरक्षक माना जाएगा और पिता की मृत्यु हो जाने पर माता, द्वितीय, न्यायालय द्वारा नियुक्त किया हुआ सरक्षक। नाबालिग बच्चे के माता और पिता दोनों की मृत्यु हो जाने पर सरक्षक की नियुक्ति न्यायालय द्वारा की जाएगी। यदि माता-पिता मे से किसी ने अपनी वसीयत में पहले से ही किसी व्यक्ति को सरक्षक के रूप मे नियुक्त कर दिया है, तो न्यायालय द्वारा सरक्षक नियुक्त नही किया जाएगा। नाबालिग विवाहित लडकी का सरक्षक उसके पति को माना गया है।

इस अधिनियम के अन्तर्गत अब कोई भी सरक्षक किसी नाबालिग की अचल सम्पत्ति को न्यायालय की अनुमति के बिना न तो बेच सकेगा, न ही उसे रहन रख सकेगा और न ही उसका विनिमय कर सकेगा। प्राकृतिक सरक्षको को नाबालिग की सम्पत्ति को पाँच वर्ष के लिए या उसके वयस्क होने के बाद तक के लिए पट्टे पर देने का अधिकार अवश्य दिया गया है। इस अधिनियम मे यह भी कहा गया है कि नाबालिग के सरक्षक की नियुक्ति करते समय, मुख्य ध्यान नाबालिग के कल्याण का होना चाहिए। स्पष्ट है कि इसके द्वारा नाबालिग की सम्पत्ति की सुरक्षा की उचित व्यवस्था की गई है और स्त्री को भी अपनी नाबालिग सन्तान का सरक्षक बनने का अवसर दिया गया है।

५ हिन्दू दत्तक ग्रहण एवं भरण-पोषण अधिनियम, १९५६ :

(The Hindu Adoptation and Maintenance Act, 1956)

इस अधिनियम को २१ दिसम्बर, १९५६ से लागू किया गया। इसमे महत्वपूर्ण व्यवस्था यह की गई है कि केवल लडके को ही नही, बल्कि लडकी को भी गोद लिया जा सकता है। विधवा को भी अपनी सम्पत्ति के उपयोग के लिए गोद लेने का अधिकार दिया गया है। गोद लेने के लिए पत्नी की सम्मति का होना भी आवश्यक है; अब दत्तक को धर्म-निरपेक्ष कार्य के रूप मे मान्यता प्रदान की गई है।

इस अधिनियम के द्वारा स्त्री-पुरुष दोनो को ही भरण-पोषण का अधिकार प्रदान किया गया है। अब पति की सम्पत्ति मे से भरण-पोषण की राशि प्राप्त करने का अधिकार केवल स्त्री को ही नहीं है, पुरुष भी आय के कोई साधन नही होने पर, पत्नी की सम्पत्ति मे से भरण-पोषण की राशि प्राप्त करने का अधिकारी है। भरण-पोषण प्राप्त करने वाले व्यक्तियो मे पत्नी, विधवा पुत्र-वधू, नाबालिग सन्तान वृद्ध माता-पिता एव अन्य आश्रित व्यक्तियो को सम्मि-

लित किया गया है। इस प्रकार इस अधिनियम के अन्तर्गत इन लोगो को प्रार्थिक सरक्षण प्रदान किया गया है। यद्यपि पुरुष को भी भरण-पोषण की राशि प्राप्त करने का अधिकार दिया गया है तथापि साधारणत इसकी उपयोगिता तलाक शुदा या पति से पृथक रहने वाली स्त्रियो के लिए ही है।

६ स्त्रियो और कन्याओ का अनैतिक व्यापार निरोधक अधिनियम, १६५६ :
(Suppression of immoral traffic in women and girls, 1956)

वैश्यावृत्ति एव अनैतिक व्यापार समाप्त करने के उद्देश्य से सामाजिक तथा नैतिक स्वास्थ्य विज्ञान समिति के द्वारा सितम्बर, १६५५ मे प्रस्तुत रिपोर्ट के आधार पर यह अधिनियम पारित किया गया। इसके द्वारा वैश्यावृत्ति को एक दडनीय अपराध माना गया है। वैश्यालय चलाने वाले व्यक्तियो का एक वर्ष से पन्द्रह वर्ष तक की कैद और दो हजार रुपये तक के जुर्माने की सजा दी जा सकती है। लडकियो एव स्त्रियो को वैश्यावृत्ति के लिए किसी भी रूप मे प्रोत्साहित करने के काय को दण्डनीय अपराध माना गया है। वैश्याओ के पुनर्वास एव सुधार हेतु सरक्षण-गृहो की व्यवस्था भी की गई है।

■ दहेज निरोधक अधिनियम, १६६१
(Dowry Prohibition Act, 1961)

हिन्दू समाज मे एक ओर दहेज की काफी माँग की जाती है और दूसरी ओर विवाह उत्सव म भी काफी खर्चा हो जाता है। विवाह सम्बन्धी ये विशेषताएँ साधारणत सभी लोगो मे पाई जाती है चाहे वे ग्रामीण हो या नगरीय, उच्च जातियो के हो, या निम्न जातियो के, अशिक्षित हो या शिक्षित। सन् १६६१ म सरकार द्वारा दहज निरोधक अधिनियम पारित किया गया, जिसके अनुसार दहज लेन और देने वालो के लिए दण्ड की व्यवस्था की गई है। लेकिन यह कानून अनक कारणो से दहेज के लेने-देने को रोकने मे असमर्थ रहा है। मुख्यत यह कानून सामाजिक आदर्श प्रतिमान को परिवर्तित नही कर पाया है। यहाँ लोगो पर कानूनी आदर्श प्रतिमान के बजाय सामाजिक आदर्श प्रतिमान का अधिक प्रभाव दिखाई पडता है। इस अधिनियम का सविस्तार वर्णन "हिन्दू विवाह से सम्बधित समस्याओ' वाल अध्याय म "दहेज के विरुद्ध कानून' के अन्तर्गत किया गया है।

उपर्युक्त अधिनियमो के अतिरिक्त गन्दी बस्तियो को समाप्त करने की दृष्टि से १६५६ मे "गन्दी बस्ती क्षेत्र अधिनियम" (The Slum Areas Act of 1956) पारित किया गया। इसके अन्तगत किसी भी क्षेत्र का मानव निवास के लिए अनुपयुक्त घोषित किया जा सकता है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् देश मे अनेक श्रम कानून भी बनाए गए ताकि श्रमिको का शोषण नही हो और उन्हे आवश्यक सुविधाएं प्राप्त हो सकें। इसी प्रकार रोजगार कार्यालय अधिनियम (Employment Exchange Act, 1959) पास किया गया। इसम वेकार लोगो के लिए प्रशिक्षण की व्यवस्था भी की गई है। इस प्रकार बेकारी की समस्या को सुलझाने का उत्तरदायित्व राज्य ने अपने ऊपर लिया है। बाल-कल्याण को दृष्टि म रखकर भी समय समय पर अनेक कानून बनाए गए हैं। कुछ कानून बाल-श्रमिको के हित को ध्यान म रखकर और कुछ बाल अपराधियो को सुधारने हेतु बनाये गए हैं। बाल-कल्याण के लिए कई राज्यो द्वारा 'बोर्स्टल स्कूल अधिनियम" भी

पारित किए गए हैं। बोर्स्टल स्कूल मे १५ से २१ वर्ष के युवा अपराधियो के लिए सामान्य शिक्षा और औद्योगिक प्रशिक्षण की व्यवस्था की गई है।

इस अध्याय मे वर्णित सभी अधिनियमो के सर्वेक्षण से स्पष्ट है कि भारत सरकार बाल-कल्याण, नारी-कल्याण, श्रम-कल्याण, पिछड़े वर्गों के उत्थान और विवाह एव परिवार से सम्बन्धित अनेक समस्याओ के प्रति जागरूक रही है और उसके द्वारा इस दिशा मे काफी प्रयास भी किए गए हैं।

सामाजिक विधानो के प्रभाव की समीक्षा
(Analysis of the Impact of Social Legislation)

हमारे सम्मुख विचारणीय प्रश्न यह है कि हमारे देश मे पारित आधुनिक सामाजिक विधान, कहाँ तक अपने उद्देश्यो की पूर्ति मे सफल हुए हैं, वे कहाँ तक सामाजिक समस्याओं को सुलझाने और पिछड़े वर्गों के उत्थान मे योग दे पाए हैं। विविध सामाजिक अधिनियमो के द्वारा समस्याओ को सुलझाने की दृष्टि से सामाजिक सुधार के मार्ग मे उपस्थित होने वाली कानूनी बाधाओ को निश्चय ही दूर किया जा चुका है। आज स्त्रियो को अनेक अधिकार प्रदान किए गए हैं, बालको के कल्याण का प्रयत्न किया गया है। साथ ही वैवाहिक और पारिवारिक समस्याओ को सुलझाने के लिए आवश्यक कदम उठाए गए हैं। बाल-विवाहो को रोकने, विधवा पुनर्विवाह एव अन्तर्जातीय विवाह को प्रोत्साहित करने की ओर भी प्रयास किए गए हैं, अस्पृश्यता निवारण हेतु भी कार्यवाई की गई है। परन्तु क्या बाल विवाह समाप्त हो गये हैं? क्या अधिकाश विधवाओं का पुनर्विवाह होता है? क्या दहेज का लेन देन अब नही होता है? क्या स्त्रियाँ अपने वैवाहिक और साम्पत्तिक अधिकारो का पूर्ण उपयोग कर पाती हैं? क्या विभिन्न जातियो के मध्य ऊँच-नीच की भावना नही पाई जाती है? क्या अस्पृश्यता का उन्मूलन किया जा चुका है? अधिकतर हमे इन प्रश्नो का उत्तर अधिकाशत "नहीं" मे ही देना होगा। इन अधिनियमो की जानकारी बहुत कम लोगो को है और उनका लाभ उठाने वाले लोगो की सख्या और भी सीमित है। इन अधिनियमों मे भी कुछ अस्पष्टता है और उनके क्रियान्वयन पर पूरा ध्यान भी नही दिया जाता है।

भारत म इन अधिनियमो के अधिक प्रभाव पूर्ण नहीं होने के अनेक कारण रहे हैं जिनमे मुख्य ये हैं :

(१) अशिक्षा सामाजिक विधानो के मार्ग मे बहुत बडी बाधा है। अशिक्षा के कारण देश के अधिकाश लोग इन अधिनियमो की उपयोगिता को नही समझते और आवश्यक जन-सहयोग प्रदान नही कर पाते। अशिक्षा के कारण यहाँ रूढ़िवादिता भी पाई जाती है। लोग परम्पराओ से चिपके रहते है, परिवर्तन को आसानी से स्वीकार नहीं करते हैं। ऐसी दशा मे सामाजिक विधान उनके व्यवहारो को परिवर्तित नही कर पाते।

(२) भारतीय समाज एक परम्परावादी समाज रहा है। यहा परम्पराओ का विशेष प्रभाव पाया जाता है। परम्पराओ के पीछे सामान्य सामूहिक स्वीकृति पाए जाने से, लोग साधारणत उन्हे तोडने का साहस नही कर पाते हैं। यही कारण है कि विवाह-विच्छेद सम्बन्धी अधिनियमो के पारित होने के उपरान्त भी, न तो मुसलिम स्त्रियो और न

ही हिन्दू स्त्रियों द्वारा, इनका लाभ उठाया जाता है, यद्यपि अपवाद के रूप मे कुछ तलाक की घटनाएँ अवश्य होती हैं।

(३) हिन्दुओं के जीवन में धार्मिक विश्वासों का काफी प्रभाव रहा है और अधिनियमों के माध्यम से इन विश्वासो मे परिवर्तन लाना कोई आसान कार्य नहीं है। यहाँ व्यक्ति कानून की अवहेलना कर सकता है, परन्तु धार्मिक नियमो की नहीं। यही कारण है कि हमारे यहाँ आज तक विधवा-विवाह प्रचलित नही हो पाए हैं, बाल-विवाहो को पूरी तरह नहीं रोका जा सका है और न ही अस्पृश्यता को समाप्त किया जा सका है।

(४) भारत मे जाति-व्यवस्था आज भी एक महत्त्वपूर्ण सस्था के रूप मे अधिकाश लोगों के जीवन को अनेक रूपो मे प्रभावित कर रही है। अन्तर्विवाह की नीति हमारे यहाँ जाति की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता के रूप मे रही है। जातीय बन्धनो में जकड़े हुए लोग कानूनी बाधाओ के न होने पर भी सामाजिक रूढ़ियो को नही तोड़ पाते। यही कारण है कि यहाँ "विशेष विवाह अधिनियम, १९५४" के पारित हो जाने के उपरान्त भी अन्तर्जातीय विवाहों की सख्या नहीं बढ़ पाई है, अस्पृश्यता (अपराध) अधिनियम १९५५ के बन जाने के बाद भी गावों के अधिकतर लोग छुआछूत के बन्धनो से आज तक भी मुक्त नही हो पाए हैं।

(५) देश मे सामाजिक विधानो के आशानुरूप सफलता प्राप्त न करने का एक मुख्य कारण यह है कि यहाँ करीब ८० प्रतिशत लोग ग्रामों मे निवास करते हैं। ये लोग शिक्षा के अभाव मे तर्क, ज्ञान एव प्रगतिशील व्यवहारो को नही समझ पाते हैं। परिणाम यह होता है कि वे उत्तम से उत्तम अधिनियम को भी अपनी स्वतन्त्रता म हस्तक्षेप समझते हैं, सामाजिक और धार्मिक जीवन मे बाधक मानते हैं।

(६) उचित संचार व्यवस्था के अभाव मे नवीन सामाजिक विधानो का ग्रामीण क्षेत्रो मे सामान्य लोगों मे और नगरीय क्षेत्रो मे—विशेषतः अशिक्षित लोगो मे प्रचार नही हो पाया है। इन लोगो में से अधिकाश तो यह तक नही जानते कि हमारे देश म स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् कौन-कौन से सामाजिक विधान पारित किए गए हैं। आवश्यक प्रचार के अभाव मे लोगो के लिए रूढ़ियो को तोड़कर नवीन परिवर्तनो को ग्रहण करना सम्भव नहीं है।

(७) भारतीय महिलाएँ आर्थिक दृष्टि से आज भी पुरुषों पर निर्भर हैं। अभी तक यहा अधिकतर स्त्रियाँ अशिक्षित हैं, अज्ञानता के अन्धकार मे डूबी हुई हैं। परिणाम यह हुआ है कि जो अधिनियम स्त्रियो की विविध वैवाहिक और साम्पत्तिक निर्योग्यताओ को को दूर करने की दृष्टि से पारित किए गए हैं, उनका भी वे लाभ नही उठा पाती हैं। सयुक्त परिवार व्यवस्था ने भी सामाजिक अधिनियमो के माध्यम से नियोजित परिवर्तन को लाने मे बाधा उपस्थित की है।

इस विवेचन से यह निष्कर्ष नही निकाला जा सकता कि भारत मे सामाजिक विधान सामाजिक समस्याओ को सुलझाने मे पूर्णतः असफल रहे हैं। इन अधिनियमों ने लोगों को सामाजिक समस्याओ के प्रति जागरूक बनाया है, अपने अधिकारो के प्रति उनमे चेतना जाग्रत की है। धीरे-धीरे उनकी अभिवृत्तियो मे परिवर्तन भी आ रहा है। आज विधवा-

पुनर्विवाह और अन्तरजातीय विवाह के प्रति लोगों का सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण पाया जाता है। बाल-विवाह निरन्तर कम होते जा रहे हैं। आवश्यकता पड़ने पर लोग विवाह-विच्छेद का सहारा भी लेने लगे हैं। साम्पत्तिक अधिकार मिलने से स्त्रियों की स्थिति में क्रमिक सुधार होता जा रहा है। लोगों की अस्पृश्यता सम्बन्धी धारणाएँ भी बदल रही हैं। इन सब परिवर्तनों को लाने में सामाजिक विधानों के अतिरिक्त अनेक अन्य कारकों का भी योग रहा है।

सामाजिक समस्याओं को हल करने में सामाजिक विधानों का निश्चित रूप से महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रारम्भ में इनके द्वारा परिवर्तन धीरे-धीरे ही आता है क्योंकि अनेक शताब्दियों से चल रही मान्यताएँ एकाएक समाप्त नहीं हो जाती। सामाजिक विधानों की सफलता बहुत कुछ मात्रा में उन लोगों के दृष्टिकोण पर निर्भर करती है जिनके लिए इनका निर्माण किया गया है। प्रो० कुप्पुस्वामी का कथन है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व और पश्चात् पारित किए गए अधिनियम यह प्रकट करते हैं कि राज्य और समाज द्वारा एक ओर मौजूदा सामाजिक आदर्श-प्रतिमानों के अनुरूप कानूनी आदर्श-प्रतिमान बनाने के और दूसरी ओर नवीन कानूनी आदर्श-प्रतिमानों के आधार पर सामाजिक आदर्श-प्रतिमानों को सुधारने के प्रयत्न किए गए हैं। प्रथम प्रकार के मामले में सामाजिक विधान जैसे कि एक-विवाह प्रथा आदि काफी सफल रहे हैं, लेकिन दूसरे मामले में, कानून के पास कठिनता से ही सामाजिक शक्ति रही है, क्योंकि जो कानून सामाजिक आदर्श-प्रतिमानों से काफी आगे होते हैं उनमें शैक्षणिक कार्य सम्मिलित होता है। केवल सजा का भय ही कानून को प्रभावशाली नहीं बना देता। जहाँ तक व्यवहार में बाधित आज्ञा-पालन (Forced Compliance) सन्निहित होता है, वहाँ नवीन मूल्यों का आन्तरिकीकरण नहीं हो पाता और इसलिए कानून का उल्लंघन होता है।[5]

सामाजिक विधान की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि नवीन कानून में निहित नये मूल्यों को समझने में लोगों की सहायता की जाए। इसके लिए ऐच्छिक संगठित प्रयास किए जाने चाहिएँ। समाजीकरण की प्रक्रिया इस कार्य में विशेष योग दे सकती है। माता-पिता द्वारा भी यह प्रयास किया जाना चाहिए कि बालक नवीन कानूनी आदर्श-प्रतिमान को सामाजिक आदर्श-प्रतिमान के रूप में स्वीकार करें। शिक्षा एवं उचित संचार व्यवस्था भी इस दिशा में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकती है।

प्रश्न

1. हिन्दू विवाह पर नये सामाजिक अधिनियमों का प्रभाव दर्शाइए।
2. हिन्दू विवाह अधिनियम, १९५५ (संशोधित रूप में, १९७६) के प्रावधानों का विस्तार से वर्णन कीजिए।
3. भारत में मुस्लिम विवाह और तलाक को नियमित करने के कानूनी प्रावधानों की विवेचना कीजिये।

---

5. B. Kuppuswamy, op.cit., p., 120.

4. हिन्दुओं में विवाह और तलाक को नियमित करने के लिये कौन-कौन से वैधानिक उपाय किये गये हैं ?
5. कानून की सामाजिक परिवर्तन के एक उपकरण के रूप में भूमिका पर प्रकाश डालिए।
6. हिन्दू विवाह अधिनियम, १९५५ के प्रमुख प्रावधानों का उल्लेख करते हुए बताइये कि इनसे हिन्दू विवाह की समस्याएँ कहाँ तक सुलझ पाई हैं ?
7. अस्पृश्यता पर सामाजिक विधानों के प्रभाव की विवेचना कीजिए।
8. भारत में सामाजिक विधानों के प्रभाव की समीक्षा कीजिए।
9. 'दहेज निरोधक अधिनियम, १९६१' पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

□□□

सदर्भ ग्रन्थ सूची

1 Altekar, A S The Position of Women in Hindu Civiliza- tion, 1962

2 Alfred de Souya, Women in Contemporary India, 1975

3 Aileen D Ross, The Hindu Family in this urban setting, 1961

4 Agarwala, S N India s Population problems, 1972

5 Burgess, E W & Locke, H J The Family, 1950

6 Bailey, F G Caste and the Econom c Frontier, 1958

7 Bailey, F G Tr be, Caste and Nation, 1960-

8 Bhagwan Das . The Science of Social Organization, 2 Vols 2nd ed , 1932-35

9 Bulletin of the Christian Institute for the Study of Society Vol 4, No 2 (Sept 1957)

10 Sociological Bulletin (Bombay)

11 Coomaraswamy Anand K Dance of Shiva 1948

12 Carle C Zimmerman & T K N Unn than, Family and Civil ga tion in the East and the West, 1975

13 Constiution of United Church of Northern India, 1954

14 Desai, I P Some Aspects of Family in Mahuva 1964

15 Dnftari, K L The Social Institutions in Ancient India, 1947

16 Devanandan, P D and Thomas, M M The Changing Pattern of Family in India (ed), 1966

17 Dumont (Louis) and Pocock (D) Contributions to Indian Soc c logy (ed) No III, 1969

18 Dumont (Louis)and Pocock(D) Contributions to Indian Sociology (ed) No IV 1970

19 Dutt, N K The Origian and Growth of Caste in India, Vol I, 1931

20 Dhirendra Narain (ed), Explorations in the Family and other Essays, 1975

1. Elliott, Mabel A. and Merrill, Francis E. : Social Disorganization, 1950
2. Folsom, J. K. : *The Family and Democratic Society, 1948.*
23. Family Life Centre of the Indian Institute, New Delhi : The Indian Family in the Change & Challenge of the Seventies, 1972.
24. Ghurye, G. S. : Caste, Class and Occupation, 1961.
25. Gore, M. S. : Urbanization and Family Change, 1968.
26. Govt. of India : Social Legislation and its Role in Social Welfare, 1956,
27. Govt of India : India, 1971–72, 1975–76.
28. Govt. of India : The Adivasis, *1960.*
29. Gupta, S. K. : Marriage among the Anglo-Indians.
30. Gupta, G. R.(ed.), Main currents in Indian Sociology, 1976.
31. Goode, William J. : The Family, 1964.
32. Hoebel, E. Adamson : Man in the Primitive World, 1958.
33. Hutton, J. H. : Caste in India, 1961.
34. Imitiay Ahmad, (ed.) Family, Kinship and Marriage among Muslims in India, 1976.
35. I. C. S. S. R , *A Survey of research in Sociology and Social* Anthropology,. Vol. I &II. 1974.
36. John, M. P. : The Family.
37. J. Murdock, Review of Caste in India, 1977.
38. John Wilson, Indian Caste, Vol. I & II, 1976.
39. Kapadia, K. M. : Marriage and Family in *India, 1959.*
40. *Kuppuswamy, B. : Social* Change *in India, 1975.*
41. Milton Singer & Bernard S. Cohn, (ed.) Structure and Change in Indian Society, 1968.
42. Michael Anderson, (ed.) Sociology of the Family, 1975.
43. Majumdar, D. N. and Madan, T. N. : An Introduction to Social Anthropology, 1963.
44. Majumdar, D. N. : Races and Cultures of India, 1958.
45. Majumder, D. N. : Caste and Communication in an Indian Village, 1962.

46. Merchant, K. T. : Changing Views on Marrige and Family, 1935.
47. Mayer, Adrian : Caste and Kinship in Central India, 1950.
48. Mathur, K. S. Caste and Rituals in a Malwa Village, 1964.
49. Mulla, D. F. : Principles of Mohamedan Law, 1955.
50. Mukherjee, R. K., The Sociologist and Social Change in India Today, 1965.
51. Noshirvan H. Jhabvala Principles of Mohamedan Law, 1955.
52. Prabhu, P. H. . Hindu Social Organization, 1963.
53. Panikkar, K. M. : Hindu Society at Cross Roads, 1955.
54. Philip Mason, (ed.) India and Ceylon : Unity and Diversity, 1967
55. Raghuvir sinha, Social Change in Indian Society, 1975.
56. Rudolph Lloyd I. & Rudolph Surane Hoeber, The Modernity of Tradition, 1967
57. Santosh Singh Anant, : The Changing Concept of Caste in India, 1972.
58. Srinivas, M. N : Social Change in Modern India, 1966.
69. Srinivas, M. N. : Caste in Modern India and Other Essays, 1962.
60. Srinivas, M. N. . Marrige And Family in Mysore, 1942
61. Sheikh Abrar Husain, Marriage Customs among Muslims in India, 1976.
62. Shah, A. M. : *The Household Dimension of the Family in India*, 1973.
63. Sharma, K. L. : The Changing Rural Stratification System, 1974.
64. S. C. Dube, *Tribal Heritage of India*, Vol. I, 1977.
65, Sorokin, P. A , Zimmerman, C. C. and Galpin, C J. : Systematic Source Book of Rural Sociology, 1930-32, Vol. II.
66. Thomos, P. : Indian Women Through the Ages, 1964.
67. Tara Chand : Influence of Islam on Hindu Culture, 1954.
68, Varma, B. N. Contemporary India, 1964
69. Yogesh Atal : The Changing Frontier of Caste, 1968.
70. Yogendra Singh, Modernization of Indian Tradition, 1973.

इन्द्रदेव भारतीय समाज, 1969 ।

नमदेश्वर प्रसाद जाति व्यवस्था, 1965 ।

दूबे, श्यामाचरण । मानव और सस्कृति, 1960 ।

राधाकृष्णन् धर्म और समाज, 1961 ।

वेदालकार, हरिदत्त हिन्दू परिवार मीमासा, 1963 ।

सक्सेना, रामनारायण भारतीय समाज तथा सामाजिक सस्थाएँ, 1960 ।

भट्ट गौरीशकर, भारत में समाजशास्त्र, प्रजाति और सस्कृति, 1965

□□□